प्राचीन भारत का
तिहास

डा० रमाशंकर त्रिपाठी

प्राचीन भारत का इतिहास
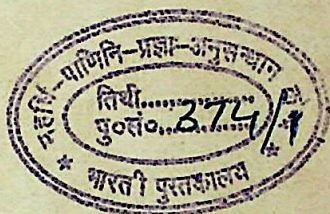
डा० रमाशंकर त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन)
भूतपूर्व प्रोफेसर व अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

मो ती ला ल ब ना र सी दा स
दिल्ली वाराणसी पटना मद्रास

मोतीलाल बनारसीदास
मुख्य कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली ११० ००७
शाखाएँ : चौक, वाराणसी २२१ ००१
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
६ अपर स्वामी कोइल स्ट्रीट, मैलापुर, मद्रास ६०० ००४

षष्ठ संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण : दिल्ली, १९७१
पुनर्मुद्रण : दिल्ली, १९७७, १९८२, १९८५

मूल्य : र [illegible] ल्द)
[illegible] ल्द)

नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ७
द्वारा प्रकाशित तथा शान्तिलाल जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, ए-४५,
फेज-१, नारायणा, नई दिल्ली २८ द्वारा मुद्रित।

प्रस्तावना

प्राचीन धूमिल अतीत से लेकर मुस्लिम शासन की स्थापना तक भारत के इतिहास, संस्थाओं तथा संस्कृति का संक्षिप्त एवं सूक्ष्म विवेचन इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है। इसका प्रणयन विशिष्ट प्रकार के पाठकों की आवश्यकता पूर्ति का ध्यान रखकर नहीं हुआ है प्रत्युत इसका प्रधान लक्ष्य यही है कि विद्यार्थियों, विद्वानों या ऐसे अन्य व्यक्तियों के अध्ययन में, जिन्हें प्राचीन भारत के इतिहास के प्रति रुचि और अनुराग है, यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध हो सके। भारतीय इतिहास-निरूपण का मेरा यह प्रयास विभिन्न दृष्टिकोण रखनेवाले इन सभी वर्गों के रुचि-संवर्द्धन तथा उनकी आवश्यकता की पूर्ति में किस सीमा तक सफल और सहायक हो सका है इसका निर्णय योग्य आलोचक ही कर सकते हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रस्तुत पुस्तक में केवल इतिहास के तथ्यों के शुष्क संकलन अथवा उसकी गूढ़ समस्याओं के समाधान वा विश्लेषण से बचने का यथाशक्ति प्रयत्न तो किया ही गया है, साथ ही इसका विशेष ध्यान रखा गया है कि इसमें प्राचीन भारत के दीर्घकालीन तथा आकर्षक इतिहास का साधारण दर्शनमात्र ही न रहे। मैंने साहित्य, अभिलेख एव मुद्रा सम्बन्धी सभी प्राप्त आधारों के समुचित उपयोग के अतिरिक्त उसे विभिन्न काल एवं विषयों से सम्बन्धित आधुनिक अन्वेषणों के मान्य निष्कर्षों से सम्बद्ध करने का भरपूर प्रयत्न किया है। ऐतिहासिक सत्य तथा वैज्ञानिक शुद्धता के निमित्त सभी उपलब्ध साधनों का इस ग्रन्थ में आलोचनात्मक और गम्भीर विवेचन ही नहीं किया गया है किन्तु भारत के विविधतापूर्ण इतिहास के किसी अंग-विशेष को अनावश्यक महत्व देने अथवा निन्दा करने की नीति का सर्वथा बहिष्कार भी किया गया है। मेरी यह दृढ़ धारणा है कि इतिहासकार के लिए इस प्रकार का पक्षपातपूर्ण व्यवहार अशोभनीय है, क्योंकि न तो वह आदर्शों का प्रचारक है और न महत्वाकांक्षी राजाओं के वीर कृत्यों का प्रशस्तिकार है। उसके लिये जहाँ तक सम्भव हो सके वस्तुगत दृष्टिकोण का पोषण और प्रतिपादन ही अपेक्षित है। ऐतिहासिक सामग्री के वास्तविक वर्णन में लेखक की आत्मझलक अथवा किसी प्रकार की विकृति या सजावट सर्वथा अवांछनीय है। इसके अतिरिक्त विचारों में दृढ़ता के स्थान पर कुछ लचक भी उचित है, क्योंकि प्राचीन भारत की अनेक घटनायें अब तक अन्धकार के गर्भ में हैं, और जो सामग्री उपलब्ध है वह केवल अनिश्चित एवं अधूरी ही नहीं प्रत्युत यदा-कदा परस्परविरोधी भी है। ऐसी स्थिति में कुछ सम्राटों की ऐतिहासिकता तक विवादग्रस्त एवं सन्देहात्मक है। हमारा यह संशयपूर्ण दृष्टिकोण स्वाभाविक ही है, और हमारे पूर्वज भी इससे पूर्णतः मुक्त नहीं थे। प्रसंगवशात् विष्णुपुराण के एक

कथन का साक्ष्य देना असंगत न होगा—"मैंने इस इतिहास का प्रणयन किया। भविष्य में इन राजाओं का अस्तित्व विवादग्रस्त होगा जैसा कि आज राम तथा अन्य दूसरे महान् शासकों का अस्तित्व तक भी सन्देहात्मक हो गया है। बड़े-बड़े सम्राट् भी, जो सोचते थे या सोचते हैं कि 'भारतवर्ष मेरा है', समय के प्रवाह या गर्त में केवल कहानी-मात्र रह जाते हैं। ऐसे साम्राज्यों को धिक्कार है, सम्राट् राघव के साम्राज्य को धिक्कार है।"

प्रस्तुत ग्रन्थ के लिखने का विचार कुछ वर्षों पहले उदय हुआ परन्तु कतिपय कारणों वश, जिनका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है, इसकी पूर्ति न हो सकी। आज भी मैं न तो बृहत्तर भारत पर ही और न पूर्वमध्यकालीन भारतीय इतिहास की प्रमुख विशेषताओं पर ही कोई अध्याय लिख सका हूँ। मुझे आशा है कि अगले संस्करण में इन दोनों अध्यायों की कमी पूरी हो सकेगी। मुद्रण-सामग्री की मूल्य-वृद्धि के कारण मैं इस पुस्तक में किसी प्रकार के चित्र भी न दे सका।

मैं प्राचीन भारत के अपने पूर्ववर्ती इतिहास-लेखकों का अत्यन्त आभारी हूँ। मैंने उनके ग्रन्थों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है, और इसका हिन्दी रूप कई मित्रों के प्रोत्साहन का फल है। इसलिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। मैं अपनी पुत्री कुमारी हेमप्रभा त्रिपाठी तथा पुत्र गिरिजाशंकर त्रिपाठी को भी इसके निर्माण में सहायता देने के हेतु धन्यवाद देता हूँ।

यद्यपि इस पुस्तक में प्रत्येक विषय को सरल, सुबोध, प्रामाणिक और संक्षेपतः व्यापक बनाने की पूरी चेष्टा की गई है तथापि पर्याप्त तत्परता पर भी यदि पाठकों की सूक्ष्म दृष्टि में किसी प्रकार की त्रुटि दिखलाई पड़े तो मैं उसका सहर्ष स्वागत करूँगा। प्रतिपादित विषय अत्यन्त विस्तृत एवं गम्भीर है। अतः इस ग्रन्थ की रचना के समय मुझे महाकवि कालिदास का प्रसिद्ध श्लोक प्रायः स्मरण आता रहा है :

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥

रमाशंकर त्रिपाठी

विषय-सूची

खंड १

अध्याय १

प्रवेशक

अध्याय २

अध्याय ३

ऋग्वैदिक काल

अध्याय ४

उत्तर-वैदिक काल

अध्याय ५

सूत्रों, काव्यों और धर्म-शास्त्रों की सामग्री

खंड २

अध्याय ६

बुद्ध काल

अध्याय ७

विदेशों से सम्पर्क

अध्याय ८

प्रकरण १

प्रकरण २

अध्याय ९

१. अशोक

प्रकरण १

प्रकरण २

अध्याय १०

१. ब्राह्मण साम्राज्य

प्रकरण १

खंड ३

अध्याय १२

१. गुप्त साम्राज्य

अध्याय १३

गुप्तकालीन संस्कृति और नयी शक्तियों का उदय

प्रकरण १

अध्याय १६

उत्तरभारत के मध्यकालीन हिन्दू राजकुल (क्रमागत)

अध्याय १८

सुदूर दक्षिण के राज्य

अध्याय १६

प्राचीन भारत का इतिहास

खंड १

अध्याय १

प्रवेशक।

सामग्री।

इतिहास का अभाव

प्राचीन भारतीय वाङ्मय विशद और समृद्ध होता हुआ भी इतिहास की सामग्री में अत्यन्त न्यून है। समूचे ब्राह्मण, बौद्ध और जैन साहित्य में एक भी ग्रन्थ ऐसा नहीं जो लिवी (Livy) के 'एनल्स' (Annals) अथवा हेरोदोतस् (Herodotus) के 'हिस्टरीज़' (Histories) के समक्ष रखा जा सके। इसका कारण यह नहीं कि भारत का अतीत स्मरणीय घटनाओं में सर्वथा शून्य रहा है। बल्कि सिद्ध तो यह है कि उसके अतीत के युग वीरकृत्यों और राजकुलों के उत्थान-पतन से पूरित रहे हैं। परन्तु आश्चर्य है इन स्तुत्य घटनाओं का तिथिपरक उचित अंकन क्यों नहीं हुआ। संभव है इस महत्वपूर्ण साहित्यिक क्षेत्र की उपेक्षा का कारण ऐतिहासिक मेधा की कमी रही हो; संभव है इसका कारण साहित्य के प्रति उन सम्प्रदायों की उदासीनता रही हो जिनका भारतीय साहित्यों के निर्माण और विकास में काफी हाथ रहा है, और जिन्होंने इस प्रकार के पार्थिव क्षणभंगुर प्रयास को सदा अश्रद्धा से देखा है। पर यह सत्य है कि प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुशीलन में वैज्ञानिक ऐतिहासिक ग्रन्थों का अभाव असाधारण बाधक है[1]।

प्राचीन भारतीय इतिहास की सामग्री मोटे तौर से दो भाग में बांटी जा सकती है—(१) साहित्यिक, और (२) पुरातत्त्व-संबंधी। इन दोनों के भी भारतीय और अभारतीय दो विभाग किए जा सकते हैं[2]। पहले हम साहित्यिक सामग्री पर विचार करेंगे।

---

१. देखिए, अल्बेरूनी: "हिन्दू घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम के प्रति उदासीन हैं। तिथि के अनुक्रम के सम्बन्ध में वे अत्यन्त लापरवाह हैं। जब-जब उनसे कोई ऐसी बात पूछी जाती है जिसका वे उत्तर नहीं दे पाते तब-तब वे कहानियाँ गढ़ने लगते हैं"। [सचाउ, अल्बेरूनी का भारत, खण्ड २, पृ० १०]

२. देखिये, The Imperial Gazetteer of India खण्ड २ [आक्सफोर्ड, १९०९], पृ० १ से आगे।

साहित्यिक सामग्री

अनैतिहासिक ग्रन्थ

भारत का प्राचीनतम साहित्य सर्वथा धार्मिक है। विद्वानों ने फिर भी अत्यन्त धैर्य और अध्यवसाय से उस साहित्य-सागर से बिन्दु-बिन्दु इतिहास बटोरा है। उदाहरणतः, वेदों—विशेषकर 'ऋग्वेद'—से भारत में आर्यों के प्रसार, उनके अन्तः-संघर्ष, और दस्युओं के विरुद्ध युद्धों तथा इस प्रकार के अन्य विषयों पर ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हुई है। इसी प्रकार, ब्राह्मणों (ऐतरेय, पंचविंश, शतपथ, तैत्तिरीय आदि), और उपनिषदों (वृहदारण्यक, छान्दोग्यादि), बौद्धपिटकों (विनय, सुत्त[1] अभिधम्म), जो पाली में है, तथा संस्कृत में लिखे बौद्ध ग्रन्थों (महावस्तु, ललित-विस्तर, बुद्धचरित, दिव्यावदान, लंकावतार, सद्धर्मपुंडरीक), तथा जैनसूत्रों (आचाराङ्गसूत्र, सूत्रकृताङ्ग, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र, आदि)[2] में भी ऐसी सामग्री निहित है जिससे इतिहास की काया सँवारी जा सकती है। आधुनिक वैज्ञानिक खोज ने 'गार्गी-संहिता' के से ज्योतिष-ग्रन्थ और कालिदास[3], भास की साहित्यिक रचनाओं तथा पुरनानूरु, मणिमेकलाई, शिलप्पदिकारम्, तिरुक्कुरल ऐसे तामिल ग्रन्थों तक से ऐतिहासिक सामग्री संकलित की है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों और भाष्यों तक से इस प्रकार की सामग्री आकृष्ट हुई है; वह निस्सन्देह इस वैज्ञानिक इतिहास-कारिता का चमत्कार है। परन्तु यद्यपि ये साधन बहुमूल्य और सम्मान्य हैं उनसे प्रस्तुत निष्कर्ष यथेष्ट नहीं निकलता।

इतिहासपरक साहित्य

अब हम उन ग्रन्थों की ओर संकेत करेंगे जिनकी गणना ऐतिहासिक साहित्य में होती है और जिनमें इतिहास के मूल-तत्त्व हैं। हमारा तात्पर्य 'रामायण' और 'महाभारत' से है। इन महाकाव्यों में हिन्दुओं ने प्राचीन घटनाओं को क्रमवद्ध करने का प्राथमिक ध्यान देने योग्य प्रयत्न किया है, यद्यपि इनके पहले इतिहास का वीज वैदिक साहित्य की वंश तथा गोत्रप्रवर सूचियों और आख्यान, गाथा, नाराशंसी, इतिहास, पुराण आदि में पड़ चुका था। इसमें सन्देह नहीं कि इन प्रबन्ध-काव्यों में भारत की तात्कालिक धार्मिक और सामाजिक स्थितियों का रुचिकर संग्रह हुआ है परन्तु राजनैतिक घटनाओं के क्रमबद्ध इतिहास के रूप में ये नितान्त असन्तोषप्रद हैं।

---

१. सुत्तपिटक पाँच निकायों में विभक्त है—दीघ, मज्झिम, संयुक्त, अङ्गुत्तर, तथा खुद्दक। खुद्दकनिकाय में धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक इत्यादि भी सम्मिलित हैं।

२. इन ग्रन्थों के प्राकृत नाम हैं—आयारंग-सुत्त, सूयगडांग, उत्तराज्झयन। कल्पसूत्र भद्र-बाहुकृत आयारदसाओं (दशश्रुतस्कन्ध) का आठवाँ परिच्छेद है। ये ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के हैं। दिगम्बर जैन भी १२ अंग मानते हैं। हाल में उनके षड्खण्डागम तथा कषायपाहुड़ आदि मान्य ग्रन्थ प्रकाशित हुये हैं। तत्वार्थाधिगम-सूत्रों को दोनों सम्प्रदाय मानते हैं, यद्यपि वह जैन सिद्धान्त का अङ्ग नहीं समझा जाता है।

३. देखिये, श्री उपाध्याय : India in Kalidasa, किताबिस्तान, प्रयाग।

तिथिपरक विकृतियों और कल्पित कथाओं से तो ये क़ाफी भरे हैं। इन महाकाव्यों के के पश्चात् 'पुराणों' का स्थान है जो संख्या में अठारह हैं और जो सूत लोमहर्षण अथवा इनके पुत्र (सौति) उग्रश्रवस द्वारा 'कथित' माने जाते हैं[१]। साधारणतः उनके वर्णित विषय पाँच प्रकार के हैं। (१) सर्ग (आदि सृष्टि, (२) प्रतिसर्ग (क़ाल्पिक प्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि), (३) वंश (देवताओं और ऋषियों के वंशवृक्ष), (४) मन्वन्तर (कल्पों के महायुग जिनमें मानव जाति का पहला जनक मनु है), और (५) वंशानुचरित (प्राचीन राजकुलों का इतिवृत्त)[२]। इनमें केवल अन्तिम—वंशानुचरित मात्र ऐतिहासिक महत्व का है, परन्तु अभाग्यवश यह प्रकरण केवल भविष्य, मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, और भागवत पुराणों में ही मिलता है[3]। इस प्रकार इन प्राचीन आनुश्रुतिक संहिताओं में से अनेक तो ऐतिहासक दृष्टि से सर्वथा निरर्थक हैं। और जो कुछ हैं वह भी अधिकतर पुराणपरक हैं और उनका तिथिक्रम नितान्त उलझा हुआ है। कभी तो वे सम-सामयिक राजकुलों अथवा राजाओं का आनुक्रमिक वर्णन करते हैं, कभी वे कुछ को सर्वथा छोड़ ही देते हैं (उदाहरणतः, पुराणों में भारतीय-पह्लव, कुषाणों आदि का वर्णन नहीं मिलता)। तिथियाँ तो दी ही नहीं गई हैं। अनेक वार राजाओं के नामों में भी भयंकर भूलें हुई हैं (उदाहरणार्थ आन्ध्र राजाओं की सूची)। इतना होने पर भी पुराणों में काम की सामग्री है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती[४]। पुराण उस अन्धकूप में आलोक-रश्मि का काम करते हैं।

पुराणों के अतिरिक्त साहित्य के कुछ और ग्रंथ भी इस संबंध में उपादेय सिद्ध हुए हैं। इनमें से विशिष्ट निम्नलिखित हैं :—बाण का 'हर्षचरित', सन्ध्याकरनन्दी का 'रामचरित', आनन्दभट्ट का 'वल्लालचरित', पद्मगुप्त का 'नवसाहसांकचरित', विल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित', जयानक का 'पृथ्वीराजविजय', और सोमेश्वर की 'कीर्तिकौमुदी' आदि। अभाग्यतः इन 'चरितों' में ऐतिहासिक अंश अत्यन्त स्वल्प है। ये मूलतः काव्यपरक हैं और इनमें स्वभावतया अलंकारों, उपमाओं आदि का अधिकाधिक समावेश है। संस्कृत साहित्य में कल्हण की 'राजतरंगिणी' एकमात्र ग्रन्थ है जिसे हम अपने अर्थ में इतिहास का निकटतम प्रयास कह सकते हैं। इसकी रचना ११४८ ई० में प्रारम्भ हुई थी। इसके ऐतिहासिक आधार इतिहासपरक सुव्रत, क्षेमेन्द्र,

---

१. विष्णुपुराण पराशर द्वारा मैत्रेय को सुनाया गया था, किन्तु अन्य सब पुराण नैमिषारण्य में ऋषियों के द्वादशवर्षयज्ञ के अवसर पर सूत द्वारा कथित माने जाते हैं (पाजिटर, Dynasties of the Kali Age, Introduction पृ० viii) पुराणों में सूत के नाम में भेद है (वही, नोट ५)।

२. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वंतराणि च।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

३. गरुड पुराण में भी, जिसकी तिथि अनिश्चित है, पौरव, ऐक्ष्वाक तथा बार्हद्रथ वंशों की सूची मिलती है।

४. इस सम्बन्ध में गेटे (Goethe) का वक्तव्य स्वाभाविकतया स्मरण हो आता है :—"इतिहासकार का कर्तव्य मिथ्या से सत्य को, अनिश्चित से निश्चित को, अग्राह्य से सन्दिग्ध को पृथक् कर देना है।" maxims नं—४५३

हेलाराज, पद्ममिहिर, नीलमुनि आदि की पूर्वरचनाएँ, राजकीय शासन-पत्र और प्रशस्तियाँ हैं। कल्हण का यह इतिवृत्त अपने रचना-काल के सन्निकट-पूर्व की शताब्दियों के सम्बन्ध में प्रचुर प्रामाण्य है परन्तु और प्राचीन घटनाओं के सम्बन्ध में उसने भी पुराणपन्थी रास्ता नापा है।

इनके अतिरिक्त कुछ तामिल तथा पाली और प्राकृत ग्रन्थ भी हैं जिनका इस संबंध में निर्देश किया जा सकता है। 'नन्दिक्कलम्बकम्', ओट्टकुत्तन् का 'कुलोत्तुंगन्—पिल्लैतमिलं', जयगोन्डार का 'कलिगत्तुपरणी' 'राजराज-शोलन्उला, चोडवंश-चरितम्, आदि इसी प्रकार के कुछ ग्रन्थ हैं। मिलिन्दपन्हो (मिलिन्दप्रश्न) तथा सिंहली पाली इतिहास 'दीपवंश' (चौथी शती ईस्वी) और महानामन् लिखित महावंश (छठी शती ईस्वी) में भी बिखरी राजनैतिक सामग्री मिल जाती है। वाक्पतिराज का 'गउडवहो, और हेमचन्द्र का 'कुमारपालचरितं' आदि प्राकृत ग्रन्थ भी इस सम्बन्ध में उपादेय होंगे।

अभारतीय साहित्य

विदेशी लेखकों और भ्रमकों के वृत्तान्त भी इस दिशा में कम महत्व के नहीं हैं। इनका भारतविषयक ज्ञान सुने हुए वृत्तान्तों अथवा स्वयं देखी हुई अवस्था पर अवलम्बित है। इनमें से अनेक भ्रमक इस देश में आए और ठहरे थे। इनमें अनेक जातियों में पर्यटक और लेखक—ग्रीक, रोमन, चीनी, तिब्बती और मुस्लिम—शामिल हैं। इनमें प्राचीनतम लेखक ग्रीक हेरोडोटस (Herodotus-४८४-४२? ईसा-पूर्व) है। उसने पाँचवीं शती ई० पू० के भारतीय सीमाप्रान्त और हखमी (Achaemenian-ईरानी) साम्राज्य के राजनैतिक संपर्क पर प्रकाश डाला है। ईरान के सम्राट् आर्टज़ेरेक्सस मेमन (Artaxerxes Mnemon) के राजवैद्य टेशियस (Ktesias) ने भी भारत के सम्बन्ध में कुछ लिखा है। इनके अतिरिक्त सिकंदर (Alexander) के कई ग्रीक साथियों ने भारत पर लिखने का प्रयास किया है। इनमें मुख्य हैं—नियार्कस (Nearchus), आनिसिक्राइटुस (Onesicritus) और अरिस्टोबुलुस (Aristobulus)। यद्यपि इनके लेख अब उपलब्ध नहीं हैं किन्तु उनके आधार पर सिकन्दर के भारत पर तूफानी हमले का वर्णन ग्रीक और रोमन लेखकों ने किया है। इनमें उल्लेख्य हैं क्विन्टस कर्टियस (Quintus Curtius), डियोडोरस सिकुलस (Diodorus Siculus), स्ट्रैबो (Strabo), एरियन (Arrian), प्लूटार्क (Plutarch), आदि। इन लेखकों के वृत्तान्तों के महत्व का अटकल इससे ही लगाया जा सकता है कि यदि इनके लेख आज प्रस्तुत न होते तो हम उस अप्रतिम मकदुनियाई आक्रमण की बात किसी प्रकार भी न जान पाते। भारतीय साहित्य इस प्रसंग में सर्वथा मौन है। सीरिया के सम्राट् सिल्यूकस (Seleukos) का राजदूत मेगस्थनीज (Megasthenes) चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में वर्षों रहा था। उसने भी अपनी पुस्तक 'इण्डिका' में भारतीय संस्थाओं, भूगोल और कृषि-फल आदि के विषय में काफी लिखा है। स्वयं यह पुस्तक तो अब उपलब्ध नहीं है परन्तु इसके अनेक लम्बे अवतरण एरियन, अप्पियन, स्ट्रैबो, जस्टिन आदि के ग्रन्थों में आज भी सुरक्षित हैं। इसी प्रकार 'इरिथ्रियन

सागर का पेरिप्लस' और क्लाडियस टालेमी (Klaudios Ptolemy) का 'भूगोल' भी महत्त्वपूर्ण हैं जिनसे प्राचीन भारतीय व्यापार और भूगोल पर प्रकाश पड़ता है। प्लिनी (Pliny-२३ ई०-७६ ई०) की 'नेचुरल हिस्टरी' तथा ईजिप्ट के मठधारी कासमस इंडिकोप्लुस्टस (Cosmas Indicopleustes), जो ५४७ ई० में भारत आया था, उसके द्वारा लिखित 'क्रिश्चियन टोपोग्राफी आफ दि यूनिवर्स' (The Christian Topography of the Universe) भी हमारे लिए उपयोगी पुस्तकें हैं।

ग्रीक और रोमन ग्रन्थों की ही भांति चीनी साहित्य से भी भारतीय इतिहास के निर्माण में बड़ी मदद मिलती है। इसमें उन अनेक मध्यएशियाई जातियों के परिभ्रमण का हवाला मिलता है जिन्होंने भारतीय ऐतिह्य को भले प्रकार से प्रभावित किया था। शु-मा-चीन (S-Su-Ma-Chien-१०० ईसा पूर्व) चीन का प्रथम इतिहास लेखक है जिससे हमको इस सम्बन्ध में कुछ सामग्री मिलती है। चीनी साहित्य में फ़ाह्यान (३६६-४१४ ई०)[1], युवान् च्वांग (६२६-४५ ई०)[2], और ईत्सिंग (लगभग ६७३-६५ ई०), के प्रख्यात वृत्तान्त हैं। ये तीन उन प्रसिद्ध चीनी यात्रियों में मुख्य थे जो ज्ञान की खोज और बुद्ध के संपर्क में पावन स्थलों के दर्शनार्थ भारत आए थे। हुई-ली (Hwui-Li) रचित युवान् च्वांग की 'जीवनी' (Life) तथा मात्वान्लिन (Ma-twan-lin-१३ वीं शती) की कृतियों से भी हमको बहुत कुछ मालूम होता है। तिब्बती लामा तारानाथ के ग्रन्थ', कंग्युर और तंग्युर आदि भी कुछ कम महत्व के नहीं हैं[3]।

इनके पश्चात् मुस्लिम पर्यटकों के वृत्तान्त भी ऐतिहासिक महत्व के हैं। इनके लेखों से पता चलता है कि किस प्रकार इस्लाम की सेनाओं ने धीरे-धीरे भारत पर अधिकार कर भारतीय राजनीति में एक नई व्यवस्था प्रस्तुत कर दी। इन मुस्लिम लेखकों में प्रमुख स्थान अल्बेरूनी का है। उसकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी और संस्कृत का भी वह असाधारण पण्डित था। महमूद के आक्रमणों में वह उसके साथ था। १०३० ई० में उसने अपना 'तहक़ीकए-हिन्द' (तारीख-उलहिन्द) लिखा जो भारत और उसके निवासियों के सम्बन्ध में एक असाधारण आकर है। अल्बेरूनी से भी प्राचीन मुस्लिम लेखक अल्-बिलादुरी (किताब फुतूह अल्-बुल्दान), सुलेमान (सिलसिलात-उत्-तवारीख) और अल् मसऊदी (मुरूज-उल्-जहाब) थे। अन्य मुस्लिम ग्रन्थों में निम्न मुख्य हैं—

अल इस्तखरी का 'किताब उल अक़ालून', इब्न हौकल का 'अस्काल-उल-बिलाद', अल उतबी का 'तारीखए-यमीनी', मिनहाजुद्दीन का 'तबक़ात-ए-नसीरी', निज़ामुद्दीन का 'तबक़ात-ए-अकबरी', हसन निज़ामी का 'ताज-उल् मआसिर', इब्न-उल-अथिर का 'अल तारीख-उल्-कामिल', फिरिश्ता का 'तारीख-ए-फरिश्ता', मीर-

१. देखिए, 'फ़ो-क्वो-की'

२. देखिए, 'सी-यू-की'

३. देखिए, History of Indian Buddhism, Trans. by Antoine Schiefner.

खोंद का 'रौज़त-उस्-सफ़ा', और खोंदमार का 'हबीब-उस्-सियर,' आदि।

इन विदेशी लेखकों के वृत्तान्त प्राचीन भारत की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, भौगोलिक आदि परिस्थितियों पर तो प्रकाश डालते ही हैं, भारतीय तिथि-क्रम की गुत्थियाँ सुलझाने में भी इनसे प्रचुर सहायता मिली है। इनकी सहायता से कितनी ही बार भारतीय राजाओं की समसामयिकता विदेशी राजाओं से स्थापित हो गई है और इन विदेशी राजाओं के काल निश्चित होने के कारण भारतीय तिथि-क्रम भी शुद्ध कर लिया गया है। ग्रीक 'सेन्द्रोकोत्तस' (Sandrokottos) और चन्द्रगुप्त मौर्य की एकता स्थापित हो जाने ही भारतीय तिथिक्रम का आरंभ हुआ।

पुरातत्त्व-संबंधी सामग्री

अभिलेख

जहाँ साहित्यिक सामग्री मूक अथवा स्पष्ट है वहाँ अभिलेखों से बड़ी सहायता मिलती है। हज़ारों अभिलेख अब तक प्राप्त हो चुके हैं, जिनसे प्राचीनतम चौथी पाँचवीं शती ई० पू०[1] के हैं और अनेक भूगर्भ में दबे पुराविद की कुदाल की प्रतीक्षा में हैं। ये अभिलेख, शिलाओं, स्तंभों, प्रस्तर-पट्टों, दरीगृहों की दीवारों, धातु-पत्रों आदि पर खुदे मिले हैं। इनकी भाषा संस्कृत, पाली, प्राकृत, अथवा मिश्रित, काल और देश के अनुरूप प्रयुक्त हुई है। अनेक अभिलेख तामिल, तेलुगू, मलयालम और कन्नड भाषाओं में भी खुदे मिले हैं। कई तो साहित्यिकता की दृष्टि से अत्यन्त महत्व के हैं। ये गद्य, पद्य अथवा चम्पू शैली में हैं। अभिलेख अधिकतर ब्राह्मी लिपि में खुदे हैं जो बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती है, बहुतेरे खरोष्ठी में भी हैं जो अरबी-फारसी की भाँति दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती है। इनका पढ़ा जाना गहरे अध्यवसाय का परिणाम और मेधा का एक चमत्कार है। इन अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे दान या विजय के स्मारक अथवा प्रशस्ति के रूप में खुदे हैं। अशोक के उपदेशपरक अभिलेख अप्रतिम हैं। उनका वर्ग ही पृथक् है। यथार्थतः अभिलेखों के विषय विभिन्न हैं और विविध हैं। धार और अजमेर में तो चट्टानों पर संस्कृत नाटक तक खुदे मिले हैं। पुदुकोट्टा रियासत के कुडिमियामलै में संगीत के नियम अभिलिखित हैं। यह कहना व्यर्थ है कि इन अभिलेखों का महत्व असाधारण है। तिथियाँ स्थापित करने और साहित्यिकों तथा अन्य सामग्रियों को शुद्ध तथा पूर्ण करने में इनकी सहायता असामान्य सिद्ध होती है। उदाहरणतः इनके अभाव में खारवेल और समुद्रगुप्त[2] के से शक्तिमान सम्राटों की कीर्ति पर भी परदा पड़ा रहता और मध्यकालीन हिन्दू राजकुलों का हमारा ज्ञान नितान्त अपूर्ण रह जाता। कभी-कभी विदेशी अभिलेखों से भी हमें भारतीय इतिहास के निर्माण में सहायता

---

१. पिप्रावा (जिला बस्ती) कलश लेख (J. R. A. S., (१८९८; पृ० ५७३-८८) और वडली (अजमेर)—अभिलेख।

२. उनका ज्ञान हमें उनके क्रमशः हाथीगुम्फा और प्रयाग स्तंभ के लेख से होता है।

मिलती है। एशिया माइनर में बोग़ज-कोई का अभिलेख, जिसमें ऋग्वैदिक देवताओं का उल्लेख है[1] संभवतः आर्यों के संक्रमण का साक्षी है। हमने भारत और ईरान के राजनैतिक संबंध की ओर ऊपर संकेत किया है। इसकी पुष्टि पर्सिपोलिस और नक्शए-रुस्तम[2] के लेखों से होती है। इसी प्रकार अभिलेखों से भारत और सुदूर-पूर्व के प्राचीन राजनैतिक संबंध पर भी प्रभूत प्रकाश पड़ा है।

सिक्के

अभिलेखों की ही भांति सिक्के भी भारतीय इतिहास के निर्माण में सबल सहायक सिद्ध हुए हैं। अभिलेखों की भांति सिक्के भी साहित्यिक तथा अन्य सामग्रियों को पूर्ण करते और उनको संशोधित अथवा स्पष्ट करते हैं। सिक्के अनेक धातुओं के ढाले गये हैं—सोना, चाँदी, ताँबा और मिश्रित धातुओं के। इन पर भी लेख या अनेक प्रकार के चिह्न खुदे रहते हैं। जिन सिक्कों पर तिथि खुदी होती है निस्सन्देह वे भारतीय तिथि-क्रम स्थापित करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त जो मुद्रक के नाम तथा तिथि से रहित होते हैं वे भी कुछ कम मूल्यवान नहीं सिद्ध होते। उनकी बनावट और विचित्रता से भी अनेक बातें जानी जाती हैं। हिन्दू-शक और हिन्दू-बाख्त्री राजाओं के संबंध में तो सिक्के ही हमारे ज्ञान के एकमात्र साधन हैं। इन राजाओं के विषय में (एक मिनान्दर के सिवाय) भारतीय साहित्य सर्वथा मूक है। प्राचीन भारत के 'गणों' पर सिक्कों का अध्ययन प्रचुर प्रकाश डालता है। अनेक राजाओं की धार्मिक धारणायें (जैसे कनिष्क की), उनके विशिष्ट गुण (जैसे समुद्रगुप्त के)तथा उनके पराक्रम-पूर्ण काम (जैसे गौतमीपुत्र शातकर्णि और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के) इनसे जाने गए हैं। इनकी धातु का खरापन तत्सामयिक आर्थिक अवस्था को प्रकट करता है। इसी प्रकार उनका प्राप्ति-स्थान राजा-विशेष की शासन-सीमा निर्धारित करने में सहायक होता है। फिर भी इस प्रमाण को काफी सतर्कता से ही देना चाहिए, वरन् इसमें भ्रम हो जाने की भी संभावना रहती है। उदाहरणतः, दक्षिण भारत में रोमन सिक्कों का पाया जाना वहाँ रोमन शासन अथवा रोमन राजनैतिक प्रभाव किसी प्रकार प्रमाणित नहीं करता। यह केवल भारतीय विलास की वस्तुओं और गरम मसालों के बदले धारा-धार बरसने वाले रोमन सुवर्ण के प्रति इतिहासकार प्लिनी के विषाद का स्मरण कराते हैं।

इमारतें

प्राचीन इमारतें और उनके भग्नावशेष भारतीय इतिहास के निर्माण में कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं प्रमाणित हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनका राजनैतिक इतिहास से सहज और सीधा संबंध नहीं है परंतु मन्दिर, स्तूप और विहार राजा और

---

१. ये हैं—इन्-द्-र (इन्द्र), उ-रु-वन (वरुण), मि-इत्-र (मित्र), न-स-अत्-तिइअ (नासत्यौ)।

२. बेहिस्तुन का लेख डेरियस (Darius) द्वारा शासित प्रांतों में भारत का परिगणन नहीं करता।

प्रजा दोनों के समान रूप से धार्मिक विश्वासों के प्रतीक हैं, और काल-विशेष की वास्तु और शिल्प शैलियों पर भी वे प्रकाश डालते हैं। विदेशों के भग्नावशेष भारतीय सांस्कृतिक गौरव के इतिहास में एक नए प्रकरण का निर्माण करते हैं। जावा (यवद्वीप) में दींग के शिवमन्दिर और मध्य जावा के बोरोबोदुर तथा प्रम्बनम् के विशाल मन्दिरों की उत्कीर्ण अनन्त मूर्तियां और इसी प्रकार कम्बुज के अंगकोर वाट तथा अंगकोर थोम के भग्नावशेष प्रमाणित करते हैं कि भारतीयों ने निष्क्रमण कर वहाँ अपने उपनिवेश बनाए थे और अपनी शक्ति तथा संस्कृति का प्रसार किया था[1]। तिथि के विषय में भी इमारतों और उनके भग्नावशेषों का महत्व कुछ कम नहीं है। पुराविदों ने सिद्ध कर दिया है कि इन भग्नावशेषों के स्तरों के अध्ययन से किस प्रकार विविध और विभिन्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त मूर्तियों और भित्तिचित्रों (उदाहरणार्थ, अजन्ता, बाग़) से भी इतिहास के अनुसन्धान में प्रभूत सहायता मिलती है और मिली है।

निष्कर्ष

प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माणार्थ संक्षेप में यही सहायक साधन हैं[2]। आधुनिक इतिहास की तुलना में इस ऐतिहासिक सामग्री का अत्यन्त न्यून होना भारतीय इतिहास के विषय में प्रमुख बात है। और यह न्यून सामग्री ही भारतीय इतिहास के सुविस्तृत प्रांगण को यदा-कदा आलोकित करती है। इतिहासकार को आकर-श्रमिक की भाँति शूल और फावड़े से काम लेना है। उसके शूल और फावड़े अध्यवसाय और सतर्क धारणा हैं। इन्हीं की सहायता से वह अतिरंजन और अलंकार के शब्दजाल से रहित इतिहास-स्वर्ण हस्तगत कर सकता है। विविध स्थानों, विविध युगों में विविध सम्वतों का प्रचलन[3], तिथियों का सर्वथा अभाव प्रतिस्पर्धी परिस्थितियाँ अनेक बार शिलाओं की भाँति उसकी गति का अवरोध करती हैं। परन्तु इन कठिनाइयों का अतिक्रमण करके ही हम प्राचीन भारत का क्रमिक और वैज्ञानिक इतिहास निर्माण कर सकते हैं। यहीं हमें यह भी समझ लेना है कि उत्तराखण्ड भारतीय इतिहास में अपेक्षाकृत अधिक महत्व रखता है। यहीं सागर की उत्ताल तरंगों की भाँति साम्राज्य उठे और टूट कर बिखर गए। यश और महत्वाकांक्षा की

---

१. देखिए, डा० रमेशचन्द्र मजूमदार : Ancient Indian Colonies in the Far East, खण्ड १, चम्पा (Champa); खण्ड २, Suwarnadvipa और ग्रेटर इण्डिया सोसाइटी द्वारा अन्य प्रकाशित साहित्य; डा० बी० आर० चटर्जी : Indian Cultural Influence in Cambodia (कलकत्ता, १९२८); India and Java (कलकत्ता, १९३३),

२. साहित्यिक ग्रन्थ और अभिलेख, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, केवल सांकेतिक हैं। सारे प्राचीन साधनों का हमने यथासंभव उपयोग किया है।

३. देखिए, कनिंघम : Book of Indian Eras. हमें प्रायः बीस सम्वतों का ज्ञान है जो समय-समय पर भारत में चलते रहे।

लिप्सा ने जब तब विन्ध्यपर्वत के दक्षिण की ओर भी अपनी तृषित दृष्टि डाली, परन्तु कभी समूचा भारत पूर्णतया एक छत्र के नीचे न आ सका। मौर्यों के उत्कर्ष के दिनों में भी सुदूर दक्षिण साम्राज्य की सीमा के बाहर ही रहा। प्राचीन भारत की यही राजनैतिक अनेकता उसकी भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता[1] के बावजूद भी उसके इतिहास की सबसे बड़ी दुर्बलता सिद्ध हुई। और इसी कारण राजकुलों के युद्ध और दिग्विजय उसके धार्मिक तथा कला-साहित्यिक उत्कर्षों से कहीं अधिक हमारी दृष्टि को आकर्षित और केन्द्रित करते हैं।

———

१. देखिए डा० राधाकुमुद मुकर्जी : The Fundamental Unity of India (लॉंगमैन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी, १९१४)

अध्याय २

प्रकरण १

पूर्व-प्रस्तर-युग (Palaeolithic Age)

भारत के प्रारंभिक मानव की कहानी अत्यन्त धुंधली और अन्धकारपूर्ण है। साधारण भारतीय का विश्वास है कि मानवता का आदिकाल सुख-समृद्धि का युग था। वह सतयुग था जब मनुष्य को जरा एवं मृत्यु का भय न था और उसकी आवश्यकताएँ अपने आप पूर्ण हो जाया करती थीं, उसे इधर-उधर टकराना नहीं पड़ता था। इतिहास इस प्रकार के किसी स्वर्ण-युग को नहीं जानता। इसके विरुद्ध इतिहास के वैज्ञानिक अनुशीलन से ज्ञात होता है कि प्रारंभिक युग में मनुष्य अज्ञानान्धकार और बर्बरता में डूबा हुआ था और सभ्यता के प्रकाश में वह धीरे-धीरे सदियों के अध्यवसाय के बाद पहुँच सका। और वहाँ तक पहुँचने में उसे कई मंजिलें तय करनी पड़ीं। प्रमाणों से ज्ञात होता है कि भारत का आदि-निवासी संभवतः पूर्व-प्रस्तर-युगीन मनुष्य था। यह मनुष्य नितान्त बर्बर था। वह वृक्ष के नीचे और प्राकृतिक गह्वरों[1] में रहता था। वह कृषि-कर्म नहीं जानता था और उसे संभवतः अग्नि का प्रयोग भी नहीं आता था। बर्तन-भाण्ड बनाने अथवा धातुओं के प्रयोग से वह अनभिज्ञ था। उसके आहार शिकार किए हुए बनैले जानवरों का मांस और प्रकृति द्वारा उपजाए कन्द, मूल, फल आदि थे। उसके शान्ति समय के साधारण काम के और बनैले जन्तुओं तथा जल के जन्तुओं से लड़ने के हथियार घिसे पत्थर के बने थे, जो भद्दे और भोंड़े थे।[2] यह महत्व की बात है कि उनमें से अधिकतर एक विशेष-प्रकार के पत्थर के बने हैं जिसे 'क्वार्टज़ाइट' कहते हैं। जहाँ इस पत्थर का अभाव था वहाँ इस कार्य के लिए अन्य कठोर पत्थर का उपयोग होता था। दक्कन के कुछ स्थानों के अतिरिक्त दक्षिण भारत के मद्रास,

---

१. करनूल जिले की कुछ गुफाएँ पूर्व-प्रस्तर-युगीय मनुष्य का आवास मानी जाती हैं [वी. रंगाचार्य: Pre-Musalman India, खण्ड १, पृ० ४८।]

२. ये हथियार, दस भागों में बाँटे गए हैं—फरसे, बाण, भाले, जमीन खोदने के हथियार, गोल फेंकने वाले पत्थर, लकड़ी काटने वाले, चाकू, छीलनेवाले, (?), हथौड़े, और चमक पैदा करने वाले [?] वही, पृ० ५२-५३।

कुद्दपा, और चिंगलपुट में इस प्रकार के हथियार बहुतायत से प्राप्त हुए हैं।[1] इनमें कुछ हड्डी और लड़की के भी बनते थे परन्तु शीघ्र-नश्य होने के कारण अब ये नष्ट हो गए हैं। पूर्व-प्रस्तर-युगीय मनुष्य अपने मृतकों को गाड़ने के लिए कब्र बनाते थे। ये संभवतः उन्हें जानवरों और पक्षियों के लिए मैदान में फेंक देते थे।

प्रकरण २

उत्तर-प्रस्तर युग (Neolithic Age)

कालांतर में सभ्यता एक मंजिल और आगे बढ़ी और बर्बरता का एक पाया टूट गया। हथियार अभी पत्थर के ही थे, परन्तु भोंड़े हथियारों के साथ-साथ अब ऐसे भी बनने लगे जो तेज और चमकदार होते थे। इन पर एक प्रकार की पालिश भी की जाने लगी थी। यह उत्तर-प्रस्तर-युगीय मनुष्य की सभ्यता थी। मनुष्य की आवश्यकताओं ने अब विभिन्न रूप धारण किया था। इस कारण उनके हरबे-हथियार भी विविध प्रकार के होने लगे थे।[2] इनका परिष्कार और सुघराई सराहनीय है। गुफाओं के अतिरिक्त उस काल के मनुष्य सब अपने लिए आश्रय बना कर रहने लगे थे। इनकी झोपड़ियाँ फ़ूस और घास की होती थीं जिन्हें फ़ूस से छाकर ये मिट्टी से लीप देते थे। ये अग्नि का उपयोग जानते और अपना आहार राँध कर करते थे। ये शिकार करते और मछली मारते थे, पशु-पालन और कृषि-कर्म करते थे। इसका भोजन सादा था—शिकार का मांस, मछली, वन्य उपज, साग, दूध, शहद, वन्य अन्न, आदि। इनके वसन संभवतः पत्ते, वल्कल और पशु-चर्म थे। पहले तो ये भाण्ड हाथ से ही, फिर कुम्हार के चाक पर बनाने लगे थे। मिट्टी के बर्तन या तो सादे या फूल-पत्तों की आकृतियों से चित्रित होते थे। अपने हथियार के लिए तो यह मनुष्य भी कठोर पत्थर का ही उपयोग करता था परन्तु उसकी घरेलू वस्तुएँ अन्य सामग्रियों से बनी होती थीं। वे मनुष्य अपने मृतकों को दफ़नाते और उन पर समाधि बनाते थे, जैसा मिरज़ापुर से मिले कुछ प्रागितिहासकालीन अस्थि-पञ्जरों से सिद्ध है। उसके विरुद्ध अन्त्येष्टि संबंधी हाँडियों की अभिप्राप्ति से यह भी प्रमाणित है कि चूंकि इनका उपयोग मृतकों की भस्म रखने में होता था, शवों को जलाने की प्रथा भी अनजानी न थी। उनका विश्वास था कि चट्टानों और वृक्षों में देवताओं

---

१. Catalogue of Pre-historic Antiquities in the Government Museum, Madras (१९०१); Notes on the Ages and Distribution of Indian Pre-historic Antiquities [१९१६]। इन हथियारों का कर्नल ब्रूस फुट ने अच्छा अध्ययन किया है। और देखिए, पंचानन मित्र : Pre-historic India, [कलकत्ता, १९२३]; ए. सी. लोगन : Old Chipped Stones of India, कलकत्ता, १९०६]; पी. टी. एस. ऐयंगर : The Stone Age in India; वी० रंगाचार्य : Pre-Musalman India, आदि।

२. उनके विभिन्न प्रकारों के लिये देखिए, Pre-Musalman India, खण्ड १, पृ०, १२४-२५.

का निवास है, इससे वे इन प्रकृति की आत्माओं को पूजते थे और इनको प्रसन्न करने के लिए वे उन्हें जीवों की बलि और भोजन-पानादि प्रदान करते थे। इनके अतिरिक्त विन्ध्याचल की गुफाओं में कुछ 'कटोरीदार-चिह्न' और रेखाचित्र मिले हैं जिनसे इस काल के मनुष्यों की कलात्मिका प्रवृत्तियों का भी पता चलता है। इन सारी बातों से ज्ञात होता है कि इन दोनों सभ्यताओं में प्रचुर अन्तर पड़ गया था, अतः इनके निर्माताओं—पूर्व-प्रस्तर-युगीय और उत्तर-प्रस्तर-युगीय मनुष्यों—के बीच सदियों का अन्तर पड़ा होगा। इसी कारण कुछ विद्वान् तो उत्तर-प्रस्तर-युगीयों को पूर्व-प्रस्तर-युगीयों की सन्तान ही मानने में आपत्ति करते हैं। परन्तु स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में कोई निर्णय इस विषय में अन्तिम नहीं माना जा सकता। इतना निश्चित है कि उत्तर-प्रस्तर-युगीय सभ्यता का विस्तार बड़ा था और उस युग के अवशेष प्रायः सारे देश में, विशेषकर बेल्लारी, सालेम, करनूल और मद्रास प्रांत के अन्य ज़िलों में पाए गए हैं।

प्रकरण ३

१. धातुओं का उपयोग

अनेक शताब्दियों बाद भारत में संभवतः उत्तर-प्रस्तर-युगीय मनुष्य ने धातुओं का प्रयोग जाना। स्वर्ण का ज्ञान शायद उन्हें सबसे पहले हुआ परन्तु इस धातु का उपयोग केवल आभूषण बनाने में होता था। उसके हरबे-हथियार अन्य कठिन धातुओं के बने होते थे। अनेक प्राचीन स्थलों में मिले अवशेषों से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत में तो पत्थर का स्थान सीधे लोहे ने ले लिया, परंतु उत्तर भारत में फरसे, तलवार, बर्छे, खंजर आदि पहले तो ताँबे के बने, फिर लोहे के। प्रायः सारे उत्तर-भारत में, हुगली से सिन्धुनद और हिमालय से कानपुर तक, ताँबे के बने हथियारों के ढेर मिले हैं। जिन युगों में इन धातुओं का उपयोग अधिकाधिक होने लगा था उसको लौह या ताम्रयुग कहते हैं। यह स्मरण रखने की बात है कि सिन्धु को छोड़कर भारत में और कहीं उत्तर-प्रस्तर-युग और लौहयुग के बीच कोई काँसे का युग नहीं हुआ। अन्य देशों में एक काँसा-युग होने का भी पता चलता है। काँसा ताँबे और टिन का[1] मिश्रण होने के कारण, कठिन होता है और इसी से हथियारों के योग्य विशिष्ट होता है। परन्तु भारतीय मनुष्य ने इसका उपयोग उस काल नहीं किया। इस धातु के बने जो थोड़े हथियार जबलपुर में मिले हैं विद्वानों की राय में वे या तो प्रयोगार्थ (Experimental) प्रस्तुत किये गये या विदेशी हैं। कटोरे और अन्य पात्र-पदार्थ जो दक्षिण-भारत के क़ब्रगाहों में मिले हैं केवल श्रीमानों के घरेलू इस्तेमाल के लिए हैं। उनसे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वे उस युग के हैं जब हरबे-हथियार साधारण रूप से काँसे के बनने लगे थे।

१. काँसे में साधारणतया टिन के एक हिस्से और ताँबे के नौ हिस्से का औसत होता है।

२. द्रविड़

द्रविड़ भारत की प्राचीनतम सभ्य जातियों में से एक हैं। इस नाम का आधार संस्कृत का 'द्रविड़' शब्द है। अभाग्यवश इनके मूल स्थान के विषय में अभी तक अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सका। अनेक विद्वानों का मत है कि द्रविड़ भारत के उन प्राचीनतम निवासियों की ही सन्तान हैं जिन्होंने धीरे-धीरे बर्बरता की मंज़िलें तय कर सभ्यता के क्षेत्र में पाँव रखे। इसके विरुद्ध अन्य विद्वानों का मत है कि द्रविड़ तिब्बत के पठार या मध्य एशिया के तूरान देश से भारत में आए। साधारणतया, पश्चिमी एशिया उनका मूल स्थान माना जाता है। द्रविड़ और सुमेरी मानव आकृतियों का अध्ययन भी इस निष्कर्ष को पुष्ट करता है। इस संबंध में यह स्मरण रखने की बात है कि बलूचिस्तान के एक खण्ड में द्रविड़ बोली की एक ज़बान 'ब्राहूई' बोली जाती है। इससे यह धारणा होती है कि भारत आते समय द्रविड़ों का एक दल मार्ग में बलूचिस्तान में ही रह गया जिसकी सन्तति वा पड़ोसी आज भी वह ज़बान बोलते हैं। यह धारणा सत्य हो सकती है, यद्यपि इस संबंध में एक मत यह भी दिया जाता है कि संभवतः भारत से द्रविड़ों का बलूचिस्तान की ओर निष्क्रमण हुआ। द्रविड़ जो भी रहे हों, चाहे जहाँ से आए हों[1], यह सत्य है कि उत्तर और दक्षिण दोनों भारतीय भूखण्डों की आबादियों में उनका अनुपात प्रचुर रहा है। दक्षिण भारत में तो उनकी भाषाएँ प्रमुख हैं ही, उनकी विशेषताएँ वैदिक और काव्यकालिक संस्कृत, प्राकृतों, और उनसे निकली वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं में भी पाई जाती है।[2] द्रविड़ धातुओं का उपयोग जानते थे और उनके बर्तन्-भाण्ड भी उन्नत प्रकार के थे। वे कृषिकर्म तो करते ही थे, सिंचाई के कार्य के लिए नदियों के जल को रोक कर उनमें 'डैम'(बाँध) बनाने वाली संसार की जातियों में संभवतः वे प्रथम थे। वे गृह और दुर्ग-निर्माण जानते थे। उनके गांवों का शासन मुखिया करते थे। डा० बार्नेट की राय में द्रविड़ों की सामाजिक व्यवस्था कुछ अंशों में मातृसत्ताक थी और उनका धर्म भयानक और घृणोत्पादक था।'[3] वे मातृदेवी और प्रेतों की पूजा करते थे और इनके प्रसादन के निमित्त मनुष्य-बलि तक देते थे। वे लिंग-पूजा भी करते थे। संभवतः द्रविड़ 'ऋग्वेद' के 'दास' और 'दस्यु' थे। इनके विषय में आर्यों के प्रसंग में हम अधिक उल्लेख करेंगे।

---

१. अनेक पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि द्रविड़ 'मेडिटेरेनियन' जाति के हैं।

२. Cam. Hist. Ind., खण्ड १, पृ० ४२।

३. Antiquities of India, पृ० ४।

प्रकरण ४

प्रस्तर-धातु युग (Chalcolithic Age)

नई खोजों का महत्व

अब तक हमारा मार्ग तम-पूर्ण रहा है। परन्तु आगे भारतीय सभ्यता की गोधूलि दीखने लगी है। मांटगुमरी ज़िले के हड़प्पा और सिंघ के लरकाना ज़िले में मोहनजो-दड़ों में, पंजाब के कुछ अन्य स्थानों में, सिन्ध के कान्हू-दड़ो, भूकर-दड़ो आदि में, बलूचिस्तान की केलात रियासत के नाल आदि स्थानों में पुरातत्त्वसंबंधी खुदाइयों में जो भग्नावशेष मिले हैं उनसे प्रमाणित है कि ऋग्वैदिक काल से शायद सदियों पूर्व सिन्धु के काँठे में जीवन लहरें मारता था, सभ्यता सक्रिय थी। इस काँठे के मानव केन्द्रों की संस्कृति उच्चकोटि की थी। अनेक अंशों में मेसोपोतामिया, एलम और मिस्र की सभ्यताओं से वह आगे थी। इस सैन्धव सभ्यता को प्रस्तर-धातु युगीय (Chalcolithic) कहते हैं क्योंकि इस युग में पत्थर के हथियारों और भाण्डों के साथ-साथ ही ताँबे और काँसे के हथियार और भाण्ड भी प्रयुक्त होने लगे थे। इस सुदूर अतीत को समझने के लिए हमें मोहनजो-दड़ो[1] से उपलब्ध सामग्री का अध्ययन करना होगा। यह सामग्री अन्य स्थानों से प्राप्त सामग्री के समान ही है। इस अध्ययन से इस सभ्यता की रूप-रेखा स्पष्ट हो आयेगी।

इमारतें

मोहनजो-दड़ो ('मृतकों का नगर') आज खंडहरों का ढेर है। यह कहना कठिन है कि उस नगर का विध्वंस किस कारण हुआ। भूकम्प, बाढ़, सिन्धु नद का प्रवाहान्तर-जलवायु में परिवर्तन, आक्रमण, कोई भी इसका कारण हो सकता है। परन्तु जल की सतह तक जो खुदाई हुई है उससे प्रमाणित है कि यह सभ्यता इस स्थल पर सदियों जीवित रही होगी। यह समृद्ध नगर 'प्लान' के अनुरूप बना था। इसकी चौड़ी सड़कें और गलियाँ क्रमिक अन्तर पर एक दूसरे को काटती थीं। इमारतें छोटी-बड़ी, ऊँची-नीची सब तरह की थीं। अधिकतर वे सादी किन्तु शालीन थीं[2]। पत्थर के अभाव के कारण दीवारें पकाई ईंटों की बनी हैं जो मिट्टी के गारे के

---

१. देखिये, सर जान मार्शल : Mohenjo-daro and the Indus Civilisation (३ खण्डों में); के० एन० दीक्षित : Pre-historic civilisation of the Indus Valley (मद्रास, १९३९); एन० ला० Ind. His. Quart., मार्च १९३२ (खण्ड ८, नं० १ पृ० १२१-६४); मेके, The Indus civilisation Mem. Arch Surv. Ind., न० ४१ और ४८; हड़प्पा पर देखिये, माधोस्वरूप वत्स Excavations at Harappa, खण्ड १ और २, (१९४०)

२. मकानों की सादगी क्या निवासियों की सादगी का प्रतिबिम्ब है ? अथवा गृहस्वामी टैक्स से बचने के लिए समृद्धि के सारे चिह्न छिपा लेते थे ?

अथवा चूने से जोड़ी गई थीं। सूर्यतपी कच्ची या भोंड़ी ईंटें नींव और छत के घेरे के काम आती थीं। जल-वायु का प्रकोप उनको हानि न पहुँचा सकता था। दो-मंज़िले मकानों में सोपान मार्ग (जीने) बने हुए थे। मकानों में खिड़कियाँ और दरवाज़े थे तथा स्नानागार और ईंटों के बने गोल कुएँ थे। व्यक्तिगत और सार्वजनिक सफ़ाई की नालियाँ अद्भुत थीं। स्थान स्थान पर कूड़ा डालने का प्रबन्ध था। नगर की सफाई का यह प्रबन्ध उस काल को देखते हुए असाधारण कहा जाएगा। निवासी समृद्ध और सुखी थे। उनके साधारण गृह भी आवश्यकताओं की वस्तुओं और सुविधाओं से पूरित थे। ऊँचे-बड़े भवन संभवतः सार्वजनिक थे। उनमें से एक जो मध्य-काल का स्तंभयुक्त बड़ा हाल है, मन्दिर जान पड़ता है, यद्यपि उसमें किसी प्रकार की मूर्तियाँ नहीं मिलीं। परन्तु इन भग्नावशेषों में से सबसे महत्वपूर्ण एक प्रशस्त जलाशय है—स्नानसर, ३९ फ़ीट लंबा, २३ फ़ीट चौड़ा, ८ फ़ीट गहरा—जिसकी दीवारें पक्की हैं और छोरों पर जल की सतह तक सीढ़ियां हैं। चतुर्दिक बरामदे, गैलरियाँ और कमरे हैं। यह जलाशय जल से भरा और खाली कर दिया जाता था। इसको भरने के लिए पास ही एक कुआँ था। इसे खाली करने वाली प्रणाली अत्यंत असाधारण है, छः फ़ीट से ऊँची। इस स्नानसर के साथ एक हम्माम भी है जिससे प्रमाणित है कि वे स्नानार्थ गर्म जल की व्यवस्था भी जानते और करते थे।

कृषि

इस सिंधु-सभ्यता की कृषि के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त थोड़ा है, यद्यपि मोहनजो-दड़ो और हड़प्पा जैसे विशाल नगरों से प्रमाणित है कि वहाँ भोजन प्रभूत मात्रा में प्राप्त रहा होगा। गेहूँ और जौ के दाने जो वहाँ मिले हैं, सिद्ध करते हैं कि इनकी खेती वहाँ होती थी। यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ जोतने के लिए फल-युक्त हल का प्रयोग होता था या नहीं। विद्वानों का विश्वास है कि उस प्राचीन काल में सिन्धु में वर्षा बहुत होती थी।[1] इसके अतिरिक्त नदी के सामीप्य[2] से भी सिंचाई के कार्य में सुविधा रही होगी।

आहार

जिन अनाजों और खजूरों (जिनकी गुठलियाँ वहाँ मिली हैं) के अतिरिक्त अधजली हड्डियों आदि से ज्ञात होता है कि सैन्धवों के भोजन में शूकर-गो-मांस, भेड़ों और जल-जन्तुओं के मांस, मछली, मुर्ग़ आदि भी शामिल थे। उनके आहार के अंग संभवतः दूध और विविध शाक भी थे।

पशु

सैन्धव अनेक पालतू पशुओं का गृह-कार्य में उपयोग करते थे। इनमें से

१. 'ड्रेनेज' का इतना सुन्दर प्रबन्ध और पकाई ईंटों का भवनों के खुले भागों में प्रयोग भी यही प्रमाणित करते हैं।

२. सिन्धु। सिन्धु के अतिरिक्त एक नदी मिहरान भी थी जो चौदहवीं सदी ईस्वी में सूख गई।

जिनके ग्रस्थि-पञ्जर मिले हैं, वे हैं—साँड़, भेड़ बकरे, शूकर, भैंस, ऊँट[1], और हाथी। ग्रस्थि-पञ्जर कुत्ते और घोड़े के भी मिले हैं परन्तु सतह के कुछ ही नीचे। जिससे स्पष्ट है कि ये उत्तरकालीन हैं और संभवतः इस सभ्यता के नहीं हैं। इस सभ्यता के जाने हुए बनैले पशु थे गैंड़े, भैंसे, बन्दर, शेर, भालू, खरगोश, आदि जिनके चित्र यहाँ से प्राप्त मुहरों और ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण हैं।

पत्थर और धातुएँ

पत्थर स्पष्टतः इस भू-खंड में अलभ्य था। इस कारण द्वार, चौखट, चक्की, लोढ़ा, मूर्ति आदि कुछ ही उपयोगों के लिए इसको बाहर से मँगाते थे। इस सभ्यता की जानी हुई धातुओं में सोना, चाँदी, ताँबा, टिन, सीसा आदि थे जिनका उपयोग अनेक प्रकार से होता था। मोहेनजो-दड़ो के प्राचीनतम स्तर में काँसे की अभिप्राप्ति इस धातु का प्रयोग भी प्रमाणित करती है। लोहा वहाँ किसी रूप में नहीं पाया गया।

आभूषण

आभूषण, विशेषकर हार, कुण्डल, दानों का कमरकस, अँगूठी, कड़े, बाजूबन्द, नर-नारी दोनों ही यथोचित पहनते थे। धनाढ्य नागरिक सोने, चाँदी, हाथी-दाँत और मूल्यवान् पत्थरों जैसे गोमेद, स्फटिक आदि के आभूषण पहनते थे और साधारण जन ताँबे, हड्डी, पकी मिट्टी आदि के।

बर्तन-भाण्ड आदि

बर्तन-भाण्डादि, घरेलू वस्तुओं के अनन्त उदाहरण इस सभ्यता में उपलब्ध हुए हैं। इनमें से अधिकांश मिट्टी के हैं। कटोरियाँ, रकाबियाँ, तश्तरियाँ, प्याले, मटके, कुण्डे, भण्डार के कलश आदि भी बड़ी संख्या में मिले हैं। साधारणतया मिट्टी के बर्तन चाक के बने थे जिन पर चित्रांकन किया होता था और जो कभी-कभी 'ग्लेज़' करके चमका भी दिए जाते थे।

अस्त्र-शस्त्र

युद्ध और आखेट में व्यवहृत होने वाले अस्त्र-शस्त्र अब पत्थर के बजाय ताँबे और काँसे के बनने लगे थे। गदा, फरसे, खंजर, बर्छे, धनुष-बाण और पत्थर फेंकने वाले जाल या यंत्र का व्यवहार होता था। ढाल, शिरस्त्राण और कवच आदि रक्षा के साधन संभवतः अज्ञात थे। इसी प्रकार वहाँ उपलब्ध वस्तुओं में तलवार का भी अभाव है। शायद उसका भी प्रयोग नहीं होता था।

बटखरे

बटखरे, खेलने की गोलियाँ और पाँसे पत्थर के बनते थे। सैंधव सभ्यता के अवशेषों में इनका स्थान साधारण है। यह महत्व की बात है कि वैदिक आर्यों की ही भाँति इस सभ्यता के लोगों को भी पाँसा प्रिय था। बटखरों में हल्की मात्रा वाले

१. डा० मैके को इसमें भी सन्देह है कि सिन्धु घाटी के लोग ऊँट से परिचित थे। (देखिए The Indus Civilisation, पृ० ४४)।

बहुधा बिल्लौर (Chert) या स्लेटी पत्थर के बने हैं और प्रायः छपहले आकृति के हैं, परन्तु भारी मात्रा वाले गोल पेंदी के नोकीले हैं। विद्वानों का मत है कि इन बटखरों की तोल की सच्चाई मैसोपोतामिया और एलम के बटखरों से कहीं अधिक है।

खिलौने

खिलौने अधिकंतर पक्षियों, पशुओं, मानव नर-नारियों, झुनझुनों, सीटियों, घरेलू चीज़ों, गाड़ियों आदि की नक़ल हैं। ये अधिकतर मिट्टी के बने हैं और जब-तब जीवन के वास्तविक रूपों को प्रकट करते हैं।

कातना-बुनना

असंख्य तकुओं या सूत की नलियों की उपलब्धि से ज्ञात होता है कि मोहेनजो-दड़ो के घरों में सूत बहुतायत से काता जाता था। धनियों की नलियाँ चिकनी-चमकती मिट्टी की बनती थीं, और साधारण जनता की मामूली मिट्टी की। गरम कपड़ों के लिए ऊन का व्यवहार होता था, और अन्य वस्त्रों के अर्थ रूई का। रूई के बने कपड़ों का एक टुकड़ा चाँदी के कलश पर चिपका मिला है। वैज्ञानिक समीक्षा से पता चलता है कि यह भारतीय मोटे मेल की बटी हुई बनावट का एक खास नमूना है।

वसन

इस सभ्यता के निवासियों के पहनावे उनकी शारीरिक विभिन्नताओं की भाँति ही विविध प्रकार के थे। एक नर-मूर्ति एक लंबा शाल दाहिनी बाँह के नीचे से बाँए कन्धे के ऊपर फेंक कर ओढ़े हुए है। यह स्पष्ट नहीं है कि शाल के नीचे छोटा अँगरखा या लँगोट पहना जाता था अथवा नहीं। इस सभ्यता में जो अनेक नग्न मूर्तियाँ मिली हैं—और पकी हुए मिट्टी की मूर्तियाँ (Terracotta figurines) तो सिर के पहनावे तथा आभूषणों को छोड़कर अधिकतर बिल्कुल नग्न ही मिली हैं—उनसे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वहाँ के निवासी नग्न रहते थे। ये मूर्तियाँ संभवतः पूजापरक थीं।

धर्म

इस सभ्यता का हमारा धार्मिक ज्ञान उपलब्ध मुहरों, ताम्रपत्रों, धातु-प्रस्तर-मिट्टी की प्रतिमाओं पर अवलंबित है। और इसी कारण वह इन्हीं सीमाओं से परिमित भी है। पूजा के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रतिष्ठा संभवतः उस मातृ-शक्ति[1] की थी जिसकी आराधना प्राचीन काल में ईरान से लेकर इजियन सागर तक के सारे देशों में होती थी। इस मातृ-पूजा के लिए भारत की भूमि अत्यन्त उर्वर सिद्ध हुई और इस आधार से ही उठ कर शाक्तधर्म ने अपने अनन्त क्रियानुष्ठानों की परम्परा खड़ी

---

१. सुदूर अतीत काल से ही भारत 'प्रकृति', 'शक्ति' (अपेक्षाकृत पश्चात्काल में), 'पृथ्वी', और अनेक 'ग्रामदेवताओं' की पूजा-भूमि रहा है। इस मातृ-पूजा ने अम्बा-माता आदि अनेक पूजाओं का समय-समय पर रूप धारण किया है।

की। एक मुद्रा (मुहर) पर लाक्षणिक रूप से योगी-मुद्रा में बैठे पशुओं से समावृत त्रिमुखधारी एक देवता की आकृति उत्कीर्ण है जो संभवतः शिव का ही पशुपतिरूप है। यदि यह अनुमान सत्य है तो शैव धर्म का आज के सक्रिय धर्मों में सबसे प्राचीन होना सिद्ध हो जाएगा। पूजा की अनेक प्रस्तर आकृतियों से प्रमाणित है कि उस काल जननेन्द्रियों (लिङ्ग तथा योनि) की आराधना भी प्रभूत रूप से प्रचलित थी। इसी प्रकार मुहरों पर वृक्ष-पूजन और पशु-पूजन भी अनेक प्रकार से अंकित हैं। आज के साधारण हिन्दू धर्म में इस सभ्यता के अनेकांश प्रतिबिंबित हैं जिससे भारतीय संस्कृति की यह कालोत्तर एकता अविच्छिन्न रूप में प्रतिष्ठित है।

मृतक संस्कार

मोहेनजो-दड़ो और हड़प्पा से उपलब्ध सामग्री के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि मृतकों के संस्कार तीन रूप से होते थे। १—या तो उनको पूरी समाधि दी जाती थी। या २—पहले उनसे पशु-पक्षियों को तुष्ट कर उनको दफ़नाया जाता था या ३—उन्हें पहले जला कर फिर उनकी भस्म को हाँडियों में रख कर गाड़ देते थे। इस प्रकार की भस्म तथा जली अस्थियों से भरी हाँडियों और कलशों से जान पड़ता है कि इस सभ्यता के प्रौढ़ काल में दाह-क्रिया ही प्रशस्त मानी जाती थी और साधारणतया प्रचलित थी। मोहेनजो-दड़ो की सड़कों और एक कमरे से प्रायः बीस अस्थि-पंजर उपलब्ध हुए हैं, परन्तु वहाँ एक कब्रगाह का भी पता नहीं चला है। परन्तु हड़प्पा में इन प्राचीन टीलों के पास की ही समतल भूमि में क़ब्रगाह मिली है। यहाँ से प्राप्त भांडों पर पशुओं और वनस्पतियों का एक विशेष प्रकार से अंकन हुआ है।

लेखन शैली[1]

सैन्धव-सभ्यता के उत्खनन से प्राप्त सामग्रियों से प्रमाणित है कि इसके नागरिक किसी प्रकार की लेखन शैली से अवश्य अवगत थे। यह निष्कर्ष अत्यन्त सुदृढ़ आधार पर अवलंबित है। इसमें सन्देह नहीं कि अस्सीरिया और मिश्र की भाँति यहाँ अभिलिखित प्रस्तर अथवा मृत्तिका-पट्टिकाएँ नहीं मिली हैं, परन्तु उत्खचित-उल्लिखित मुहरों की जो राशि[2] मिली है वह इसे सिद्ध करने में अकाट्य प्रमाण है। इन मुहरों पर गेंडे, साँड़ और अन्य पश्वाकृतियों के साथ-साथ एक प्रकार का उत्कीर्ण आलेखन भी है जिसे विद्वानों ने मिस्री, मिनोअन, सुमेरी, और प्रागेलमी वर्ग का ही माना है। इस लिपि के अध्ययनार्थ विद्वानों के सारे प्रयत्न अब तक असफल सिद्ध हुए हैं। उनका साधारण विश्वास है कि यह लेखन-शैली भी चित्र-

---

१. देखिए, डा० जी०आर० हन्टर : Script of Harappa and Mohenjodaro (१९३४); एच. हेरास : The Story of the two Mohenjodaro Signs, J. B. H. U., खण्ड २. भाग १, पृ० १-६ पर प्रकाशित।

२. देखिए, एल. ए. वाडेल : the Indo-Sumerian Seals Deciphered (लन्दन:,१९२५),

प्रणाली की है और इसका प्रत्येक चिह्न[1] समूचे शब्द अथवा वस्तु को प्रकट करता है। कुछ मात्राएँ, जिन्हें विद्वानों ने स्वर-चिह्न अनुमित किया है, संभवतः इस लेखन का पश्चात्कालीन विकास प्रकट करती हैं। विद्वानों का मत है कि साधारणतया इस लिपि की लिखावट दाहिनी से बाँई ओर को है परन्तु कुछ लिखावटों में उस प्रणाली का प्रयोग है जिसको 'बूस्त्रोफ़ेदन' (boustrophedon) कहते हैं। इसमें अभिलेख पहली पंक्ति में दाहिनी ओर से बाईं ओर को और दूसरी में बाईं से दाहिनी ओर को लिखे जाते हैं। इस लिपि का सम्बन्ध इसके अनुशीलन के इस मंजिल पर 'ब्राह्मी' से किसी प्रकार स्थापित नहीं किया जा सकता। संभवतः यह सैन्धव लिपि भारत के अन्य भागों में प्रचलित न हो सकी, और वह स्वयं अपनी भूमि में भी लंबे काल तक जीवित न रह सकी।

कला

कला के क्षेत्र में, विशेषकर ढालने वाली कला मे, सैन्धव-सभ्यता ने आकाश चूम लिया था। भाण्डों पर चित्राकन उसके नागरिकों को विशेष प्रिय था। इनके कुछ सुन्दर नमूने—वर्ण और अंकन दोनों रूप में—हमें प्राप्त हैं।

पत्थर और कांसे की समूची कोरी मूर्तियों में तात्कालीनों ने कला में प्राण फूंक दिये हैं। इनकी सजीवता और प्रत्यंगीय चारुता बेजोड़ हैं। इनका 'फिनिश' अनुपम है। उदाहरणार्थ, नर्तकी की मूर्ति प्रस्तुत की जा सकती है। दाहिने पाँव पर खड़ी, बांई टाँग को सामने अवलंबित किए इस नर्तकी-मूर्ति ने जिस सक्रिय, सजीव, गतिशील मुद्रा को प्रदर्शित किया है निस्संदेह वह अप्रतिम है। उसके जोड़ का 'माडल' ऐतिहासिक कालीन कला के सुविस्तृत क्षेत्र में एक भी नहीं है। यह मूर्ति अपनी उपमा आप प्रतिष्ठित करती है।

परन्तु इस क्षेत्र में सबसे सुन्दर नमूने छोटी बड़ी मुहरों पर उत्कीर्ण रेखाचित्रों और उभरी आकृत्यंकनों में मिलते हैं। इनमें पशुओं—विशेषकर शक्तिपुंज साँड़ का अंकन विशिष्ट और अनुपम है। प्रकृति के चेतन रूप का इतना यथार्थ अनुकरण मानव ने शायद किसी काल नहीं किया। इन विभूतियों की उपलब्धि ने प्रमाणित कर दिया है कि सैन्धव सभ्यता के नागरिक भी प्राचीन ग्रीकों की भांति कला के जागरूक प्रेमी थे और चारु तथा सम्मोहक अंकन कर सकते थे।

सैन्धव-सभ्यता के निर्माता

इस प्राचीन और सशक्त सभ्यता के निर्माता कौन थे? यह प्रश्न सहज ही उठता है। अस्थियों और प्रतिमा-मस्तकों[2] के वैज्ञानिक अध्ययन से प्रकट होता है कि यह सभ्यता अन्तरावलंबित थी। इसमें संभवतः अनेक जातियों का योग था। इस अध्ययन से इसमें बसने वाली चार जातियों का पता चला है—प्रागस्त्रलायद

---

१. इस प्रकार के ३९६ चिह्नों की तालिका स्मिथ तथा गैड द्वारा प्रस्तुत की गई है।

२. परन्तु इस प्रमाण का अध्ययन बड़ी सतर्कता से होना चाहिए। आखिर कलाकार मानव जाति के इतिहास के वैज्ञानिक न थे, और इन मस्तकों की संख्या भी इतनी नहीं कि इनसे अकाट्य निष्कर्ष निकाला जा सके (Hindu Civilization, पृ० २८).

(proto-Australoid), मेडिटरेनियन, अल्पाइन, और मंगोलियन। इनमें से कौन सी जाति इस सभ्यता की प्रमुख निर्माता थी—इस विषय में अनेक कल्पनाएँ की गई हैं। एक मत तो यह है कि यहाँ के निवासी प्राग्वैदिक द्रविड़ थे जिनकी सभ्यता आर्यों ने नष्ट कर दी। दूसरा मत इसे आर्यों द्वारा निर्मित मानता है जिससे ऋग्वेद की तिथि सुदूर अतीत में हट जाती है। अन्य इस सभ्यता के नागरिकों को सुमेरियनों तथा उनके बन्धुओं का सपिण्ड मानते हैं और एतदर्थ सुमेर, एलम, तथा सैन्धव सभ्यता की समताएँ प्रस्तुत करते हैं। समताएँ इस मत की कुछ पुष्टि भी करती हैं, परन्तु शारीरिक अध्ययन पर अवलंबित सांस्कृतिक धारणाएँ और युक्तियाँ फिर भी दुर्बल ही होती हैं। इस कारण जब तक कि अन्य अकाट्य प्रमाण इस प्रश्न को हल न कर दें हम इस विषय में निश्चित निर्णय नहीं दे सकते।

मूल और प्रसार

ऊपर बताया जा चुका है कि इस सैन्धव सभ्यता के अवशेष मोहेनजो-दड़ो और हड़प्पा के अतिरिक्त उत्तर और दक्षिणी सिन्ध (झुखर-दड़ो, चन्हु-दड़ो) में दक्षिण पंजाब और बलूचिस्तान (केलात-रियासत के नाल) इत्यादि में भी मिले हैं। इस सभ्यता के चिह्न गंगा के काँठे में नहीं मिले, जहाँ उत्तर काल में भारतीय सांस्कृतिक और राजनैतिक इतिहास का इतना लोकोत्तर विकास हुआ था। फिर इस सैन्धव सभ्यता का मूल कहाँ था? क्या यह भारत-भूमि की अपनी अभिसृष्टि थी? अथवा इसने एलम, मेसोपोतामिया और अन्य पश्चिमी एशियाई सभ्यताओं के सम्पर्क, संघर्ष और समन्वय से अपनी काया का निर्माण और विकास किया था? ऐतिहासिक ज्ञान की इस सीमा पर खड़े अभी हमारा इस विषय में मौन ही सराह्य और उचित है।

काल

हमारे पास इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं कि सिन्धु काँठे की यह सभ्यता कब से कब तक जीवित रही। परन्तु मोहेनजो-दड़ो के सप्तस्तरीय भग्नावशेषों के अध्ययन ने इस सभ्यता का काल-प्रसार प्रायः ३२५० और २७५० ई० पू० के बीच माना है। इन सात स्तरों में तीन युग पश्चात्कालीन हैं, तीन मध्यकालीन हैं, और एक प्राचीन है। इनके अतिरिक्त इस सभ्यता के संभवतः अन्य प्राचीनतर स्तर भी रहे होंगे जो आज पातालीय जल में डूब गये हैं और पुरातत्त्वपरक खुदाई इस जल की सतह के नीचे नहीं की जा सकी है। जाने हुए सात स्तरों में से प्रत्येक के काल प्रसार को प्रायः दो-तीन पीढ़ी का अर्थात् कुल पाँच सौ वर्ष मान कर ही विद्वानों ने इस सभ्यता का जीवन-परिमाण मापा है। यह सर्वथा मान्य है कि इस सभ्यता का आरंभ अधिक प्राचीन रहा होगा क्योंकि मोहेनजो-दड़ो का जटिल और समन्वित नागरिक जीवन निस्सन्देह शताब्दियों के विकास का परिणाम था। फिर इसके और मेसोपोतामिया तथा एलम के उपलब्ध अवशेषों की समानता भी केवल आकस्मिक नहीं हो सकती। यदि, जैसा साधारणतया माना जाता है, इस सभ्यता का अन्य देशों से सम्पर्क स्थापित किया जा सका तो निस्सन्देह यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सैन्धव सभ्यता प्राचीन सुमेरी और एलम तथा मेसोपोतामिया की प्राग्जलप्लावन युगीय सभ्यताओं की समकालीन थी।

अध्याय ३

ऋग्वैदिक काल।

आर्यों का आदि स्थान[1]

सैन्धव सभ्यता की गोधूलि के बाद वैदिक सभ्यता का प्रभात भारत के आकाश पर फूटा। वैदिक सभ्यता के निर्माता कौन थे? वे कहाँ से आए? आदि ऐसे प्रश्न हैं जो अत्यन्त जटिल हो गए हैं। पौराणिक प्रमाण के आधार पर कुछ विद्वान् तो भारत को ही आर्यों का मूल-स्थान मानते हैं। परन्तु यह मत विद्वानों द्वारा अनुमोदित नहीं है। इसके विरुद्ध प्रबल प्रमाण इस-बात को सिद्ध करने को रखे गए हैं कि वे भारत में बाहर से आकर बसे। कुछ विद्वानों का विचार है कि उनका आदि-निवास आर्कटिक वृत्त में था (बाल गंगाधर तिलक);[1] कुछ उन्हें वह्लीक (बाख्त्री, बलख-रोड)से आए बताते हैं, कुछ पामीर से। विद्वानों की साधारण धारणा है कि भारतीय आर्य ईरानी आर्यों की भाँति ही 'इन्डो-जर्मनों' (इन्डो-यूरोपियनों) अथवा 'वीरोज़'[2] (Wiros) की एक शाखा थे और अपने पूर्वाभिमुख अभिनिष्क्रमण के पूर्व उसी मूल के साथ उनका सम्मिलित निवास था। उनकी यह आदि-भूमि मध्य एशिया (मैक्स-म्यूलर), काले-सागर (Black Sea) के उत्तर का मैदान (स्टेप्पस-बेन्फ़े) मध्य और पश्चिमी जर्मनी (गाइजर), अथवा आस्ट्रिया, हंगरी, और बोहेमिया (गाइल्स) आदि विविध देश बताए जाते हैं। कहा जाता है कि इन्हीं से लड़ाइयों अथवा संख्या-वृद्धि के कारण आर्यों का विभाजन हुआ, और उनके अभिनिष्क्रमण की अनेक धाराएँ फूट पड़ीं। इन विविध आर्य शाखाओं के एक साथ कहीं बसने का निष्कर्ष इस प्रमाण पर टिका है कि आर्य जातियों (भारतीय, ईरानी और इन्डो-जर्मन) की प्राचीन भाषाओं, उनकी संस्कृतियों और पशु-पक्षी-वनस्पतियों आदि की पारस्परिक समानताएँ हैं।[3] निस्सन्देह इस संबंध में उपलब्ध प्रमाण भी बहुत नहीं हैं। भाषा और सांस्कृतिक समताएँ समान-कुलीयता के दृढ़ प्रमाण नहीं माने जा सकते हैं। क्योंकि

---

१. देखिए, आइजक टेलरी : The Origin of the Aryans (लंदन, १८८९), जी० चाइल्ड : The Aryans; ए. सी. दास : Rigvedic India (कलकत्ता, १९२७); तिलक : Arctic Home in the Vedas (पूना, १९०३); लक्ष्मीधर : The Home of the Aryans (दिल्ली, १९३०); सम्पूर्णानन्द : 'आर्यों का आदिदेश'।

२. पी. गाइल्स ने इसका प्रयोग किया है। अनेक प्राचीन आर्य भाषाओं में इस शब्द का पुरुष अर्थ में प्रयोग रहा है। संस्कृत का 'वीर' शब्द भी शायद इसी से निकला है। (Cam. Hist. Ind., पृष्ठ ६६)

३. उदाहरणत: मिलाइये : संस्कृत 'पितृ' को जेन्द 'पैतर', लैटिन 'पेतर' ग्रीक 'पतेर', केल्ट 'अथिर', गाथिक 'फदर', तोखारियन 'पतर', और अंग्रेजी 'फादर' से; अथवा संस्कृत 'द्वौ' को लैटिन 'दुओ', आइरिश 'दौ', गाथिक 'त्वई' लुथियानियन 'दु', और अंग्रेजी 'टू' से; अथवा संस्कृत 'अस्ति', लैटिन 'एस्त', आइरिश 'इज़' गाथिक 'इस्त' और लुथियानियन 'एस्ति'।

एक जाति के आचार दूसरी जाति के लोग अंगीकार कर लेते हैं। इस संबंध में 'मानवजाति-विषयक' खोजें भी बड़ी सहायक नहीं सिद्ध होतीं। इससे केवल इतना ही प्रमाणित हो सकता है कि भारत में बसने वाली एक जाति अनेक अर्थों में एक यूरोपीय जाति के समान है। अतः यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय नसों में यूरोपीय रक्त बहता है परन्तु यह सम्भव है कि दोनों जातियों के पूर्वज कभी एक साथ रहे हों।

ऋग्वेद

आर्यों का प्राचीनतम साहित्य 'ऋग्वेद' में संकलित है। यह ग्रन्थ १०१७ सूक्तों की संहिता है। ११ बालखिल्य सूक्तों को मिलाकर इसमें कुल १०२८ सूक्त हैं। यह संहिता दस मंडलों में विभक्त है। सूक्त विविध युगों[1] की रचनाएँ हैं और इन्हें समय-समय पर विभिन्न कुलीय अनेक ऋषियों[2] ने रचा है। इन ऋषियों में कुछ नारियाँ भी हैं। कुछ को छोड़ कर प्रायः सभी सूक्त प्राकृतिक देवताओं की स्तुति में आधिभौतिक और आध्यात्मिक कल्याण के अर्थ कहे गये हैं। इन प्रार्थनाओं से पृथक जो थोड़े सूक्त हैं केवल वे ही ऐतिहासिक-महत्व के हैं और उनसे ही आर्यों के रहन-सहन, आचार-विचार, दान-विसर्जन, पारस्परिक युद्धादि पर प्रकाश पड़ता है। परन्तु अन्य प्रमाणों के अभाव में ये सूक्त और भी महत्वपूर्ण हैं, और उस सुदूर अतीत के विषय में एकमात्र सहायक हैं।[3]

ऋग्वैदिक आर्यों की भौगोलिक पृष्ठभूमि

ऋग्वेद में आर्यों के संक्रमण अथवा भारत-प्रवेश के विषय में कोई उल्लेख नहीं है। उनका भौगोलिक विस्तार अफगानिस्तान से गंगा के काँठे तक था। अफगानिस्तान से उनका संबंध वहाँ की कुछ नदियों के प्रति संकेत से स्थापित है। इनमें कुछ हैं—कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), क्रमु (कुरंम) और गोमती (गोमल)। इनके अतिरिक्त सिन्धु और उसकी पाँच सहायक नदियों-वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चेनाब), परूष्णी (पश्चात्कालीन इरावती, रावी), विपाशा (व्यास), और शुतुद्रि (सतलज)—के भी नाम मिलते हैं। दृषद्वती (चौतांग) और सरस्वती का उल्लेख प्रायः एक साथ हुआ है। इनमें सरस्वती के तट पर किए गए यज्ञों के अनेक हवाले दिये गए हैं और उनकी महिमा गाई गई है। इन भौगोलिक संदर्भों से जान पड़ता है कि इन सभी नदियों के काँठों में आर्यों का निवास था और उन्होंने वहीं अपने सूक्तों

---

१. स्वयं ऋग्वेद में प्राचीन और नूतन ऋषियों और उनकी रचनाओं के प्रति संकेत मिलता है। विन्तरनित्स (Winternitz) का मत है कि ऋग्वैदिक सूक्तों के विविध स्तरों में सदियों का अन्तर है। इन सूक्तों की शुद्धता बनाये रखने के लिए 'पद-पाठ', 'क्रम-पाठ', 'जटा-पाठ' तथा 'घन-पाठ' आदि का उपयोग है। प्रातिशाख्य और अनुक्रमणियों का भी वही प्रयोजन है।

२. अनुश्रुति के अनुसार तो इन सूक्तों को ऋषियों ने ध्यानमग्नावस्था में प्राप्त किया था। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः; न हि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसि'।

३. देखिए, ए० सी० दास : Rigvedic Culture (कलकत्ता, १९२५)।

की रचना की[1]। ऋग्वेद में गंगा और यमुना का उल्लेख केवल दो-तीन बार हुआ है। इससे प्रमाणित होता है कि यद्यपि आर्यों के दल गंगा-यमुना के द्वाब की ओर बढ़ चुके थे परन्तु उस भूखण्ड का उनको विशेष ज्ञान न था। समुद्र का संभवतः उनको ज्ञान न था, और वे इस शब्द का प्रयोग विस्तृत जलखण्डों के अर्थ में करते थे। हिमालय अथवा हिमवन्त का उल्लेख तो ऋग्वेद में मिलता है परन्तु विन्ध्याचल पर्वत अथवा नर्मदा नदी का सर्वथा नहीं। इससे स्पष्ट है कि आर्यों का प्रसार दक्षिण में अभी न हो सका था। अन्य प्रमाण भी इस अनुमान को पुष्ट करते हैं। उदाहरणतः ऋग्वेद सिंह का उल्लेख तो करता है परन्तु बंगाल के निवासी व्याघ्र का नहीं करता। इसी प्रकार उसमें धान का उल्लेख भी नहीं है। अतः यह निष्कर्ष अनिवार्य है कि आर्यों के उपनिवेश अभी पूर्व में न बन सके थे। परन्तु ये अनुल्लेख-संबंधी प्रमाण वास्तव में सशक्त नहीं होते, और किसी निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। ऋग्वेद आखिर भूगोल का ग्रन्थ नहीं है। इसमें प्रसंगवश ही भौगोलिक संदर्भ आ गए हैं। उदाहरणतः उत्तरी पंजाब में नमक का बाहुल्य है परन्तु उसका उल्लेख भी ऋग्वेद में नहीं मिलता। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि आर्य पंजाब में नहीं बसते थे।

आर्यों के क़बीले और पारस्परिक युद्ध

आर्य अनेक कबीलों में बँटे हुए थे। इनके मुख्य कबीलों के नाम थे अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वस और पुरु। कबीलों को 'जन' कहते थे और इन पाँचों को 'पञ्चजन'। ये पाँचों एक साथ संगठित थे, और सरस्वती के दोनों तटों पर रहते थे। इनके अतिरिक्त भरतों (जो पश्चात्काल में कुरुओं में मिल गए थे), तृत्सुओं, सृंजयों, क्रिवियों, और अन्य गौण 'जनों' का उल्लेख भी मिलता है। आर्यों के ये 'जन' परस्पर बहुधा लड़ते रहते। इस काल का सबसे भीषण समर जो परुष्णी के तट पर हुआ था इन्हीं 'जनों' के पारस्परिक वैर का परिणाम था। इस युद्ध को 'दाशराज्ञ' समर कहते हैं। इसमें विश्वामित्र की मन्त्रणा से दस राजाओं के नेतृत्व में अनेक जनों ने संघ बनाकर भरतों के राजा सुदास् पर आक्रमण किया था परन्तु सुदास् ने उनको पूर्णतया परास्त कर दिया।

इस विजय का सुदास् के कुल-पुरोहित वसिष्ठ ने गान किया है। परन्तु हमें इसका ज्ञान नहीं है कि सुदास् ने इस महत्वपूर्ण विजय के पश्चात् अपनी शक्ति संगठित की या नहीं। 'पञ्चजनों' और पश्चिमोत्तर के अलिनों, पक्थों (आधुनिक पख्थून, पठान), शिवों, भलानसों, और विषाणिनों के आक्रमण के बाद सुदास् को पूर्व में भी शत्रुओं से लोहा लेना पड़ा था। शत्रु भेद की अध्यक्षता में उसकी व्यस्ति

१. पंजाब की उषा का ही उन ऋग्वैदिक सूक्तों पर गहरा प्रभाव पड़ा है जो 'उषस्' के प्रति कहे गए हैं, और जो संसार के काव्य-साहित्य में मूर्धाभिषिक्त माने जाते हैं। परन्तु मेघों के गर्जन और विद्युत् के स्फुरण आदि से संबन्धित सूक्त कीथ की राय में संभवतः वर्तमान अम्बाले के दक्षिण सरस्वती के तटवर्ती देश में रचे गए (Cam. Hist. Ind., भाग १, पृ० ७९)।

का लाभ उठा कर उस पर चढ़ आए, परन्तु यमुना के समीप उसने उनको धूल चटा दी। भेद संभवतः अनार्य था। उसके नेतृत्व में लड़ने वाले 'अज', 'शिग्रु' और 'यक्षु' नामों से भी यही भाव ध्वनित होता है।[1] इस प्रकार अन्तर्जनीय युद्धों के अतिरिक्त आर्यों को संगठित अनार्य शक्ति से भी एक लम्बे काल तक संघर्ष करना पड़ा। इन अनार्य 'दस्युओं' अथवा 'दासों' ने दीर्घ काल तक अनार्यों को चैन न लेने दिया। दोनों पक्षों का यह संघर्ष अनिवार्य भी था, क्योंकि उनके पारस्परिक अन्तर केवल भिन्न जाति-सम्बन्धी ही नहीं किन्तु संस्कृति-सम्बन्धी भी थे। यह सम्भव न था कि सांस्कृतिक समन्वय के पूर्व उनकी पारस्परिक विषमताएँ विकराल रूप न धारण कर लें। आर्य उच्चाकार गौरवर्ण के थे, दस्यु नाटे कृष्णकाय। दस्युओं की रूपरेखा असुन्दर थी। आर्यों ने उनको 'अनासः' (चिपटी नाकवाले), 'अदेवयु', (वैदिक देवताओं के प्रति उदासीन), 'देवपीयु' (उनके विरोधी), 'अयज्वन्' (यज्ञ न करने वाले), 'अकर्मन्'(क्रियानुष्ठानों से विरहित), 'शिश्नदेवाः'(लिंगपूजक), 'अन्यव्रत' 'मृध्रवाक्' (अबूझ बोली बोलने वाले) आदि संज्ञाएँ[2] प्रदान की हैं। इन विशेषणों से अनुमान किया जाता है कि 'दस्यु' द्रविड़ थे जो भारत के उसी भूखण्ड में बसते थे जिस पर आर्य अधिकार करना चाहते थे। 'दस्यु' चप्पे-चप्पे भूमि के लिए लड़े, इंच-इंच पर उन्होंने अपना और अपने शत्रुओं का रक्त बहाया, स्वदेश और अपने ढोरों की रक्षा के लिए उन्होंने अनुपम बलिदान किए। परन्तु शत्रुओं की अपूर्व शक्ति ने जब उनके 'पुर' और 'दुर्ग' तोड़ डाले, उनकी भूमि को लहुलुहान कर दिया तभी उन्होंने आत्मसमर्पण किया। उनके रक्त से अभिसिंचित धरा पर आर्यों ने परिणामतः अपने गाँवों के बल्ले गाड़े, उनको अपना 'दास' बनाया (जिनसे उनके वर्णविधान के निचले स्तर 'शूद्रों' का वर्ग बना), उनकी नारियों को दासियाँ बना कर अपने पुरोहित को अमित दान किया। इन अनार्य दासियों से कक्षीवान्, कवष आदि ऋषि जन्मे। इन अनार्यों में से कुछ ने वनों और पर्वतों का आश्रय लिया जहाँ आज भी उनके वंशज जीवित हैं।

आर्यों का राजनैतिक संगठन

वैदिक राष्ट्र का आधार 'गृह' अथवा 'कुल' था। समान पूर्वज से समुद्भूत कुलों का समाहार 'ग्राम' कहलाता था। 'ग्रामों' के समुदाय को 'विश्', विशों के समुदाय को 'जन' कहते थे। 'जन' के नेता को राजा कहते थे जो संभवतः पहले निर्वाचित होता था परन्तु पश्चात्काल में कुलागत होने लगा था। ऋग्वेद में एक ही कुल के क्रमागत राजाओं के प्रति अनेक उल्लेख हुए हैं[3]। कभी कभी राजा को

---

१. ऋग्वेद में सिम्यु, पिशाच, कीकट आदि अन्य अनेक अनार्य जातियों का भी उल्लेख है। दासों के कुछ मुखियों के नाम पिप्रु, धुनि, चुमुरि, शम्बर थे।

२. ए० सी० दास : Rigvedic Culture (कलकत्ता, १९२५), पृ० १५७-५८।

३. उदाहरणतः, वध्र्यश्व; दिवोदास, पिजवन, सुदास्।

'विश्' निर्वाचित करते थे, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह निर्वाचन राजकुल अथवा अन्य अभिजात कुलों के व्यक्तियों तक ही सीमित था या 'विश्' के अन्य जन भी कभी 'राजा' चुने जा सकते थे। युद्ध के दिनों राजा 'जन' का नेतृत्व करता और उसकी रक्षा करता था। इसके बदले उसकी प्रजा उसका अनुशासन मानती और उसे उपहारों से समादृत करती थी। राष्ट्र के व्यय के अर्थ सम्भवत: उन दिनों राजा नियमित कर नहीं लगाता था। शान्ति के दिनों में वह न्याय का वितरण करता और भौतिक समृद्धियों के निमित्त यज्ञों का अनुष्ठान करता था। राजा के अधिकारी व्यक्तियों में मुख्य पुरोहित, सेनानी और ग्रामणी थे; इनमें प्रमुख पुरोहित था। उपहारों और दक्षिणाओं के बदले वह अपने स्वामी की सर्वांगीण सफलता के हेतु ऋचाओं द्वारा देवताओं की स्तुति करता और उसके अशुभ का मंत्र-तंत्र से निराकरण करता था। निस्सन्देह राजा निरंकुश न था। उसकी शक्ति प्रजा के मन्तव्यों से परिमित थी। जनता की दो संस्थाएँ 'सभा' और 'समिति' उसके शासन पर अंकुश का काम करती थीं। 'सभा' जन-वृद्धों और 'समिति' सारी जनता की राजनैतिक संस्थाएँ थीं।[1] इस काल के राज्य छोटे थे परन्तु युद्धों और 'दस्युओं' के साथ संघर्ष के फलस्वरूप एक नेता के नेतृत्व में संगठन की प्रवृत्ति हो चली थी, जनपद-राज्यों का सूत्रपात हो चला था।

पारिवारिक जीवन

ऋग्वैदिक आर्यों में स्वस्थ पारिवारिक जीवन की नींव पड़ चुकी थी, और उसमें विवाह-बन्धन पावन और अटूट माना जाने लगा था। एक-पत्नी विवाह सम्मानित और साधारण था, यद्यपि अभिजात कुलीनों में बहु-विवाह की प्रथा चलती थी। ऋग्वेद में बहुपति-विवाह और बाल-विवाह का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। नारियों[2] को अपना पति चुनने में काफी स्वतन्त्रता थी, और विवाह के अनन्तर वे पति की रक्षा में रहती थीं। उनके सम्मान-स्वत्व संभवत: वर्तमान काल से अधिक थे। गृह की वे स्वामिनी थीं, और वहाँ के सारे कार्य उन्हीं की देखरेख में सम्पन्न होते थे। उनके बाहर निकलने, आने-जाने पर अंकुश न था, और वे आकर्षक वस्त्राभूषण धारण कर समाज और घर के यज्ञों-त्योहारों आदि में सम्मिलित होती थीं। नारियों की यथोचित शिक्षा भी होती थी, और अपाला, विश्ववारा,

---

१. इन लाक्षणिक शब्दों का यथार्थ भाव पूर्णतया विदित नहीं है। कीथ के अनुसार 'समिति' वह संस्था थी जो 'जन' के कार्य और आवश्यकतायें सम्पादित करती थी; और 'सभा' अधिवेशन का स्थल थी जहाँ अन्य सामाजिक कार्य भी सम्पन्न होते थे। (Cam. His. Ind., भाग १, पृ० ९६)

२. देखिए, बी० एस० उपाध्याय : Women in Rigveda, द्वितीय संस्करण (काशी १९४१); ए० एस० अल्तेकर : The Position of Women in Hindu Civilization (काशी, १९३८); सी० बेदर : Women in Ancient India (लंदन, १९२५); इन्द्र : Status of Women in Ancient India (लाहौर, १९४१)।

घोषा आदि ने तो नर-ऋषियों की भाँति मन्त्ररचना भी की थी। सदाचार का स्तर काफी ऊँचा था, यद्यपि जब-तब उसमें व्यतिक्रम भी हो जाया करता था।

पति और पत्नी के अतिरिक्त आर्यों के परिवार में माता-पिता, भ्राता-भगिनी, पुत्र-पुत्री, आदि भी रहते थे। साधारणतया इनमें पारस्परिक स्नेह बना रहता था और इस जीवन की सहृदयता कामना की वस्तु थी। परन्तु पारिवारिक जीवन चाहे जितना भी स्निग्ध क्यों न हो उसमें पारस्परिक स्वार्थों का टकरा जाना कुछ अस्वाभाविक नहीं। उसी कारण जब-तब भूमि, ढोर, आभूषणों आदि की सम्पत्ति पर संभवतः झगड़े भी उठ खड़े होते थे, और परिवार भी बिखर जाते थे।

व्यवसाय

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है कि आर्य बहुधा युद्धों में व्यस्त रहते थे। इस कारण युद्ध भी उनकी एक वृत्ति हो गई थी। इस अर्थ कुछ लोगों को स्वभावतः ही सदा सन्नद्ध रहना पड़ता था। उनके सैनिक पदाति और रथी दोनों थे। उनके रथों में घोड़े जुतते थे। ऋग्वेद में अश्वारोहण का उल्लेख तो है परन्तु अश्वसेना का नहीं है। रक्षा के अर्थ 'वर्म' (कवच) और धातु-निर्मित 'शिप्रा' (शिरस्त्राण) का व्यवहार होता था। आर्यों के मुख्य अस्त्र-शस्त्र, धनुष, बाण, बर्छे, भाले, फरसे, और असि (तलवार) थे। आक्रमण के समय योद्धा युद्ध-घोष करते और नगाड़े (दुन्दुभियाँ) बजाते थे।

पशु-पालन आर्यों की विशिष्ट वृत्ति थी। गोधन पर ही उनकी सम्पत्ति और समृद्धि की नींव टिकी थी। और उसे वे 'सारे कल्याणों का जोड़' मानते थे। इस कारण हम उनके गोधन बढ़ाने के प्रयासों का महत्व समझ सकते हैं। गौ आदि के अतिरिक्त आर्यों के ढोरों में घोड़े, भेड़ें, बकरे-बकरियाँ, कुत्ते और गधे भी थे।

ऋग्वैदिक आर्यों का तीसरा पेशा कृषि-कर्म था। सम्भवतः यह आर्यों की प्राचीन वृत्ति थी क्योंकि कर्षण के लिए संस्कृत और ईरानी दोनों में समान धातु 'कृष्' है। स्पष्ट है कि दोनों शाखाओं के पृथक् होने के पूर्व ही आर्य यह वृत्ति अपना चुके थे। हल में धातु का 'फल' होता था जिससे जोतते समय 'क्षेत्र' में हराइयाँ ('सीता') उठती जाती थीं। हल बैलों से जोते जाते थे। प्रणालियों के जरिए हराइयों को जल पहुंचाते थे।[1] खेत में 'यव' और 'धान्य' उपजाते थे। पक जाने पर खेत काट लिये जाते थे, और अन्न को रौंद-ओसाकर बखारों में रखते थे।

आर्य व्यसन और वृत्ति दोनों अर्थ आखेट करते थे। पाश से पशु और पक्षी बझाए जाते थे। उन्हें कभी-कभी धनुषबाण से भी मारते थे। मृग, सिंह और अन्य जन्तुओं को पकड़ने के लिए भूमि में गढ़े खोदकर भी जब तब प्रयास होते थे।

मछली मारने का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं मिलता। नौ-चालन भी सम्भवतः नदियों और नदों तक ही सीमित था। नावें साधारण बनावट की होती थीं। लगर

१. जल कुओं अथवा नदियों से प्राप्त किया जाता था। यदि खाद का उपयोग ज्ञात था तो इससे भी क्षेत्र की मिट्टी उर्वर बनाई जाती होगी।

और पालों का अभाव होने से जान पड़ता है कि ऋग्वैदिक आर्य खुले समुद्र में यात्रा न करते थे।

व्यापार

सिक्कों का प्रचलन न था।[1] अतः व्यापार विनिमय द्वारा होता था और मूल्य की माप गाय थी। सौदे के पटाने में कभी कभी काफी आगा-पीछा, नाप-तौल होती थी परन्तु एक बार सौदा हो चुकने पर उसका निर्वाह किया जाता था।

जीवन सादा होने के कारण लोगों की आवश्यकताएँ थोड़ी थीं जिनकी पूर्ति वे स्वयं आसानी से कर लेते थे। परन्तु इसका प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है कि कुछ कलाओं में संगठित रति दिखाई जाने लगी थी। वैदिक समाज में बढ़ई का पेशा आदर से देखा जाता था, क्योंकि वह युद्ध और धावन दोनों के अर्थ का निर्माण करता था। वह स्वयं ही तक्षक, सन्धिकार और चक्रकार था, और उसके कार्य की कुशलता की मन्त्र-रचना की चातुरी से उपमा दी गई है। शस्त्रास्त्र, हल-फलक, घरेलू बर्तन-भाण्ड बनानेवाले धातुकार (लोहार) के भी ऋग्वेद में हवाले मिलते हैं। धातुओं के लिए समान संज्ञा 'अयस्' (लैटिन 'अएस') है जो ताँबा, काँसा, लोहा किसी को व्यक्त कर सकता है। सुनार श्रीमानों के लिए सोने के आभूषण प्रस्तुत करते थे। चर्मकार का भी उल्लेख मिलता है। ये चमड़े को साफ कर उससे धनुष की ज्या और पीपे आदि बनाते थे। नारियाँ सीती-पिरोती थीं, घास आदि से चटाइयाँ और सूत-ऊन से कपड़ा बुनती थीं। परिवार की लड़कियाँ ही अधिकतर गाय दुहती थीं जिससे उनकी संज्ञा ही 'दुहिता' हो गई थी। महत्व की बात यह है कि ऋग्वैदिक काल में ऊपर बताए पेशों में से कोई हीन नहीं समझा जाता था। 'जन' के सारे मनुष्य बिना किसी आपत्ति के इन पेशों को अख्तियार करते थे।

वसनाभूषण और शृंगार

ऋग्वेद से विदित होता है कि आर्यों के परिधान के तीन वस्त्र थे—'नीवी' (नारी पक्ष में नीचे की धोती), एक अन्य वस्त्र, और एक ढीला अंगरखा। ऊन को कातकर कपड़ा तैयार कर लिया जाता था। धनी आर्य सोने के तारों से कढ़े हुए रँगे वस्त्र धारण करते थे। उस काल नर नारी दोनों आभूषण पहनते थे। आभूषणों में मुख्य थे—कुण्डल, हार, अंगद, वलय, गजरे आदि। केशों में तेल लगाकर कंघा करते थे। नारियाँ केशों को बट कर वेणियाँ बना लेती थीं। नारियाँ, और कुछ नर भी, बालों की चूड़ा बना कर धारण करते थे। दाढ़ी कुछ लोग बना भी लेते थे परन्तु साधारणतया लोग श्मश्रुल रहना पसन्द करते थे।

आहार

आर्य मांस और शाक दोनों का आहार करते थे। भेड़-बकरों का मांस खाया और देवताओं को चढ़ाया जाता था। त्योहार के अवसरों पर या अतिथि-स्वागत के

१. निष्क सिक्का नहीं था जैसा कुछ विद्वानों का अनुमान है। संभवतः यह एक प्रकार का कण्ठा या हलका आभूषण था जिसे लोग पहनते थे या मरुत् अपने कण्ठ में धारण करते थे।

लिए बलिष्ठ बछड़े को काटा जाता था परन्तु गाय अपने अनेक कल्याणकर गुणों से अब 'अघ्न्या' हो चुकी थी। उसका वध नहीं करते थे। भोजन का मुख्य खाद्य-पेय दूध था। इससे अनेक खाद्य प्रकार बना लिये जाते थे जिनमें घी और दही मुख्य थे। जौ आदि का आटा बना कर उसमें दूध-घी डालकर उसकी पूरियाँ बना लेते थे। आर्यों के आहार में फल और तरकारियाँ भी शामिल थीं।

पेय

उस युग में केवल दूध और जल ही पेय न थे। आसवपान भी तब बहुतायत से होता था। धार्मिक अवसरों पर 'सोम'[१] का व्यवहार होता था परन्तु साधारणतया अन्न से टपकाई हुई एक प्रकार की 'सुरा' पी जाती थी। ऋषि-पुरोहित सुरा को इसके मादक गुणों के कारण वर्जित करते थे। अनेक वार सुरापान के कारण समाज में दुराचार और अपराध हो जाते थे।

मनोरंजन

आर्यों का जीवन नीरस नहीं किन्तु आमोदप्रिय था। आमोद और मनोरंजन के अनेक साधन समाज में वर्तमान थे। त्योहारों और अन्य अवसरों पर नृत्य,[२] गान अनवरत होते थे। और नृत्य सर्वथा मर्यादित भी न था। इसकी मात्रा विशेष उद्दीपक हो जाती हो तो कोई आश्चर्य नहीं। वाद्यों में नगाड़े (दुन्दुभि), ढोलक, वीणा (कर्करी), और बाँसुरी का उल्लेख हुआ है। गायन का भी नित्य व्यवहार चलता होगा। इस काल के कुछ ही बाद साम-गान की परम्परा जमी। इसका प्रारम्भ ऋग्वैदिक-काल अथवा उससे भी पहले हुआ होगा। संगीत के अतिरिक्त आर्यों के विहार-क्षेत्र में रथ और अश्व-धावन, द्यूत और पाँसे का अनियंत्रित प्रचलन था। द्यूत का अनिवार्य परिणाम संपत्ति-हरण और सर्वनाश होने पर भी सभास्थल जुआरियों से भरा रहता था। पाँसों की खनखनाहट उन्हें दूर से आकर्षित कर लेती थी। पत्नी को दांव पर रखकर हार जाने का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है। एक अत्यन्त करुण सूक्त में ऋग्वैदिक द्यूतसेवी का विलाप निहित है।

धर्म[३]

ऋग्वैदिक आर्यों का धर्म बहुदैवत होता हुआ भी नितान्त सादा था। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि सूक्तों का प्रजनन पुरोहितों के दीर्घकालिक प्रयास का परिणाम है। और उनमें अनेक 'जनों' के विविध देवताओं का स्तवन समाहृत है। देवता प्रकृति की शक्तियाँ है जिनको समर्थ, चेतन और असाधारण बलवान कहकर सूक्त गाए गए हैं। ये देवता (१) पार्थिव, (२) आकाशस्थ, और (३) स्वर्गस्थ—तीन

---

१. ऋग्वेद का नवाँ मंडल सोम की स्तुति में कहा गया है। इसका रस आह्लादकर था सोमवल्ली आज तक पहचानी नहीं जा सकी।

२. इस नृत्य-विहार में नर-नारी दोनों भाग लेते थे।

३. देखिए, Griswold : Religion of the Rigveda

गणों में विभक्त किए जा सकते हैं। इनमें पृथ्वी, सोम, अग्न्यादि प्रथम वर्ग के; इन्द्र, वायु, मरुत्, पर्जन्यादि द्वितीय वर्ग के; और वरुण, द्यौस्, अश्विन्, सूर्य, सवितृ, मित्र, पूषन् और विष्णु तृतीय वर्ग के हैं। इनमें अंतिम वर्ग के पाँच पिछले देवता सूर्य के ही विविध रूप हैं। उन देवताओं में सबसे पूज्य वरुण है। उसके प्रति कुछ अत्यंत सुंदर और शालीन सूक्त ऋषियों ने गाए हैं। वरुण स्वर्ग का देवता है। वही 'ऋत' का विधायक है, विश्व की सर्जक शक्तियों का निर्माता और आचार का नियामक। वरुण के बाद इंद्र का स्थान है, परन्तु जान पड़ता है धीरे-धीरे इस वज्र-धारी की शक्ति आर्यों के पूजाक्षेत्र में बढ़ गई है। ऋग्वेद के सूक्त अत्यधिक संख्या में उसकी स्तुति में गाए गए हैं। आर्यों के युद्ध-कृषि-प्रधान जीवन में वह विशेष सहायक है। वही उनके शत्रुओं का संहार करता और उनके पुरदुर्गों को चूर चूर कर देता है। वही उनके यज्ञों का प्रधान देवता है और उनकी हवि का मुख्य भाग पाता है। वर्षा बरसा कर वह भूमि की शुष्कता दूर करता है। जैसे-जैसे आर्य विद्युत्वर्षा-बहुल देश की ओर बढ़े इन्द्र की महिमा भी साथ साथ बढ़ती गई। परन्तु इन देवताओं की शृंखला से यह भ्रम न होना चाहिए कि इनमें किसी प्रकार की उच्चावच परम्परा थी। ऋषियों ने प्रसंगवश सभी देवताओं की महिमा गाई है और एक को दूसरे से बढ़कर माना है। जिस-जिस क्षेत्र का जो-जो देवता है उस-उस क्षेत्र में वह प्रधान माना गया है और उसी मात्रा में उसकी स्तुति की गई है। ऋग्वेद में श्रद्धा और मन्यु (क्रोध) के से अमूर्त देवताओं का भी गुणानुवाद है। उसके प्रति जो संगीत-मय सुकुमार ऋचाएँ गाई गई हैं वे विश्व के साहित्य में बेजोड़ हैं। ऋग्वेद में तो उनसे अधिक काव्यमय प्रसंग अन्य नहीं हैं। इन देवताओं[1] के प्रसादन के निमित्त आर्य यज्ञों का अनुष्ठान करते थे, दूध-घी, अन्न, माँसादि की बलि प्रदान करते थे, स्तुति में मंत्र गाते थे। यज्ञानुष्ठान यजमान को समृद्धि और सुख प्रदान करने वाले समझे जाते थे। कई बार ऋग्वेद के देवताओं के द्वन्द्व रूप जैसे द्यावा-पृथिवी, दिवा-रात्री आदि प्रदर्शित हैं। कभी-कभी उसमें सब देवताओं के ऊपर एक की प्रधानता भी घोषित की गई है। इस परम्परा की पराकाष्ठा अद्वैत-वाद में हुई है। स्वयं ऋग्वेद कहता है कि देवताओं में वस्तुतः काया एक की ही है, केवल ऋषि उनकी पृथक्-पृथक् स्तुति करते हैं।[2]

ऋग्वेद का समय

अब यहाँ ऋग्वेद की तिथि अथवा इसमें प्रकटित आर्य सभ्यता के काल पर विचार कर लेना युक्तियुक्त होगा। ज्योतिष के आधार पर जैकोबी और तिलक इस काल को ई. पू. ४००० के लगभग रखते हैं। परन्तु उनका मत सर्वथा ग्राह्य

---

१. ऋग्वेद में ऋभुओं और अप्सराओं की भाँति कुछ अन्य अल्पसमर्थ देवताओं का भी उल्लेख है। परन्तु उसमें वृक्ष-पूजा अथवा पशु-पूजा का नाम तक नहीं है।

२. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ —ऋग्वेद, १, १६४, ४६

नहीं है। इसके विरुद्ध मैक्सम्यूलर की राय में ऋग्वैदिक सूक्तों की रचना का प्रारंभ-काल १२००-१००० ई. पू. है। इस निष्कर्ष तक वे एक पश्चात्क्रमिक तर्क से पहुँचे हैं। उनकी पद्धति इस प्रकार है—बुद्ध का समय हमें ज्ञात है। बुद्ध का धार्मिक प्रयास ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध था, इस कारण तब तक सम्पूर्ण वैदिक साहित्य अभिसृष्ट हो चुका होगा। यह वैदिक साहित्य चार युगों में सम्पन्न हुआ है—१) सूत्र-काल (६००-२०० ई. पू.); २) ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत् काल (८००-६०० ई. पू.); ३) मंत्र-काल (१०००-८०० ई. पू.); और छंद-काल (१२००-१००० ई. पू.)। इस प्रकार इनमें से प्रत्येक युग के विकास को प्रायः २०० वर्ष प्रदान करते हुए मैक्सम्यूलर १२००-१००० ई. पू० ऋग्वैदिक सभ्यता का समय निर्णय करते हैं। इस पद्धति का आधार तो ठीक है परन्तु इस विद्वान् ने जो प्रत्येक युग का काल-माप दिया है वह सर्वथा प्रश्नात्मक और निरंकुश है। एशिया माइनर में बोगज-कोई नामक स्थान पर मिले १४०० ई. पू. के एक अभिलेख ने भी इस सभ्यता के समय पर प्रकाश डाला है। यह अभिलेख खत्ती (Hittites) जाति और मितनी (Mittani) राजाओं के बीच एक संधि का उल्लेख करता है जिसमें ऋग्वेद के इन्द्र, मित्र, वरुण, नासत्यौ देवता[1] साक्षी के रूप में निर्दिष्ट हैं। इससे सिद्ध है कि १४०० ई. पू. में ये ऋग्वैदिक देवता एशिया माइनर में पूजे जाते थे। निस्संदेह इससे अनेक विरोधी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं और निकाले गये हैं। कुछ विद्वानों की राय में बोगज-कोइ का अभिलेख उन चिह्नों में से एक है जो आर्यों ने अपने पूर्वाभिमुख संक्रमण के समय मार्ग में छोड़े हैं। दूसरे वर्ग का मत है कि चूँकि इस संधि में उल्लिखित देवता ऋग्वेद के हैं और चूँकि ऋग्वेद का निर्माण भारत में हुआ था, निस्संदेह तब वहाँ भारतीय संस्कृति अथवा धर्म का प्रचार भारतीय आर्यों की ही एक बहिर्गत धारा ने किया होगा। सत्य चाहे जिस निष्कर्ष में हो इतना अवश्य है कि आर्यों के संक्रमण पर इस प्रमाण का प्रकाश पड़ता है। इसी काल के कुछ लेख तेल-एल-अमरना में भी मिले हैं जिनमें मितनी राजाओं के अतंतम, तुस्रत्त आदि संस्कृत के नाम खुदे हैं। इसी प्रकार कुछ खत्ती राजाओं के नाम भी शुरियस (संस्कृत-सूर्य), मरित्तस (संस्कृत-मरुत्) आदि मिलते हैं। इन खत्तियों ने लगभग १७४६ और ११८० ईसा पूर्व के बीच बाबुल पर राज्य किया था। इन प्रमाणों पर विचार करते हुये प्रायः सोलहवीं सदी ई० पू० के लगभग ऋग्वैदिक सभ्यता का आरम्भ माना जा सकता है, यद्यपि इस तिथि में भी कुछ अन्तर पड़ सकता है।[2]

---

१. इन्द्र, वरुण, नासत्यौ और मित्र क्रमशः इस प्रकार उल्लिखित हैं—इन्-द्-र-उ-व-व्-न, न-स-अत्-ति-इअ, मि-इत्-र।

२. तिलक का कथन है कि 'ऋग्वेद का अनुवृत्त जिस काल का हवाला देता है उसे ४००० ई० पू० के पश्चात् नहीं रखा जा सकता क्योंकि तद्विषयक गणना के अनुसार तब वसंत-संपात मृगशिरा में था, अथवा दूसरे शब्दों में जब लुब्धक (श्वान) ने सम्पात के वर्ष का आरंभ किया' (The Orion, Poona)।

सैन्धव और ऋग्वैदिक सभ्यताओं की विषमताएं

यहाँ सैन्धव और ऋग्वैदिक सभ्यताओं की विषमताओं पर कुछ विचार कर लेना युक्तियुक्त होगा। आर्य अभी ग्राम्यावस्था में थे, गाँवों में फूस और बाँस के घर बनाकर रहते थे। इसके विरुद्ध सैन्धव का जीवन नागरिक था जिसमें समन्वित नागरिक-व्यवस्था का विकास हो चुका था। सैन्धवों के नगर की सफाई, उनके ईंट के मकान, स्नानागार, कुएँ, और स्नान-सर असामान्य थे। आर्यों की जानी हुई धातुएँ सोना, तांबा अथवा काँसा, और सभवतः लोहा थीं। सैन्धव सभ्यता में लोहे का अवशेष नहीं मिला। चाँदी का व्यवहार वे सोने से अधिक करते थे और उनके बर्तन-भाण्ड पत्थर, तांबे और कांसे के बनते थे। युद्ध के शस्त्रास्त्र दोनों सभ्यताओं में प्रायः समान थे, परन्तु आर्यों के रक्षा-साधन शिरस्त्राण और कवच सैन्धवों को अज्ञात थे। असंख्य मुहरों पर उभरी आकृतियों के प्रमाण से विदित होता है कि सैंधवों में वृषभ समाहृत था। इसके विरुद्ध आर्यों की पूजा का प्राणी गाय थी। सैंधव घोड़े का व्यवहार नहीं जानते थे परंतु अश्व और श्वान आर्यों के नित्य सहचर थे। ऋग्वेद में बाघ का बिल्कुल उल्लेख नहीं है और हाथी का संकेतमात्र है, किन्तु सैंधव इन दोनों जानवरों से भली भाँति परिचित थे। सैंधव लिंग पूजन करते थे, परंतु आर्यों में इसका अभाव ही नहीं था, परन्तु वे इसे घृणा की दृष्टि से भी देखते थे। सैन्धव मातृशक्ति तथा पशुपति शिव की पूजा करते थे, किन्तु आर्य इनके उपासक न थे। अग्नि आर्यों की एक मुख्य देवता थी, परन्तु सिन्धु की घाटी के किसी भी गृह में अग्निकुण्ड नहीं मिला है। सिन्धु सभ्यता के नागरिक एक लेखन-शैली का प्रयोग करते थे और कला में दक्ष थे। परन्तु आर्य लेखन-शैली और कला दोनों से संभवतः अनभिज्ञ थे। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि सैंधवों और आर्यों की सभ्यताओं में कितना अंतर था। और यह अंतर केवल काल का नहीं था जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि दूसरी सभ्यता की उत्पत्ति हुई अथवा उससे प्रभावित हुई। इससे एक ही संतोषप्रद मत स्थिर होता है—वह यह कि ऋग्वैदिक सभ्यता सिन्धु-सभ्यता से पश्चात्कालीन थी और उसका विकास स्वतंत्र हुआ था, यद्यपि इस बात को भूला नहीं जा सकता कि संस्कृतियाँ पारस्परिक संघर्ष के परिणाम में ही समन्वित होती और रूप धारण करती हैं।[1]

---

१. देखिए, सर जान मार्शल : Mohenjo-daro (भाग १), अध्याय ८, पृ० ११०-१२।

अध्याय ४

उत्तर-वैदिक-काल

भौगोलिक सीमाओं का विस्तार

उत्तर-वैदिक-काल के ज्ञान के लिए हमारे आधार हैं यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की संहिताएँ, और ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थ[1]। उत्तर-वैदिक-काल की निचली सीमा प्रायः ६०० ई० पू० तक पहुँचती है। इस युग में आर्य सभ्यता धीरे-धीरे पूर्व और दक्षिण में फैली। प्राचीन आर्यों का उत्तर-पश्चिमी भारत अब उपेक्षित हो चला था। उस भाग के निवासियों के आचार अब अनादर से देखे जाने लगे थे। आर्य संस्कृति का केंद्र अब कुरुक्षेत्र था। गंगा-यमुना का तटवर्ती 'मध्य देश' अब विशिष्ट था। पूर्व में कोशल (अवध), काशी और विदेह (उत्तर बिहार) आर्यों के नये केंद्र बन चुके थे। वैसे उल्लेख तो मगध (दक्षिण बिहार) और अंग का भी मिलता है परन्तु ये भाग संभवतः आर्यप्रभाव से अभी बाहर थे और इनके अधिवासी अपरिचित माने जाते थे। इस काल पहली बार हम आंध्रों, बंगाल के पुण्ड्रों, उड़ीसा और मध्य प्रांत के शबरों तथा दक्षिण-पश्चिम के पुलिन्दों के नाम सुनते हैं। ऐतरेय और जैमिनीय ब्राह्मणों के पिछले भागों में केवल दो बार विदर्भ (बरार) का नाम आया है। इससे प्रमाणित है कि अब तक हिमालय और विन्ध्याचल के बीच प्रायः सारा भारत, संभवतः इससे बाहर का भाग भी, आर्यों की ज्ञान-परिधि में आ चुका था।[2]

सुस्थित आवास

इस बात का प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है कि जीवन सुस्थित हो चुका था और बड़े-बड़े नगर बस गए थे। पंचालों की राजधानी काँपिल्य और कुरुओं की आसन्दीवन्त इसी प्रकार के विशाल नगर थे। कौशाम्बी और काशी का उल्लेख भी मिलता है। काशी आज भी एक विशाल, समृद्ध और सुखी नगर है।

---

१. ब्राह्मणग्रन्थ वेदों से संबद्ध हैं। ये धर्मपरक और गद्यात्मक हैं। इनमें यज्ञों से लाभ आदि की विस्तृत व्याख्या है। इनमें से मुख्य हैं ऐतरेय, कौषीतकी, शतपथ, तैत्तिरीय, पञ्चविंश और गोपथ। ब्राह्मणों के अंतिम भाग आरण्यक कहलाते हैं। वन की निर्जनता में उपदिष्ट होने वाले रहस्य को धारण करने के कारण उनकी यह संज्ञा हुई। उपलब्ध आरण्यक—जैसे ऐतरेय, कौषीतकी और तैत्तिरीय—इन्हीं नामों के ब्राह्मणों के अन्त्य भाग हैं। उपनिषदों ने यज्ञों का विरोध किया है। उनका उद्देश्य है ज्ञान की अभिप्राप्ति और जीवात्मा के आवागमन से मोक्ष के साधन प्रस्तुत करना। छान्दोग्य और बृहदारण्यक के अतिरिक्त प्रसिद्ध उपनिषद् दस और हैं—तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकी, कठ, श्वेताश्वतर, केन, प्रश्न, मुण्डक, और माण्डूक्य।

२. देखिए, एन० के० दत्त : The Aryanization of India, (कलकत्ता, १९२५); वी० रंगाचारी : Pre-Musalman India (वदिक भारत, भाग १ खण्ड २, परिच्छेद ३) आदि।

जन-संगठन

इन परिवर्तनों के अतिरिक्त आर्यों के प्राचीन 'जनों' और कबीलों के संगठन में भी अब तक प्रभूत परिवर्तन हो चुके थे। इनमें से अनेक अपना महत्व खो चुके थे, अनेक महत्वपूर्ण हो उठे थे। ऋग्वेद के भरत अब अपनी शक्ति खो चुके थे। उनका स्थान अब कुरुओं और उनके पड़ोसी-मित्र पंचालों ने ले लिया था। वास्तव में प्राचीन भरतों और पुरुओं के 'जन' मिल कर कुरु हो गए थे। पञ्चाल शब्द की व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है कि यह 'जन' भी पाँच (पञ्च) शाखाओं के सम्मिश्रण से बना था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्राचीन काल में पंचाल 'क्रिवि' कहलाते थे। कुछ आश्चर्य नहीं यदि ये क्रिवि उन पाँचों में से एक रहे हों जिनसे पंचालों का 'जन' निर्मित हुआ था। इसी पंचाल संघ में संभवतः प्राचीन अनु, द्रुह्यु, और तुर्वस भी संगठित थे। इनका अन्यथा अस्तित्व नहीं है। इतिहास से इनका लोप वास्तव में किसी 'जन' के साथ सम्मिश्रण सिद्ध करता है। ग्रन्थों से कुरु-पंचालों को आचार और शुद्ध-भाषण में प्रतीक माना गया है। उनके राजा राजाओं में आदर्श थे, उनके ब्राह्मण ज्ञान की पराकाष्ठा में। वे दिग्विजय यात्रा उचित ऋतु में करते थे, उनके यज्ञों के अनुष्ठान में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने पाती थी।[1] उनके मध्यदेश के पड़ोसी यमुनातटीय शल्व और वश तथा उशीनर थे। इसमें सम्भवतः वीर-कृत्यों का अभाव था जिससे ये यशस्वी न हो सके। सृंजय भी शायद कुरुओं के नज़दीकी थे। कम से कम एक समय में उनका पुरोहित समान व्यक्ति था। मत्स्यों का भी तत्कालीन साहित्य में उल्लेख मिलता है। ये लोग जयपुर और अलवर के आसपास फैले थे।[2]

जनपद-राज्यों का अभ्युदय

'जनों' के सम्मिश्रण और उनकी दिग्विजयों के परिणाम-स्वरूप ऋग्वैदिक काल से ही विशाल राज्यों का उदय हो चला था। अब की राजनैतिक परम्परा में 'सार्वभौम' और 'आधिराज्य' आदि विविध सत्ताओं का उदय हुआ। इस काल के राजा 'वाजपेय', 'राजसूय' और 'अश्वमेघ' का अनुष्ठान कर अपनी उत्तरोत्तर बढ़ती शक्ति का परिचय देने लगे। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणों में कुछ ऐसे नृपतियों के नाम दिए हुए हैं जिन्होंने अश्वमेध के साथ-साथ अपना 'ऐन्द्रमहाभिषेक' भी कराया था। इनमें से तीन—कोशल के पर, शतानीक सात्राजित और पुरुकुत्स ऐक्ष्वाकु थे। जैसे जैसे राज्यों की सीमाएँ बढ़ती जाती थीं वैसे ही वैसे उनके नृपतियों के विरुद भी बदलते जाते थे। साधारण नृपति के लिए 'राजा' शब्द व्यवहृत होता था परन्तु

---

१. शतपथ ब्राह्मण, ३, २, ३, १५; और देखिए Cam. Hist Ind., खण्ड १, पृ० ११८-११६।

२. देखिए, बी० सी० ला: Ancient Mid-Indian Ksatriya Tribes.

अधिराज, राजाधिराज, सम्राट्, विराट्, एकराट् और सार्वभौम अधिपति नरेशों की संज्ञा थे।[१]

राजा

राज्यों के विस्तार के साथ ही साथ राजा का महत्व भी बढ़ चला। यह राज्याभिषेक की परिवर्धित महत्ता से ही सिद्ध है। जहां ऋग्वैदिक काल में इस अवसर पर इने गिने व्यक्ति भाग लेते थे, वहाँ अब अनेक राज्य कर्मचारी सम्मिलित होने लगे। इनमें से मुख्य निम्नलिखित थे—पुरोहित, राजन्य, महिषी (पटरानी), सूत (सारथी या चारण-कथावाचक), सेनानी, ग्रामणी (गांव का मुखिया), भागदुध (कर एकत्र करने वाला पदाधिकारी), क्षत्री (प्रतीहार), संग्रहीतृ (कोषाध्यक्ष), अक्षवाप (जुए का अध्यक्ष), आदि।[२]

राजा जो साधारणतया कुलागत होता था,[3] युद्ध में अब भी सेना का नेतृत्व करता था यद्यपि सेना का साधारण संचालक सेनानी था। राजा दुष्टों का दमन कर धर्म की रक्षा और प्रतिष्ठा करता था। यह संदिग्ध है कि वह भूमि का स्वामी था, परन्तु निस्संदेह उस पर उसका बहुत कुछ स्वत्व था। वह उसे जिसे चाहता दे सकता था, जिससे चाहता छीन सकता था। निस्संदेह इस अधिकार के अनुचित व्यवहार से प्रजा का जब-तब अनिष्ट हो जाता होगा। जन-साधारण की राजनैतिक सार्वजनिक संस्थायें—सभा और समिति[४]—यद्यपि सर्वथा मरी न थीं, परन्तु अब उनका उपयोग न होता था। राज्यों के क्रमिक विस्तार से उनको क्षति पहुंची होगी और उनके अधिवेशन नगण्य हो गए होंगे। राजाओं के अधिकारों से भी उनका शासन उठ गया होगा। परन्तु फिर भी जब तब जनशक्ति राजशक्ति को उसकी सीमाएँ स्पष्ट कर देती थी। प्रमाणतः राजा दुष्टरीतु को उसकी असंतुष्ट प्रजा ने मार भगाया, फिर स्थपति चाक्र ने उसे सिंहासन पर पुनः प्रतिष्ठित किया।

राजनैतिक विभाग और घटनाएँ

अभाग्यवश उत्तर-वैदिककालीन राजनैतिक परिस्थिति और घटनाओं के संबंध में हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प है। इस सम्बन्ध में हम केवल कुछ सामग्री धार्मिक साहित्य और महाकाव्यों तथा पुराणों के अस्पष्ट निर्देशों से एकत्र कर सकते हैं।

---

१. गोपथ ब्राह्मण के अनुसार राजा को राजसूय यज्ञ करना चाहिए, सम्राट् को वाजपेय, स्वराट् को अश्वमेध, विराट् को पुरुषमेध, और सर्वराट् को सर्वमेध। किन्तु आपस्तम्बश्रौतसूत्र (X X, I, I) के अनुसार अश्वमेध केवल सार्वभौम ही कर सकता है।

२. ऋग्वैदिक काल में 'रत्नियों' की संख्या कम थी।

३. उदाहरणतः सृंजयों के 'जन' में राजसत्ता उसी कुल में दस पीढ़ियों तक बनी रही।

४. यह महत्व की बात है कि अथर्ववेद (७, १२) में सभा और समिति को प्रजापति की जुड़वीं कन्याएँ कहा गया है। 'सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने'। अपने उत्कर्ष-काल से सभा सार्वजनिक विषयों की आलोचना और न्याय का स्थल थी। समिति द्वारा राजा के निर्वाचित करने का भी हवाला मिलता है—ध्रुवायं ते समितिः कल्पतामिह (अथर्व ६,८८,३); नास्मै समितिः कल्पते (वही, ५,१९,१५)।

पहले बताया जा चुका है कि कुरु इस काल सबसे शक्तिमान् थे, और पंचालों से उनकी निकट मैत्री थी। कुरु-कुल के प्रथम महान् राजा परीक्षित् का नाम अथर्ववेद में आया है। परीक्षित् के शासन में प्रजा समृद्ध और सुखी थी और राज्य में 'दूध और मधु' की धाराएँ बहती थीं। इस राज्य का विस्तार प्रायः आज के थानेश्वर, दिल्ली और उपरले द्वाब (गंगा-यमुना) की भूमि पर था। उसकी राजधानी पहले आसन्दीवत् थी फिर हस्तिनापुर हुई। दूसरा प्रबल नृपति इस कुल में जनमेजय हुआ। ब्राह्मणों में उसकी शक्ति और पराक्रम का निर्देश हुआ है। वह बड़ा विजयी था और उसने अपने राज्य की सीमाएँ उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला तक बढ़ा लीं। महाभारत में उल्लेख है कि जब-तब वह तक्षशिला में अपना दरबार करता था और वहाँ वैशम्पायन से कौरव-पाण्डव-युद्ध की कथा सुनता था। उसने एक तो 'सर्पसत्र' किया और दो अश्वमेध किए। जनमेजय की ब्राह्मणों से भी शत्रुता थी और उसके भाइयों—भीमसेन, उग्रसेन, और श्रुतसेन—को उनके वध का अश्वमेध के अनुष्ठान से प्रायश्चित्त करना पड़ा था। जनमेजय के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान स्वल्प है। धीरे-धीरे इस राज्य पर दुर्भिक्ष, उपलवृष्टि और टिड्डियों के आक्रमण का संकट आया। फिर हस्तिनापुर के गंगा की बाढ़ से विपन्न हो जाने के कारण निचक्षु ने राजधानी वहाँ से हटाकर यमुना तट पर कौशाम्बी बसाई।

पंचालों के सम्बन्ध में तो हमारा ज्ञान और भी स्वल्प है। उनके कुछ राजाओं ने तो निश्चय अनेक विजयें की होंगी, क्योंकि उनके अश्वमेध करने के उल्लेख मिलते हैं और अश्वमेध का अनुष्ठान बढ़ती हुई शक्ति का प्रमाण था। उपनिषदों में पंचालों के राजा प्रवाहण जैवलि का बखान है जो अपने दरबार में दर्शनसंबंधी बौद्धिक परिषद् किया करता था। इन परिषदों में चिन्तन और वाद-विवाद, आलोचना-प्रत्यालोचना के द्वारा दार्शनिक तथ्यों की अभिप्राप्ति की जाती थी और ये तात्कालिक दार्शनिक चिन्तन के आधार थे। पंचाल-जनपद-राज्य की राजधानी काम्पिल्य थी और राज्य का विस्तार प्रायः आधुनिक फ़र्रुखाबाद जिले और रुहेलखंड के कुछ भागों पर था।

कुरुओं के अपकर्ष के बाद विदेहों का उदय हुआ। विदेह आज का तिरहुत था, और यद्यपि इसकी राजधानी मिथिला का उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं मिलता, परवर्ती साहित्य में उसका विशद वर्णन मिलता है। कोशल के पश्चात् विदेह में वैदिक सभ्यता फैली। शतपथ ब्राह्मण में वर्णित विदेघ माथव की कथा से यह स्पष्ट प्रमाणित है।[1] विदेह का सबसे महान् नरेश जनक था।[2] उपनिषदों में वह प्रकाण्ड

---

१. लिखा है कि विदेघ माथव अपने पुरोहित गोतम राहुगण के साथ सरस्वती की भूमि से सदानीर (गंडक) पार कर विदेह को गया। सदानीर कोशल की पूर्वी सीमा थी। सदानीर के पूर्ववर्ती देश को अग्नि वैश्वानर ने प्रज्वलित न किया था, अर्थात् तब तक विदेह अथवा यह पूर्वी भूखण्ड आर्य संस्कृति में दीक्षित न हुआ था।

२. आज के जनकपुर के नाम में उस महान् नृपति की कीर्ति और स्मृति सुरक्षित है।

दार्शनिक माना गया है। वह कुरु-राजधानी हस्तिनापुर के विध्वंस के शीघ्र ही बाद हुआ था। अकबर की भाँति वह भी अपने दरबार में दार्शनिक चर्चा कराया करता था। याज्ञवल्क्य[1] सरीखे दार्शनिक और बौद्धिक उसके शिष्य रह चुके थे। जनक का विरुद सम्राट था, और उसकी शक्ति तथा यश ने काशी के अजातशत्रु में ईर्ष्या जगा दी।

अजातशत्रु ब्रह्मदत्त कुल का था। यह कुल मूलतः शायद विदेह का ही था। यह राजा भी दार्शनिकों और विद्वानों का संरक्षक था। ब्रह्मदत्तों से पूर्व काशी में जिस कुल का राजा था वह अपना आदि पुरुष भरतों के प्रख्यात पूर्वज पुरूरवा को मानता था।

कोशल[2] भी पूर्वात्य राज्यों में से ही एक था। इसका प्रसार प्रायः आधुनिक अवध पर था। इस पर इक्ष्वाकु-कुलीय नरेश शासन करते थे। आर्यों के सदानीर (गंडक) पार करने से पहले दीर्घ काल तक कोशल वैदिक संस्कृति की पूर्वी सीमा था। कोशल की प्राचीनतम राजधानी अयोध्या थी। यहीं रामायण के राम ने भी कभी राज्य किया था।

ब्राह्मणों और उपनिषदों में वर्णित अन्य समसामयिक राज-शक्तियाँ निम्न-लिखित थीं :—

सिन्धु नदी के दोनों तटों पर गन्धार जनपद था। इसके दो मुख्य नगर तक्ष-शिला (जिला रावलपिंडी में) और पुष्करावती (पेशावर का चारसद्दा) थे। इस गन्धार भूमि और व्यास के बीच केकय का देश अवस्थित था। मध्य पंजाब में स्यालकोट और उसके आसपास मद्रों का आवास था। मत्स्य राज्य जयपुर, अलवर और भरतपुर रियासतों के अनेक भागों पर विस्तृत था। उशीनरों का प्रदेश मध्यप्रदेश के अन्तर्गत था। इन राज्यों की प्रजा सुखी और समृद्ध थी और शांतिकालीन कलाओं के प्रजनन और व्यसन में उनकी स्वतंत्रता निस्सीम थी। इन सुशासित राज्यों में शांति का होना स्वाभाविक था। परन्तु साथ ही साहित्यिक अतिरंजनों पर भी एक सीमा तक ही विश्वास किया जा सकता है। छान्दोग्य उपनिषद् में अश्वपति कैकेय का दृप्त कथन कि मेरे राज्य में न चोर हैं न मद्यप, न क्रियाहीन, न व्यभिचारी और न अविद्वान्[3] निस्सन्देह इसी प्रकार की अत्युक्ति का एक नमूना है। मगध और अंग अब भी अपावन माने जाते थे। अथर्ववेद का ऋषि इन प्रान्तों की ओर ज्वरादि व्याधियों को बहिष्कृत करता है। मागधों को घृणापूर्वक 'व्रात्यों' की संज्ञा दी गई है। उनको ब्राह्मण धर्मालोक से विरहित अन्धकारपूर्ण देश में अपरिचित भाषा बोलने वाले कहा गया है।

---

१. इस काल के अन्य विद्वान् थे उद्दालक आरुणि, श्वेतकेतु आरुणय, सत्यकाम जाबाल, दृप्त बालाकि आदि।

२. एक पश्चात्कालिक निर्देश में जल जातुकर्ण्य विदेहों, काशियों और कोशलों का पुरोहित कहा गया है। इससे क्या यह ध्वनि निकलती है कि तीनों राज्य कभी सम्मिलित थे ?

३. न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ छान्दोग्य उप०, ५, ११

सामाजिक परिवर्तन

इस काल में होने वाले राजनैतिक और अन्य परिवर्तनों से तात्कालिक समाज भी वंचित न रह सका। यद्यपि ऋग्वेद[1] के पश्चात्कालीन सूक्त (पुरुषसूक्त) में चतुर्वर्ण का प्रतिपादन हुआ है परन्तु वास्तव में आर्यों और दस्युओं का सामाजिक भेद छोड़कर यह संहिता और कहीं वर्णव्यवस्था का उल्लेख नहीं करती। परंतु उत्तर-वैदिक काल तक पहुँचते-पहुँचते सामाजिक स्तर स्पष्ट हो चले थे और वर्ण-व्यवस्था अपने नियत वर्ग-आकार और वर्ग-संघर्ष की ओर द्रुत गति से बढ़ चली थी। अभाग्यवशात् इसके विकास के कारण अस्पष्ट हैं। वर्ण-व्यवस्था का मुख्य आधार स्पष्टतया गौर आर्यों और कृष्णकाय दस्युओं का पारस्परिक वर्णान्तर था। परन्तु आर्यों के शाश्वत रणक्रम, उनकी राजनीति की नित्यवर्धित नई परिस्थितियों और श्रम-विभाजन के उत्तरोत्तर उपक्रम से स्वाभाविक ही पुश्तैनी पेशेवर दल निर्मित हो गये। इस प्रकार जो लोग धर्म की व्यवस्था को जानते थे, कर्मकाण्ड और यज्ञानुष्ठान में परिगत थे और दान ग्रहण करते थे, वे ब्राह्मण कहलाये; जो युद्ध करते थे, भूमि के स्वामी थे और राजनीति में अधिकार के साथ सक्रिय भाग लेते थे वे क्षत्रिय हुए; शेष सारी आर्य जनता, जिनमें वणिक्, कृषक, और शिल्पी थे, वैश्य कहलाई; और इस व्यवस्था का निम्नतम स्तर उन 'शूद्रों' से बना जो दासों और दस्युओं में से विजित वर्ग के थे और जिनका कर्म ऊपर के तीन वर्णों की सेवा घोषित हुआ। फिर भी उत्तर-कालीन युगों की भाँति इस वर्ण-व्यवस्था में अभी परुषता न आई थी और उनका पारस्परिक यातायात अभी सम्भाव्य था। इस सम्बन्ध में इस काल के अनेक अन्तर्वर्ण-विवाह उद्धृत किये जा सकते हैं। च्यवन ब्रह्मर्षि थे परन्तु उन्होंने ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय शर्याति की पुत्री सुकन्या से विवाह किया; विदेह के जनक, काशी के अजातशत्रु, और पंचाल के प्रवाहण जैवलि ने ब्रह्मज्ञान में ख्याति अर्जित की, और राजन्य देवापि ने अपने भाई राजा शन्तनु[2] के अश्वमेध में प्रमुख पुरोहित का कार्य किया। जसे-जैसे प्रादेशिक विशेषतायें और ब्राह्मणों की सत्ता वढ़ती गयी वैसे ही वैसे वर्णों की परुषता भी बढ़ती गयी और उनका पारस्परिक यातायात अश्रद्धा की दृष्टि से देखा जाने लगा। अन्तर्वर्ण-विवाहों[3] से प्रसूत सन्तानें

---

१. पुरुषसूक्त (१०, ९०, १२) का वक्तव्य है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ब्रह्मा के क्रमशः मुख, बाहु, उरु और पद से निकले—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥ ऋग्वेद, १०,९०,१२; यजुर्वेद, वाजसनेयि संहिता, ३१, ११, आदि।

२. इस प्रकार के कुछ ब्राह्मण क्षत्रिय उदाहरणों को छोड़ किसी अन्य जातीय के उच्चवर्णीय होने का कोई स्पष्ट प्रमाण वैदिक साहित्य में नहीं मिलता, यह एक महत्वपूर्ण बात है।

३. अन्तर्वर्ण विवाहों को मनु ने 'अनुलोम' और 'प्रतिलोम' की संज्ञा दी है। 'अनुलोम' के अनुसार ब्राह्मण निचले वर्णों से विवाह कर सकता था। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य। प्रतिलोम इसके विपरीत आचरण था।

निकृष्ट मानी जाने लगीं और उनके स्वतन्त्र वर्ग बन गए। नयी और विविध वृत्तियों के उपयोग के कारण यह परम्परा अनवरत चलती रही, और समाज परिणामतः अनेक वर्णों और वर्गों का एक अद्भुत संगठन बन गया जिसमें प्रत्येक वर्ग अपने स्वतन्त्र विधानों से व्यवस्थित था।

शूद्र और नारी की अवस्था

उत्तर वैदिक साहित्य में शूद्र निस्सन्देह समाज के एक पृथक् अंग माने गये हैं, परन्तु वास्तव में उनको अपावन समझा गया और वे यज्ञानुष्ठानों में भाग लेने अथवा धर्म-स्तुतियों के उच्चारण के अधिकारी न समझे गये। शूद्रों के साथ आर्यों का विवाह-सम्बन्ध वर्जित कर दिया गया। अपने अधिकार से सम्पत्ति में उनका स्वत्व भी इसी प्रकार वर्जित हो गया। ऐतरेय ब्राह्मण में तो एक स्थान पर कहा गया है कि "शूद्र दूसरे का सेवक है जिसका इच्छावश निष्कासन तथा वध किया जा सकता है।"

इसी प्रकार नारियों की स्थिति भी विशेष स्पृहणीय न थी। इसमें सन्देह नहीं कि गार्गी वाचक्नवी और मैत्रेयी के दृष्टान्तों से प्रमाणित है कि नारियों को शिक्षा दी जाती थी और उनमें से कुछ ने तो अत्यन्त बौद्धिक गौरव भी प्राप्त कर लिया था। परन्तु नारी का सम्पत्ति पर अधिकार न होता था और न वह पितृदाय में ही किसी प्रकार का हिस्सा पा सकती थी। उनकी अर्जित सम्पत्ति, यदि यह कभी सम्भव हो सका, पिता या पति की वस्तु हो जाती थी। कन्या का जन्म 'दुख का कारण' समझा जाता था। राजाओं और श्रीमानों में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी जिसके कारण गृह कलह भी प्रायः होते रहे होंगे।

व्यवसाय

इस काल में कृषि के क्षेत्र में प्रभूत उन्नति हुई। हल (सीर) का आकार और उपादेयता काफी बढ़ गयी[1] और उपज की वृद्धि के लिये खाद की उपयोगिता समझी जाने लगी थी। जौ (यव) के अतिरिक्त धान (व्रीहि), गेहूँ (गोधूम), तिल आदि अन्न भी अनुकूल ऋतुओं में बोये-काटे जाने लगे थे।

उत्तरी भारत की उपजाऊ भूमि से आर्यों की समृद्धि बढ़ चली थी, जिससे उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के अर्थ अनेक पेशे भी उठ खड़े हुए। जिन विविध पेशों का हमें इस काल के साहित्य में हवाला मिलता है उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :—सारथी, व्याध, गडरिये, धीवर, हल जोतने-वाले रथकार, स्वर्णकार, टोकरी बुनने वाले, धोबी, रस्सी बटने वाले, रंगसाज़, जुलाहे, खटिक और वधिक, रसोइये, कुम्हार, धातुकार, नट, गायक, महावत आदि।

इस काल में भविष्यगणक और नापित समाज के विशिष्ट व्यक्ति हो चले थे। वैद्य रोगियों की चिकित्सा करने लगा था परन्तु उसका पेशा निम्न माना जाता था।

---

१. कुछ हल तो इतने भारी थे कि उनको चलाने में चौबीस बैलों की आवश्यकता होती थी। लोग किस प्रकार इनको चलाते थे, इसका अनुमान आज नहीं किया जा सकता।

नारियाँ अधिकतर रंगसाजी, कढाई, सीना-पिरोना, टोकरी-चटाई आदि बुनने का कार्य करती थीं।

अन्य विशेषताएं

इस सभ्यता के विकास का एक विशिष्ट प्रमाण इसका धातुज्ञान है। ऋग्वेद में केवल स्वर्ण और अज्ञातार्थ 'अयस्' का उल्लेख हुआ है। परन्तु इस काल के साहित्य में जिन अनेक धातुओं का निर्देश है वे हैं—शीशा, टिन (त्रपु), चाँदी (रजत), सोना (हिरण्य), लाल (लोहित) अयस् (तांबा), और 'श्याम'-अयस् (लोहा)। स्वर्ण और रजत का उपयोग प्रायः आभूषण बनाने अथवा कटोरियों, बर्तनों आदि के लिए होता था। सोना नदी की तलहटियों से, भूमि से अथवा कच्ची मटियाली धातु को शोध-पिघलाकर प्राप्त करते थे।

सिक्कों का प्रचलन अभी नहीं हुआ था यद्यपि सौ 'कृष्णों' या गुञ्जों की मान के 'शतमान' का प्रयोग उस ओर द्रुतगति से ले जा रहा था। इस प्रकार प्राचीन काल के क्रय-विक्रय के मानदंड गाय का स्थान अब यह 'शतमान' लेने लगा था।

भोजन, वसन और मनोरंजन के साधन इस काल में भी प्रायः वही थे जो ऋग्वैदिक युग में थे। अथर्ववेद के एक सूक्त में प्राचीन रीति के विरोध में मांस-भक्षण और सुरा-पान को पाप कहा गया है। यह सम्भवतः अहिंसा के उस सिद्धांत का परिणाम था जिसका अंकुर अब भारतीय धर्म-भूमि में जम चला था।

उत्तर वैदिक काल में सम्भवतः लेखन का ज्ञान हो गया था। ब्यूलर व अन्य विद्वानों के मतानुसार नवीं शती ई० पू० के लगभग भारत में सेमेटिक देशों से लेखन कला का प्रचार किया गया। इसके विरुद्ध कुछ विद्वान्[1] भारतीय लेखन कला का मूल स्वदेश को ही घोषित करते हैं और परिणामतः इस कला के उदय का काल काफ़ी पूर्व रखा है। इस प्रश्न पर विद्वानों में काफ़ी सरगर्मी रही है और अपने पक्ष की पुष्टि के लिए उन्होंने विविध प्रमाण रखे हैं। परन्तु जब तक कि इस सम्बन्ध में नये स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते अथवा मोहेनजो-दड़ो की मुद्राओं का अध्ययन इस पर प्रकाश नहीं डालता, यह समस्या अभी हल नहीं की जा सकती।

धर्म और दर्शन

उत्तरकालीन साहित्य की धर्मव्यवस्था प्राचीन सूक्तों की व्यवस्था से सर्वथा भिन्न न थी। ऋग्वेद के देवता इस काल भी स्तुत्य थे; अंतर केवल इतना था कि उन से कुछ का गौरव तिरोहित हो गया था, कुछ का बढ़ गया था। सृष्टि के स्वामी प्रजापति, जो कभी ब्राह्मण चिन्तन का विशिष्ट विषय था, जन-प्रिय देवता नहीं हो सका।

---

१. देखिये, महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : 'प्राचीन लिपिमाला' भूमिका।

इस काल में जिन दो देवताओं के प्रति जनता का विशेष अनुराग हुआ वे थे रुद्र और विष्णु जो आज भी हिन्दू विश्वास में विशिष्ट हैं। ऋग्वेद में विष्णु सूर्य का ही एक रूप है और उस काल उसकी कोई विशेष महत्ता नहीं थी। इसी प्रकार रुद्र भी, जिसका स्थान उत्तर-वैदिक काल में ऊँचा उठ गया है, ऋग्वेद में विशेष महत्व नहीं रखता। अब वह महादेव कहा जाने लगा और उसका विरुद कल्याणकर 'शिव' हो गया जो आज तक विद्यमान है। रुद्र की इस महत्ता का कारण क्या था? क्या उसके विकास का प्रधान कारण संस्कृतियों का सम्मिश्रण था? जो हो, मोहेनजो-दड़ो से एक मुहर मिली है, जिस पर एक नर देवता की आकृति खुदी हुई है और जिसे सर जान मार्शल ऐतिहासिक शिव का पूर्ववर्ती रूप मानते हैं, इस सम्मिश्रण के अनुमान को कुछ अंश में अवश्य पुष्ट करता है।

यद्यपि धर्म में देवताओं की बहुलता अब भी बनी रही, तथापि उस क्षेत्र में निस्सन्देह गहरा परिवर्तन हो गया था। प्राचीन सूक्त अब दुरूह हो चले थे और प्रकृति के अवयव अब ऋषि और कवियों में चिन्तन और रस का उद्रेक नहीं करते थे। धर्म अब स्थायी रूप धारण करने लगा था और ब्राह्मणों का प्रभाव समाज के ऊपर इतना गहरा हो गया था कि वे पृथ्वी के देवता माने जाने लगे थे। कर्मकांड को ब्राह्मणों ने अत्यन्त जटिल बना डाला और धर्म अनुष्ठान क्रियाओं की एक अटूट परम्परा बन गया।'[1] यज्ञों और उनसे सम्बद्ध प्रत्येक क्रिया रहस्यमय तथा अव्यक्त शक्तियों से अनुप्राणित मानी जाने लगी। वस्तुतः यह विश्वास हो गया कि यजमान का कल्याण यज्ञ की प्रत्येक क्रिया को सविस्तर करने में था। यज्ञ के पेचीदे अनुष्ठानों में से एक का भी उल्लंघन अत्यन्त अभाग्य का कारण हो सकता था। संक्षेप में ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों ने वह गौरव धारण किया और उनकी महत्ता इतनी बढ़ी कि वे फल के साधन नहीं, स्वयं इच्छित परिणाम बन गये।

परन्तु चित्र का केवल यह एक रूप है। यह काल वस्तुतः बौद्धिक चिन्तन का था और जहाँ ब्राह्मण साधारणतः यज्ञों की आड़ में अपना कार्य साधते थे वहाँ क्षत्रिय और अनेक ब्राह्मण भी उनसे विमुख होकर शान्ति और ज्ञान की खोज में संलग्न थे।[2] उनके आध्यात्मिक चिन्तन का प्रणयन उपनिषदों में हुआ है।

इन्हीं के बाद में आत्मोन्नतिमार्ग प्रदर्शन करने वाले हिन्दू षड्दर्शनों (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व और उत्तरमीमांसा) की रचना हुई। विश्व की पहेली समझने और आत्मतत्त्व का निरूपण करने में आर्ष-चिन्तन अत्यन्त अधीर हो उठा था और

---

१. यज्ञों के अनेक प्रकार थे। उनमें से एक तो, जिसे 'सत्र' कहते थे, कुछ दिन से लेकर एक साल अथवा सालों चलता था। सौ-सौ वर्ष तक चलने वाले यज्ञों का ब्राह्मणों में उल्लेख मिलता है। कर्मकांड के साथ-साथ पुरोहितों की संख्या भी बढ़ चली थी। अब होतृ, उद्गातृ, अध्वर्यु और ब्रह्मन् में से प्रत्येक के अनेक सहकारी हो गये थे।

२. मुंडक उपनिषद् (१, २, ७) केवल कर्मकांडियों को मूर्ख कहता है। बृहदारण्यक को भी इसी प्रकार देवताओं के लिए यज्ञ करने वालों की उन पशुओं से तुलना करता है जो अपने स्वामी के सुख के साधन हैं।

प्रयोग में उसने उस निःशेष सत्य 'ब्रह्म' के महान् सिद्धांत की घोषणा की। ज्ञान की अभिप्राप्ति को ही उन्होंने (आत्मा को परमात्मा[1] में विलीन हो जाने पर) चरम शांति का साधक समझा। इस सिद्धांत की स्वाभाविक व्याप्ति आत्मा के आवागमन के सिद्धांत में हुई, और धीरे-धीरे यह विश्वास बढ़ा कि जब तक ज्ञान की सहायता से इस आवागमन से मोक्ष नहीं हो जाता तब तक आत्मा अनन्त जन्म-मरण के पाश में बँधी रहती है। इसी विचार-धारा से कर्म के सिद्धांत की अभिसृष्टि हुई; कोई कर्म उचित या अनुचित, कभी नष्ट नहीं होता, किसी न किसी जन्म में उसका विपाक होता है और उसका परिणाम फलता है।

ज्ञान का विकास

इस युग का बौद्धिक चिन्तन अन्य क्षेत्रों में भी ज्ञान की वृद्धि का कारण हुआ। वैदिक ऋचाओं और मंत्रों के व्यवस्थित अध्ययन और धर्म की व्यावहारिक आवश्यकताओं से कालान्तर में 'वेदांगों' का जन्म हुआ। वेदांग छः हैं—व्याकरण, शिक्षा (उच्चारण), कल्प (कर्मकाण्ड), निरुक्त (शब्दविज्ञान), छन्दस् (मीटर), और ज्योतिष। इन वेदांगों का उद्देश्य वैदिक स्थलों की 'व्याख्या, रक्षा और प्रयोग' करना था। वेदांगों में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ वे हैं जो यज्ञ-प्रक्रियाओं, शिक्षाव्युत्पत्ति तथा व्याकरण से सम्बन्ध रखते हैं। यहाँ पर हम विशेष प्रकार से महर्षि यास्क के 'निरुक्त' का उल्लेख कर सकते हैं। 'निरुक्त' व्याकरण और व्याख्या के अतिरिक्त विशुद्ध संस्कृत गद्य का पहला उदाहरण है। प्रादेशिक बोलियों का, पंजाब की प्राचीन वैदिक भाषा से, उदय इस काल की एक विशिष्ट उपलब्धि थी। मध्यदेश में बोली जाने वाली यह नयी भाषा सुसंस्कृत और प्रतिनिधि-भाषा मानी जाने लगी। 'प्राकृतों' से भिन्न इसकी संज्ञा संस्कृत हुई। अनेक वैयाकरणों ने इसकी व्यवस्था की और इसका रूप निखारा। अनेक वैयाकरणों में पाणिनि विशेष प्रख्यात हुए।[2] धीरे-धीरे संस्कृत अभिजातकुलीय शिक्षित समुदाय की भाषा बन गयी। बाद में व्यवहार (कानून) का उदय हुआ जो मूलतः व्यक्ति का उसके देवता, कुल, समाज और राष्ट्र के सम्बन्ध का विधान था। व्यवहार-सम्बन्धी जो सूत्र-ग्रंथ बने उनमें किसी प्रकार का साहित्यिक सौन्दर्य न था, और वे अत्यन्त संगठित गद्य-शैली मे रचे गये। इनके निर्माण में समस्त-पदीयता का इस प्रकार समावेश किया गया कि सूत्रकार एक मात्रा बचाने पर पुत्रोत्पत्ति का सुख मानने लगा। भावों की सघनता के कारण इस लेख-पद्धति को सूत्र-शैली कहते हैं। बाद में इन सूत्रों की व्याख्या के लिये अनेक स्वतन्त्र ग्रंथ अभीष्ट हुये।

---

१. 'तत्त्वमसि', आत्मा के परमात्मा में लय हो जाने वाले इसी वेदांत सिद्धांत का सूत्र है।

२. पाणिनि की तिथि विद्वानों में काफी वादविवाद का कारण रही है। कीथ की राय में वह ३०० ई० पू० के बाद नहीं रखा जा सकता (Cam. Hist. Ind., खंड १, पृ० ११३; Aitareya Aranyaka, पृ २१—२५); मैंकडोनेल के मत में पाणिनि का काल ५०० ई० पू० से शीघ्र बाद है (India's Past, पृ० १३६)। इसके विरुद्ध सतर्क सर रामकृष्ण भंडारकर पाणिनि को सातवीं सदी ई० पू० के आरम्भ में हुआ मानते हैं (E.H.D., तीसरा संस्करण, पृ० १६)।

अध्याय ५

सूत्रों, काव्यों और धर्म-शास्त्रों की सामग्री

प्रकरण १

सूत्र-ग्रन्थ

सूत्र-शैली

सूत्रों का आरम्भ काल की आवश्यकता के अनुकूल था। धर्म-सम्बन्धी परम्परा और तत्सम्बन्धी विधि-क्रियाओं की घनता बढ़ती जा रही थी, कर्मकांड के पेंच दिन-पर-दिन सघन होते जा रहे थे। आवश्यकता इस बात की थी कि धार्मिक परम्परा में विचार और उनकी पद्धतियाँ लिख डाली जाएँ, जिससे मौखिक प्रदान के क्रम में उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन न हो जाए। इस ग्रंथन के क्रम में परिणामतः एक नयी गद्यशैली प्रस्तुत हो गयी। यद्यपि वह अत्यन्त सूक्ष्म और नीरस थी, उसमें याद रखने की सारी सुविधायें प्रस्तुत थीं। इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ निर्मित हो गये जिनमें विधिविधान एकत्र कर परस्पर जोड़ लिए गये। वास्तव में विधिविधानों के लिए इनके वाक्य 'सूत्र' (सूत्र-डोरा) बन गये। इस शैली का महत्त्व इस बात में था कि इसमें कम से कम शब्दों का उपयोग होता था।

काल

विद्वानों का मत है कि सूत्रों का काल साधारणतः ईसा से छठी अथवा सातवीं शती पूर्व और प्रायः दूसरी शती ई० पू० के बीच है।[१] इस काल प्रसार के निचले छोर के सम्बन्ध में चाहे जो भी कहा जाए, इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन सूत्रों का आरम्भ बौद्ध धर्म के उदय के आसपास कहीं रखना होगा।[२]

पाणिनि और उनका व्याकरण

पाणिनि के काल के सम्बन्ध में हमने पीछे के एक 'फुटनोट' में कुछ मत उद्धृत किये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यास्क उनका पूर्ववर्ती था। उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत के शालातुर का निवासी पाणिनि विशेषतः अपनी 'अष्टाध्यायी' के लिए प्रसिद्ध है, और यह 'अष्टाध्यायी' व्याकरण की अपनी सूझों और सूत्र-पद्धति के ग्रंथों में बेजोड़ है। इसकी महत्ता और वैज्ञानिकता की प्रशंसा प्राचीनों और अर्वाचीनों ने समान रूप से की है। सदियों का अन्तर उसकी आवश्यकता और उत्तमता को किंचित् भी कम न कर सका। अपने इस व्याकरण में पाणिनि ने जहाँ-तहाँ प्रसंग-

---

१. Cam. Hist. Ind., खंड १, पृ २२७।

२. India's Past, पृ० ५७।

वश ऐसी सामग्री का भी निर्देश किया है जिससे तत्कालीन इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।[1] पाणिनि के इस सूत्रग्रन्थ से स्पष्ट है कि उस काल के आर्य दक्कन से अभी अनभिज्ञ थे। इसका प्रमाण यह है कि जहाँ पाणिनि पश्चिम में 'कच्च' (कच्छ), पूर्व में कलिंग और दक्षिण में अवन्ति का उल्लेख करता है वहां विन्ध्य पर्वत के दक्षिण के किसी स्थान का वह उल्लेख नहीं करता। उसे प्रायः बाईस जनपदों का ज्ञान है और उनका उल्लेख वह उनमें वासी जानपद के नाम से (उदाहरणतः गंधारि, मद्र, यौधेय, कोशल, वज्जि, आदि) करता है। उसने अपने इस अप्रतिम ग्रन्थ में विषय (प्रान्त या कमिश्नरी), नगर और ग्राम के से भूखण्डों का भी उल्लेख किया है। उस काल साधारणतः राजशासित जनपदों की विशेषता थी, यद्यपि इस ग्रन्थ में अराजक गणों और 'संघों' के प्रति भी निर्देश है। राजा सब बातों में प्रमाण माना जाता था, और जैसा डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने बताया है, उसके नीचे कुछ अन्य पदाधिकारी भी थे जिनको 'पारिषद्य' कहते थे। ये पारिषद्य परिषद् के सदस्य थे। इनमें से मुख्य शासक थे अध्यक्ष (विभागों के प्रधान), व्यावहारिक (कानून का अफसर) औपायिक (कार्यसम्बन्धी उपायों का प्रबन्ध करने वाला जो सम्भवतः अर्थ-विभाग से सम्बद्ध था), युक्त (साधारण राजकर्मचारी) आदि।[2] अष्टाध्यायी से तात्कालिक आर्थिक जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। उस समय के मुख्य पेशे कृषि, नौकरी (जानपदी-वृत्ति), सैनिक और श्रमवृत्ति आदि थे। 'क्रय-विक्रय' प्रभूत उन्नति कर चुका था और व्याज पर ऋण दिया जाता था। शिल्पों में बुनाई, रंगसाजी, चर्मव्यवसाय, आखेट, बढ़ईगीरी, कुम्हार आदि के काम मुख्य थे। पाणिनि ने शिल्प संघों का 'पूग' नाम से उल्लेख किया है। इन सघों और संगठनों से श्रम के वर्गीकरण को विशेष सहायता मिली होगी। उनके परिणामस्वरूप व्यवहार (कानून और विनय, 'डिसिपलिन') के विकास पर भी प्रचुर प्रभाव पड़ा होगा।

सूत्रग्रन्थ

ऊपर बताया जा चुका है कि छः वेदाँगों में से एक कल्प है। कल्प धर्म-सम्बन्धी सारे सूत्रों के निकाय को कहते हैं। यह तीन वर्गों में विभाजित है।

श्रौतसूत्र

इनमें से श्रौतसूत्र ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कोई महत्व नहीं रखते। उनका सम्बन्ध रवि और सोम के वैदिक यज्ञ और अन्य धार्मिक अनुष्ठानों से है। वस्तुतः वे ब्राह्मणग्रन्थों के कर्मकाण्ड की परम्परा में ही हैं, यद्यपि उनको कभी अपौरुषेय नहीं माना गया। सम्भवतः इनके पश्चात् गृह्यसूत्रों की काया निर्मित हुई।

गृह्यसूत्र

गृह्यसूत्रों का सम्बन्ध गार्हस्थ अनुष्ठानों से है। इन सूत्रों ने व्यक्ति का जीवन

---

१. देखिए, डा० मुकर्जी : Hindu Civilization, अध्याय ६, पृ १२० से आगे। यह पुस्तक उपादेय ऐतिहासिक सामग्री से भरी है।

२. वही, पृ १२१-२७।

गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक अनेक कालों में बाँट दिया है, और वे इनसे सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं पर सविस्तर अपने विधान रखते हैं। इन विधिक्रियाओं में सबसे महत्वपूर्ण वर्ण संस्कार है जिनमें 'गर्भाधान', 'पुंसवन' (पुत्रोत्पत्ति के लिए संस्कार), जात-कर्म (जन्म संस्कार), नाम-करण, 'निष्क्रमण' (शिशु को पालने के घर से बाहर निकालना), 'अन्नप्राशन' (बच्चे को अन्न खिलाना), चूडा-कर्म (चौल काटना), उपनयन (ब्रह्मचारी की दीक्षा), समावर्तन(गुरुकुल से घर लौटना), विवाह (जिसके आठ प्रकार[1] निर्दिष्ट हैं), पंच महायज्ञ (गृहस्थ के प्रत्येक दिन के पाँच यज्ञ),[2] और अन्त्येष्टि (दाहकर्म) आदि मुख्य हैं। इन गृह्यसूत्रों में से एक (कौशिक सूत्र) में चिकित्सा और व्याधि तथा आपत्तियों को दूर करने के लिए टोने टोटके के प्रयोग भी लिखे हैं। इस प्रकार गृह्यसूत्रों से हमें तात्कालिक क्रिया अनुष्ठानों तथा जनविश्वासों का भी ज्ञान होता है। प्राचीनकाल के गृहस्थ-जीवन के लिए गृह्यसूत्र अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुए हैं।

धर्मसूत्र

एक अन्य विशिष्ट वर्ग धर्म-सूत्रों का है। इनका सम्पर्क कुल से इतना नहीं जितना समाज से है। सामाजिक परम्परा तथा नित्य के रीति-आचारों के सम्बन्ध में इनके विधान प्रामाण्य हैं। इनमें सन्देह नहीं कि ये अधिकतर धर्म के विषयों से तात्पर्य रखते हैं, फिर भी सामाजिक और पार्थिव व्यवहार (कानून) भी इनमें मिलता है। मुख्य धर्म-सूत्रों के रचयिता गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब और वशिष्ठ हैं। इनमें से गौतम को प्रायः ५०० ई० पू०[3] के पश्चात् नहीं रखा जा सकता। बौधायन दक्षिण भारतीय थे। आपस्तम्ब को ब्यूलर ने ४०० ई० पू० के लगभग रखा है। वशिष्ठ का काल गौतम के बाद है, सम्भवतः शीघ्र बाद। आपस्तम्ब भी दाक्षिणात्य ही थे, सम्भवतः आन्ध्र देश के, परन्तु वशिष्ठ निस्सन्देह उत्तर-भारत के थे। इनके अतिरिक्त अब अप्राप्य उस 'मानव धर्मसूत्र' का भी उल्लेख किया जा सकता है जिसके आधार पर पद्यात्मक मानव धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) का निर्माण हुआ। यह मानव धर्मशास्त्र व्यवहार (कानून) और वैज्ञानिक आचरण के लिए आज भी प्रामाण्य है।

---

१. विवाह निम्नलिखित थे। ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, पैशाच।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

मनुस्मृति ३, २१; याज्ञवल्क्यस्मृति १, ५८-६१। देखिए J.B.H.U. खंड ६, अंक १, पृ० १-२२।

२. गृहस्थ के दैनिक पांच यज्ञों के नाम हैं: ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और भूतयज्ञ।

३. A History of Sanskrit Literature, पृ० २६०। गौतम का धर्मसूत्र गद्य-शैली में है।

समाज की व्यवस्था

सूत्रों के अनुसार वर्णाश्रम धर्म समाज में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चला था। सूत्र 'द्विजों' (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रियं और वैश्य) तथा शूद्रों के विभिन्न कर्तव्यों के सम्बन्ध में अपने विधान दे चुके थे। उनके अनुसार द्विजों का जीवन चार आश्रमों में विभक्त है—ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी जीवन), गार्हस्थ्य (गृहस्थ का जीवन), वानप्रस्थ (यति का जीवन),और संन्यास(संन्यासी का जीवन)। इनमें से पिछले दो आश्रमों का जीवन तप और एकाकीपन का था। संसार का त्याग उनका विशिष्ट आधार था। सूत्रों में वर्णों की शुद्धता पर बहुत जोर दिया गया है। यह तभी सम्भव था जब विवाह और भोजन संबंधी विधान पूरी तौर से माने जाते। उच्छिष्ट अथवा अपवित्र भोजन और अछूत वर्ग का स्पर्श वर्जित कर दिया गया। इन बातों के सम्बन्ध में सूत्रों के विधान स्पष्ट और कड़े हो गये। यद्यपि सूत्रकारों के मत अनेक स्थलों पर सर्वथा एक नहीं हैं, वस्तुतः प्राचीनतर सूत्रकार अपेक्षाकृत अधिक उदार हैं। दृष्टांततः, गौतम का विधान है कि ब्राह्मण किसी द्विज का दिया हुआ भोजन, और आपत्काल में शूद्र तक का, स्वीकार कर सकता है। विवाह में भी अच्छी कन्या निम्नवर्णीया होती हुई भी जब-तब ब्राह्मण द्वारा स्वीकृत हो जाती थी। इतना अवश्य था कि उनका स्थान सपत्नियों की अपेक्षा नीचे था, और उसकी संतान संकर समझी जाती थी। सगोत्र और मातृत्व की छठी पीढी तक के विवाह वर्जित थे, यद्यपि दाक्षिणात्यों में मातुल-कन्या से विवाह की प्रथा प्रचलित थी। स्पष्ट है कि धर्मसूत्रों के पारस्परिक मत-विरोध कुछ हद तक प्रादेशिक आचार-विभिन्नताओं के कारण थे। साधारणतः धर्मसूत्रों का दृष्टिकोण संकुचित था। यह निष्कर्ष इस विधान से और भी पुष्ट हो जाता है कि सूत्रों ने समुद्र यात्रा और वर्वर (विदेशी) भाषाओं को सीखना निषिद्ध कर दिया है।

राजधर्म

धर्मसूत्रों में राजा के कर्तव्यों का भी वर्णन है। उसका पहला कर्त्तव्य प्रजा की पूर्णतः रक्षा करना था। उसकी बाहरी खतरों और आपत्तियों से रक्षा, और देश के आततायियों का दमन राजा का विशिष्ट धर्म था। विद्वान् ब्राह्मणों अथवा श्रोत्रियों-स्नातकों और विद्यार्थियों तथा दुर्बल और पंगु (जो काम करने में अक्षम थे) के लिये आहार का प्रबन्ध करना भी उसके कर्तव्यों में से एक था। वह युद्ध के दिनों में सैन्य-संचालन और शांति के दिनों में न्याय करता था तथा भलों को पुरस्कृत करता था। उसका निवास 'पुर' (राजधानी) के एक विशाल भवन (वेश्म) में था। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे भवन भी थे जहाँ अतिथियों का सत्कार और राजसभा के अधिवेशन होते थे। नगरों और ग्रामों में चोरों तथा डाकुओं से प्रजा की रक्षा के लिए स्वामिभक्त और ईमानदार कर्मचारी नियुक्त थे। इन राजकर्मचारियों को चोरी का माल बरामद न कर सकने और चोर को न पकड़ सकने पर प्रजा की क्षति अपने पास से पूरी करनी पड़ती थी।

कर-विधान

शासन के प्रबन्ध और राष्ट्र की स्थिति के लिये प्रजा को कर देना पड़ता था।

यह कर भूमि की उपज के छठे से दसवें भाग तक लगा करता था। गौतम का विधान है कि राजा शिल्पियों से प्रतिमास एक दिन काम करा सकता है और विक्रय की वस्तुओं पर बीसवाँ, मवेशी और सोने पर पचासवाँ, तथा कन्द-मूल,फल-फूल, औषधियों, मधु, मांस, घास, ईंधन पर साठवाँ भाग ले सकता है।

व्यवहार (कानून)

राजा व्यवहार का उद्गम न था। उसका उद्गम वेद, अनुश्रुति, और वेदों के ज्ञाताओं के आचार[१] माने जाते थे। यह भी कहा गया है कि न्याय का शासन "वेद, धर्मशास्त्रों, वेदांगों, पुराणों, प्रादेशिक आचार-विचार, वर्णों और कुलों के आचार, और कृषकों, सौदागरों, गोपालों, महाजनों, तथा शिल्पियों के रीति-रिवाज के अनुसार होगा।"[२] इस प्रकार विभिन्न वर्गों और श्रेणियों के रीति-व्यवहार और प्रथायें राजा के आदर की वस्तु थीं।

धर्मसूत्र विरासत और नारियों के अधिकार पर भी कुछ प्रकाश डालते हैं। नारियाँ अपने अधिकार से न तो यज्ञों में भाग ले सकती थीं, और न कुल की सम्पत्ति में। इस काल के सूत्रों से जान पड़ता है कि व्यवहार के क्षेत्र में अपराधियों की समानता का सिद्धान्त अभी न फैल सका था और वैयक्तिक पदों तथा वर्णों के विचार दंड की नीति को पूर्णतः प्रभावित करते थे। समान अपराध के लिए जहाँ शूद्र प्रभूत शुल्क से दण्डित होता था वहां ब्राह्मण प्रायः सर्वथा छूट जाता था।

प्रकरण २

रामायण-महाभारत-काल

काव्यों का उदय

भारत में ऐतिहासिक काव्यों का उदय उन प्राचीन आख्यानों, गाथाओं और नाराशंसियो से संबंध रखता है जिनका उल्लेख ब्राह्मण और वैदिक साहित्य के अन्य ग्रंथों में हुआ है[3]। आख्यानों आदि को विशेष उत्सवों पर पेशेवर गायक गाया करते थे और उनको देवताओं का विशेष प्रसादक माना जाता था। धीरे-धीरे 'मनुष्य की ये प्रशस्तियाँ' वृहद् काव्यों के रूप में विकसित हुईं। इनमें से इस समय संस्कृत में केवल दो ही महाकाव्य, रामायण और महाभारत, उपलब्ध हैं। रामायण और महाभारत प्राचीन वीरों और वीरांगनाओं के पारस्परिक प्रणय और विद्रोह, जय और पराजय, तथा प्राचीनतर प्रचलित अनुश्रुतियों की संहितायें हैं। इनसे उस प्राचीन काल की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है।

---

१. गौतम का धर्मसूत्र, ११, १९-२१।

२. वही, १, १, २१।

३. वैदिक साहित्य और अथर्ववेद में भी इतिहास-पुराणों का उल्लेख है, और इनको इन महाकाव्यों से पूर्ववर्ती इतिहास मानना चाहिये।

रामायण : इसकी कथा

रामायण को आदिकाव्य कहा गया है, क्योंकि श्लोकबद्ध प्रबन्ध-काव्य का यह पहला उदाहरण है। इसमें कुल चौबीस हजार श्लोक हैं और अनुश्रुति के अनुसार इसके रचयिता महर्षि वाल्मीकि हैं। इसकी कथा संक्षेपतः इस प्रकार है :—

दशरथ नाम का राजा कभी अयोध्या में राज्य करता था। उसकी रानी कौशल्या से उसके पुत्र राम जन्मे। विदेह जनक की कन्या सीता से ब्याह करने के बाद राम को पिता ने युवराज बनाना चाहा। इस संवाद से चारों ओर पौर-जानपद सब प्रसन्न हुए, परन्तु राम की विमाता कैकेयी के आचरण ने अयोध्या के आकाश पर विषाद के मेघ उठा दिये। कैकेयी ने कभी अपने पति की कृतज्ञता के फल-स्वरूप दो वर पाये थे, परन्तु उसने उन वरों को अनुकूल अवसर के लिए रख छोड़ा था। अब इस अवसर पर उसने उन वरों की पूर्ति चाही। उसने राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास और अपने पुत्र भरत के लिए अयोध्या का राज्य माँगा। परि-णामतः राम अपनी पतिव्रता पत्नी सीता और विनीत भ्राता लक्ष्मण के साथ वन चले गये। राम की कठिन यातनायें, लंका के राक्षसराज द्वारा सीता का बलपूर्वक अपहरण, राम का विलाप और सीता की चतुर्दिक् कष्टकर खोज, उनकी सुग्रीव से मैत्री, रावण से युद्ध, सीता के पुनरुद्धार के बाद अयोध्या आगमन और राज्यारोहण आदि बड़ी कुशलता से और काव्य-शक्ति से इस रामायण में वर्णित है। रामायण काव्य के रूप और गुणों में निस्सन्देह अद्भुत है, सर्वथा स्तुत्य है। इसके पात्र और चरितनायक अपने आचरणों से पश्चात्कालीन समाज के लिए सविस्तर आदर्श उप-स्थित करते हैं।

रामायण का काल

अर्वाचीन समीक्षकों की दृष्टि में रामायण एक व्यक्ति की रचना नहीं। उनका कहना है कि छोटे-छोटे अनेक प्रक्षेपों के अतिरिक्त रामायण के प्रथम और सप्तम कांड निश्चित रूप से बाद के लिखे हुए हैं। इसका प्रमाण यह है कि रामा-यण के विभिन्न भागों में परस्पर-विरोधी स्थल हैं। और इसके पिछले स्थलों में तो राम को विष्णु का अवतार तक मान लिया गया है, यद्यपि इस काव्य के पूर्ववर्ती काण्डों (२-७) में वह केवल पुरुषोत्तम हैं। राम के इस देवकरण में निश्चय ही कुछ काल लगा होगा, और निस्सन्देह इस काव्य के मूल भागों और इसके प्रक्षेपकों के प्रणयन के बीच सदियाँ गुजरी होंगी। अब प्रश्न यह है कि रामायण का मूल भाग किस काल में रखा जाए। यह उल्लेख्य है कि महाभारत के तृतीय पर्व में वर्णित 'रामोपाख्यान' में राम की कथा का हवाला है। इससे यह तो प्रमाणित है कि महा-भारत के संहितारूप में प्रवीण होने से पूर्व ही वाल्मीकि का काव्य निर्मित हो चुका था, और साहित्यिक सन्दर्भों में वह समझा जाने लगा था[१]। इसके अतिरिक्त यह

---

१. A History of Sanskrit Literature, पृ ३०६

भी महत्वपूर्ण बात है कि रामायण उदायी द्वारा बसाए पाटलिपुत्र का उल्लेख नहीं करता, और उसमें कोशल की राजधानी साकेत न होकर अभी अयोध्या ही है। कोशल की राजधानी अयोध्या का नाम बौद्ध और पश्चात्कालीन ग्रन्थों में बदलकर साकेत हो गया था। रामायण में बुद्ध का उल्लेख केवल एक बार हुआ है और वह भी एक प्रक्षिप्त श्लोक में। राजनैतिक परिस्थिति पर जो प्रकाश इस काव्य से पड़ता है उससे स्पष्ट है कि राजा कुलागत हो चुका था और वह छोटे-छोटे राज्यों का स्वामी था। इन प्रमाणों पर विचार कर डा० मैकडोनेल ने यह निष्कर्ष निकाला कि रामायण का मूल तो ५०० ई० पू० से पहले ही रचा जा चुका था, परन्तु उसके अपेक्षाकृत पिछले भाग द्वितीय शती ई० पू० के लगभग अथवा उससे भी बाद रचे गये।[1]

रामायण की ऐतिहासिकता

रामायण का रचनाकाल अनुमित हो जाने पर भी उसके चरितनायक और पात्रों का तिथ्यनुक्रम प्रश्नात्मक ही रह जाता है। अब प्रश्न यह है कि रामायण कहाँ तक ऐतिहासिक है? निस्सन्देह यह प्रश्न साधारण हिन्दू को कभी उद्विग्न नहीं करता। उसके लिए राम देवता हैं जो 'एक समय' सदेह थे, और उनके कृत्य आदर्शों की एक शृङ्खला उपस्थित करते हैं जो सर्वथा ऐतिहासिक है। परन्तु इतिहासकार का सतर्क समीक्षण ऐतिहासिक घटनाचक्र का सही अंकन उसमें नहीं पाता और ऐतिह्य के रूप में रामायण की कथाओं को स्वीकार करने में वह अक्षम है। कुछ विद्वानों को तो रामायण की घटना का मूल तक इतिहास के रूप में अग्राह्य है। लासेन और वेबर के मत से रामायण अनार्य दक्षिण की आर्यों द्वारा विजय और वहाँ उनकी संस्कृति के प्रचार का आलंकारिक निरूपणमात्र है। मैकडोनेल और जैकोबी का भी इसके विरुद्ध यह विश्वास है कि रामायण भारतीय धर्म-विश्वास की काल्पनिक अभिसृष्टि है। इस व्याख्या के अनुसार सीता हराई की शरीरधारिणी देवी हैं, राम इन्द्र हैं और उनका रावण से युद्ध ऋग्वेद के प्राचीन इन्द्र-वृत्र युद्ध का पिछला रूप है। इस प्रकार के अनेक मत जो विद्वानों ने प्रस्तुत किए हैं वे केवल यह प्रदर्शित करते हैं कि रामायण विद्वानों की कल्पना और उड़ान की भूमि बन गई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसकी कथा-वस्तु अनेक धर्म-सम्बन्धी और काल्पनिक विश्वासों से ओत-प्रोत है; फिर भी राम की ऐतिहासिकता में सन्देह करना अयुक्तियुक्त है। आखिर पिता-पुत्र के रूप में मानवशृङ्खला अत्यन्त लम्बी है और उसकी किसी कड़ी का राम होना अतर्क्य कैसे हो सकता है। इसके अतिरिक्त राम का उल्लेख 'दशरथजातक' में भी है जिसमें वह शुद्ध मानव के रूप में अंकित किए गए हैं। इसी प्रकार कोशल आर्यों के पूर्वाभिमुख प्रसार के आरम्भ से ही मध्यदेश

१. वही, पृष्ठ ३०९

का एक मुख्य और समृद्ध राज्य था, यह भी असन्दिग्ध है। इस कारण रामायण की साधारण ऐतिहासिकता में सन्देह न होना चाहिए। बीजरूप में यह माना जा सकता है कि राम अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशीय ऐतिहासिक व्यक्ति थे और उनके युद्ध तथा शान्ति के कृत्यों ने जनता की स्मृति और कल्पना पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ा है। परन्तु निस्सन्देह रामराज्य की कल्पना उतनी ही प्रश्नात्मक है जितनी रामायण वर्णित उत्तर और दक्षिण भारत की राजनीतिक परिस्थिति की ऐतिहासिकता।

महाभारत : इसका काल

उपलब्ध महाभारत 'शतसाहस्री संहिता' कहलाता है, क्योंकि उसमें एक लाख श्लोकों का संग्रह है। यह संसार के साहित्य का सबसे बड़ा महाकाव्य कहा जा सकता है, यद्यपि इसकी संगृहीत काया केवल मूलकथा की एकता से निर्मित नहीं है। यह 'संहिता' है और इसमें स्पष्टतः अनेक स्तर और विभिन्न कथाएँ हैं। महाभारत विभिन्न आकार में अट्ठारह पर्वों में विभक्त है। इसके परिशिष्ट रूप में 'हरिवंश' भी इससे जुड़ा हुआ है। साधारण जनश्रुति के अनुसार इस बृहद् ग्रंथ के रचयिता द्वैपायन व्यास थे, परन्तु इसकी भाषा-शैली की अनेकता तथा सामग्री की विभिन्नता इस विचार को प्रमाणित करती है कि यह काव्य न तो एक मस्तिष्क द्वारा प्रणीत है और न यह एक काल-स्तर में निर्मित ही हो सका होगा। मूलकाव्य की पृष्ठ-भूमि से आरम्भ होकर इस महाकाव्य का क्रमशः विकास हुआ[1] और कालान्तर में इसका आकार कथाओं-उपकथाओं, नीति और अध्यात्म के प्रसंगों से बढ़ता गया[2]। इस बात को न भूलना चाहिए कि इसका प्रारम्भिक नाम केवल 'जय' था जिसका सम्बन्ध स्पष्टतः कौरव पांडवों के संघर्ष से था, फिर इसकी संज्ञा 'भारत' हुई और अन्त में 'महाभारत'। सम्भवतः 'जय' में १८,०० ही श्लोक थे जो महाभारत तक पहुँचते-पहुँचते १००,००० हो गये। आश्वलायन गृह्यसूत्र में महाभारत के किसी न किसी रूप का पहला प्रमाण मिलता है, और ५००ई० के लगभग के एक भूदान लेख में इसको 'शतसाहस्री संहिता' कहा गया है। इससे सिद्ध है कि ५००ई० अथवा उसके एक सदी पहले तक महाभारत प्रायः अपना वर्तमान रूप धारण कर चुका था। इस प्रकार बृहदाकार संहिता[3] के आरम्भ, विकास, पुनःसंस्करण आदि में एक लम्बा काल-स्तर (सम्भवतः ५वीं शती ईसा पूर्व और ४०० ई० का अन्तर) लगा होगा।

महाभारत की संक्षिप्त कथा

महाभारत बीज रूप में धृतराष्ट्र के सौ पुत्र कौरवों और पांडु के पांच पुत्र

---

१. मैकडोनेल के मतानुसार महाभारत का मूल प्रायः २०,००० श्लोकों का था (History of Sanskrit Literature, पृ० २८३)। इस विद्वान् के मत से महाभारत का विकास तीन काल-स्तरों में हुआ है (वही, पृ० २८४)।

२. लम्बी-लम्बी कथायें और भगवद्गीता की तरह के सम्पूर्ण ग्रन्थ भी महाभारत में सम्मिलित हैं।

३. हिन्दी का पृथ्वीराज रासो इसी प्रकार की एक क्रमिक सम्बन्धित संहिता है।

पांडवों के बीच संघर्ष की कथा है। महाभारत का युद्ध वस्तुतः उस लम्बे संघर्ष की पराकाष्ठा है। उसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ था :—

कुरुराज विचित्रवीर्य की मृत्यु के पश्चात् उसका कनिष्ठ पुत्र पांडु राजा हुआ क्योंकि उसका ज्येष्ठ पुत्र धृतराष्ट्र जन्मांध था। परन्तु पांडु की अकाल मृत्यु के बाद शासन की बागडोर धृतराष्ट्र को अपने हाथ में लेनी पड़ी। पांडु के पुत्र युधिष्ठिर अपने भाइयों में सबसे बड़े थे। अपनी सत्यप्रियता तथा अन्य गुणों से वे जनता के प्रिय तो हो ही चुके थे, धृतराष्ट्र के भी वे स्नेह-भाजन बन गये। धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को अपना युवराज बनाया। उससे उसके पुत्र दुर्योधन की ईर्षाग्नि जल उठी और उसने अपने दुष्ट आचरण से उसे भाइयों सहित राजधानी छोड़ने पर बाध्य किया। पांडव पर्यटन करते पंचाल देश पहुँचे जहाँ अर्जुन ने वहाँ के राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी को स्वयंबर में अपने और अपने भाइयों के निमित्त जीत लिया। पांडवों की पंचाल के राजकुल से यह मैत्री उनके भाग्य में एक सुन्दर परिवर्तन सिद्ध हुई। धृत-राष्ट्र ने फलस्वरूप अपने राज्य को दो भागों में बाँटकर हस्तिनापुर अपने पुत्रों को और इन्द्रप्रस्थ का प्रदेश पांडुपुत्रों को प्रदान किया। परन्तु दुर्योधन ने पांडवों को अपने नए राज्य में भी शान्तिपूर्वक न रहने दिया। युधिष्ठिर को अपनी प्रवंचना से जुए में हराकर पांडवों का राज्य तथा उनकी स्त्री आदि सब कुछ दाँव पर जीत लिया। परिणामतः पांडवों को १२ वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करना पड़ा। इस काल के पश्चात् युधिष्ठिर ने अपना राज्य वापस माँगा पर दुर्योधन ने राज्य लौटाने से इन्कार कर दिया। इसका परिणाम अनिवार्य युद्ध था। अट्ठारह दिनों तक कुरुक्षेत्र में यह महासमर चलता रहा। क्रूरता की अनेक घटनायें इसमें घटीं, और इसमें भाग लेने वाले अत्यन्त न्यून संख्या में बच सके। विजय युधिष्ठिर की हुई। उसने कुछ काल तक गौरव के साथ कुरुओं के भूभाग पर शासन किया। अन्त में परीक्षित को राज्य देकर अपने भाइयों और द्रौपदी सहित वह हिमालय को चले गये।

महाभारत का ऐतिह्य

महाभारत की मूल कथा ऐतिहासिक घटना पर अवलम्बित है। हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ निस्सन्देह ऐतिहासिक नगर थे और यद्यपि काल के प्रभाव से वे सर्वथा आज नष्ट हो चुके हैं उनके नाम फिर भी भारतीय साहित्य और जनश्रुति में सुरक्षित हैं। हस्तिनापुर मेरठ जिले में गंगा के किनारे एक छोटे से गाँव के नाम में आज भी जीवित है, और इन्द्रप्रस्थ दिल्ली के समीप यमुना के तट पर इन्दरपत नामक गाँव में अपना नाम छोड़ गया है। महाभारत-युद्ध की तिथि ३१०२ई० पू०[1] साधारणतः

---

१. श्री जे० राव के मतानुसार यह युद्ध ३१३८ ई० पू० में हुआ। यह निष्कर्ष उस अनु-श्रुति पर अवलम्बित है जिसमें कहा जाता है कि महाभारत के ३६ वर्ष बीतने पर कलियुग के प्रारंभ में कृष्ण का देहावसान हुआ (The Age of Mahabharata, पृ० ५ आदि)।

मानी जाती है, परन्तु यह आनुश्रुतिक तिथि तर्क की समीक्षा में सही नहीं उतरती। महाभारत का समय १००० ई० पू० सम्भवतः सही है[१]। शतपथ ब्राह्मण को महाभारत के वीरों का ज्ञान है और उसमें जनमेजय का वर्णन शीघ्र पूर्व के व्यक्ति के रूप में हुआ है। यह भी प्रतिष्ठित बात है कि उत्तर-वैदिक काल में कुरुओं का उत्थान गौरवशाली था, यद्यपि न तो ब्राह्मणों और न सूत्रों में ही पांडवों का उल्लेख मिलता है। बौद्ध साहित्य में पहले पहल पार्वत्यों के रूप में उनका निर्देश मिलता है। क्या, जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है, इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पांडव कुरुओं के सपिंड न हो कर विदेशी आगन्तुक थे ? इसमें सन्देह नहीं कि पाँडवों के कुछ हद तक असभ्य आचरण, उनके बहुपतिक विवाह, और उनके नाम की 'पांडु' (पीत) संज्ञा से इस विचार को पुष्टि मिलती है। उनकी पांडुता से उनके मंगोल रक्त का भी अनुमान किया गया है। यदि इस झुकाव में कोई तथ्य हो तो इसमें सन्देह नहीं कि कथा दोनों पक्षों के सम्बन्ध में नितान्त दोषपूर्ण धारणा हमारे सम्मुख उपस्थित करती है। इसी प्रकार युद्धगत कुलों के समर्थक पक्षों के सम्बन्ध में भी महाभारत का प्रमाण सही नहीं सिद्ध होता। उदाहरणतः उसमें उल्लेख है कि कुरु पक्ष का समर्थन प्राग्-ज्योतिष (आसाम), अवन्ति तथा दक्षिणापथ के राजाओं, चीनियों, किरातों, कम्बोजों, यवनों, शकों, मद्रों, कैकेयों, सैन्धवों, सौवीरों आदि ने किया[२]। यह ऐतिहासिक सत्य है कि ऊपर की परिगणित जातियाँ परस्पर समकालीन न थीं। इसके अतिरिक्त यह अत्यन्त सन्दिग्ध है कि इतनी दूर की जातियाँ और राजा मध्यदेश के इस पारिवारिक कलह में किसी प्रकार की दिलचस्पी रख सकते थे। यह तो निस्सन्देह सही है कि कम से कम यह जातियाँ और राजा उनके सामन्तों की हैसियत से तो किसी प्रकार इस युद्ध में सम्मिलित नहीं हो सकते थे, क्योंकि कौरवों और पांडवों की भौगोलिक स्थिति और पारस्परिक सन्निकटता से सिद्ध है कि उनका आधिपत्य नितान्त छोटे भूखंडों तक सीमित था। महाभारत में वस्तुतः अनेक स्थलों पर अनैतिहासिकता के प्रमाण स्पष्ट हैं। परन्तु इसकी मूल कथा और उसके पात्र, जिनके चरितों का ज्ञान पिछले साहित्य में निरन्तर होता आया है, निस्सन्देह ऐतिहासिक हैं।

महाकाव्यों की सामग्री

रामायण-महाभारत से संकलित सामग्री में अनेक आख्यायिकायें तो समान हैं ही, उनमें वर्णित सामाजिक-राजनैतिक अवस्थाएँ आदि भी प्रायः समान ही हैं। उनके आधार पर हम नीचे राजा और प्रजा के जीवन का विवरण देंगे। फिर भी

---

१. देखिये Cam. Hist. Ind., खंड १, पृ० २७६. ३०६-३०७। महाभारत की अन्य अनुमित तिथि १४०० ई० पू० है (Hindu Civilization, पृ० १५१-१५४; Proc. Ind. Hist. Cong., तृतीय संस्करण, कलकत्ता १९३९, पृ० ३३-७१)।

२. पांडवों के पक्ष में पंचाल, कोशल, काशी, मगध, चेदि, मत्स्य और यदुओं के राजा थे।

यह स्मरण रखने की बात है कि यह सामग्री किसी काल-विशेष के प्रति संकेत नहीं करती क्योंकि इन महाकाव्यों का विकास अनेक काल-स्तरों में हुआ है और इनका संग्रह सदियों के अध्यवसाय का फल है।

(क) राजा

रामायण-महाभारत का राजा सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी नहीं था। उसको अपने भाइयों, अपने मन्त्रियों और जनता के मत का आदर करना पड़ता था। कुल, जाति, श्रेणी, और पूगों के अपने-अपने आचार-नियमों को भी उसे स्वीकार करना पड़ता था। दुष्ट राजा सिंहासन से उतार दिया जाता अथवा 'पागल कुत्ते की भांति' मार दिया जाता था[1]। राजा का औरस उत्तराधिकारी भी शारीरिक दोष के कारण राज्यारोहण से वंचित कर दिया जाता था। राजा का अभिषेक विविध अनुष्ठानों के साथ होता था। उसे घर और बाहर, शान्ति और युद्ध में, प्रजा का नेता मानते थे। मन्त्रियों की राय और पुरोहित का आशीर्वाद लेकर वह युद्ध-यात्रा करता था। परन्तु वस्तुत: वह अपने राजनैतिक मित्रों की सहायता से इस संबंध में आप निश्चय करता था। 'सभा' अब केवल युद्ध के सम्बन्ध में जब-तब पूछने पर राय दे लेती थी, वरन उसका कोई विशेष सम्मान अब न था। राजा ऐश्वर्य का केन्द्र था, तड़क-भड़क से रहता था और नर्तकियाँ तथा शिथिल आचार की स्त्रियाँ उसकी सतत अनुगामिनी थी। उसके मनोरंजन के विषय थे संगीत, द्यूत-क्रीड़ा, आखेट, और पशु तथा मल्लयुद्ध के प्रदर्शन। न्यायालय में बैठकर वह न्याय वितरित करता, और वृद्धावस्था में ज्येष्ठ पुत्र को गद्दी देकर वह अवकाश ग्रहण कर लेता था। राजधानी प्राचीरों से सुरक्षित होती थी। प्राचीरों में ऊँचे द्वार और बुर्जियाँ बनी होती थीं और उनके चारों ओर चौड़ी-गहरी जलपूरित खाइयाँ होती थीं। राजधानी जीवन की आवश्यकताओं और सुविधाओं से भरी-पूरी थी। उसमें संगीत-शालायें, प्रमद वन, पार्क, और सुन्दर भवन राजा और उसके सभ्यों के आवास और मनोरंजन के लिए बने थे। इसके अतिरिक्त वणिकों के विशिष्ट आवास भी वहाँ अनेक थे। नगर के वणिक्पथों और राजमार्गों पर रात्रि के समय प्रकाश जलते थे और उनकी धूल जल छिड़क कर दबा दी जाती थी।

(ख) शासन

राजा राज्य का शासन मन्त्रिपरिषद की सहायता से करता था। इस मन्त्रिपरिषद् में महाभारत[2] के अनुसार चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र, और एक सूत होते थे। प्रधान मंत्री और अन्य अमात्य नीतिकुशल, आचारवान् और सत्यप्रिय होते थे। ईमानदारी उसमें विशिष्ट गुण मानी जाती थी। राज्य के

---

१. अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिप:।
स संहृत्य निहंतव्य: श्वेव सोन्माद आतुर:॥ महाभारत, १३, ६६, ३६।

२. शान्तिपर्व, ८५, ७–११।

शासन में राजा की सहायता अन्य सामन्त आदि भी करते थे। इन पदाधिकारियों में विशेष महत्व निम्नलिखित का था : युवराज, अभिजातकुलीय सभ्य, पुरोहित, चमूपति (सेनापति), द्वारपाल (राजप्रासाद का रक्षक), प्रदेष्टा (न्यायाधीश), धर्माध्यक्ष (न्याय का अधिकारी), दंडपाल (फौजदारी अथवा पुलिस का अफसर) नगराध्यक्ष, कार्यनिर्माणकृत् (विविध सार्वजनिक कार्यों अथवा इमारतों का प्रबन्धक और निर्माता), कारागाराधिकारी (जेलों का अफसर), दुर्गपाल (किलों का रक्षक)।

शासन का निम्नतम आधार ग्राम था जिसे काफी स्वतन्त्रता प्राप्त थी। ग्राम का मुखिया 'ग्रामणी' कहलाता था। जनपद शासन में अनेक अधिकारी थे, जिनमें 'दशग्रामी' दस गाँव के, 'विंशतिय' बीस के, 'शतग्रामी' सौ के और 'अधिपति हजार गावों के ऊपर नियुक्त था। इन अधिकारियों का विशिष्ट कर्तव्य कर उगाहना, अपराधों का पता लगाना, और अपने हलके में शान्ति का भय रखना था। इनमें से प्रत्येक अपने ऊपरवाले के प्रति उत्तरदायी था और अन्ततः सब राजा के प्रति जवाबदेह थे।

(ग) सेना

राजा की सेना आर्य अभिजात कुलीनों और साधारण जनता द्वारा निर्मित थी। ये लोग धनुर्धर, उपलवर्षक, अश्वारोही, रथारोही, गजारोही, आदि होते थे। कुछ लोगों का मत है कि तब बारूद से चलनेवाले हथियार तोपें आदि भी प्रस्तुत थीं, परन्तु यह कल्पना सर्वथा निराधार है। हाँ, इतना माना जा सकता है कि चक्र और बाणों की तरह के अज्ञात प्रक्रिया से जल उठनेवाले अस्त्रों का प्रयोग होता था। योद्धा का रण भूमि में प्राण देना प्रशस्त था। क्षत्रिय यश अथवा अपने स्वामी एवं नेता के लिए युद्ध करते थे। रणाहतों की विधवाओं के लिए राजा पेन्शन देता था। युद्ध के वन्दी कम से कम एक वर्ष के लिए विजेता के दास हो जाते थे। कभी-कभी कुछ खास शर्तों पर उनका छुटकारा होता था। इस सम्बन्ध में यह भी कह देना सम्भवतः उचित होगा कि आत्मसमर्पण का स्वरूप दाँतों तले तृण दबाकर विजेता के सम्मुख उपस्थित होना था।

(घ) गण

महाभारत के शान्तिपर्व में[1] गण-राज्य अथवा अराजक शासन का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार के शासन में जनसत्ता का विशेष आदर था यद्यपि इसकी बागडोर अधिकतर अभिजात कुलीनों के ही साथ में रहती थी। इसकी शक्ति और समृद्धि भीतरी कलह के वर्जन, मन्त्रणाओं के गोपन, नेताओं के आज्ञाकरण, और प्राचीन आचार-व्यवहारों और रीति-रिवाजों के प्रति आदर पर निर्भर करती थी। कभी-कभी अनेक गण मिल कर अपना 'संघ' संगठित कर लेते थे। इस प्रकार के एक अन्धक-वृष्णि-संघ का उल्लेख शान्तिपर्व के ८१वें अध्याय में हुआ है। इस संघ के नेता कृष्ण थे।

---

१. अध्याय १०७, श्लोक ६-३२।

(ङ) प्रजा

समाज में वर्णव्यवस्था पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उसमें अभिजात कुलीन राजन्य और ब्राह्मण विशिष्ट माने जाते थे और उन्होंने समाज की सारी सुविधायें स्वायत्त कर ली थीं। अनार्य शूद्रों की अवस्था दासों की थी। इनके कोई अपने अधिकार न थे और इनका कर्तव्य केवल द्विजों की सेवा करना था। नारी का स्थान नीचे उतर गया था और वह निरन्तर वैदिककाल की अपेक्षा अघोघः गिरता जा रहा था। सती प्रथा का उल्लेख है। और बहु-पत्नी-विवाह आम तौर पर आचरित होने लगा। परदे का भी उल्लेख जहां-तहां मिलता है यद्यपि सम्भवतः यह प्रथा दरबारों में ही बरती जाती थी। इस काल में स्वयंवर की प्रथा के हवाले भी मिलते हैं, जिनके द्वारा कन्या अपने पति का वरण करती थी।

अधिकतर जनता सम्भवतः मिट्टी के दुर्ग के चतुर्दिक् गांव में रहती और पशु-पालन तथा कृषि-कर्म करती थी। युद्ध, भूमि के अतिरिक्त प्रायः ढोर पशु छीन लेने के कारण भी हुआ करते थ। इस प्रकार के आपत् काल में प्रजा इन्हीं दुर्गों में शरण लेती थी। गांव अपने नित्य के सार्वजनिक साधारण कार्यों में प्रायः स्वतन्त्र थे, परन्तु राजा उनका अधिपति था जो न्याय करता और कर लेता था। कर आवश्यकता के अनुकूल घटा-बढ़ा करता था और अधिकतर उपज के रूप में दिया जाता था। वणिक् तथा अन्य व्यवसायी व नागरिक नगरों में निवास करते थे। सौदागर दूर से वस्तुएँ लाते और उन पर चुंगी देते थे। नगर निवासी शुल्क और कर सिक्कों में प्रदान करते थे। जहाँ-तहाँ खोटे काँटों का भी उल्लेख मिलता है जिनके अनुशासन के लिए बाजार के ऊपर पैनी दृष्टि रखनी पड़ती होगी। वणिकों और शिल्पियों की 'श्रेणियों' का प्रभूत प्रभाव था। पुरोहितों के बाद इन श्रेणियों के मुखिओं-महाजनों का ही राजा विशेष आदर करता था।

जनता माँस-भक्षण और सुरा-पान भी करती थी यद्यपि अहिंसा के सिद्धांत के प्रभाव से समाज में शाकाहारियों की संख्या नित्यप्रति बढ़नी जा रही थी। प्राचीन काल के समुन्नत मेघावियों ने अहिंसा के सिद्धांत की विशिष्टता प्रस्तुत कर दी थी।[1]

(च) धर्म

प्रकृति के अवयवों का प्राचीन पूजन अब सुदूर छूट गया था। वैदिक देवताओं का अब लोप हो चुका था और उनका स्थान ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति ने ले लिया था। नये देवता और देवी—सूर्य, गणेश और दुर्गा—अब जनता की स्तुत्य हो गई थीं, और विष्णु का धर्म की प्रतिष्ठा के लिए बार-बार पृथ्वी पर अवतार लेना साधारण विश्वास बन गया था। इनके अतिरिक्त आत्मा के आवागमन का सिद्धांत भी पूर्णतः मान्य हो चला था। रामायण-महाभारत की सामग्री से प्रमाणित है कि उसी काल आधुनिक सामाजिक और धार्मिक विश्वासों की नींव पूर्णतया रखी गई।

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् ३, १७, ४।

प्रकरण ३

धर्म-शास्त्र

धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्र धर्म और व्यवहार (कानून) के क्षेत्र में तत्कालीन विभिन्न ब्राह्मण व्यवस्थाओं के निरूपण हैं। ये श्लोक छन्द में लिखे हुए हैं और हिन्दू व्यवहार व्यवस्था के महत्वपूर्ण उद्गम हैं। प्राचीन ब्राह्मण संस्थाओं और संस्कृत के ऊपर थ प्रचुर प्रकाश डालते हैं। इनमें से मुख्य मानवधर्मशास्त्र है जिनका सर्जन "ख्रिष्टीय संवत् के आरम्भ से पूर्व ही हो चुका था[१]।" विष्णुधर्मशास्त्र सूत्रशैली में प्रस्तुत है और मानवधर्मशास्त्र से निश्चय पीछे रचा गया है। उसी के ऊपर यह अधिकतर अवलम्बित भी है। इस वर्ग का तीसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ याज्ञवल्क्य स्मृति है जो मिथिला में सम्भवतः चौथी ईसवी सदी में निर्मित हुई। नारद-स्मृति प्रायः पाँचवीं सदी की है। इन धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त अनेक अन्य गौण स्मृतियाँ, निबन्ध और भाष्य भी हैं जिनमें 'मिताक्षरा' और 'दायभाग' विशेष महत्व के हैं।

समाज : वर्ण

धर्मसूत्रों की ही भाँति धर्मशास्त्रों में समाज की शिलाभित्ति भी वर्ण ही है। प्रत्येक वर्ण के अपने कर्तव्य और अपनी सुविधायें थीं। मनु के अनुसार, ब्राह्मण का कर्तव्य अध्ययन और अध्यापन, यज्ञानुष्ठान करना और कराना, दान लेना और देना था। क्षत्रिय का प्रजा की रक्षा और पालन, सत्य और ज्ञान की खोज में द्रव्यदान, यज्ञ कर्म, धर्म ग्रन्थों का अध्ययन, और इन सबसे विशिष्ट निर्भय युद्ध-कर्म था। इसी प्रकार वैश्यों का कर्तव्य पशुपालन, यज्ञकर्म आदि, व्याज पर ऋण देना तथा वाणिज्य और कृषिकर्म था, और शूद्रों का धर्म द्विजों की सेवा तथा समाज की सुविधाओं को प्रस्तुत करना था। धर्मशास्त्रों में संकर जातियों का भी उल्लेख है जो अन्तर्वर्ण-विवाह और अनौरस आचरण के परिणाम थे। इन वर्णों के अतिरिक्त अनार्य, म्लेच्छ, चांडाल और श्वपाकों आदि का भी अस्तित्व था परन्तु वे शूद्रों से भी निम्नतर और समाज की परिधि से बाहर समझे जाते थे।

आश्रम

धर्मशास्त्रों में 'द्विजों' द्वारा आचरित जीवन के चारों आश्रमों का निरूपण है। इसमे से पहला ब्रह्मचर्य, विद्यार्थी जीवन था, जिसका आरम्भ उपनयन संस्कार से होता था। उपनयन की आयु विविध थी और नवदीक्षित के वर्ण और परिस्थितियों पर निर्भर करती थी। विद्यार्थी पिता के निरीक्षण और उपाध्यायों तथा आचार्यों के अनुशासन में वेद, वेदांगों और दर्शनों आदि का अध्ययन करता था। ब्रह्मचारी का जीवन विनय तथा सक्रियता का था। उसको श्रमपूर्वक अध्ययन, नित्य

---

१. हाप्किन्स, Cam. Hist. Ind., खंड १, पृ० २७९।

अग्निहोत्र, भिक्षा तथा गुरु के लिए ईन्धन और पानी लाना होता था। अपनी शिक्षा के अन्त में ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था, विवाह करके गृहस्थ बनता था। गृहस्थ का कर्तव्य उदारता से दान देना और अपने तीन ऋणों से मुक्त होना था। देव-ऋण से यज्ञ करके, ऋषि-ऋण से अध्ययन, और पितृ-ऋण से पुत्र उत्पन्न करके वह मुक्त होता था। तीसरा आश्रम वानप्रस्थ का था जिसमें वह व्यक्ति जीवन की सारी सुविधायें त्याग देता था और योग के लिए वन की निर्जनता में प्रविष्ट होता था। वहाँ कन्द-मूल-फल का उसका रूखा आहार होता और सादा जीवन। संन्यास अन्तिम आश्रम था जब द्विज जन्म-मरण के रहस्यों की खोज के हेतु अपना सम्बन्ध संसार से सर्वथा विच्छिन्न करके कठिन तप करता और मुक्ति के लिए प्रयत्न करता था। धर्म और सत्य के निरन्तर उपदेश करता हुआ संन्यासी अपने भोजन के लिए भिक्षामात्र पर निर्भर रहता था। धर्मशास्त्रों ने समाज के तीन ऊपर के वर्णों के जीवन, कर्तव्य और आचार की इस प्रकार व्यवस्था दी है। परन्तु कहाँ तक इन विधानों का वस्तुतः पालन होता था यह नितान्त सन्दिग्ध है। जो कुछ भी हो, इतना सही जान पड़ता है कि संन्यास केवल ब्राह्मणों के प्रयास का ही क्षेत्र था।

समाज में नारी का स्थान

धर्मशास्त्रों ने समाज में नारी के स्थान की भी चर्चा की है। एक स्थान पर मनु ने कहा है: "जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवता रमण करते हैं, परन्तु जहाँ उनका अनादर होता है वहाँ के सारे यज्ञानुष्ठान, सारी क्रियायें निष्फल हो जाती हैं।"[१] विस्मय की बात है कि वही मनु अन्यत्र नारी को दूषण का उद्गम और नरों को दूषित करने वाला कहता है।[२] मनु की राय में नारी कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकती। कौमारावस्था में उसका पिता की रक्षा में, यौवन में पति की, और वृद्धावस्था में पुत्रों की रक्षा में रहना उचित बताया गया है।[3] नारी के सम्बन्ध में मनु का अनुशासन और भी कठोर हो जाता है जब वह कहता है कि अव्यवस्थित बुद्धि की होने के कारण उसका साक्षित्व न्याय में ग्राह्य नहीं।[४] मनु ने बाल-विवाह का आदेश किया है और बारह और आठ वर्ष की कन्याओं का विवाह उचित बताया है।[५] कन्या विक्रय के सम्बन्ध में उसके विचार परस्पर विरोधी हैं।[६] यदि पत्नी वन्ध्या हो, अथवा उसने केवल कन्यायें उत्पन्न की हों[७], या पतिभक्ति के विरुद्ध आचरण किया हो तो उसे उसका पति त्याग सकता था। मनु विधवा विवाह और

---

१. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ (मनुस्मृति, ३, ५६)

२. स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्। वही, २, २१३

३. पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ वही, ९, ३

४. वही, ८,७७

५ वही, ९, ९४

६. वही, ८,२०४; ३,५१; ९,९८

७. वही, ९,८१

'नियोग'[1] दोनों के विरुद्ध मत प्रकाश करता है परन्तु नारद अनुकूल व्यवस्था देता है। स्त्री-धन को छोड़ कर किसी अन्य प्रकार की पति की सम्पत्ति में विधवा[2] के अधिकार के सम्बन्ध में मनु सर्वथा मूक है। नारद विधवा को पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं मानता, यद्यपि याज्ञवल्क्य उसे अपने पति का वारिस मानता है। सती-प्रथा का विधान पश्चात्काल तक नहीं होता, तथापि धार्मिक और सामाजिक उत्सवों में किसी प्रकार भाग न ले सकने के कारण विधवाओं का जीवन निस्सन्देह नितान्त कठिन रहा होगा। परदे का उल्लेख नहीं मिलता और मनु का स्पष्ट वक्तव्य है कि नारी का बलपूर्वक अवरोध नहीं किया जा सकता।[3]

राष्ट्र

स्मृतियाँ राजशासित राष्ट्र को स्वाभाविक मानती हैं। मनु राजा की आवश्यकता अनिवार्य मानता है और उसके अभाव में सर्वत्र अराजकता का भय मानता हैं (७, ३)। राजा को देवतुल्य माना गया है। मनु का विधान है कि राजा चाहे शिशु ही क्यों न हो, मनुष्य समझकर वह अपमानित नहीं होना चाहिए, क्योंकि वास्तव में वह देवता है और पृथ्वी पर नर रूप में अवतरित हुआ है।[4] अन्यत्र वह कहता है : "अपने प्रभाव के कारण राजा अग्नि, वायु, अर्क (सूर्य), सोम (चन्द्रमा), धर्मराज (यम), कुबेर, और वरुण होता है।[5] फिर भी देवरूप होता हुआ भी वह निरंकुश नहीं बनाया गया। दंड का शासन वह धर्म की प्रतिष्ठा के लिए ही करता था। उसका स्थान कानून के ऊपर नहीं, नीचे था। मनु कहता है कि जो राजा आलसी, विलासी, अत्याचारी[6], और अधार्मिक है, व्यवहार (कानून) उसे नष्ट कर देता है। मनु के अनुसार, धर्म के उद्गम (१) वेद (२) स्मृतियाँ (३) आचार (धार्मिक पुरुषों के आचरण), और (४) आत्मतुष्टि हैं[7]। याज्ञवल्क्य ने इनके अतिरिक्त कुछ गौण उद्गमों का परिगणन किया है, जैसे मन्त्रणा, परिषदों और विद्वानों के मन्तव्य, व्यक्ति के कर्तव्यों के अनुकूल आकस्मिक आवश्यकतायें, राज-शासन (घोषणायें), श्रेणियों, और पूगों आदि के विशेष नियम, स्थानीय रीति-प्रथायें, आदि। मनु ने देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, पाखण्डों (अब्राह्मण सम्प्रदाय) तथा गणों[8] के नियमविधानों का भी उल्लेख किया है।

धर्मशास्त्र केवल क्षत्रिय को ही राजपद का अधिकारी मानते हैं यद्यपि इतिहास में अन्य वर्णों के राजा होने के भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। राजा अपनी प्रजा और राज्य के कल्याण और उत्कर्ष के लिए श्रमबहुल संयत जीवन व्यतीत

---

१. वही, ९,६५ २. वही, सन्तानरहित पुत्र की सम्पत्ति वह प्राप्त कर सकती थी। वही, ९, २१७ ३. वही, ९, १०, ४. बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ मनु-स्मृति, ७, ८

५. वही, ७, ७। ६. वही, ७, १७-२८।

७. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ वही, २, ६। ८. वही मनु० १, ११८।

करता था। अपना उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्य वह सात-आठ मन्त्रियों की सहायता से निभाता था। उसकी आज्ञाएँ 'सहायों' (सेक्रेटरी) द्वारा लिख ली जातीं और कार्यान्वित होने के लिए उचित विभाग को भेज दी जाती थीं। सभाभवन में राजा प्रजा के अभियोग सुनता और उनका निर्णय करता था। शुल्क (जुर्माने), धार्मिक प्रायश्चित्त अन्य दण्ड अपराध तथा फरीकों के पद के अनुकूल दिए जाते थे। सभाभवन राजप्रासाद के ही भीतर होता था। अमात्यों अथवा मन्त्रियों के अतिरिक्त अपने शासन में राजा को अनेक छोटे-बड़े अधिकारियों का योग प्राप्त था; उनमें महामात्र, युक्त, चर आदि थे। मुख्य विभाग निम्नलिखित थे (१) चर, जो चतुर्दिक् और प्रत्येक जन पर अपनी दृष्टि रखता था; (२) अर्थ, जो आय-व्यय सम्हालता और सम्भवतः खानों की खुदाई, कोष का भी प्रबन्ध करता था; (३) सेना, जो राज्य में आन्तरिक शान्ति स्थापित करती और बाहरी आक्रमणों से उसकी रक्षा करती थी; (४) पुलिस, जो अपराधी को पकड़ती और दण्ड विधान से व्यवस्था रखती थी; (५) न्याय, जो न्याय का वितरण करता और झगड़ों का निपटारा करता था। अन्त में राज्य के प्रान्तों तथा स्थानीय शासन के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना आवश्यक है। साम्राज्य (राष्ट्र) देशों अथवा जनपदों में विभक्त था, फ़िर विषय (कमिश्नरियाँ), नगर अथवा पुर और ग्राम भी उसके अंग थे। नगर एक उच्चाधिकारी के अधीन होता था जो नागरिकों में भय और विश्वास का जनन कर सारे नागरिक जीवन की व्यवस्था करता था (सर्वार्थचिन्तक)[१], ग्राम का शासक 'ग्रामिक' था जिसको उसके कार्य के बदले ग्रामीण भोजन, पेय, ईन्धन आदि प्रदान करते थे (७, ११८)। ग्रामिक के ऊपर दस गाँवों का अधिपति 'दशी' होता था जो छः जोड़े बैलों द्वारा जोतने योग्य भूमि का एक 'कुल' अपनी सेवाओं के लिए पाता था। इसी प्रकार 'विंशी' अथवा 'विंशतेश' जो बीस गाँवों का अफसर था पाँच 'कुल' पाता था। सौ गावों का अधिकारी 'शतेश' अथवा 'शताध्यक्ष' अपनी वृत्ति के अर्थ एक पूरा गाँव, और हजार गावों का अधिकारी 'सहस्रपति' एक पूरा नगर पाता था।[२]

न्याय

स्मृतियों में कलह के अट्ठारह कारणों का उल्लेख हुआ है। उनमें से कुछ निम्नलिखित ये हैं—ऋण, अनधिकार विक्रय, खेतों की सीमाएँ, संपत्ति-विभाजन, पारिश्रमिक का न देना, राजीनामे का तोड़ना, साझा, व्यभिचार, हिंसा, शिकायत, चोरी, डकैती आदि। इस प्रकार झगड़े अदालती[३] और फौजदारी दोनों प्रकार के थे। चोरी के अभियुक्त को शपथ द्वारा, अग्नि पर चलकर अथवा विषपान आदि से अपनी निर्दोषिता प्रमाणित करनी पड़ती थी। मनु ने अग्नि और जल दो ही

---

१. मनु, ७, १२१

२. वहीं, ७, ११५, ११८, ११९। विष्णु बीस गाँव के अफसर का नाम नहीं देता है।

३. अदालती झगड़े अनेक बार समझौते और पंचायत से निपटा लिये जाते थे।

प्रकार के प्रमाणों का उल्लेख किया है (८,११४), परन्तु याज्ञवल्क्य और नारद तुला, हलफलक, विष के तीन और प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। बृहस्पति-स्मृति में तो इसके नौ विधानों का वर्णन है। दण्ड-विधान अत्यन्त कठोर था। उदाहरणतः गाय के चोर की नाक काट ली जाती थी। जो दस 'कुम्भों' से अधिक अन्न, सोने अथवा चाँदी की चोरी करता उसे प्राणदण्ड होता था (८, ३२०, ३२१)। राजद्रोह के प्रत्येक रूप का प्रायश्चित्त प्राणदण्ड ही था। ब्राह्मण का अपराध प्रमाणित होने पर वह जातिच्युत कर दिया जाता था और पैतृक संपत्ति से उसका अधिकार उठा दिया जाता था। मनु का अनुशासन तो यह है कि ब्राह्मण चाहे जो अपराध करे उसे प्राणदण्ड नहीं दिया जा सकता, उसका देशनिकाला मात्र हो सकता है (८, ३८०)। परन्तु यह विचारणीय है कि मनु समान अपराध के लिए साधारण नागरिक को एक 'कार्षापण' से दण्डित करता है, परन्तु राजा को एक सहस्र कार्षापणों से (८, ३३६)। यह सम्भवतः इस सिद्धान्त पर अवलम्बित था कि अभियुक्त जितना ही प्रभावशाली, महान् और विचारवान् हो, उसका दण्ड उतना ही कठोर होना चाहिए।

अदालती मामलों का विधान—विशेषकर राजीनामों और व्यावसायिक साझों का—स्मृतियाँ करती हैं, यद्यपि उनका उल्लेख सूत्रों में नहीं मिलता। मनुस्मृति में केवल धार्मिक साझे का उल्लेख है, एक साथ पौरोहित्य सम्पादन करने वाले ब्राह्मणों की दक्षिणा का, परन्तु याज्ञवल्क्य ने व्यापार और कृषिकर्म में भी साझे का विधान किया है (२,२६५)। नारद और बृहस्पति भी इस प्रकार के साझों और उनके लाभ-वितरण का विधान करते हैं। धर्मशास्त्रों में व्याज पर दिए जाने वाले ऋणों का भी उल्लेख है। इन ऋणों पर ऋणकर्ता के वर्णानुसार पन्द्रह से साठ प्रतिशत तक व्याज का विधान है। सूदखोरी साधारणतया वर्जित है, और ब्राह्मण को तो अत्यन्त अल्प व्याज ग्रहण करने की व्यवस्था है।[1] यदि ऋण चुकाया न जा सका तो शूद्र उसको शारीरिक श्रम से पटा सकता था। कभी कभी ऋण की चुकती के लिए ऋणकर्ता के द्वार पर आमरण अनशन अथवा बैठे रहने का भी उल्लेख मिलता है।

कर-ग्रहण

हल्के और उचित करों का स्मृतियों में विधान है। राजा के प्रति उनका आदेश है कि वह प्रजा पर कर का असह्य भार न डाले और कर के उगाहने में लाभ से काम न ले और न अनुचित तथा अधार्मिक साधनों का सहारा ले। महाभारत का अनुशासन है कि राजा को अपनी प्रजा से उसी प्रकार कर लेना चाहिए जिस प्रकार भ्रमर पुष्पों से मधु एकत्र करता अथवा वत्स गाय के थन से दूध पीता है[2]। मनु ने राजा को मवेशी और सोने के सौदागर से उसके लाभ का पचासवाँ

१. नारद ने ब्राह्मण के लिए ऋणदान सर्वथा वर्जित कर दिया है (नारदस्मृति, १,१११)

२. शान्तिपर्व, ८८, ४-८

भाग और कृषकों से धान्य आदि के उपज का छठा, आठवाँ और बारहवाँ भाग (७, १३३) लेने की आज्ञा दी है। घी, मधु, इत्रादि, शाक, फल, कन्दादि के लाभ में मनु का आदेश छठा भाग लेने का है (७,१३१,१३२)। शिल्पी, स्वर्णकार और श्रमिक महीने में एक दिन राजा का कार्य करके यह कर चुकाते थे (७,१३८)। श्रोत्रियों का कर माफ था (७, १३३)। इसी प्रकार अन्धों, बहरों, लँगड़ों, और श्रोत्रियों के सहकारियों से भी किसी प्रकार का कर नहीं लिया जाता था (७, ३९४)। इन करों के अतिरिक्त राज्य की आय के अन्य साधन आबकारी कर, घाटों के खेवे, नगर की चुंगी आदि थे।

पेशे और व्यापार

स्मृतियों में उल्लिखित विभिन्न वृत्तियों के अध्ययन से जनता की साम्पत्तिक अवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है। लुहार, सुनार, तेली, रंगसाज, दर्जी, धोबी, कुम्हार, जुलाहे, चमार, कुलाल, धनुष-बाण बनाने वाले, बढ़ई और धातुकार, आदि समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। इससे सिद्ध है कि समाज के प्रयास बहुमुखी हो गए थे और शिल्पी उसके मुख्य अंग थे।

साधारण जनता का मुख्य जीव्य साधन कृषि-कर्म था। परन्तु व्यापार भी भले प्रकार चलता था। क्रय-विक्रय विनिमय अथवा सिक्कों द्वारा होता था। सोने के सिक्के 'सुवर्ण' कहलाते थे, और चाँदी के 'रौप्य माशक', 'धरण', और 'शतमान', तथा ताँबे के 'कार्षापण' (८, १३५, १३७)। वस्तुओं का मूल्य राज्य की ओर से घोषित हो जाता था और विहृत वस्तु का विक्रय अथवा दूषित मानों तथा बाटों का उपयोग दण्डनीय था। अकाल के समय अन्न का निर्यात निषिद्ध था। इसी प्रकार राज्य की एकाधिकृत वस्तुओं में व्यापार भी वर्जित था। व्यापार के लिए प्रशस्त वणिक्पथ निर्मित थे, यद्यपि वे सर्वदा और सर्वथा सुरक्षित न होते थे। नदियों के पार नौकाओं पर माल ले जाते थे, और स्थल पर गाड़ियों और पशुओं पर। वाणिज्य समृद्ध था।

खंड २

अध्याय ६

१. बुद्ध-काल

प्रकरण १

बौद्ध-धर्म के उदय के शीघ्र-पूर्व का भारत

स्वाभाविक ही बौद्ध और जैन ग्रन्थों का उद्देश्य धर्म-निरूपण है, राजनैतिक घटनाओं का वर्णन करना नहीं। तथापि इन धर्म-पुस्तकों में भी जहाँ-तहाँ ऐतिहासिक किरण चमक जाने से हमारा मार्ग आलोकित हो उठता है। इसमें भी अनेक आख्यायिकाएँ ऐसी मिल जाती हैं जिनसे भारतीय इतिहास पर जब-तब प्रकाश पड़ जाता है। ऐसे ही प्रसंगों में से एक वह है जिसमें भारत के 'षोडश-महाजनपदों' की तालिका दी हुई है। चूंकि यह सूची प्राचीनतम बौद्ध साहित्य[1] में मिली है इसे बुद्ध-पूर्व ही मानना होगा। इन जनपदों का काल इस प्रमाण से सातवीं शती ई० अथवा छठी शती ई० पू० के आरम्भ में ठहरता है। स्वय बुद्ध के जीवन-काल में इनमें से कुछ नष्ट हो गए थे, कुछ नए उठ खड़े हुए थे, कुछ परिवर्तित हो गए थे। निष्कर्ष यह है कि चूंकि इनके द्वारा प्रदर्शित भारतीय राजनैतिक परिस्थिति बुद्धकालीन नहीं है, यह बुद्ध से पहले की होगी। षोडश महाजनपद निम्नलिखित हैं—

१—काशी। इसकी राजधानी काशी अथवा वाराणसी थी। ब्रह्मदत्तों के शासन-काल में यह अत्यन्त फूली-फली। जैन तीर्थङ्कर पार्श्व के पिता अश्वसेन काशी के प्राचीन राजाओं में से एक माने जाते हैं।

२—कोशल। इसकी राजधानी सावत्थी (श्रावस्ती) थी। गोंडा जिले में सहेठ-महेठ नामक गाँव में श्रावस्ती के भग्नावशेष हैं। इससे पहले कोशल की राजधानी साकेत और अयोध्या रह चुकी थी। कोशल और काशी के राजा परस्पर प्रायः लड़ा करते थे। कोशल के एक राजा कंस को पाली-ग्रन्थों में निरन्तर 'बारानसिग्गहो' कहा गया है। कंस ने अन्त में काशी को जीतकर कोशल में मिला लिया था। कम से कम इसमें सन्देह नहीं कि पसेनदि के पिता महाकोशल का काशी के ऊपर पूर्णतः अधिकार रहा।

३—अंग। यह जनपद मगध से पूर्व था और आधुनिक भागलपुर के समीप चम्पा इसकी राजधानी थी। ब्रह्मदत्त और अंग के कुछ अन्य राजाओं ने मगध के

---

१. देखिए 'अंगुत्तर-निकाय' (१, २१३; ४, २५२, २५६, २६०); बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ, 'महावस्तु', में यह सूची तनिक भिन्न है। जैनों के 'भगवती-सूत्र' में दिए हुए नाम भी भिन्न ही हैं।

समसामयिक राजाओं को पराजित किया था। अन्त में इस संघर्ष में मगध ही विजयी हुआ।

४—मगध। इसमें पटना और गया के आधुनिक जिले सम्मिलित थे और इसकी राजधानी गिरिव्रज थी। प्राग्बुद्धकाल के दो विख्यात राजा वृहद्रथ और उसके पुत्र जरासन्ध थे।

५—वज्जि। यह आठ जातियों का एक शक्तिशाली संघ था और इसका वज्जि नाम उन्हीं में से एक के अनुसार पड़ा था। लिच्छवी, विदेह और ज्ञात्रिक इस संघ की अन्य तीन जातियाँ थीं। बौद्ध साहित्य में लिच्छवियों की भांति ही वज्जि भी वैशाली के ही कहे गए हैं। इससे जान पड़ता है कि इस सम्पूर्ण वज्जि संघ की राजधानी वैशाली ही थी।

६—मल्ल। मल्लों का जनपद पहाड़ों की ढाल पर सम्भवतः वज्जि-संघ के उत्तर में था। मल्लों की दो शाखाएं थीं जिनमें से एक की राजधानी कुशीनगर और दूसरी की पावा थी। यह महत्व की बात है कि बुद्ध काल से पूर्व मल्लों में राजतन्त्र शासन था।

७—चेटि अथवा चेदि। इस काल के चेटि प्राचीन काल के चेदि ही हैं। चेटियों की भूमि यमुना के समीप थी और इसका प्रसार प्रायः बुन्देलखण्ड और उसकी समीपवर्ती भूमि पर था। इसकी राजधानी शुक्तिमती अथवा सोत्थिवती नगरी थी।

८—वंश अथवा वत्स। वच्छों का देश यमुनातटवर्ती था, अवन्ती के उत्तर-पूर्व। इसकी राजधानी कौशाम्बी अथवा कोसंबी (इलाहाबाद से तीस मील दूर आधुनिक कोसम का गाँव) थी। हस्तिनापुर के विध्वंस के पश्चात् निचक्षु ने यहाँ अपनी राजधानी बनाई। इसी भरतकुल में बुद्ध के समकालीन नृपति उदेन के पिता परन्तप हुए थे।

९—कुरु। कुरुओं का देश दिल्ली के चतुर्दिक् था। इसके नगरों में से दो इन्दपत्त (इन्द्रप्रस्थ) और हत्थिनीपुर (हस्तिनापुर) थे। इस युग में कुरुओं का प्रताप तिरोहित हो गया था।

१०—पंचाल। इस जनपद-राज्य का विस्तार रुहेलखण्ड और गंगा-यमुना द्वाब के एक भाग पर था। इसकी उत्तरी और दक्षिणी दो शाखाएँ थीं। उत्तर पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिण-पंचाल की कांपिल्य थी। पंचाल के प्राचीन राजाओं में से दुम्मुख (दुर्मुख) नाम का एक प्रभूत विजयी कहा गया है।

११—मच्छ अथवा मत्स्य। मत्स्य-भूमि यमुना के पश्चिम और कुरुओं के दक्षिण थी। उनकी राजधानी विराटनगर (वैराट, जैपुर राज्य) थी।

१२—शूरसेन। शूरसेनों के जनपद-राज्य की राजधानी मथुरा थी। इस राज्य में यादव कुल ने बड़ी ख्याति प्राप्त की थी।

१३—अस्सक। बुद्ध के समय में अस्सक गोदावरी-तीर पर बसे थे और उनके मुख्य नगर का नाम पोतलि अथवा पोतन था। परन्तु जब यह सूची प्रस्तुत हुई तब उनका आवास अवन्ति और मथुरा के बीच प्रतीत होता है।

१४—अवन्ति अथवा पश्चिमी मालवा। इसकी राजधानी उज्जैन थी। इसके दक्षिण भाग की राजधानी माहिस्सती अथवा माहिष्मती (आधुनिक मान्धाता) थी। प्राचीनकाल में यहाँ हैहयों ने राज्य किया था।

१५—गन्धार। यह आधुनिक अफगानिस्तान का पूर्वी भाग था। इसका प्रसार सम्भवत: पश्चिमी पंजाब और काश्मीर पर भी था। इसकी राजधानी तक्षशिला (रावलपिंडी जिले में आधुनिक टैक्सला) थी।

१६—कम्बोज। कम्बोज गन्धारों के पड़ोसी थे। दोनों के नाम अभिलेखों और साहित्य में प्रायः साथ-साथ मिलते हैं। कम्बोजों की भूमि भी पश्चिमोत्तर के सीमाप्रांत में ही कहीं थी। इनके दो मुख्य नगर[1]—राजपुर और द्वारका—विख्यात थे।

यह सूची अनेकार्थ में अनोखी है। इसमें अंग और काशी का परिगणन स्वतन्त्र राज्यों में है; और इसमें उड़ीसा, बंगाल, अथवा अवन्ति से दक्षिण के किसी राज्य या स्थान का नाम नहीं दिया है।

प्रकरण २

बुद्धकालीन भारत

(क) अराजक गण-राज्य

बुद्धकालीन पाली-ग्रन्थों के अध्ययन से विदित होता है कि राजशासित राष्ट्रों के अतिरिक्त भारत में अनेक गणतन्त्र भी थे जिनमें से कुछ तो नगण्य थे परन्तु कई शक्तिमान थे[2]। इन अराजक-गणों में निम्नलिखित परिगणित हैं—

१—कपिलवत्थु अथवा कपिलवस्तु के शाक्य। शाक्यों का आवास नेपाल की सीमा पर हिमालय की तराई मे था। इनकी राजधानी कपिलवस्तु (आधुनिक तिलौरा-कोट या उसके आस-पास) थी। शाक्य अपने को इक्ष्वाकुवंशीय मानते थे।

२—सुंसुमगिरि के भग्ग। भग्ग ऐतरेय ब्राह्मण के प्राचीन भर्ग थे। डा० जायसवाल के मत से उनका निवास मिर्ज़ापुर के चतुर्दिक् था और उनकी राजधानी उसी जिले में कहीं थी[3]।

---

१. दखिए, रायचौधरी : Pol. Hist. Anc. Ind., चतुर्थ संस्करण पृ० ८१-१२६; Cam. Hist. Ind., खण्ड १, पृ० १७१-७४; रिस डेविड्स् Buddhist India पृ०२३-२६.

२. देखिए, बी० सी० ला : Ksatriya Clans in Buddhist. India(१९२०); Cam. Hist., Ind. खण्ड १, पृ० १७४-७८; Buddhist India., पृ० १७-२३।

३. Hindu Polity, पृ० ४६।

३—अल्लकप्प के बुली। इनके विषय में हमारा ज्ञान स्वल्प है। वे वेथदीप राज्य के समीप कहीं अवस्थित थे, सम्भवतः शाहाबाद और मुजफ्फ़रपुर के आधुनिक जिलों के बीच।

४—केसपुत्त के कलाम। इनके मुख्य नगर का अनुमान करना कठिन है। क्या इनका सम्बन्ध उन 'केशियों' से है जिनका पंचालों के साथ उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में हुआ है? बुद्ध का गुरु आलार इसी जाति का था।

५—रामगाम के कोलिय। ये शाक्यों से पूर्व की ओर बसे थे और दोनों की सीमा रोहिणी नदी थी। शाक्यों और कोलियों में प्रायः रोहिणी के जल के लिए कलह हुआ करती थी। बुद्ध के पिता शुद्धोदन को इसी कलह की शान्ति के लिए कोलियों की दो कन्याओं से विवाह करना पड़ा था। स्वयं बुद्ध ने एकबार दोनों का झगड़ा निपटाया था।

६—पावा के मल्ल। कनिंघम ने गोरखपुर जिले के पड़रौना को पावा का आधुनिक प्रतिनिधि माना है। कुछ विद्वान् इसके विपरीत फजिलपुर को प्राचीन पावा मानते हैं।

७—कुशीनारा के मल्ल। आधुनिक कसिया प्राचीन कुशीनारा है। यह इससे भी प्रमाणित है कि वहाँ एक छोटे मन्दिर में बुद्ध की परिनिब्बान (परिनिर्वाण) मुद्रा में सोई एक विशाल मूर्ति मिली थी।

८—पिप्फलिवन के मोरिय। इनकी राजधानी का अनुमान करना कठिन है। ये शाक्यों की एक शाखा कहे गए हैं। इनको मोरिय सम्भवतः इसलिए कहते थे कि इनके आवास मोरों के शब्द से गुंजायमान रहते थे।

९—मिथिला (नेपाल की सीमा पर आधुनिक जनकपुर) के विदेह। यह महत्व की बात है कि विदेह जो कभी उपनिषदों के ख्यातिलब्ध राजा जनक द्वारा शासित राज्य था अब अराजक गणतन्त्र हो गया था।

१०—वैशाली (मुजफ्फरपुर जिले का आधुनिक बसाढ़) के लिच्छवी। लिच्छवी प्रभूत गौरवशाली थे। क्षत्रिय होने के नाते लिच्छवियों को भी बुद्ध के भस्म में हिस्सा मिला था। ये महावीर और बुद्ध दोनों के निकट संपर्क में आए और उनके उपदेशों से उन्होंने पूरा लाभ उठाया। उल्लेख मिलता है कि लिच्छवियों का शासन ७७०७ अभिजातकुलीन 'राजा' करते थे। लिच्छवियों के संघ के अधिवेशन प्रायः और विशद होते थे और उनकी मंत्रणाएँ गोप्य और निर्विवाद होती थीं।

शाक्यों आदि के विषय में कुछ ज्ञातव्य बातें

बुद्ध के शाक्यकुलीय होने के कारण बौद्ध ग्रंथों में स्वाभाविक ही शाक्यों का विशद वर्णन मिलता है। लिखा है कि शाक्य-संघ का प्रधान वास्तव में राष्ट्रपति मात्र था यद्यपि उसकी संज्ञा 'राजा' थी। यह स्पष्ट नहीं है कि यह राजा एक ही अभिजातकुल से चुना जाता था, अथवा दूसरों से भी। उसके निर्वाचन की अवधि

भी अज्ञात है। पहले बुद्ध का पिता शुद्धोदन 'राजा' (प्रधान) था। उसके पश्चात् बुद्ध के चचेरे भाई भद्दिय और महानाम भी क्रमशः 'राजा' चुने गए। शाक्य-जाति के अधिवेशन 'संथागार' में होते थे जहाँ युवा और वृद्ध, समृद्ध और कंगाल उपस्थित होते थे। बौद्ध ग्रंथ इन अधिवेशनों की मंत्रणाओं के विशद वर्णन करते हैं। इस संघ के आधार पर ही पश्चात्कालीन धार्मिक बौद्ध-संघ[1] का संगठन हुआ। उल्लेख है कि शाक्यों के अधिवेशन बहुधा होते थे और इनमें बैठने का प्रबंध एक विशिष्ट अधिकारी करता था जिसे 'आसनपञ्जापक' (आसनप्रज्ञापक) कहते थे। मन्त्रणा आरंभ करने के अर्थ सदस्यों की एक निश्चित संख्या आवश्यक थी परन्तु इस 'कोरम' की पूर्ति के लिए 'विनयधर' (प्रधान) की गणना नहीं की जाती थी। 'कोरम' पूरा करना 'गण-पूरक' का कर्तव्य था। ञाप्ति' अथवा 'ज्ञाप्ति' की 'स्थापना' के साथ सभा की कार्य-वाही शुरू होती थी। इसके पश्चात् इसकी घोषणा (अनुस्सावनम्-अनुश्रावणम्) की जाती थी। ज्ञाप्ति (प्रस्ताव) से संपर्क रखनेवाले कथोपकथन ही वहाँ हो सकते थे, शेष सारे अप्रासंगिक वाद-विवाद पूर्णतया रोक दिए जाते थे। प्रस्ताव का एक पाठ (ज्ञाप्तिद्वितीय कम्म) और कभी-कभी तीन-तीन पाठ (ज्ञाप्ति-चतुर्थ-कम्म) तक होते थे। प्रस्ताव पर सदस्यों का मौन रहना उनकी स्वीकृति का लक्षण समझा जाता था। परन्तु प्रस्ताव पर विरोध उपस्थित होने पर उसे तय करने के उनके पास अनेक साधन थे। उनमें से एक था, एक मत स्थापित करने के लिए प्रस्ताव को एक समिति के सुपुर्द कर देना। यदि किसी प्रकार मतैक्य स्थापित न हो पाता तो वह वोट (छन्द) से निश्चित किया जाता था। 'वोटिंग' 'शलाकाओं से होती थी। शलाकाएँ लकड़ी की बनी होती थीं। वोट गिनने वाला अधिकारी 'सलाका गाहापक' कहलाता था। उससे आशा की जाती थी कि वह पूर्वग्रह, ईर्ष्या और भय से रहित होगा। वोटिंग सर्वथा स्वतंत्र होती थी और मताधिक्य (ये-भुय्यसिकम्) से संघ का मन्तव्य निश्चित किया जाता था। एक बार एक प्रश्न पर विचार हो चुकने पर फिर उस पर विचार नहीं किया जा सकता था। लेखक अधिवेशन का 'रेकर्ड' सुरक्षित रखते थे। इस प्रकार यह कार्यक्रम सर्वथा जन-तंत्रीय था और यह अनेकांश में आधुनिक सभा-चरण का अनुकूल पूर्ववर्ती भी।

शाक्यों की वृत्ति धान के खेतों की उपज थी। उनके पशु गाँव के सार्वजनिक चारागाह अथवा वन में चरते थे। गाँवों के भिन्न-भिन्न समुदाय थे। विभिन्न शिल्पों के शिल्पी अपने-अपने मुहल्लों में बसते थे। कुम्हार, सुनार, लुहार, बढ़ई और पुरो-हितों तक की अपनी-अपनी बस्तियाँ थीं। साधारणतया शाक्य शान्तिप्रिय थे और चोरी उनमें अपवादमात्र थी। परन्तु कोलियों की ही भाँति संभवतः उनमें भी एक विशेष प्रकार की पगड़ी पहनने वाले पुलिस अफसर थे जो 'द्रव्य चूसने और अपनी

---

१. देखिए, डा० जायसवाल : Hindu Polity, पृ० १०३-११७; Jour. U. P. Hist. Soc., नवम्बर १९३४, खण्ड ७, भाग २, पृ० ५९-६९; बी० सी० ला : Ksatriya Clans in Buddhist India, पृ० ११०-११९.

हिंसक वृत्ति' के कारण बदनाम थे। अपराधी जब पकड़ लिए जाते थे तो उन्हें न्यायालय में उपस्थित किया जाता था जहाँ उनपर सावधानी से विचार किया जाता था। जैसा कि 'अट्ठकथा' अथवा 'महापरिनिब्बान सुत्त' के बुद्धघोष के भाष्य से प्रमाणित है। वज्जियों की न्याय-व्यवस्था बड़ी पेचीदी थी। अभियुक्त क्रमशः अनेक अधिकारियों द्वारा निरन्तर दोषी ठहरा दिए जाने पर लिखे दण्डविधान (पवेनु पोत्थक) के अनुसार दण्डित होता था। ये क्रमिक न्यायाधिकारी इस प्रकार थे :—जज (विनिच्चय महामात), प्राडविवाक (वोहारिक), कानून के पंडित (सूत्रधार), आठ व्यक्तियों की न्याय-परिषद् (अट्ठकुलका), सेनापति, उपराजा, और अन्तिम राजा। इनमें प्रत्येक अदालत अभियुक्त के निर्दोष प्रमाणित होने पर उसे मुक्त कर सकती थी[१]।

(ख) राजतन्त्रीय राज्य

बुद्ध के जीवनकाल की सबसे महत्वपूर्ण राजनैतिक घटना भारत में चार राज्यों का उदय था। ये राज्य थे कोशाम्बी (वत्स), अवन्ति, कोशल और मगध[२]। इनके राजाओं ने प्रसार की नीति के अनुसार पड़ोसियों की भूमि पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया था। उसका परिणाम स्वाभाविक ही पारस्परिक संघर्ष था जिसके अन्त में मगध के अकेले शक्तिमान साम्राज्य का उदय हुआ।

१—वत्स का राज्य—वत्स की राजधानी कौशाम्बी थी। इसका प्रतिनिधि आज इलाहाबाद से प्रायः तीस मील दक्षिण यमुना के तट पर कोसम गाँव है। बुद्ध के समय में इसका राजा भरतवंशीय शतानीक परन्तप का पुत्र उदेन अथवा उदयन था। अनुश्रुतियाँ उदयन के प्रणय और युद्ध की कथाओं से भरी पड़ी हैं। उदाहरणतः 'उदेनवत्थु' में लिखा है कि उदयन को अवन्ति के पज्जोत (प्रद्योत) ने संभवतः युद्ध में बन्दी कर लिया[3]। अन्त में उदयन चालाकी से अपने स्पर्धी की कन्या वासुलदत्ता अथवा वासवदत्ता को ले भागा। फिर अपनी राजधानी में पहुँचकर उसने उसके साथ विवाह कर लिया। इसी प्रकार दूसरी जनश्रुतियों के अनुसार उदयन ने दृढ़वर्मन् की कन्या और मगध के राजा दर्शक की भगिनी पद्मावती को भी व्याहा। दृढ़वर्मन् अंग का राजा था जिसकी गद्दी छिन गयी थी और जो सम्भवतः उदयन के प्रयास से उसे फिर से मिल गयी। संस्कृत के कथासरित्सागर और प्रियदर्शिका से भी उदयन की दिग्विजय की ध्वनि निकलती है। उनके अनुसार उसने सुदूर कलिंग की विजय की थी और कोशल का राजा उसका शत्रु था। यद्यपि इन कहानियों पर पूरा-पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता तथापि इनसे यह बात सिद्ध होती है कि उदयन शक्तिशाली था।

---

१. रिस डेविड्स : Buddhist India, पृ०, २०-२३; ला : K.C.B.I. पृ० १२०-२१

२. देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर : Carmichael Lectures On the Ancient History of India, १९१९.

३. अनुश्रुति के अनुसार उदेन वीणावादन में परमनिपुण था और वह प्रद्योत के फैलाए बेधक पाश में बन्ध गया। देखिए, हरीतकृष्ण देव : Udayana Vatsaraja (कलकत्ता, १९१९)

अपने समसामयिक राजकुलों के साथ उसका कुछ संघर्ष चला और अवन्ति, मगध तथा अंग के राजकुलों के साथ उसने विवाह सम्बन्ध स्थापित किये।

ज्ञात नहीं कि उसका पुत्र बोधिकुमार[1] उसके पश्चात् वत्स के सिंहासन पर बैठ सका या नहीं। कथासरित्सागर के अनुसार तो कौशाम्वी के राज्य को प्रद्योत के पुत्र पालक ने जीत कर अवन्ति में मिला लिया था।

अन्त में यह भी स्पष्टतया कहा जा सकता है कि बुद्ध के समय में कौशाम्वी बौद्धधर्म का एक केन्द्र बन गया था जहाँ स्वयं बुद्ध ने अनेक बार जाकर उपदेश दिए थे। आरम्भ में उदेन सम्भवतः बुद्ध के उपदेशों से कुछ विशेष प्रभावित न हुआ, परन्तु कहा जाता है कि बाद में पिंडोल नामक एक बौद्ध भिक्षु ने उस पर काफी असर डाला।

२—अवन्ति—उस काल अवन्तिदेश चण्डपज्जोत (प्रद्योत) द्वारा शासित था। उसकी राजधानी उज्जयिनी थी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रद्योत के राज-कुल का सम्बन्ध कौशाम्वी के उदयन से था, और सम्भवतः मथुरा के शूरसेन राजा 'अवन्तिपुत्तों' से भी। पज्जोत अत्यन्त महत्वाकांक्षी और क्रूर था[2]। पुराणों का वक्तव्य है कि उसने अपने पड़ोसी राजाओं को स्ववश कर लिया। उदयन के साथ उसके संघर्ष का हम ऊपर संकेत कर चुके हैं। उसकी शक्ति की सीमाएँ इतनी बढ़ गयी थीं कि एक समय अजातशत्रु तक को प्रद्योत के आक्रमण की आशंका से अपनी राजधानी की प्राचीरें मजबूत करनी पड़ीं। प्रद्योत के उत्तराधिकारी दुर्बल सिद्ध हुए और उनके विषय में इतिहास प्रायः मूक है। उनमें से सम्भवतः एक पालक अपेक्षाकृत प्रबल हुआ, और जान पड़ता है उसने कौशाम्बी को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। गोपाल के पुत्र अज्जक अथवा आर्यक ने उसको गद्दी से उतार दिया परन्तु स्वयं गद्दी पर नहीं बैठा। इसके विरोध में पुराण ने दोनों के बीच में एक तीसरा नाम विशाखयूप जोड़ दिया है जो सम्भवतः गलत है। इसके बाद अवन्तिवर्धन राजा हुआ।

अवन्ति भी बौद्ध धर्म का एक केन्द्र था। महाकच्चान, सोण, अभयकुमार आदि बुद्ध के अनेक शिष्यों का वहाँ निवास था। डा० रिस् डेविड्स का तो यहाँ तक कहना है कि यद्यपि बौद्धधर्म मगध में जन्मा उसने वास्तव में अवन्ति में ही वसन धारण किया, अर्थात् वहीं के प्राकृत में बौद्ध पाली ग्रन्थ रचे गये।

३—कोशल—उत्तर भारत के मध्य में कोशल का उदय छठी शती ई० पू० में एक महत्वपूर्ण राजनैतिक घटना थी। कंस के समय में ही काशी और कोशल

---

१. मज्झिम निकाय का एक सुत्तान्त बोधिकुमार के नाम पर है। युवराज की हैसियत से उसने सम्भवतः सुमसुमगिरि का शासन किया जहाँ उल्लेख है कि उसने अपने निवास के लिए एक विशाल राजभवन का निर्माण किया।

२. अपनी विशाल सेना के कारण प्रद्योत महासेन भी कहलाता था (तस्य बलपरिमाण-निर्वृत्तं नामधेयं महासेन इति—स्वप्नवासवदत्त, ५, २०)

के लम्बे संघर्ष का अवसान हुआ और काशी कोशल के अन्तराल में समा गयी। यह कंस बुद्ध के समसामयिक नृपति पसेनदि (प्रसेनजित्) का पूर्वज था। पाली साहित्य से विदित होता है कि शाक्यों ने कोशल का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था और सम्भवतः इसी कारण पसेनदि 'पाँच राजाओं के दल का प्रधान' कहा गया है। इसके अतिरिक्त मगध के राजा बिम्बसार के साथ उसकी भगिनी के विवाह ने भी उसे शक्ति और संरक्षा प्रदान की होगी। परन्तु यही वैवाहिक सम्बन्ध परिणाम में दोनों राज्यों में कलह का कारण सिद्ध हुआ। जान पड़ता है कि जब बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने अपने पिता को भूखों मार डाला तब उसकी विधवा कोशलदेवी विषाद से मृत्यु को प्राप्त हुई। इस पर पसेनदि ने काशी नगरी की आय मगध को देना बन्द कर दिया। काशी कोशलदेवी के विवाह के समय उसको दहेज में (नहानचुण्णमूल) दी गयी थी। परिणामस्वरूप कोशल और मगध में युद्ध छिड़ गया जो कुछ काल तक अत्यन्त दारुण रूप से चलता रहा। विजयलक्ष्मी कभी एक राजकुल के हाथ आयी, कभी दूसरे के। अन्त में दोनों में सन्धि हुई जिसके अनुसार पसेनदि को अजातशत्रु को विवाह में अपनी कन्या वजिरा और साथ ही काशी की आय भी देनी पड़ी।

पसेनदि, जिसका शिक्षण तक्षशिला के विख्यात विद्यापीठ में हुआ था, उदारचेता राजा था। उसने ब्राह्मणों को भूमि दान दी और बौद्ध श्रमणों को आवास दिये तथा उनके लिए विहार बनवाये। बुद्ध के साथ उसका घना स्नेह-सम्बन्ध था और अपने संकटों में वह बराबर उनकी सलाह लेता था। एक बार पसेनदि ने इस बात पर बड़ा आश्चर्य किया कि तथागत किस प्रकार अपने विशाल संघ में शान्ति रखते हैं जब वह स्वयं अपनी सारी राजशक्ति के होते भी दस्यु अंगुलिमाल के अत्याचारों और अपने कुल तथा मन्त्रियों के षड्यन्त्र से सर्वदा व्यथित रहता है। सत्य ही पसेनदि को अपने पुत्र विडुडाभ(विरुद्धक)[1] के विद्रोह के कारण कोशल की राजगद्दी छोड़ देनी पड़ी। इस विरुद्धक के विद्रोह में कोशल के मन्त्री दीर्घ बारायण का पूर्ण सहयोग था। पसेनदि ने अपने संकट के समय अजातशत्रु से सहायता माँगी और राजगृह की ओर चल पड़ा परन्तु मगध की राजधानी में प्रवेश करने के पूर्व उसके सिंहद्वार पर ही अवमानित कोशलराज थक कर गिर पड़ा और उसने दम तोड़ दिया। अजातशत्रु ने उसका दाह संस्कार वैभव के साथ किया परन्तु दूरदर्शी और नीतिकुशल राजा होने के कारण उसने विडुडाभ को न छेड़ा।

विडुडाभ

विडुडाभ का शासन शाक्यों पर किये उसके दारुण अत्याचार की कालिमा से आच्छन्न है। उसने शाक्यों पर आक्रमण कर उनका बड़ी संख्या में वध किया। यह घटना बुद्ध की मृत्यु के शीघ्र पूर्व घटी और इसके कारण शाक्यों का देश उजड़

१. विडुडाभ के दूसरे नाम विरूढ़क और क्षुद्रक भी हैं।

गया। शाक्यों द्वारा दासी-पुत्री वासभ-खत्तिया को धोखे से उसके पिता के साथ ब्याह देने के बदले यह उसका प्रतिशोध था। परन्तु शायद उसके इस संहार का कारण शाक्यों की स्वतंत्र-शक्ति नष्ट कर देने के उद्देश्य में छिपा था। विडुडाभ अथवा उसके उत्तराधिकारियों[1] के सम्बन्ध में हम अधिक नहीं जानते। इसके बाद हम कोशल को मगध के विजित के रूप में पाते हैं।

४—मगध—वैदिक साहित्य में मगध की भूमि को अपावन कहा गया है। इसकी राजनैतिक सत्ता और प्रभाव बृहद्रथ के राजकुल ने प्रतिष्ठित किया। उसका पुत्र जरासन्ध, जो अनेक अतिरंजित अनुश्रुतियों का नायक है, वास्तव में शक्तिमान् नृपति था। इस राजकुल का छठी शती ई० पू० में अन्त हुआ, क्योंकि जब बुद्ध अपने धर्म का प्रचार करने लगे थे तब मगध पर हर्यङ्क-कुल[2] का बिम्बिसार शासन कर रहा था। बिम्बिसार एक सामान्य सामन्त भट्टिय का पुत्र था और उसका विरुद सेनिय अथवा श्रेणिक था। पहले तो उसकी राजधानी भी प्राचीन गिरिव्रज थी पर बाद में अपने नये राजप्रासाद के चतुर्दिक राजधानी बसाकर उसने उसका राजगृह[3] नाम सार्थक किया। बिम्बिसार ने आरम्भ में अपने प्रभाव को वैवाहिक सम्बन्धों की नीति से बढ़ाया। उसकी प्रधान महिषी कोशलदेवी राजा पसेनदि की भगिनी थी; उसकी दूसरी रानी चेल्लना (छलना) विख्यात लिच्छवि 'राजा' चेटक की कन्या थी; और उसकी तीसरी रानी क्षेमा मद्र (मध्य पंजाब) की राजकुमारी थी। इन विवाहों से न केवल बिम्बिसार का समसामयिक राजकुलों पर प्रभाव विदित होता है वरन् यह भी सत्य है कि इन्हीं की पृष्ठभूमि पर मगध के प्रसार की अट्टालिका खड़ी हुई। उदाहरणतः केवल कोशलदेवी के विवाह-दहेज में ही काशी की एक लाख की वार्षिक आय मगध को प्राप्त हुई।

बिम्बिसार ने अपनी विजयों से भी राज्य विस्तार किया। अंग के राजा ब्रह्मदत्त को परास्त कर उसने उस जनपद-राज्य को मगध में मिला लिया। अंग का प्रसार आधुनिक मुंगेर और भागलपुर के जिलों पर था। इसके अतिरिक्त अनेक अन्य प्रदेश भी बिम्बिसार के राज्य-काल में ही मगध के अधीन हुए। यह पाली के भाष्यकार बुद्धघोष के लेख से स्पष्ट है। उसका कहना है कि बुद्ध और बिम्बिसार के उत्तराधिकारी के अन्तर-काल में मगध की सीमाओं का प्रसार दुगुना हो गया। मगध का शासन व्यवस्थित था और उसका प्रबन्ध महामत्तों (महामात्रों) के हाथ

---

१. उनके नाम हैं—कुलक, सुरथ और सुमित्र—
क्षुद्रकात् कुलको भाव्यः कुलकात् सुरथः स्मृतः।
सुमित्रः सुरथस्यापि अन्त्यश्च भविता नृपः॥

२. इस सम्बन्ध में हमने पालीवाला पाठ माना है। पुराण बिम्बिसार को शिशुनागवंशज मानते हैं।

३. आधुनिक राजगिर। उसकी विशाल प्राचीरें आज भी भारत के बहुत प्राचीन भग्नावशेषों में से हैं। राजगृह गिरिव्रज के बहिर्भाग में था।

में था। महामात्रों के ऊपर भी गहरी दृष्टि रखी जाती थी। इसकी दंडनीति काफी कठोर थी।

बिम्बिसार ने दूर के राज्यों के साथ भी मैत्री का आचरण किया, क्योंकि कहा जाता है कि उसने गन्धार के राजा पुक्कुसाति का दूत स्वीकार किया। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ५१६ ई० पू० में ईरान के हख़मी (Achaemenian) साम्राज्य द्वारा विजित होने के पूर्व बिम्बिसार के समय गन्धार स्वतन्त्र राज्य था। इस निष्कर्ष की सत्यता पर हम एक और तरीके से भी पहुँच सकते हैं। सिंहली इतिहासों के अनुसार बिम्बिसार का राज्यकाल ५२ वर्षों[1] तक रहा और अजातशत्रु के ८ वर्ष शासन कर चुकने के बाद बुद्ध की मृत्यु हुई। बुद्ध निर्वाण की तिथि गाइगर तथा अन्य विद्वानों ने ४८३ ई० पू० में रखा है। अब इसमें ६० वर्ष (५२+८) जोड़ने पर ५४३-४४ ई० पू० पाते हैं जिसे बिम्बिसार के राज्यारोहण की तिथि माननी चाहिए[2]। बिम्बिसार बुद्ध का आरम्भ से ही संरक्षक था और अपने स्नेह के प्रमाण में उसने उनके संघ को राजगृह का प्रसिद्ध बाँसों का वन (करन्द-बेनु-वन) प्रदान किया। वह भिक्षुओं को भोजन आदि से भी तुष्ट करता था और उनके खेवे आदि भी माफ कर दिये थे परन्तु वह साम्प्रदायिक भी न था और उसने अन्य सम्प्रदायों को भी दान दिये थे। इसी कारण हम यह भी नहीं कह सकते कि बौद्ध धर्म में किस सीमा तक उसकी आस्था थी। वस्तुतः उत्तराज्झयन (उत्तराध्ययन) सूत्र व अन्य जैनग्रन्थों में उसे महावीर का अनुयायी और जैन-धर्मी कहा गया है।

अजातशत्रु

लगभग ४९१ ई० पू० में बिम्बिसार के बाद उसका पुत्र अजातशत्रु मगध की गद्दी पर बैठा। अजातशत्रु का दूसरा नाम कुणिक था। पहले वह अंग की राजधानी चम्पा में अपने पिता का शासक नियुक्त हुआ और वहीं उसने शासन की व्यवस्था सीखी। अनुश्रुति से विदित होता है कि बुद्ध के चचरे भाई और संघ में उनके प्रतिद्वन्द्वी देवदत्त के बहकाने से अजातशत्रु ने अपने पिता को पहले बन्दी कर लिया; फिर भूखों मार डाला[3]। इस कहानी को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि बिम्बिसार का अन्त दारुण और षड्यन्त्र के परिणाम से हुआ[4]। सामन्नफलसुत्त में लिखा है कि बाद में अजातशत्रु ने बुद्ध के सम्मुख अपने घृणित पाप पर खेद प्रगट किया और तब तथागत ने उसकी अनुशोचना से प्रसन्न होकर उसे धीरज देते हुए कहा "जाओ, अब पाप न करना"।

---

१. पुराणों के अनुसार उसने केवल २८ वर्ष राज्य किया।

२. देखिये, Pol. Hist. Anc. Ind. चतुर्थ संस्करण पृ० १८४-८६।

३. कहा जाता है कि जब पिता ने पुत्र के लिए गद्दी छोड़ दी थी, तब अजातशत्रु ने उस पर तलवार चलायी। परन्तु उद्देश्य में निष्फल होनेके कारण उसे इस षड्यन्त्र का सहारा लेना पड़ा।

४. जैन अनुश्रुतियाँ अजातशत्रु को पितृहन्ता नहीं मानतीं।

द्वितीय शती ई० पू० के भरहुत की वेष्टनी (रेलिंग) पर बुद्ध के समीप अजातशत्रु की यात्रा उत्कीर्ण है।

कोशलदेवी को पति की मृत्यु से स्वाभाविक ही गहरा धक्का लगा और वह उस चोट को न सह सकने के कारण मर गयी। पसेनदि ने तुरन्त काशी की वार्षिक आय जो उसकी भगिनी को दहेज में दी गई थी, रोक ली। जिससे अजातशत्रु उसका वैरी हो गया। दोनों राजकुलों में जो लम्बा संघर्ष छिड़ा उसमें जीत कभी एक के और कभी दूसरे के पल्ले पड़ती रही। अन्त में दोनों में सन्धि हुई और अजातशत्रु को काशी के साथ पसेनदि की कन्या वजिरा भी प्राप्त हुई। काशी प्रदेश अब कोशल से निकल कर मगध का प्रान्त बन गया।

अजातशत्रु के राज्यकाल का दूसरा महत्वपूर्ण संघर्ष लिच्छवियों के साथ हुआ। इस संघर्ष के कारण के सम्बन्ध में अनुश्रुतियों में मतैक्य नहीं है। नीचे दी हुई परिस्थितियों में से कोई उसका कारण हो सकता है। अजातशत्रु के दो भाई हल्ल और वेहल्ल नाम के कुछ बहुमूल्य वस्तुएँ लेकर वैशाली चले गए थे पर उनको वापस लौटाने से चेटक ने अजातशत्रु को इन्कार कर दिया था। इसके अतिरिक्त अपनी वंचकता से लिच्छवियों ने जो रत्नों की एक खान पर अपना स्वत्व जमा लिया था वह भी इस युद्ध का कारण हो सकता है[1]। परन्तु इसका वास्तविक कारण मगध की प्रसार-नीति थी; उसकी महत्वाकांक्षा में यह पड़ोसी शक्तिमान गणतन्त्र अनुल्लंघनीय प्रतिबन्ध था। अजातशत्रु ने विजय के अर्थ सारे प्रबन्ध पूरे कर लिए।

उसने अपने विश्वासपात्र दो मंत्रियों को जिनका नाम सुनीध ओए वस्साकर था लिच्छवियों में फूट डालने के लिए भेजा। उसने अपनी सेना बड़ी सतर्कता से प्रस्तुत की और उसके लिए अनेक दारुण अस्त्रों का संचय किया। युद्ध भयानक और लम्बा हुआ, परंतु विजय अजातशत्रु के हाथ रही। लिच्छवि-भूमि मगध में मिल गई। इस विजय के बाद अजातशत्रु सम्भवतः उत्तर की ओर आगे बढ़ा, और पहाड़ों तक का प्रदेश जीत लिया। इस प्रकार अंग, काशी, वैशाली और अन्य प्रदेशों की विजय कर मगध उत्तर भारत में शक्तिशाली राज्य हो गया। इससे अवंति को ईर्ष्या स्वाभाविक ही बढ़ी और प्रद्योत के आक्रमण की आशंका प्रबल हो उठी। यद्यपि हम साहित्य में उसी आशंका के वशीभूत अजातशत्रु को अपनी राजधानी की रक्षा के अर्थ उसकी प्राचीरों को सशक्त करने की बात तो पढ़ते हैं परंतु यह आक्रमण सचमुच हुआ यह अत्यंत संदिग्ध है। पाली ग्रंथों के अनुसार अजातशत्रु का राज्यकाल ३२ वर्ष रहा, परंतु पुराणों के अनुसार केवल २७ वर्ष। जैन ग्रंथों का कथन है कि अजातशत्रु जैन धर्म का अनुयायी था, परंतु बौध ग्रंथों का वक्तव्य है कि बाद में अजातशत्रु ने बुद्ध का आदर किया और उनके उपदेशों से शांति-लाभ प्राप्त किया।

---

१. Pol. Hist. Anc. Ind, चतुर्थ संस्करण पृ० १७१।

संभवतः बुद्ध के प्रति अपने आदर और सौजन्य क कारण ही अजातशत्रु उनके भस्म का एक भाग पा सका जिसके ऊपर उसने एक स्तूप खड़ा किया।

प्रकरण ३

धार्मिक आन्दोलन

ईस्वी पूर्व की छठी शती मानव इतिहास में एक विशिष्ट युग था। इस काल अनेक देशों में असाधारण वौद्धिक और चिन्तन के आंदोलन चले। फारस में जरतुश्त (Zarathustra) और चीन में कनफूशस (Confucius) अपने उपदेशों का प्रचार कर रहे थे। भारत में भी अनेक असामान्य चिंतक सत्य की अनवरत खोज में संलग्न थे। इनका केन्द्र विशेषतः मगध था जहाँ ब्राह्मण धर्म का प्रभाव अभी तक इतना गहरा न हो सका था। उपनिषदों ने इस काल के पूर्व ही पेचीदे कर्मकांड और रक्तिम यज्ञों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। ब्राह्मणों के अहंकार और वर्णवाद की एकांतता ने समाज को सर्वथा जकड़ दिया था। इस सामाजिक परिस्थिति ने अन्य सिद्धांतों के अंकुरित होने के अर्थ उचित भूमि स्वाभाविक ही प्रस्तुत कर दी थी। चिंतकों और प्रचारकों के दल के दल देश में पर्यटन और प्रचार कर रहे थे। आत्मा और परमात्मा के रहस्योद्घाटन और जन्ममरण की शृंखला से मोक्ष के साधक ज्ञान अथवा कठोर तप की व्यवस्था चारों ओर दी जा रही थी। अनेक सुधारवादी सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे[1], परंतु या तो उनकी अकाल-मृत्यु हो गई अथवा कालांतर में उनके प्रचार की आवश्यकता न रही। इनमें से जैन और बौद्ध सम्प्रदाय काफी समर्थ सिद्ध हुए और आज भी अनेक प्रकार से वे मानव विश्वास की दृढ़भित्ति बने हुए हैं।

महावीर का इतिवृत्त

जैनों के अनुसार उनके धर्म का प्रारम्भ सुदूर अतीत में हुआ। उनका विश्वास है कि महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे जिनसे पहले २३ तीर्थंकर और हो चुके थे। इनमें से प्राचीनतम के बाद वाले अर्थात् दूसरे पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति ज्ञात होते हैं, परंतु अन्य तीर्थंकरों की आकाररेखाएँ नितांत अस्पष्ट और अतर्क्य जन-विश्वासों से ढकी हैं। पार्श्वनाथ काशी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे और उन्होंने तप की तुष्टि के अर्थ राजकीय विलास का जीवन त्याग दिया। उनके मुख्य उपदेश चार थे। १—अहिंसा, २—सत्यभाषण, ३—अस्तेय और ४—सम्पत्ति का त्याग।

---

१. पाली ग्रन्थों से पता चलता है कि जब बुद्ध ने अपना प्रचार आरम्भ किया तब देश में ६२ विभिन्न संप्रदाय थे (जैन ग्रन्थों के अनुसार यह संख्या ३६३ थी)। इनमें कुछ निम्नलिखित थे: आजीविक, जटिलक, मुण्ड-साधक, परिव्राजक, गोतमक, तेदण्डिक, आदि। बुद्ध के अतिरिक्त उस काल के अन्य प्रचारक थे—पुराणकस्सप, मक्खलिपुत्त गोशाल, निगण्ठ-नापुत्त, अजित-केशकम्वलिन्, पकुद्ध-कच्चायन, सञ्जय-बेलट्ठ पुत्त।

ज्ञात नहीं पार्श्व कहाँ तक अपने प्रचार में सफल हुए, परन्तु २५० वर्ष बाद होने वाले चौवीसवें तीर्थंकर महावीर ने निस्संदेह धर्म को विशेष प्रतिष्ठा दी। महावीर का प्राकृत नाम वर्धमान था। वैशाली के समीप कुंडग्राम में उनका जन्म हुआ था। क्षत्रिय ज्ञात्रिक-कुल के प्रधान सिद्धार्थ के वे पुत्र थे और उनकी माता त्रिशला उस लिच्छवि 'राजा' चेटक की भगिनी थी जिसकी कन्या चेल्लना राजा बिम्बिसार की रानी थी। इस प्रकार वर्धमान का कुल अभिजातवर्गीय था और इस बात से उनके प्रचार कार्य में बड़ी सहायता मिली होगी। ३० वर्ष तक सुखी गृहस्थ का जीवन बिता वर्धमान प्रव्रजित हो गये। फिर उन्होंने कठिन तप किया और १२ वर्ष के लंबे तप से अपने शरीर को सर्वथा दुर्बल कर दिया। अंत में उनको 'कैवल्य' प्राप्त हुआ और उनकी संज्ञा 'निर्ग्रन्थ' (बंधन रहित) अथवा 'जिन' (विजयी) हुई। इसी जिन से उनके अनुयायियों की जैन संज्ञा पड़ी। इसके तीस वर्ष बाद ७२ वर्ष की आयु में अपनी मृत्यु तक महावीर मगध, अंग, मिथिला और कोशल में निरंतर अपने सिद्धांतों का प्रचार करते रहे। पार्श्व के चारों सिद्धांतों को अपनाकर उन्होंने अपना पाँचवाँ शुद्ध पवित्रता का सिद्धांत जोड़ा। वसन त्याग कर वे दिगम्बर घूमते रहे। कुछ विद्वानों ने जैनधर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों का उदय महावीर के इसी आचरण से माना। परंतु इसे स्वीकार करना कठिन है। क्योंकि जैन संघ में विच्छेद तृतीय शती ई० पू० में हुआ जब भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिण भारत को अकालपीड़ित गए हुए जैन लौटे। ५२७ ई० पू०[1] के लगभग महावीर का देहांत आधुनिक पटना जिले की पावापुरी में हुआ। यह तिथि सर्वथा प्रमाणित नहीं है।

मुख्य जैन सिद्धान्त

जैन वेद की सत्ता और प्रमाण को स्वीकार नहीं करते[2]। और न वे यज्ञों के अनुष्ठान को ही महत्व देते हैं। उनका विश्वास है कि प्रत्येक वस्तु में, परमाणु तक में, जीव होता है और वह चेतन है। इसका फल हुआ उनका अर्थरहित अहिंसक दृष्टिकोण। छोटे से छोटे जीव के प्रति हिंसा का विचार उनके लिए अत्यंत अग्राह्य और असह्य हो उठा। परिणामतः हिंसा की दृष्टि से यह धर्म अद्भुत वैषम्य का केन्द्र हो उठा, क्योंकि ऐसा भी उदाहरण इतिहास में प्रस्तुत है कि जैन राजा ने पशु की हत्या के अपराध में मनुष्य को प्राणदण्ड की आज्ञा दे दी। जैन संसार के चेतन स्रष्टा, उसके पालनकर्ता अथवा व्यापक परमात्मा को नहीं मानते। उसके अनुसार "ईश्वर उन शक्तियों का उच्चतम, शालीनतम और पूर्णतम व्यक्तीकरण है जो मनुष्य की आत्मा में निहित होती है"[3]। जैन जीवन का लक्ष्य भौतिक बंधनों से मोक्ष है। आत्मा का बंधन कर्मों के फलस्वरूप है। पूर्वजन्म के कर्मों का नाश और इह जन्म में उनका अनस्तित्व ही मोक्षदायक है। और कर्मों का नाश

१. महावीर के निर्वाण की अन्य तिथि ५४६ ई० पू० है।
२. जैनों के अपने सिद्धांत-ग्रन्थ हैं।
३. सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् : Indian Philosophy, भाग १, पृ० ३३१।

सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् आचार के त्रिरत्नों के साधन से होता है। जैन कठोर तप को बड़ा महत्व देते हैं। यौगिक प्रक्रियाओं और आमरण अन्न-त्याग का भी उनके यहाँ विशेष महत्व है। उनका विश्वास है कि तप और संयम से आत्मा को शक्ति मिलती है तथा निकृष्ट प्रवृत्तियाँ दबी रहती हैं।[1]

बुद्ध का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त

जैन धर्म की भाँति बौद्ध धर्म भी एक मेधावी अभिजातकुलीय क्षत्रिय द्वारा प्रचारित हुआ। उसका गोत्र-नाम गौतम था परन्तु प्रसिद्ध वह अपने आध्यात्मिक नाम बुद्ध से ही हुआ। कपिलवस्तु के समीप लुम्बिनी-वन (आधुनिक रूम्मिन्देह अथवा रूपं-देहि गाँव) में माया की कोख से वह जन्मा। उसका पिता शुद्धोदन मनस्वी शाक्य जाति का 'राजा' (प्रधान) था। अपने पुत्र की चिन्तन-प्रवृत्ति देख उसने उसका विवाह अल्पायु में ही गोपा (यशोधरा)[2] से कर दिया, और उसके प्रासाद को विलास के सारे साधनों से भर दिया। परन्तु दुःखी और विषादग्रस्त संसार के बीच भोग के इन उपकरणों से गौतम के आकुल चिन्तन को शांति न मिली। तब संयस्त जीवन से शांति लाभ करने के अर्थ अपनी आयु के २९वें वर्ष में अपनी तरुणी भार्या गोपा और सद्यःजात शिशु राहुल को प्रासाद में छोड़ एक रात वह प्रव्रजित हो गया। आलार कालाम और उद्दक रामपुत्त के आश्रय में कुछ काल निवास और अध्ययन कर चुकने पर और युग के उन दो मेधावियों के अध्यापन से भी जब उसकी जिज्ञासा न मिटी तब गौतम आधुनिक बोधगया के समीप उरुवेला के घने वन में घोर तप के अर्थ प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसने अपनी काया को असाधारण यातना देकर इतना तपाया कि वह अस्थि-पञ्जर-मात्र रह गई। परन्तु अपने लक्ष्य से वह फिर भी उतना ही दूर रहा जितना पहले था। तब उसने तप से विरक्त होकर शरीर-यातना छोड़ दी, और सुजाता द्वारा लाए स्वादु भोजन को अंगीकार कर वह अभितृप्त हुआ। सुजाता वृक्षदेवता को तुष्ट करने के लिए पायस लेकर आई थी। फिर पीपल के नीचे तृण के आसन पर बैठे हुए एक रात उसे सहसा सत्य के दर्शन हुए। अपनी आयु के ३५वें वर्ष में गौतम ने बुद्धत्व प्राप्त किया। पहले ही इस विषय में उसके प्रबुद्ध मन का बड़ा तर्क-वितर्क हुआ कि वह असाधारण सत्य तृष्णागत मानवों को देना कहाँ तक उपादेय होगा, परन्तु अन्त में अपने ज्ञान का आलोक उन तक पहुँचाने का निश्चय कर बुद्ध ने सारनाथ में धर्म-चक्र का पहला प्रवर्तन किया।

बुद्ध के नए धर्म के पहले श्रद्धालु वे ही पंचभद्रवर्गीय ब्राह्मण हुए जिन्होंने

---

१. देखिए, श्रीमती एस. स्टिवेन्सन : The Heart of Jainism; जगमन्दर लाल जैनी : Outlines of Jainism (केम्ब्रिज, १९१६); बरोडिया : History and Literature of Jainism (बम्बई, १९०९); राधाकृष्णन् : Indian Philosophy, भाग १, अध्याय ६, पृ० २८६-३४०; शाह : Jainism in Northern India.

२. बौद्ध साहित्य में बुद्ध की पत्नी के नाम भद्दकच्चा और बिम्बा भी मिलते हैं।

उसे उरुवेला में तप से विरक्त होते देख तृष्णा से अभिभूत जानकर त्याग दिया था। उसके भावी जीवन के शेष पैंतालिस वर्ष अनवरत श्रम और सक्रियता के थे। उसने अपना संदेश जनता से उसकी नित्य की बोली में कहा और अपने उपदेशों की शालीनता, करुणा, आचारजन्य गौरव तथा गहरी संवेदना से उसने अपने श्रोताओं के चित्त हर लिए। राजा और रंक सबने उसे अपना अनुराग दिया और अल्पकाल में ही उसके अनुयायियों का एक शक्तिमान 'संघ' संगठित हो गया। भारत में बौद्धधर्म के भाग्य एक से नहीं रहे, और यद्यपि यहाँ से उसका लोप हो गया है, पूर्व में और सुदूर पूर्व में फिर भी उसकी शक्ति असाधारण है और आज भी वह अनेक रूप से असंख्य प्राणियों को शान्ति प्रदान करता है।[१]

बुद्ध के निर्वाण की तिथि

दीर्घ काल तक अनवरत प्रचार के बाद धर्म का यह महारथी रुका और अस्सी वर्ष की परिपक्व आयु में कुशीनगर (गोरखपुर जिले में आधुनिक कसिया जहाँ बुद्ध की महापरिनिर्वाण मुद्रा में विशाल मूर्ति मिली है) में उसने निर्वाण प्राप्त किया। इस निर्वाण की तिथि निश्चित करना कठिन है तथापि हमारे तिथि-क्रम में यह एक बुनियादी तिथि है। विनसेंट स्मिथ ने इसे ई० पू० ४८६-८७ में रखा है, परन्तु फ्लीट और गाइगर की तिथि ४८३ ई० पू० ज्ञात सामग्री की गहरी समीक्षा पर अवलम्बित होने के कारण सत्य के सन्निकट है और इसी से ग्राह्य है[२]।

बुद्ध के उपदेश

बुद्ध के उपदेश सर्वथा सरल और प्रायोगिक हैं। आत्मा और परमात्मा के झगड़ों में वह कभी न पड़े, क्योंकि उनका विश्वास था कि इस प्रकार के वाद-विवाद से आचार में किसी प्रकार की प्रगति नहीं होती। उन्होंने घोषणा की कि संसार में सब कुछ अनित्य है, क्षणभंगुर (सर्वं अनिच्चं)। अपने समकालीन दार्शनिकों की भाँति वह भी जन्म को दुःख मानते थे,. परंतु दुःख और विषाद की कठोरता से वह नितांत व्यथित थे। इसी कारण दुःख के विश्लेषण और उसके शमन के उपाय के प्रति वह अधिक दत्तचित्त हुए। अत्यंत मनोयोग से उन्होंने चार आर्यसत्यों (चत्तारि-अरिय-सच्चानि) का प्रचार किया। चार आर्यसत्य निम्नलिखित थे। (१) दुःख है; (२) दुःख का कारण (दुक्ख-समुदाय) है; (३) दुःख का निरोध है; और (४) दुःख के निरोध का मार्ग (दुक्ख-निरोधगामिनी-प्रतिपद) है। बुद्ध के अनुसार सारे मानव दुःखों का कारण तृष्णा (तन्हा) है, और इसका नाश ही दुःख का अन्त करने का एकमात्र उपाय है। 'तन्हा' का नाश 'अष्टांगिक-मार्ग' के सेवन से ही साध्य है। यह अष्टांगिक मार्ग निम्नलिखित है—(१) सम्यक् दृष्टि (विश्वास) (२) सम्यक् संकल्प (विचार), (३)सम्यक् वाक् (वचन), (४)सम्यक् कर्मांत (कर्म), (५)सम्यक् आजीव (वृत्ति), (६) सम्यक् व्यायाम (श्रम), (७) सम्यक् स्मृति, और (८) सम्यक्

१. देखिए, ई. जे. थामस : The Life of Buddha (लन्दन, १९२७) एच. ओल्डेन-बर्ग : Buddha (लन्दन, १८८२)।

२. इसके विरोध में कुछ विद्वान् बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि ५४३ ई० पू० मानते हैं।

समाधि। बुद्ध ने इसे मध्यममार्ग (मज्झिम-मग्ग) कहा, क्योंकि यह अत्यंत विलास और अत्यंत तप दोनों के बीच का था। जो प्रव्रज्या नहीं ले सकते थे वे भी इस अष्टांगिक मार्ग पर आरूढ़ हो दुःख-बंध को काट सकते थे। संघ के भिक्षुओं को निव्बान अथवा निर्वाण की प्राप्ति के लिए यत्न करना आवश्यक था। उनको मनसा, वाचा, कर्मणा, सर्वथा पवित्रता रखनी थी। इस अर्थ बुद्ध ने दस प्रकार के निम्नलिखित निषेध किए जिनमें से पहले पाँच साधारण उपासक के आचरण में भी वर्जित थे—(१) परद्रव्य का लोभ, (२) हिंसा, (३) मद्यपान, (४) मिथ्या भाषण, (५) व्यभिचार, (६) संगीत और नृत्य में भाग लेना, (७) अंजन, फूल, और सुवासित द्रव्यों का प्रयोग, (८) अकाल भोजन, (९) सुखप्रद शय्या का उपयोग और (१०) द्रव्य ग्रहण। इस प्रकार बुद्ध ने आचार के काफी कड़े नियम बनाए परंतु दार्शनिक चिंतन को आध्यात्मिक उन्नति में बाधक कह कर निषिद्ध किया। बुद्ध की सबसे क्रांतिकर घोषणा यह थी कि उसके सन्देश सबके लिए हैं। नर और नारी, युवा और वृद्ध, श्रीमान् और कंगाल सभी समान रूप से उस पर आचरण कर सकते हैं[1]।

जैन और बौद्ध धर्मों की पारस्परिक समानताएं-विषमताएं

दीर्घकाल तक लोगों का विश्वास था कि जैन संप्रदाय बौद्ध संप्रदाय की अथवा बौद्ध संप्रदाय जैन धर्म की शाखा है। अब इस प्रकार के विचार अप्रमाणित हो गए हैं यद्यपि दोनों सम्प्रदायों की पारस्परिक समानताएँ अनेक हैं। दोनों वेदों को प्रमाण नहीं मानते और कर्मकाण्ड के विरोधी हैं। दोनों ईश्वर के प्रति उदासीन रहे, और दोनों ने वर्ण-व्यवस्था पर प्रहार किया। दोनों ने अहिंसा पर जोर दिया, और व्यक्ति के पुनर्जन्म का कारण कर्म बताया। दोनों ने जन-विश्वासों को प्रश्रय दिया। इसमें संदेह नहीं कि ये समानताएँ असाधारण हैं परंतु इनकी पारस्परिक विषमताएँ भी कम महत्व की नहीं हैं। बौद्ध सम्प्रदाय 'अनात्मवाद' को मानता है। परंतु इसके विरोध में जैन प्रत्येक वस्तु में जीव का निवास मानते हैं। शरीर की यातना को जहां जैन इतना गौरव प्रदान करते हैं, बौद्ध अत्यंत विलास और अत्यंत तप के बीच के मध्यम-मार्ग को सराहते हैं। बंधच्छेद और निर्वाण के संबंध में भी उनके विचार सर्वथा समान नहीं हैं। समान काल में उदित समान देश में प्रचारित होने के कारण जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में समानता स्वाभाविक थी परंतु उनके पारस्परिक विरोध भी इतने गहरे थे कि दोनों में प्रायः स्पर्धा और ईर्ष्या के भाव जग उठते थे।

---

१. रिस डेविड्स : Buddhism (लन्दन, १८७७); कर्न : Manual of Indian Buddhism (स्ट्रास्वर्ग, १८९६); . कीथ : Buddhist Philosophy in India and Ceylon (आक्सफोर्ड, १९२३); राधाकृष्णन् : Indian Philosophy, भाग १, अध्याय ७-११, पृ० ३४०-७०३।

प्रकरण (४)

आर्थिक दशा

ग्राम-संगठन

जातक, पिटक और अन्य पाली ग्रंथों की सामग्री बौद्धधर्म के उदय के समय की भारतीय स्थिति पर बड़ा प्रकाश डालती है। आज ही की भाँति तब भी भारतीय अधिकतर गाँव में रहते थे। रक्षा के विचार से गाँव की आबादी पास-पास प्रायः सटे हुए घरों में रहती थी। गाँव के चतुर्दिक बाहर की ओर खेत (ग्रामक्षेत्र) होते थे। खेत सींचनेवाली नालियों द्वारा अनेक टुकड़ों में बँटे होते थे। कभी-कभी उनकी सीमायें मेड़ों से भी पृथक् कर दी जाती थीं। खेतों के हिस्से प्रायः छोटे ही होते थे यद्यपि बड़े टुकड़ों का अभाव न था। पास के वन (दाव अथवा दाय) और चरागाहों पर ग्रामवासियों का समान अधिकार होता था। इनमें उनके मवेशी 'गोपालक' की रक्षा में चरते थे।

ग्राम-अर्थ-नीति भूमि के स्वतंत्र स्वत्व के आधार पर खड़ी थी। कृषक अपने खेत का स्वामी था परंतु गाँव की पंचायत अथवा परिषद् की अनुमति के बिना वह अपना खेत बेच या रेहन नहीं कर सकता था। वह अपने खेत को स्वयं जोतता अथवा श्रमिकों या दासों से जुतवाता था। वहाँ बड़े-बड़े जमींदार (?) भी थे। राजा कर लेता था और 'ग्रामभोजक' अथवा गाँव के मुखिया के जरिये भूमि की उपज का छठे से बारहवें[२] भाग तक वसूल करता था। ग्रामभोजक गाँव में विशिष्ट था और स्थानीय शासन का प्रबंध वही करता था। उस समय उसका पद या तो कुलागत हो गया था या वह गाँव की पंचायत द्वारा चुना जाता था। यही पंचायत स्थानीय रक्षा और शांति के कार्य में उसकी सहायता भी करती थी। ग्रामवासियों में सार्वजनिक दृष्टि का अभाव न था और सिंचाई के लिये प्रणालिकायें, सभाभवन और अतिथिशालाओं आदि के निर्माण में वे एकमत होकर भाग लेते थे। सार्वजनिक कार्यों में नारियाँ भी अपना सहकार देती थीं। साधारणतः गाँव अपनी आवश्यकतायें आप प्रस्तुत करता था और वहाँ का जीवन सादा और अकृत्रिम था। धनाढ्यों की संख्या कम थी परंतु सर्वथा कंगाल कोई नहीं था। अपराध विरले ही होते थे परंतु कभी-कभी लोगों को वर्षा के अभाव अथवा बाढ़ के कारण दुर्भिक्ष का सामना भी करना पड़ता था।

---

१. रिस डेविड्स : Buddhist India, पृ० ८७-१०६; Cam. Hist. Ind. खण्ड १, ६, ८, पृ० १९८-२१९।

२. मनु का विधान है कि राजा को सौदागरों से सोने और मवेशियों के विक्रय पर ५०वां भाग और कृषकों से छठा, आठवाँ अथवा बारहवाँ भाग लेना चाहिए (मनुस्मृति, ७, १३०)। इसके अतिरिक्त बेगार तथा अन्य प्रकार के करों का भी उल्लेख मिलता है।

नगर

बौद्ध साहित्य में बहुत कम नगरों (अथवा निगमों) का उल्लेख हुआ है। इनमें से विशिष्ट निम्नलिखित थे—वाराणसी (बनारस), राजगह (राजगृह), कौशाम्बी, सावत्थी (श्रावस्ती), वैसाली (वैशाली), चम्पा, तक्षशिला, अयोज्झा (अयोध्या), उज्जेनी (उज्जैन), मथुरा आदि। साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र अभी भविष्य के गर्भ में थी। नगर साधारणतः रक्षा की प्राचीरों से घिरे होते थे और उनके मकान लकड़ी तथा ईंटों से बने होते थे। गरीबों में मकान छोटे और साधारण तथा धनिकों के विशाल और आकर्षक होते थे जो बाहर-भीतर सुन्दर रँगे-पुते होते थे। नगर का जीवन अपेक्षाकृत सुखमय और वैभव-युक्त था।

शिल्प-कलायें

जनता की प्रमुख वृत्ति तो कृषि थी। परन्तु जीवन की अन्य सुविधाओं के प्राप्ति अर्थ अनेक शिल्प भी उठ खड़े हुए। नौ-निर्माण, वास्तु (गृह-निर्माण), चर्म-कर्म, और धातुकर्म विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुम्हार, जुलाहों, हाथी-दाँत के काम करने वालों और रत्नों के आभूषण बनाने वालों की भी कमी न थी[1]। इन महत्वपूर्ण शिल्पों के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में कुछ हीन-शिल्पों का भी उल्लेख हुआ है। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं; चमड़े का काम, मछली मारना, आखेट, नृत्य, अभिनय, सपेरे का काम, आदि। प्रमाणतः इन कामों को लोग नीच वृत्ति समझते थे। साधारणतः पेशे कुलागत हो चुके थे, यद्यपि दूसरों के पेशे ग्रहण करने में किसी प्रकार की असुविधा न थी क्योंकि वर्ण के अनुकूल सर्वदा वृत्ति चुनने की अनिवार्यता न थी। इसी कारण हम कभी-कभी जुलाहे को धनुर्धर बनते, क्षत्रिय को कृषि करते, और ब्राह्मण को बढ़ई-गीरी, पशुपालन या वाणिज्य तक करते देखते हैं।

श्रेणियाँ

एक ही पेशा करनेवाले लोग बहुधा अपने को श्रेणी के रूप में संगठित कर लेते थे, और अपने शिल्प के केन्द्र में नगर के एक भाग में अथवा एक सड़क (वीथी)पर रहते थे। जातकों में इस प्रकार की अट्ठारह शिल्प-श्रेणियों का उल्लेख है। इनमें से प्रत्येक का एक-एक प्रधान (प्रमुख) अथवा जेठक होता था, जिसका पद अत्यन्त उत्तरदायित्व और गौरव का था। कभी-कभी विविध वर्ग या श्रेणियाँ अपनी रक्षा, उन्नति अथवा लाभ के लिए एक ही प्रधान के नीचे संगठित हो जाती थीं।

वाणिज्य और वणिक्पथ

उस काल में देशी और विदेशी व्यापार में विशेष उन्नति हुई थी। आयात-

---

१. जातकों में अट्ठारह मुख्य शिल्पों का प्रायः उल्लेख मिलता है। इनमें से कुछ निम्नलिखित थे : बढ़ईगीरी (वड्ढकि), सुनारी (कम्मार), संगतराश (पाषाणकोटक), जुलाहे (तन्तुवाय), रंगकार, कुम्भकार (कुम्हार), नाई (नहापक) आदि।

निर्यात प्रभूत रूप से होता था। रेशम, मलमल, किमखाब, कढ़े हुए वस्त्र, कम्बल, कवच, वर्तन, सुवासित द्रव्य, हाथी दाँत और हाथी दाँत के काम, रत्न, औषधियों आदि का व्यवसाय कर सौदागर अनंत धन अर्जित करते थे। वणिक् देश की नदियों के रास्ते व्यापार की वस्तुएँ लेकर दूर-दूर तक की यात्रा करते थे और समुद्रतटीय जल-यात्राओं के जरिए पूर्व में ताम्रलिप्ति (तामलुक) से और पश्चिम में भरूकच्छ (भड़ोच) से बर्मा और सिंहल (सीलोन) तक जा पहुँचते थे। बावेरु (बाबुल) तक की यात्राओं के जातकों में उल्लेख मिलते हैं। देश में सौदागर प्रशस्त वणिक्-पथों पर यात्रा करते थे, जो भारत के विविध सीमाओं तक फैले हुए थे। एक वणिक्-पथ सावत्थी (श्रावस्ती) से पतिट्ठान अथवा प्रतिष्ठान (निजाम के राज्य में आधुनिक पैठान) को जाता था; दूसरा सावत्थी से राजगह को; तीसरा तक्षशिला से पहाड़ों के नीचे से होता हुआ श्रावस्ती पहुँचता था; और चौथा काशी को पश्चिमी समुद्रतट के पत्तनों (बन्दरगाहों) से जोड़ता था। इन दीर्घपथों पर चलने वाले अपनी यात्रा अनेक मंजिलों में पूरी करते थे। राह में नदियों के घाट भी उतरने पड़ते थे। राजपूताने की मरुभूमि को पार करते समय सार्थवाह (कारवाँ) शीतल रात्रि के समय नक्षत्रों की गति जानने वाले पथ-प्रदर्शकों का अनुसरण करते थे। इन राज-मार्गों पर डकैती भी काफी होती थी और विशेषकर निर्जन मार्ग पर व्यापार की वस्तुएँ लेकर चलना तो खतरे से बिल्कुल खाली न था। डकैतों के भय, प्रत्येक राज्य की सीमाओं पर कर देने तथा घाटी पर चुंगी चुकाने के कारण व्यापारिक वस्तुओं के मूल्य काफी बढ़ जाते होंगे।

सिक्के

व्यापार में विनिमय का अब धीरे-धीरे अंत हो चला था। अब क्रय-विक्रय का माध्यम साधारणतः एक प्रकार के सिक्के थे जिनको 'कहापण' (कार्षापण) कहते थे। ये सिक्के ताँबे के और वजन में १४६ 'ग्रेन' के थे। सौदागर अथवा उनकी श्रेणियाँ इनकी सच्चाई और तौल आदि नियमित करने के अर्थ इन पर अपने चिह्न छाप देती थीं। इनके अतिरिक्त 'निक्ख' और 'सुवण्ण' नाम के सोने के सिक्के का भी पाली साहित्य में उल्लेख हुआ है। ताँबे के छोटे सिक्के 'मासक' और 'काकनिका' कहलाते थे। ऋण[1] के ऊपर व्याज (वडिढ़) दिया जाता था, और उसे पत्र पर साख के लिए दर्ज कर लेते थे।

अजातशत्रु के अधिकारी

पालि ग्रन्थों के अनुसार अजातशत्रु के पश्चात् उसका पुत्र उदायिन अथवा उदायिभद्द (देखिये दीर्घनिकाय) ४५९ ई० पू० के लगभग मगध के सिंहासन पर बैठा। पुराणों में इसके विरुद्ध अजातशत्रु के बाद राजा दर्शक का नाम लिखा

---

१. ऋणदान (इणदान) का पेशा बुरा नहीं माना जाता था यद्यपि लोग सूदखोरी के विरुद्ध थे।
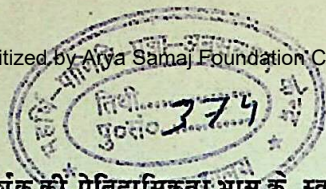
मिलता है। दर्शक की ऐतिहासिकता भास के स्वप्नवासवदत्त से प्रमाणित हो गई है। उसमें लिखा है कि दर्शक मगध का राजा था और उसकी भगिनी पद्मावती कौशाम्बी के उदयन से ब्याही थी। कुछ विद्वानों का मत है कि पुराणों में दर्शक का नाम गलत आ गया है, और वे उसको बिम्बिसार-वंश का अंतिम राजा नागदासक मानते हैं। उदायिन की ख्याति विशेषकर पाटलिपुत्र के निर्माण के कारण है। पाटलिपुत्र पहले एक दुर्गमात्र था जिसे उसके पिता ने अवन्ति का आक्रमण रोकने के लिए बनवाया था। यह शोण और गंगा के संगम पर (अब वह संगम पटना से कई मील पश्चिम हट आया है) एक कुटिल कोण में बसा था और निरंतर बढ़ती हुई सीमाओं वाले उदीयमान साम्राज्य का शक्ति-केंद्र भली प्रकार बन सकता था। उदायिन के उत्तराधिकारी, अनुरुद्ध, मुण्ड और नागदासक नाममात्र थे[1]। और यद्यपि प्रत्येक के पितृहंता होने की कथा सही न हो[2] यह निस्संदेह सत्य है कि इनकी दुर्बलता तथा अप्रियता ने अमात्य शिशुनाग का लोभ जगा दिया। शिशुनाग ने शीघ्र मगध का राज्य स्वायत्त कर लिया। पुराणों में इस राजा को बिम्बिसार का पूर्वज कहा गया है परंतु सिंहली इतिहास इस बात को स्पष्टतः प्रमाणित करते हैं कि शिशुनाग बिम्बिसार की कई पीढ़ियों बाद हुआ[3]। इस क्रान्ति के बाद उल्लेख है कि शिशुनाग अपनी राजधानी गिरिव्रज ले गया और अपने पुत्र को उसने वाराणसी (बनारस) का शासक नियुक्त किया[4]। शिशुनाग के शासनकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना उसके द्वारा प्रद्योतों का सर्वनाश था। प्रद्योतों द्वारा कौशाम्बी-विजय के बाद यह संघर्ष अनिवार्य था। परास्त अवन्तिराज वर्तिवर्धन अथवा अवन्तिवर्धन था। इसके बाद अवन्ति का प्रद्योतकुल इतिहास से लुप्त हो गया। इस विजय के परिणाम-स्वरूप शिशुनाग मध्यदेश, मालवा और उत्तर के अनेक प्रदेशों का शासक हो गया।

नन्द

चतुर्थ शती ई० पू० के प्रायः मध्य में महापद्म[5] नामक एक अज्ञात सामरिक

---

१. जैसा कि बाद में दिखाया गया है पुराणों के अनुसार उदायिन के उत्तराधिकारी नन्दि-वर्धन और महानन्दिन् थे।

२. विन्सेन्ट स्मिथ ने इस सम्बन्ध में पार्थव (Parthian) इतिहास की समानान्तरता प्रस्तुत कर उसके तीन क्रमिक पितृहन्ता राजाओं, ओरोदिज, फ़्रातिज चतुर्थ और फ़्रातिज पंचम (Orodes, Phraates IV, Phraates V, E. H. I., चतुर्थ संस्करण, पृ० ३६, नोट २) के हवाले दिए हैं।

३. Pol-Hist. Anc. Ind, चतुर्थ संस्करण, पृ० १७८-७९। इसे काल की सामग्री के ऊपर डा० राय चौधरी का निष्कर्ष हमें सम्मत जान पड़ता है।

४. वाराणस्यां सुतं स्थाप्य संयास्यति गिरिव्रजम्।

५. पाली ग्रन्थों में वह उग्रसेन कहा गया है। स्पष्टतः यह नाम उसे उसकी सेना की विशालता के कारण मिला। इसी प्रकार महापद्म नाम से भी सम्भवतः ध्वनित है कि उसकी सेना इतनी बड़ी थी कि वह पद्मव्यूह के रूप में खड़ी की जा सकती थी। क्या इसका यह भी सम्भाव्य अर्थ हो सकता है कि वह पद्मधन का स्वामी था?

ने शिशुनाग वंश का अन्त कर दिया। महापद्म ने जिस नये कुल की मगध में प्रतिष्ठा की, इतिहास में वह नन्दों के कुल के नाम से विख्यात है।

नन्दों का मूल

नन्दों के मूल में अनुश्रुतियाँ परस्परविरोधी हैं। पुराणों के अनुसार महापद्म शूद्रा से उत्पन्न था परन्तु जैन ग्रंथों में उसे नाई का पुत्र और वेश्या से उत्पन्न कहा गया है। ग्रीक इतिहासकार कर्टियस ने उसके सम्बन्ध में दूसरा ही वृत्तान्त दिया है। वह लिखता है कि वह मागधी अलेक्जेण्डर का समकालीन नाई का पुत्र था। इस नाई ने अपनी सुन्दरता से रानी को आकर्षित कर लिया था और उसने तत्कालीन राजा, सम्भवतः कालाशोक अथवा काकवर्ण, का बाद में वध कर दिया था। हर्ष-चरित में लिखा है कि इस राजा का वध उसकी राजधानी के समीप ही उसके गले में छुरा भोंक कर किया गया[१]। इन विरोधी ऐतिहासिक पाठों में तथ्य चाहे जो हो इनसे इतना तो अवश्य प्रमाणित हो जाता है कि महापद्म नीच जाति का था और अपना गौरव उसने सफल षड्यंत्र द्वारा प्राप्त किया। पहले वह किशोर राजकुमारों का अभिभावक बना[२], फिर उनका वध कर उसने उनकी गद्दी छीन ली।

महापद्म

महापद्म ने मगधराज की सीमाओं और प्रभाव का विस्तार किया। उसे अनेक समकालीन राजशक्तियों का विजेता कहा गया है जिनमें से कुछ निम्नलिखित थे; इक्ष्वाकु, कुरु, पंचाल, काशी, शूरसेन, मैथिल, कलिंग, अश्मक, हैहय आदि। उसे क्षत्रियों का हंता भी कहा गया है[3]। सम्भवतः उसके इसी रूप को चरितार्थ करते हुए पुराणों ने उसे परशुराम के समान 'सर्वक्षत्रांतक' और 'एकराट्' लिखा है, यद्यपि यह पिछला संकेत उसकी प्रतिष्ठा की अत्युक्ति करता है। इसमें सन्देह नहीं कि मगध ने पहले ही अपने पड़ोसी राज्यों को जीत लिया था और शिशुनाग के समय में अवन्ति के पतन के बाद तो उत्तर में कोई उसका प्रतिद्वंद्वी ही न रह गया था। कथासरित्सागर के नन्द के प्रति एक उल्लेख से जान पड़ता है कि कोशल अब मगध का प्रात बन गया था। हाथीगुम्फा के अभिलेख से भी, जो नन्दराज (महा-पद्म) के द्वारा उत्खनित किसी प्रणाली का जिक्र करता है, यह प्रमाणित है कि कलिंग भी इस साम्राज्य का प्रांत बन गया था। यहाँ यह भी कह देना उचित होगा कि इस अभिलेख से तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है, क्योंकि इसमें नन्दराज (महापद्म ?) द्वारा जैन तीर्थंकर की एक बहुमूल्य मूर्ति को

---

१. कावेल और थामस का हर्षचरित, पृ० १९३।

२. ये दस थे, और इनका एक साथ शासन करना लिखा है।

३. Pol. His. Anc., Ind., चतुर्थ सं० १८७-९०; मिलाइए, महानन्दिनस्ततः शूद्रागर्भोद्भवोऽतिलुब्धोऽतिबलो महापंद्मो नन्दनामा परशुराम इवापरोऽखिलक्षत्रान्तकारी भविष्यति ततः प्रभृति शूद्रा भूपाला भविष्यन्ति। स चैकच्छत्रामनुल्लङ्घितशासनो महापद्मः पृथ्वीं भोक्ष्यति।

उसके पाटलिपुत्र उठा ले जाने का उल्लेख है। सम्भवतः नन्दराजाओं की जैन अभिरुचि उनके कलपक और शाकटल जैसे जैन मन्त्रियों से सिद्ध होती है। इस प्रकार पग पग बढ़ कर मगध ने भारत में सर्वशक्तिमान् राज्य का स्थान ग्रहण किया और दीर्घकाल तक उसका इतिहास सम्पूर्ण भारत का इतिहास रहा।

महापद्म के उत्तराधिकारी

महापद्म के बाद उसके आठ बेटों[1] ने शासन किया जिनमें से अन्तिम सिकन्दर का समकालीन था। बौद्ध साहित्य में उसे घननन्द कहा गया है और ग्रीक उसे अग्रमिस (Agrammes) अथवा जैन्द्रमिस (Xandrames) (औग्रसैन्य ?) कहते हैं। कर्टियस के अनुसार उसके पास विशाल सेना थी जिसमें २००,००० पैदल, २०,००० हयदल, २,००० रथ और ४,००० गज थे। साथ ही वह अनन्त धन का स्वामी भी कहा गया है[2]। यह अग्रमिस (Agrammes) अथवा घननन्द बड़ा लोभी, अधार्मिक तथा अत्याचारी था, और इसके अतिरिक्त उसके नीच कुल ने प्रजा में बहुत-ही अप्रिय बना दिया था। फेगेलिस (फेगियस) अथवा भगल नामक एक सामंत ने तो सिकन्दर से यहाँ तक कहा था कि यदि वह पूर्व की ओर बढ़ता तो नन्दराज को निश्चय परास्त कर देता। सिकन्दर के लौटने के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने, जो ग्रीक विजेता को नन्दराज पर आक्रमण करने के लिए कभी उत्साहित कर चुका था, इस परिस्थिति से लाभ उठाया और कुटिल चाणक्य[3] की सहायता से मगध से नन्दों की सत्ता उठा दी।

तिथि

पुराणों के अनुसार महापद्म ने २८ वर्ष[4] और उसके आठ बेटों ने १२ वर्ष राज्य किया। सिंहली इतिहासों में सारे नन्दों की सम्मिलित राज्यावलि केवल २२ वर्ष दी हुई है। नन्दों का राजकुल सम्भवतः ३२१-२२ ई० पू० नष्ट हो गया।

---

१. ये नाममात्र हैं। पुराण महापद्म के पुत्र सुकल्प अथवा सुमाल्य (सहल्य) के अतिरिक्त और किसी का उल्लेख नहीं करते—तस्याप्यष्टौ सुताः सुमाल्याद्या भवितारः। तस्य महापद्मस्यानु पृथिवीं भोक्ष्यन्ति (विष्णुपुराण)।

२. नन्दों की संपत्ति बहुलता की अनुश्रुतियाँ महावंश, कथासरित्सागर, युएनस्वांग के वर्णन, और एक प्राचीन तामिल कविता में सुरक्षित हैं।

३. देखिए, विष्णुपुराण—ततश्च नव चैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति।

४. मत्स्यपुराण में उसके शासन की ८८ वर्ष की दीर्घ अवधि दी हुई है जो स्पष्टतः २८ वर्ष है। यदि पहला पाठ माना जाए तो नंद कुल के केवल दो पीढ़ियों का राज्यविस्तार १०० वर्षों का हो जाएगा। मिलाइए, महापद्मस्तत्पुत्राश्च एकं वर्षशतमवनिपतयो भविष्यन्ति (विष्णुपुराण)।

परिशिष्ट

नंदों के पूर्ववर्ती शासकों की वंशसूची

(क) पुराणों से

संख्या	नाम	शासन-काल
१	शिशुनाग	४० वर्ष
२	काकवर्ण	२६ ,,
३	क्षेमधर्मन्	३६ ,,
४	क्षेमजित् अथवा क्षत्रौजस्	२४ ,,
५	बिम्बिसार	२८ ,,
६	अजातशत्रु	२७ ,,
७	दर्शक	२४ ,,
८	उदायिन	३३ ,,
९	नंदिवर्धन	४० ,,
१०	महानंदिन्	४३ ,,
		जोड़ ३२१ वर्ष

(ख) सिंहली इतिहासों से

संख्या	नाम	शासनकाल	विवरण
१	बिम्बिसार	५२ वर्ष	५४३ ई० पू० के लगभग १५ वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा।
२	अजातशत्रु	३२ ,,	इसके शासन के आठवें वर्ष में बुद्ध का निर्वाण हुआ।
३	उदायिन अथवा उदायिभद्र	१६ ,,	
४, ५	अनुरुद्ध, मुण्ड	८	संभवतः पितृहंता थे।
६	नागदासक	२४ ,,	
७	शिशुनाग	१८ ,,	नये कुल का था; पहले अमात्य था।
८	कालाशोक	२८ ,,	इसका अंत दारुण हुआ।
९	उसके दस पुत्र जिनमें नंदिवर्धन सबसे प्रसिद्ध था।	२२ ,,	इन्होंने संभवतः प्रथम नंद की अभिभावकता में सम्मिलित राज्य किया।
		जोड़ २०० वर्ष	

अध्याय ७

विदेशों से संपर्क

प्रकरण १

ईरानी आक्रमण

मगध और पूर्वात्य देशों का वृत्तांत पिछले अध्यायों में आ चुका है। अब हम पश्चिमात्य सीमा के इतिवृत्त पर विचार करेंगे। छठी शती ई० पू० के उत्त-रार्ध में वह प्रदेश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था और उनमें परस्पर द्वेष भी कुछ कम न था। उनकी पारस्परिक ईर्ष्या और कलह को दबा रखनेवाला कोई प्रबल राष्ट्र भी उनके समीप न था। इसी कारण फारस के हखमी (Achaemenian) राजकुल के साम्राज्यवादी मनोरथों के अर्थ वह प्रबल आकर्षण सिद्ध हुआ। हखमी साम्राज्य ठीक इसी काल कुरुष (Cyrus) (लगभग ई० पू० ५५८-३०) के नेतृत्व में प्रसार के लंबे डग भर रहा था। उसने अपने साम्राज्य की पश्चिमी सीमाएँ भूमध्य सागर तक और पूर्वी बल्त्री (Balkh-वह्लीक) तथा गदर (गंधार) तक पहुँचा दी थीं। वह्लीक और गंधार दोनों पर कुरुष ने अधिकार कर लिया था, परंतु भारतीय सीमा के भीतर वह प्रवेश नहीं पा सका था। उसके उत्तराधिकारी काम्बुजीय प्रथम, कुरुष द्वितीय, और काम्बुजीय द्वितीय (५३०-२२ ई० पू०) तो अपने शासन काल में पश्चिम में इतने उलझे रहे कि उन्हें पूर्व के विषय में सोचने का अवकाश ही नहीं मिला, परंतु दारा यवौष् प्रथम (Darius I—५२२-४८६ ई० पू०) ने निश्चय सिंधुनदी की तटवर्ती भूमि का एक भाग जीत लिया था। यह पर्सिपोलिस और नक्श-ए-रुस्तम के उसकी कब्र के अभिलेखों से प्रमाणित है। इनमें हिंदु अथवा सिंधु (तट) के निवासियों को फारस की प्रजा कहा गया है। यह विजय उन वेहिस्तुन-अभिलेख (जिसमें फारसी प्रजाओं के परिगणन में हिंदुओं का नाम नहीं है) की संभाव्य तिथि ५१८ ई० पू० के पश्चात् और दारा यवौष् प्रथम की मृत्यु की तिथि ४८६ ई० पू० के बहुत पूर्व हुई होगी।

हेरोडोटस् के वर्णन से उस प्रयत्न पर प्रकाश पड़ता है जो डेरियस (दारा यवौष) ने अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के अर्थ किया था। इससे विदित होता है कि उसने ५१७ ई० पू० के कुछ बाद कार्यन्दा के स्काइलक्स (Skylax) को सिंधु के मार्ग से फारस तक सामुद्रिक जल मार्ग खोजने के अर्थ भेजा। स्काइलक्स सिंधुनद से समुद्र और वहाँ से फारस पहुंचा और अपनी यात्रा के क्रम में उसने वह सारी जानकारी प्राप्त कर ली जिसके लिए वह भेजा गया था और जिसका दारा यवौष ने अपनी अर्थ-सिद्धि के हेतु सदुप्रयोग किया। हेरोडोटस् लिखता है कि यह विजित भारतीय भाग जिसमें

पंजाब का केवल कुछ हिस्सा शामिल था, फारसी साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त (क्षत्रपी) बना, जहाँ से साम्राज्य को स्वर्ण-चूर्ण के रूप में प्रतिवर्ष प्रायः दस लाख पौण्ड से अधिक की आय होती थी। इससे स्पष्ट है कि यह भूभाग उर्वर, जनसंकुल और समृद्ध था।

क्षयार्षा (ज़रक्सीज़ Xerxes)

दारायवौष् प्रथम के उत्तराधिकारी क्षयार्षा अथवा ज़रक्सीज़ (४८६-६५ ई० पू०) के शासन-काल में उसकी जिस सेना ने ग्रीस पर आक्रमण किया था, उसमें 'सूती वस्त्र पहने' और 'बेंत के धनुष तथा लौहफलक के बाण' धारण किए हुए भारतीय योद्धा भी शामिल हुए थे। इससे यह सिद्ध है कि क्षयार्षा ने भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग पर अपना अधिकार बनाए रखा। संभवतः फारस का यह प्रभुत्व कुछ काल तक और बना रहा, यद्यपि यह बताना कठिन है कि भारत और फारस का यह संबंध कब टूटा। इस बात का फिर भी कुछ प्रमाण उपलब्ध है कि सिकन्दर के विरुद्ध लड़नेवाली डेरियस तृतीय कोदोमनस् की सेना में कुछ भारतीय वीर भी थे।

फ़ारसी संपर्क का परिणाम

यह राजनैतिक सम्पर्क दोनों देशों के पारस्परिक लाभ का कारण हुआ। व्यापार को प्रोत्साहन मिला, और संभवतः संगठित फारसी साम्राज्य को देखकर भारतीयों में भी उसी प्रकार के संगठित साम्राज्य की महत्वाकांक्षा जगी। फारसी लेखकों ने भारत में अर्मई (Armaic) लिपि का प्रचार किया जिससे कालांतर में खरोष्ठी विकसित हुई। यह खरोष्ठी लिपि अरबी की भाँति दाहिनी ओर से बाईं को लिखी जाती है और इसी लिपि में सदियों तक पश्चिमोत्तर सीमा में अभिलेख लिखे गए। विद्वानों ने चंद्रगुप्त मौर्य की सभा के आचारों[1] पर भी फारसी प्रभाव का आभास पाया है। इसी प्रकार यह प्रभाव संभवतः अशोक के अभिलेखों की प्रस्तावना तथा स्तंभों आदि, विशेषकर उनके शीर्षों की घटानुमा आकृतियों पर भी बताया जाता है।

प्रकरण २

सिकन्दर का आक्रमण

सिकन्दर की पूर्वाभिमुख सतर्क प्रगति

३३१ ई० पू० के वसंत में गौगमेला (Gaugamela) अथवा अरबेला (Arbela) के युद्ध में हखमी साम्राज्य को उखाड़कर और ३३० ई० पू० में पर्सिपोलिस के विशाल राजप्रासाद को भस्मसात् कर सिकन्दर ने अनेक वीर कथाओं के नायक हेरैक्लिज (Herakles)तथा डियानिसस् (Dionysos) को भी अलभ अपनी भारत-

१. लिपि=दिपि; देवानं पियो पियदसि राजा एवं आह=थातिय् दारयवौष क्षत्तिय।

विजय की महत्वाकांक्षा को चरितार्थ करने की तैयारियाँ कीं। ऋतु की कठोरताएँ और मनुष्य तथा प्रकृति द्वारा प्रस्तुत बाधाओं के प्रति उदासीन सिकन्दर अपनी स्वाभाविक दूरदर्शिता के साथ मार्ग के देशों की विजय में दत्तचित्त हुआ, जिससे वह अपने सुदूरस्थित आधार से अटूट संपर्क रख सके। पहले सीस्तान पर अधिकार कर वह सहसा दक्षिणी अफगानिस्तान पर टूट पड़ा और वहाँ मार्गों की सन्धि पर उसने 'अराकोसिओं-का-सिकन्दरिया' नामक नगर बसाया जिसका आधुनिक प्रतिनिधि कन्दहार है। अगले साल वह अपनी अजेय सेना लिए काबुल की उपत्यका में आ उतरा परन्तु भारतीय सीमा लाँघने के पूर्व अभी उसे वह्लीक (बाख्त्री) और उसका समीपवर्ती भू-भाग जीतना था, जो प्राचीन फारसी राजकुल के प्रति अभी अपनी भक्ति बनाए हुए थे। यह कठिन कार्य संपन्न कर चुकने और वह्लीक का विरोध कुचल देने के बाद वह फिर भारत की ओर मुड़ा। दस दिनों में हिन्दुकुश लाँघकर वह सिकन्दरिया पहुंचा जिसे उसने ३२९ ई० पूर्व में बसाया था। फिर वह सिकन्दरिया और काबुल नदी के बीच स्थित निकाइया (Nikaia) की ओर बढ़ा[१]। वहाँ अथवा काबुल नदी को जाने वाले मार्ग में[२] सिकन्दर ने अपनी सेना के दो भाग किए। इनमें से एक तो अपने विश्वस्त सेनानियों—हेफीस्तियन (Hephaestion) और पर्दिक्कस (Perdikkas)—को सुपुर्द करके उसने सिंधुनदी पर सेना के सकुशल अवतरण के अर्थ सेतु बाँधने को भेजा; दूसरा स्वयं लेकर वह भारतीय सीमा को वीर जातियों तथा दुर्धर्ष सामंतों की विजय के हेतु बढ़ा।

अस्पसिओइ (Aspasioi) की विजय

अलिसांग-कुनार घाटी की अस्पसिओइ (ईरानी अस्प=संस्कृत अश्व) जाति की सिकन्दर ने सर्वप्रथम विजय की और उनके ४०,००० पुरुष बंदी कर लिए और २,३०,००० बैल छीन लिए। इनमें से सुंदर बैलों को चुन कर उसने कृषिकर्म के अर्थ मकदूनिया भेज दिया। एरियन (Arrian, ४, २५) लिखता है कि इनके साथ "लड़ाई तीखी हुई, न केवल इसलिए कि भूमि पहाड़ी थी वरन् इस कारण कि भारतीय इस भू-भाग में सबसे प्रबल योद्धा थे।"[३]

नीसा (Nysa)

सिकंदर ने दूसरा आक्रमण पार्वतीय राज्य नीसा पर किया जो संभवतः

---

१. Cam. Hist. Ind., खण्ड १, पृ ३४६; स्मिथ ने निकाइया को आधुनिक जलालाबाद से पश्चिम बताया है (E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० ५३) परन्तु होल्डिच ने काबुल में।

२. Cam. Hist. Ind., खण्ड १, पृ० ३४८, नोट ३.

३. मैक्क्रिण्डल : Ancient India, Its invasion by Alexander the Great, पृ० ६५। इस अध्याय में हमने निर्देश पूरे दिए हैं, क्योंकि हमारा वृत्तान्त साधारणतया अंगीकृत निष्कर्षों के विरुद्ध है।

कोहे मोर की घाटी और ढाल पर बसा था[१]। इसका शासन ३०० अभिजातकुलीन करते थे। इनका प्रधान अकूफिस (Akouphis) था। नीसी लोगों ने सिकन्दर के प्रति तत्काल आत्मसमर्पण कर दिया और इसकी सहायता के लिए ३०० घुड़सवार भी भेंट किए। वे अपने को डियोनिसस् का वंशज कहते थे और इसके प्रमाण में उन्होंने अपनी भूमि पर फैली हुई 'आइवी' (ivy) लता दिखाई और नगरवर्ती पर्वत का नाम ग्रीक मेरोस (Meros) की भांति 'मेरो' बताया। इससे सिकन्दर के गर्व को तुष्टि मिली, और उसने अपनी सेना को वहाँ विश्राम और कुछ दिनों तक उन दूर के बांधवों के साथ पानोत्सव आदि करने की अनुमति दी।

अस्सकेनोइयों (Assakenoi) की पराजय

आगे वढ़ते हुए सिकंदर ने उन अस्सकेनोइयों (संस्कृत अश्वक अथवा अश्मक, संभवतः अस्पसिओइयों की शाखा अथवा संबंधी) को परास्त किया, जिन्होंने २०,००० हयदल, ३०,००० पदाति,[२] तथा ३० गज[३] लेकर उसका मुकाबला किया था। उनका दुर्ग मस्सग (Massaga)[४] प्रकृति द्वारा सुरक्षित होने के कारण अजेय समझा जाता था। इसके पूर्व में "खड़े किनारों वाली तीखी पहाड़ी नदी" बहती थी और दक्षिण तथा पश्चिम में प्रकृति ने विशाल चट्टानों के अम्बार खड़े कर दिए थे जिनके नीचे दलदल और गहरी दरारें भरी थीं।"[५] इन प्राकृतिक उपकरणों पर ही अपनी रक्षा का भार न छोड़कर मनुष्य ने भी गहरी खाई और मोटी दीवार प्रस्तुत की थी। दुर्ग ने सिकंदर की मेघा को कुण्ठित कर दिया था परन्तु इसके स्वामी अस्सकेनस (Assakenos)की बाण द्वारा[६] आकस्मिक मृत्यु के बाद युद्ध को निरर्थक समझ कर दुर्गपाल की पत्नी(Kleophis)[७] ने सिकंदर को आत्मसमर्पण कर दिया, और कहते हैं कि इस रोमाञ्चक संबंध के कुछ ही दिनों बाद उसने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम विजेता के नाम पर ही पड़ा[८]। मस्सग की रक्षा में भाग लेने वाले शोल्किक योद्धाओं का चरित अपूर्व था। सिकन्दर ने इनको इस शर्त पर

---

१. E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० ५७, नोट

२. कर्टियस के अनुसार ३८,००० पदाति (८, १०, मैक्कुण्डल, Invasion by Alexander, पृ० १९४)।

३. एरियन, ४, २६, वही, पृ० ६६; एरियन मस्सग का आक्रमण नीसा से पहले और कर्टियस बाद लिखता है।

४. इसका आधुनिक स्थान बताना कठिन है। यह संस्कृत की मशकावती तो नहीं है? स्मिथ इसे 'मालकन्द के दर्रे से अनतिदूर' बताता है (E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० ५७)

५. कर्टियस, ८, १०, मैक्कुण्डल Invasion of Alexander, पृ० १९५.

६. एरियन, ४, २७, वही, पृ० ६८.

७. कर्टियस क्लियोफिस को अस्सकनुस् की माता कहता है। उसके मत से वह सिकन्दर की मस्सग विजय के पूर्व ही मर गया (८, १०, वही, पृ० १९४)। ४.)

८. जस्टिन, १२, ७, वही पृ० ३२२.

प्राणदान देने की प्रतिज्ञा की कि ये नगर से शीघ्र बाहर निकल जाएँ; परंतु जैसे ही ये दुर्ग से निकल कर कुछ दूर गए थे वह अपनी सेना के साथ उन पर टूट पड़ा और उनकी एक बड़ी संख्या का वध कर डाला। दियोदोरस का कहना है कि पहले तो भारतीयों ने इस बात का "उच्च स्वर से विरोध किया कि शपथपूर्वक उन्हें दिए वचन को तोड़ दिया गया और उन्होंने उन देवताओं की दुहाई दी जिनके नाम में मिथ्या शपथ लेकर उन्हें अपमानित किया गया।"[1] इस पर सिकन्दर ने उत्तर दिया कि उसका वचन उनको नगर से बिदा भर कर देने के लिये दिया गया था, कुछ उनके साथ मकदूनियावालों की चिरमैत्री के साक्ष्य में नहीं।"[2] इस आकस्मिक विपत्ति के विरुद्ध निर्भय होकर भारतीयों ने भयंकर समर ठाना और "उनकी निर्भयता तथा शौर्य ने शत्रु के दाँत खट्टे कर दिए।"[3] जब उनमें से अधिकतर आहत हो गए अथवा गहरी चोट खाकर घायल होकर गिर पड़े तब उनकी स्त्रियों ने उनके शस्त्र ले लिये और पुरुषों के साथ कन्धे से कंधा मिलाकर वीरतापूर्वक दुर्ग की रक्षा की। दारुण युद्ध के बाद शत्रु की असम सेना के कारण वे परास्त हो गए और अंत में उन्होंने "उस शालीन मृत्यु का आलिंगन किया जिसे वे अपमान के जीवन से किसी प्रकार नहीं बदल सकते थे।"[4] निस्संदेह इस घटना से प्रमाणित है कि उस काल के भारत में 'आर्क की जोन' सदृश स्त्रियाँ थीं परंतु इससे सिकन्दर के वीरदर्प और सत्यसंधिता पर कालिख पुत जाती है। प्लूतार्क ने सही लिखा है कि यह घटना' 'उसके सामरिक यश पर एक काला धब्बा है।"[5] मस्सग के पतन के उपरांत सिकन्दर आगे बढ़ा और कुछ महीनों की कठिन लड़ाई के बाद उसने ओरा, बजिरा, ओरनस, पिउकेलौतिस (संस्कृत पुष्करावती-यूसुफजई के इलाके में आधुनिक चारसद्दा) एम्बोलिमा और दिरता (Dyrta)[6] के महत्वपूर्ण दुर्गों पर अधिकार कर लिया।

उत्तर-पश्चिमी भारत की राजनैतिक स्थिति

इस प्रकार सीमा के भू-भाग जीतकर और वहाँ अपने अधिकार की रक्षा के अर्थ पर्याप्त ग्रीक सेना छोड़[7] सिकन्दर आगे बढ़ा। वहाँ की परिस्थिति उसके अनुकूल थी। पंजाब और सिन्ध, जिन्हें उसके आक्रमण का सामना करना था, राजनैतिक दृष्टि से बुरी तरह उलझे हुए थे। वहाँ इस काल चंद्रगुप्त मौर्य का सा कोई

---

१. दियोदोरस, १७, ८४ मैक्क्रण्डल, Invasion of India by Alexander, पृ० २६६

२. वही ३. वही, पृ० २७० ४. वही

५. प्लूतार्क, ५९, वही पृ०, ३०६

६. इन स्थानों की पहचान सन्दिग्ध है। काबुल की निचली घाटी के छोटे नगर कोफ़ओस और अस्सकोतस (अश्वजित् ?) नामक सामन्तों की सहायता से जीते गए (एरियन, ४, २८, वही, पृ० ७२).

७. उदाहरणतः निकानर सिन्धु के पश्चिम की भूमि का क्षत्रप और फिलिप्पस पिउकेलौ्ति ग-सेना का सेनानी नियत हुआ। वही।

बाँका लड़ाका न था, जिसने बीस वर्ष बाद ही सिल्यूकस निकेटार को धूल चटा दी थी। उत्तर भारत में तब छोटे-छोटे राज्य और गणतन्त्र भरे पड़े थे जो नित्य ईर्ष्या की आग से प्रधूमित रहते थे, और सर्वदा जिनमें पारस्परिक कलह होती रहती थी। इनमें से कुछ ने इस आक्रमण को अपना सौभाग्य समझा और उससे लाभ उठाने के अर्थ सयत्न हो गए। तक्षशिला के राजा ने भारत के द्वार आक्रामक के लिए अनावृत कर दिए। सिकन्दर के प्रति उसने आत्मसमर्पण तो कर ही दिया, उसकी पंजाब-विजय में उसने पथ-प्रदर्शक का कार्य किया। पर्दिक्कस के नेतृत्व में पहले ही आई हुई सेना के सिंधु-बंधन में उसने सहायता की, और उसके मार्ग की जातियों तथा अस्तिस् (हस्ति अथवा अष्टक राज ?)[1] के सामंतों का अपने सक्रिय योग से पराभव कराया।

तक्षशिला और अभिसार

३२६ ई० पू० के वसंत के आरंभ में यज्ञों का अनुष्ठान कर और अपनी सेना को थोड़ा विश्राम देकर सिकन्दर ने सही सलामत ओहिन्द (अटक से कुछ मील ऊपर) के समीप सिंधु पार कर लिया। वहाँ तक्षशिल (Taxiles) के पुत्र और तक्षशिला के नृपति आम्भी (Omphis)[2] ने प्रभूत चाँदी, भेड़ों और सुंदर वृषभों[3] की बड़ी संख्या की भेंट के साथ विजेता का स्वागत किया। सिकन्दर आम्भी से प्रसन्न हुआ और उसकी अपनी भेंट के साथ उसे लौटाकर उसने न केवल उसकी मैत्री प्राप्त की वरन् ५,००० सैनिक भी पाए।[4] इसी प्रकार अभिसार (पूंछ और नौशेरा जिले) के राजा और दोक्सारिस[5] के-से अन्य पड़ोसी राजाओं ने भी युद्ध को व्यर्थ[6] जान कर सिकन्दर को आत्मसमर्पण कर दिया।

पोरस

जब सिकन्दर झेलम के तट पर पहुँचा तब उसने पोरस (पौरव ?) को नदी के पार सेना लिए खड़ा उससे लोहा लेने को सन्नद्ध पाया। तक्षशिला से सिकन्दर ने उससे कहला भेजा था कि वह आत्मसमर्पण कर उससे मिले। पोरस इसके उत्तर

---

१. अस्तिस् की राजधानी को हिफैस्तियन ने घेरा डालकर तीस दिनों में जीता और उसका राज्य संग-गेअोस् (संस्कृत सञ्जय) नामक किसी व्यक्ति को दे दिया गया—एरियन, ४,२२, वही, पृ० ६०

२. सिल्वाँ लेवी, Journal Asiatique, १८९०, पृ० २३४.

३. एरियन, ५, ३, मैक्क्रण्डल Invasion of Alexander, पृ० ८३; कर्टियस, ८, १२, पृ० २०२

४. एरियन, ५, ८, वही, पृ० ९३

५. वही, ९२

६. दियोदोरस का कहना है कि एम्बिसरोज (अभिसार) ने पोरस के साथ मैत्री कर ली थी, और वह सिकंदर के मुकाबले की तैयारी कर रहा था (१७,८७, वही, पृ० २७४.)

में तैयार खड़ा था परन्तु युद्ध के लिए[1], आत्मसमर्पण के लिए नहीं। सिकन्दर के लिए नदी पार करना कठिन हो गया और दोनों पक्षों में दाँव-पेंच शुरू हो गये। अन्त में, जैसा एरियन ने लिखा है, आक्रामक ने मार्ग-चुराना' निश्चित किया। ११,००० चुने हुए योद्धाओं को लेकर वह नदी के चढ़ाव की ओर बढ़ा और वहां रात के अँधेरे में जबकि मूसलाधार जलवृष्टि, तूफान की तेजी, और बिजली की तड़प ने पोरस की सतर्कता शिथिल कर दी थी, तट के एक कोण में उसने झेलम पार कर लिया। पार उतरने के पहले उसने अपने इरादे को छिपाने के लिए एक और युक्ति से काम लिया था। अपने स्कन्धावारों में क्रेटरस (Krateros) की अधीनता में उसने एक बड़ी सेना छोड़कर उसे नाच-रंग करने का आदेश कर दिया था जिससे पोरस को विश्वास बना रहे कि आक्रमण वर्षा में नहीं होगा। इसके अतिरिक्त उसने अपने स्कन्धावारों और पार उतरने-वाली जगह के बीच मिलीगर (Meleager) को भी एक सेना देकर आदेश लेने के लिए सतर्क रहने को कहा[2]। पोरस ने सिकन्दर की फौजों को पार उतरने से रोकने और घाट की रक्षा में अपने को असफल होते देखकर अपने बेटे को २,००० योद्धाओं और १२० रथों[3] के साथ शत्रु की ओर भेजा। पोरस की इस छोटी सेना को सिकन्दर ने कुचल दिया। पोरस का पुत्र भी मारा गया।

सिकन्दर और पोरस

फिर पोरस सिकन्दर के मुकाबले के लिए ५०,००० पदाति, ३,०००घुड़सवार १,००० रथ, और १३० गज-सेना लेकर बढ़ा। सामने बीच में उसके हाथियों की दीवाल खड़ी हुई, जिसके पीछे उसके पदाति सैनिक जा डटे। घुड़सवार सेना बाजुओं की रक्षा में सन्नद्ध हुई और उसके आगे रथ खड़े हुए। इस कर्री के मैदान[4] में जब सिकन्दर ने भारतीय सेना को इस प्रकार व्यूहबद्ध खड़ी देखा तब सहसा उसके मुँह से निकल पड़ा : "आखिर आज वह खतरा मेरे सामने आया जो मेरे साहस को ललकार रहा है। आज का समर एक साथ बनैले जन्तुओं और असाधारण पौरुष के विरुद्ध है[5]।" इसके बाद मकदूनिया के घुड़सवारों ने भारतीय सेना पर भयानक आक्रमण किये। परन्तु भारतीय सेना की दीवार न हिली।

पोरस की पराजय के कारण

प्लूतार्क लिखता है कि अद्भुत शौर्य से लड़ते हुए भारतीयों ने दिन की

---

१. कर्टियस, ८, १३, वही, पृ० २०३।

२. सम्पर्क कायम रखने के लिए सारे रास्ते में रक्षक नियुक्त किए गए थे।

३. एरियन, ५, १४, वही पृ० १०१। कर्टियस के अनुसार इस सेना का नायक पोरस का भाई हेगिस था (८, १४, वही, पृ० २०७)।

४. E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० ६६, ८८।

५. कर्टियस, ८, १४, Invasion by Alexander, पृ० २०६।

आठवीं घड़ी[1] तक सिकन्दर की सेना को इंच भर बढ़ने न दिया। परंतु अन्त में उनके भाग्य ने करवट ली। पोरस की शक्ति विशेषकर उसके रथों में थी। "प्रत्येक रथ में चार घोड़े जुतते थे और छः योद्धा बैठते थे; इनमें से दो ढाल धारण करने वाले, दो धनुर्धर (रथ के दोनों पार्श्वों पर एक-एक) और दो सशस्त्र सारथी होते थे जो युद्ध की घनता बढ़ जाने पर रथ की रास डाल देते और शत्रु पर बाणों की विकट मार करने लगते थे"[2]। इस युद्ध के दिन अनवरत वर्षा के कारण रथ व्यर्थ हो गये क्योंकि भूमि रपटीली हो गयी थी जिससे घोडे आगे बढ़ने में असमर्थ थे और रथ कीचड़ में फँस जाते थे। अपनी भारी बनावट और बोझ के कारण वे आगे की ओर हिल न सके[3]। इसके अतिरिक्त बार-बार फिसल जाने के कारण भारतीय धनुर्धरों का कौशल भी व्यर्थ हो गया क्योंकि वे धनुष के एक सिरे को भूमि पर टिका कर बाण मारा करते थे और वर्षा के कारण उनकी मार अत्यन्त शिथिल हो गयी[4]। यह तो हुआ भाग्य का विश्वासघात, परंतु सामना भी कुछ साधारण शत्रु से न था। भारतीय सेना का बोझिल संगठन मकदूनिया के तीव्रगतिक घुड़सवारों की चोट न सम्भाल सका। उनके फुर्तीले धावे जब एक पार्श्व पर होते और भारतीय सेना जब तक उसे संभालने लगती, वे दूसरे पार्श्व पर टूट पड़ते। इस तरह वे कभी मध्य, कभी बाजू और कभी भारतीय सेना की पीठ पर छापे मार उसे क्षतविक्षत कर देते। और अन्त में जिन हाथियों पर पोरस को बड़ा भरोसा था उनके पैरों और सूड़ों पर जब ग्रीक सैनिक अपने कुल्हाड़े चलाने लगे तब भयातुर हो उन्होंने एक भयानक परिस्थिति उत्पन्न कर दी। भेड़ों की झुण्ड की भाँति ये विशालकाय पशु अपनी ही सेना को कुचलते, अपने महावतों को भूमि पर फेंककर उनको पैरों से रौंदते रणभूमि से भाग चले[5]। पराजय के कारण चाहे जो हों इसमें संदेह नहीं कि छः फ़ीट से ऊँचे विशालकाय पोरस ने युद्ध में भय को अपने पास फटकने तक न दिया और डेरियस तृतीय की भाँति मैदान छोड़कर भागा भी नहीं। मनु के विधान-संग्रामेष्वनिर्वातित्वं (७, ८८)—के अनुसार नौ गहरी चोटों के लगने पर भी वह निर्भय अपने स्थान पर खड़ा रहा और निरन्तर शत्रु पर बाण-वर्षा करता रहा। यश के साथ मरना उसे स्वीकार था परन्तु उसे खोकर जीना नहीं। जब अन्त में पोरस बंदी करके सिकन्दर के पास लाया गया तब उसने देखा कि उसका उत्साह

---

१. प्लूतार्क, ६० वही, पृ० ३०८।

२. कर्टियस, ८, १४, वही, पृ० २०४।

३. वही, पृ० २०८।

४. एरियन लिखता है कि "धनुष धनुर्धर के ही कद का होता था। इसके एक सिरे को भूमि पर टिका और बाएँ पैर से उसे दबाकर डोरी को दूर तक पीछे खींचकर वे बाण छोड़ते थे। क्योंकि बाण प्रायः ३ गज लंबे होते थे......" (इण्डिका, १६, मैक्क्रण्डल : Ancient India as described by Megasthenes and Arrian, पृ० २२५)।

५. कर्टियस ८, १४, Invasion by Alexander पृ० २११।

तनिक भी भंग न हुआ था[१]। जिस प्रकार एक वीर दूसरे से शक्ति के सन्तुलन के बाद मिलता है, वह भी सिकन्दर से मिला और उसके इस प्रश्न पर कि उसके साथ कैसा व्यवहार किया जाए, उसने दर्प के साथ कहा : "सिकन्दर, मेरे साथ वैसा व्यवहार करो जैसा राजा राजा के साथ करता है"[२]।

पोरस का सम्मान

जस्टिन लिखता है कि सिकन्दर ने पोरस के शौर्य से प्रभावित होकर उसे उसका राज्य लौटा दिया[३]। सम्भवतः कुछ हद तक इसका कारण सिकन्दर की उदारता थी परन्तु वास्तव में कारण इससे कहीं अधिक प्रबल दूसरा था, आखिर राजनीति में इस प्रकार की उदारता का स्थान किंचित् ही होता है। पहली बात तो यह थी कि झेलम तट के पोरस के इस प्रबल मोर्चे ने, जिसमें भारतीयों की एक बड़ी संख्या मारी गई[४], सिकन्दर को एक नया सबक सिखा दिया। सिकन्दर इसके अतिरिक्त यह भी जानता था कि उसका देश ग्रीक सुदूर छूट गया था और विजित जातियों और राज्यों से निरन्तर आत्मसमर्पण की आशा करना सम्भव न हो सकेगा; उसके बदले उसे स्थानीय राजाओं का सहकार प्राप्त करना होगा। फिर पूर्व में साम्राज्य स्थापित करने की उसकी महत्वाकांक्षा भी अभी चरितार्थ न हो सकी थी और इस कारण उसको अपनी राजनीति में मैत्रीभाव का प्रदर्शन करके एक हाथी के जरिए दूसरे को पकड़ने का आचरण करना पड़ा। परिणामतः पोरस के साथ मैत्री स्थापित करके सिकन्दर ने उसे उसका गौरव, राज्य और प्रभुता लौटा

---

१. एरियन, ५, १६, वही, पृ० १०६।

२. वही। हाल के एक लेख (Proc. Sec. Ind. Hist. Cong., इलाहाबाद १९३८, पृ० ८५-६१) में डा० एच० सी० सेठ ने Life and Exploits of Alexander (ई० ए० डब्लू बैज का अनुवाद, पृ० १२३) के इथियोपिक पाठ के एक संदिग्ध स्थल के आधार पर यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि सिकन्दर को वास्तव में पहला धक्का झेलम के इस युद्ध से लगा और उसने पोरस से सन्धि की प्रार्थना की। इस विद्वान् प्रोफेसर के इस दृष्टिकोण को स्वीकार करना कठिन होगा क्योंकि पहले तो इस इथिओपिक पाठ की तिथि का हमें पता नहीं, दूसरे यह निष्कर्ष सारे ग्रीक लेखकों के कथन के विरुद्ध पड़ता है और कोई वजह नहीं कि इन सबने काल के अनेक स्तरों में जन्म लेकर भी साजिश कर एक झूठ पैदा किया हो और इससे दुनिया की आँख में धूल झोंकने की कोशिश की हो। तीसरे, यदि पोरस विजेता था, जैसा डा० सेठ कहते हैं तो सिकन्दर पोरस के राज्य के पार व्यास के तट तक कैसे पहुंच सका। सिद्ध है कि यदि भारत के द्वार पर ही वह पोरस द्वारा पराजित हो गया होता तो सिकन्दर सा दूरदर्शी और सतर्क सेनापति कभी आगे न बढ़ता।

३. जस्टिन १२, ८, Invasion by Alexander, पृ० ६२३ :

४. दियोडोरस लिखता है कि १२,००० आदमी मारे गये और ९,००० बन्दी हुए (१७, ८९, वही, पृ० २७६)। एरियन के अनुसार हतों की संख्या में २०,००० पदाति और ३,००० घुड़सवार थे और सारे रथ तोड़ दिए गए थे (५, १८, वही पृ० १०७)।

दी। इस आचरण में सिकन्दर न केवल राजनीति बरत रहा था वरन् वह उस भारतीय विजेताओं की राजनीतिक परम्परा के भी अत्यन्त निकट था जिसका मनु[1] और कौटिल्य[2] ने स्पष्ट विधान किया है। दोनों का आदेश है कि जीते हुए राज्य पर अधिकार कर लेने से उसको पराजित राजा अथवा उसके किसी वंशज को लौटा देना उचित है।

नगर-निर्माण

इसके बाद सिकन्दर ने दो नगरों का निर्माण कराया। एक तो भारतवर्ष में मरे उसके स्वामिभक्त घोडे के नाम पर बूकेफ़ाला नाम से कायम हुआ[3], और दूसरा निकाइया पोरस की विजय के स्मारक में झेलम के तट पर कर्री के मैदान में खड़ा हुआ।

ग्लाउसाई और कनिष्ठ पोरस की पराजय

तदनन्तर ग्रीक देवताओं को पूजकर सिकन्दर ग्लाउसाई अथवा ग्लाउगनिकाई (काशिका के संस्कृत ग्लौचुकायनक ?) नामक जाति के विरुद्ध बढ़ा। उसने उसके ३७ नगर छीन लिए जिनमें से 'छोटे-से-छोटे में' भी कम-से-कम ५,००० नागरिक और बड़ों में कम-से-कम १०,००० नागरिक थे[4]। इसी समय सिकन्दर को अपने विरुद्ध विद्रोह के संवाद मिले। सिन्धु के पश्चिमवर्ती प्रदेश में उसका क्षत्रप निकानर मार डाला गया था, और सिसिकोट्टस (शशिगुप्त) ने भी जो सिकन्दर की ओर से ओरनस के दुर्ग का रक्षक नियुक्त था जल्दी मदद के लिए हरकारे भेजे। पड़ोसी क्षत्रप तिरिअम्प और तक्षशिला-राज्य के अभिभावक फिलिप ने शीघ्र सहायता भेजकर मकदूनिया की नई सत्ता को खतरे से बचा लिया। फिर ग्रेस से नई सेना आ जाने पर और अभिसार के राजा के फिर से आत्मसमर्पण कर चुकने के बाद सिकन्दर ने चिनाव पार कर पोरस के भतीजे कनिष्ठ पोरस को हराया। उसका गन्दरिस[5] नामक राज्य और ग्लोसाइयों का राज्य भी सिकन्दर ने अपने मित्र पोरस को प्रदान किया।

पिंप्रमा पर अधिकार

३२६ ई० पू० के वर्षान्त में मकदूनिया की सेनाएँ रावी को पार कर गईं और उन्होंने अद्रैस्तै (पाणिनि के अरिष्ट ?) के दुर्ग पिंप्रमा पर अधिकार कर लिया।

---

१. सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम्॥ मनु०, ७,२०२।

२. भाग ७ अध्याय १६, पृ० ३१३।

३. बुकेफाला का नगर झेलम के तट पर वहीं खड़ा हुआ जहाँ सिकन्दर ने उसे पार किया था।

४. एरियन ५, २०, Invasion by Alexander, पृ० ११२।

५. स्त्राबो, मैक्क्रण्डल : Anc. India, पृ० ३७।

संगल-ध्वंस

इसके शीघ्र ही बाद कठों के महत्वपूर्ण नगर संगल पर सिकन्दर ने अधिकार किया। 'साहस और रणकौशल में कठों की अनन्यतम प्रसिद्धि थी।'[1] ओनेसिक्रितस का अवतरण देता हुआ स्त्राबो लिखता है कि कठों में सौन्दर्य का बड़ा मान था और 'सबसे सुन्दर पुरुष उनमें राजा चुना जाता था।'[2] उनके राजकर्मचारी प्रत्येक नवजात शिशु की उसके जन्म से दो मास के भीतर परीक्षा कर यह स्थिर करते थे कि उसमें "शास्त्र-सम्मत सुन्दरता है या नहीं और इस अर्थ जीवित रखा जा सकता है अथवा नहीं।"[3] कठों के नरनारी अपनी पत्नी, पति आप चुनते थे, और पत्नियों में पतियों के मरने के बाद सती होने की प्रथा प्रचलित थी।[4] सिकन्दर के विरुद्ध कठ बड़ी वीरता और असाधारण धीरता के साथ लड़े। उनकी मार इतनी भयकर हो उठी कि सिकन्दर को अपनी सहायता के लिए पोरस को बुलाना पड़ा। यदि '५,००० भारतीयों की सेना के साथ'[5] पोरस न पहुँच पाता तो सिकन्दर को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। अन्त में जब दुर्ग पर अधिकार हुआ तब इसके १७,००० रक्षक अपने प्राण खो चुके थे और ६०,००० बन्दी हो चुके थे। इनमें ५०० घुड़सवार और ३००० गाड़ियाँ भी थीं।[6] कठों के इस कठिन मोर्चे ने सिकन्दर को इतना क्रुद्ध कर दिया कि उसने संगल के दुर्ग को मिट्टी में मिला दिया। तब अपने पृष्ठ भाग की रक्षा के लिए पीछे के नगरों में ग्रीक सेना छोड़कर वह स्वय अपनी महत्वाकांक्षा को चरितार्थ करने और पूर्व में ग्रीक पताका फहराने के लिए व्यास की ओर बढ़ा।

ग्रीक सेना का आगे बढ़ने से इन्कार करना

परन्तु जब सिकन्दर व्यास के तट पर पहुँचा तब एक विचित्र घटना घटी। उसकी सतत विजयी सेना ने, जिसने अब तक वीरतापूर्वक मार्ग की कठिनाइयों और युद्ध के खतरों का सामना किया था, सहसा हथियार डाल दिए और यश अथवा लूट का लोभ उन्हें किसी प्रकार आगे न खींच सका।

विद्रोह के कारण

सिकन्दर की वापसी यात्रा का वर्णन करने के पूर्व इस विद्रोह के कारणों पर एक दृष्टि डालनी उचित होगी। निस्संदेह ग्रीक सेना का यह आचरण नितान्त अनपेक्षित था। आखिर क्या कारण था कि रणवाद्य ग्रीक हृदयों में उत्साह का संचार न कर सके? क्या कारण है कि उनके अद्वितीय नेता और अपूर्व सेनापति की अभ्यर्थना, प्रार्थना और उत्साहवर्धन निष्फल हुए और उत्तेजित प्रश्नों का उत्तर सेना ने अपने आँसुओं से और उच्च विलाप से दिया[7]। क्या कारण था कि व्यास

१. एरियन, ५. २२, Invasion by Alexander, पृ०, ११५।
२. स्त्राबो, मैक्क्रण्डल : Anc. India, पृ० ३८। ३. वही। ४. वही।
५. एरियन, ५, २४, Invasion by Alexander, पृ० ११६। ६. वही।
७ प्लूतार्क, ६२ Invasion by Alexander, पृ० ३१०; एरियन ५, २२, वही पृ० १२७।

के तट पर पहुँचते ही पूर्व में ग्रीक साम्राज्य प्रतिष्ठित करने का उत्साह सर्वथा पानी हो कर बह निकला। कहा जाता है कि ग्रीक सैनिक युद्ध से थक गए थे, गृहोन्मुख थे, व्याधिग्रस्त थे और वस्त्रहीन हो गए थे[1], ग्रीस दूर छूट जाने के कारण सिले हुए उन्हें अपनी आवश्यकता के वस्त्र अब प्राप्त न हो पाते थे, अनेक अपने बन्धुओं के मर जाने अथवा भयंकर युद्धों में हत हो जाने से विषादग्रस्त हो गए थे। इसमें सन्देह नहीं कि ये कारण अनेकांश में सही थे परन्तु क्या सचमुच इन्हीं कारणों से सेना ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया अथवा उसके विद्रोह के कारण कुछ और थे। इस रहस्य के उद्घाटन के अर्थ प्लूतार्क हमें सूत्र प्रदान करता है क्योंकि उसका कहना है कि पोरस के मोर्चे के बाद ही मकदूनियो की सेनाएँ काफी हतोत्साहित हो चुकी थीं और सिकन्दर का व्यास तक उन्होंने बड़ी अरुचि से अनुसरण किया। वह लिखता है: "पोरस के मोर्चे ने मकदूनिया वालों के दिल बैठा दिए और भारत में और आगे बढ़ने की उनकी कामना सर्वथा नष्ट हो गई। वे जानते थे कि केवल २०,००० पदाति और २,००० घुड़सवार सेना वाले उस पोरस को जीतने में उन्हें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा था और इसीलिए जब उसने गंगा पार करने की जिद की तब उन्होंने उसकी बात मानने से साफ इन्कार कर दिया।[2] ग्रीक सेना भारतीय सैनिकों की शक्ति और दृढ़ता से इस प्रकार प्रभावित हो गई थी। एरियन तो यहाँ तक लिखता है कि "एशिया में उस काल जितनी जातियाँ बसती थीं भारतीय उनमें युद्ध की कला में सबसे अग्रगण्य थे।"[3] इसी कारण सम्भवतः ग्रीकों ने पोरस से युद्ध के बाद भी ऐलान कर दिया कि 'अब भारत में और लड़ने की उनमें ताकत न रही'। परन्तु जब सिकन्दर ने उनको आगे बढ़ने के लिए फिर-फिर ललकारा तब उनका विद्रोह सबल हो उठा। व्यास की ओर बढ़ते समय सिकन्दर की सेना ने डरावनी अफवाहें सुनीं कि आगे दूर तक फैली हुई कष्टकर मरुभूमि है, गहरी तेज बहने वालीं नदियाँ हैं, विशाल सेनाओं वाली शक्तिशाली और समृद्ध जातियाँ हैं। कर्टियस ने फ्रेगिअस (फ्रेगेलिस?)[4], सम्भवतः भगल[5], के मुँह में निम्नलिखित संवाद रखा है। "गंगा के उस पार गंगरिदाई और प्रेसिआई दो जातियाँ बसती हैं जिनका राजा अग्रमिस अपने देश की रक्षा के लिए उसकी सीमा पर २०,००० घुड़सवार, २००,००० पदाति, २,००० चार घोड़ों वाले रथ, और इन सबसे भयानक ३,००० गज-सेना प्रस्तुत रखता

---

१. कोइनस: "हमने संसार को विजय कर लिया है परन्तु हम नितान्त कंगाल हैं" कर्टियस ९, ३, वही, पृ० २२९।

२. प्लूतार्क, ६२, वही, पृ० ३१०। प्लूतार्क ने यहाँ सेना की संख्या असावधानता के कारण कम बताई है, और व्यास के स्थान पर गलती से गंगा का नाम उल्लेख कर दिया है।

३. एरियन, ५, ४, वही पृ० ८५।

४. कर्टियस, ९, २, वही, पृ० २२१।

५. Cam. Hist. Ind., खंड एक, पृ० ३७२।

है।"[१] इसी प्रकार प्लूतार्क भी कहता है कि "गंगरिदाई और प्रेसिग्राई उनका सामना करने के लिए २०,००० घुड़सवार, २००,००० पदाति, २,००० रथ और ६,००० हाथी लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। इसमें निश्चय कोई अत्युक्ति नहीं थी, क्योंकि इसके शीघ्र ही बाद एन्द्रोकत्तस ने, जो तब तक गद्दी पर बैठ चुका था, सिल्यूकस को ५०० हाथी दिए और स्वयं ६००,००० सेना के साथ सारे भारत को रौंद डाला।"[२] इन कथनों की मूलभूत सत्यता की पुष्टि देशी प्रमाणों से भी हो जाती है। जिनमें गन्दरिदाइ और प्रेसिग्राई जातियों के राजा नन्द के अनन्तधन और शक्ति की कथा संरक्षित है।[३] एरियन का वक्तव्य भी बहुत कुछ इसी प्रकार है, परन्तु उसके वर्णन में व्यास के निकट के पर्वती देश का उल्लेख है। वह लिखता है: "वह भूमि अत्यन्त उर्वर थी और उसके निवासी कुशल कृषक और युद्धवीर थे, और सुशासन में रहते थे। जनता अभिजात उन कुलीनों द्वारा शासित होती थी जो शक्ति का प्रयोग न्याय और विनय से करते थे। यह भी कहा जाता है कि इन लोगों के पास अन्य भारतीयों से अधिक गज हैं जो कद और हिम्मत में सब से आगे हैं।"[४] इन सम्वादों में भय के लिए पर्याप्त स्थान था, परन्तु इसी भय ने सिकन्दर के वीरदर्प को जन्म दिया और आगे बढ़ने की उसकी इच्छा दृढ़तर हो उठी। परंतु उसकी सेना का उत्साह भंग हो गया था और जैसा एरियन ने लिखा है कि "जब उन्होंने अपने राजा को खतरे पर खतरे लेते और प्रयास पर प्रयास करने पर कमर कसते देखा तब उनके दिल बैठ गये।"[५]

इतना ही नहीं, बल्कि उसकी सेना ने अपनी अलग सभायें भी करनी शुरू कर दीं "जिनमें अपेक्षाकृत शाँत लोगों ने अपनी दशा पर विलाप किया, और तीव्रतर सैनिकों ने साफ कह दिया कि सिकन्दर स्वयं चाहे उनका नेतृत्व क्यों न करे, वे हर्गिज आगे नहीं बढ़ेंगे।"[६] सिकन्दर ने अपनी सेना से अत्यन्त उत्तेजक भाषा में निर्भीक होकर विश्वास और वीरता के साथ उसका अनुसरण करने की अपील की।

सिकन्दर की अपील

उसने कहा: "सैनिको! मुझे अविदित नहीं कि इन देश के निवासियों ने पिछले दिनों में अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ फैला रखी हैं जिनका मतलब केवल तुम्हारे अन्दर भय का संचार करना है। परन्तु तुम्हारे अनुभव में इस प्रकार के मिथ्या संवाद नये नहीं हैं।"[७] परन्तु इस प्रोत्साहन से कुछ लाभ न हो सका और

१. कर्टियस, ९, २, Invasion by Alexander, पृ० २२१-२२।
२. प्लूतार्क, ६२, वही, पृ० ३१०।
३. रायचौधरी, Pol. Hist. Anc. Ind., चतुर्थ संस्क०, पृ० १८८-९१।
४. एरियन, ५, २५, Invasion by Alexander, पृ० १२१।
५. वही।
६. एरियन, मैक्क्रिण्डल, Invasion by Alexander, पृ० १२१।
७. कर्टियस, ९, ३, वही, पृ० २२३।

सेना व्यास पार के भारतीयों के साथ लड़ने का निरन्तर विरोध करती रही। कोइ-नस ने कहा : "यद्यपि यह सही है कि बर्बरों की संख्या सम्बन्धी अफवाहों में संचेत अत्युक्ति है, परन्तु उन मिथ्या अफवाहों से भी हम यह अन्दाज लगा सकते हैं कि भारतीयों की संख्या विपुल होगी।"[१]

जब परिस्थिति इतनी कठिन हो उठी तब सिकन्दर ने खतरों के सम्मुख अकेले आगे बढ़ने की धमकी दी और इससे अपनी सेना को उत्साहित करना चाहा। उसने कहा—"डाल दो मुझे गरजती नदियों के खतरे में, छोड़ दो मुझे क्रुद्ध गजों की दया पर, और उन क्रूरकर्मा जातियों के प्रतिहिंसक औदार्य पर जिनके नाम तुम्हें आतंक से भर रहे हैं। मैं ढूंढ़ लूंगा ऐसे वीरों को जो मेरा अनुसरण करेंगे।"[२] परन्तु सेना अब भी टस से मस न हुई।

सेना निरुत्तर

भारतीयों के खूनी मोर्चों ने उनके दिल दहला दिए थे। जहाँ-जहाँ ग्रीकों को लड़ना पड़ा था वहाँ-वहाँ उन्होंने उनकी शक्ति और दृढ़ता की सराहना की थी। व्यास के उस पार बसने वाली जातियों की सैन्य-शक्ति के संवादों ने उनको इतना आतंकित कर दिया था कि शत्रु की क्रोधाग्नि में अकेले कूद जाने तक की सिकन्दर की धमकी भी उन्हें प्रभावित न कर सकी और वे उत्तर में चुपचाप आँसू बहाते रहे। अब सिकन्दर की समझ में सारी परिस्थिति आ गई। उसने देख लिया कि त्रास ने सेना को यहाँ तक आक्रान्त कर लिया है कि उससे अब किसी प्रकार के शौर्य-कृत्य की आशा नहीं की जा सकती। उसने फिर अत्यन्त निराशा भरे शब्दों में कहा—"निस्सन्देह बहरे कानों से मेरे शब्द टकराते रहे हैं। मैं ऐसे कायरों को उत्साहित करता रहा हूँ जिनके हृदय त्रास से भर गये हैं[३]।" लाचार होकर उसने सेना को घर लौटने की आज्ञा दे दी। पूर्व में स्थायी साम्राज्य स्थापित करने का सिकन्दर का स्वप्न टूट गया और उस असाधारण सेनानी तथा सैंकड़ों समरों के विजयी को अपनी सेना के त्रास के सम्मुख सिर झुकाना ही पड़ा, यद्यपि भय स्वयं उस निर्भीक वीरवर की छाया तक को स्पर्श न् कर सकता था। अतः जब डियो-डोरस सिकुलस हमें यह बताता है कि भारत में सबसे प्रबल जाति गंगरिदाइ थी "जिसके विरुद्ध युद्ध-यात्रा सिकन्दर उनके गजों की संख्या से संत्रस्त हो जाने के कारण न कर सका"[४] तो इससे हमें यह क्षण भर भी नहीं समझना चाहिए कि स्वयं उसे अपने बल में सन्देह था अथवा उसे साहस के कार्य करने में किसी प्रकार की उदासीनता हो चली थी। अपनी सेना के त्रस्त आचरण के कारण ही उसे

१. कर्टियस, ९, ३, वही, पृ० २२९।
२. वही, पृ० २२६।
३. वही।
४. Ancient India as described in Classical Literature, पृ० २०१।

अपनी महत्वाकांक्षा कुचल कर लौटना पड़ा।[१]

वेदिका-स्तंभ

अपनी पूर्वाभिमुख विजय की सीमा अंकित करने के उद्देश्य से सिकन्दर ने लौटने के पहले ग्रीक देवताओं के नाम[२] पर पत्थर के बारह विशाल वेदिका-स्तंभ निर्माण करने की आज्ञा दी। जब ये विशाल स्तंभ खड़े हो गए तब यात्रा के अनिष्ट-शमन के अर्थ उसने उचित विधि-क्रियाओं से युक्त यज्ञ किए।

ग्रीक लौटे : शासन की व्यवस्था

यह ग्रीक तूफान पंजाब से आगे नहीं बढ़ सका और ३२६ ई० पू० में लौट गया। गंगा-काँठे के निवासियों ने उसकी गड़गड़ाहट-भर सुनी, उसकी भयानकता का अनुमान वे न कर सके। सिकन्दर शीघ्र झेलम पहुंचा जहाँ पोरस ने उससे लोहा लिया था। वहाँ उसने अपने जीते हुए पंजाबी प्रदेशों के शासन की व्यवस्था की। झेलम और व्यास के बीच की भूमि तो उसने मित्र पोरस को सौंपी और सिन्धु-झेलम के द्वाब को तक्षशिला के आम्भी को। इसी प्रकार कश्मीर की सुन्दर घाटी को उसने अभिसार के राजा के अधिकार में दिया और उरशा (हज़ारा जिला) के अर्सेकिज़ (अर्शक) को उसने उसका अधीनस्थ सामन्त बनाया। परन्तु इन भारतीय राजाओं को ग्रीक आधिपत्य के प्रति उत्तरदायी बनाए रखने के लिए उसने अपने बसाए भारतीय नगरों में पर्याप्त ग्रीक सेना रख दी। ये रक्षक-सेनाएँ भारतीय विजित राजाओं पर अंकुश की भाँति थीं जिससे भारतीय विप्लव कर विदेशी आधिपत्य के जुए अपने कन्धों से उतार न फेंकें।

सोफ़ाइटिज़

तब सिकन्दर ने नदियों के रास्ते यात्रा करने की तैयारियाँ की परन्तु उसे प्रारम्भ करने के पूर्व यह आवश्यक था कि सम्भावित शत्रुओं का निरोध कर लिया जाए। इस विचार से पहले उसने उस सोफ़ाइटिज़ (सौभूति ?) की विजय की जिसके राज्य में 'नमक का पहाड़ था जिससे सारे भारत को नमक जाता था।'[३] इस प्रकार सोफ़ाइटिज़ नमक की पहाड़ियों वाले पंजाबी प्रदेश का स्वामी था।[४] स्ट्रैबो कहता है कि सोफ़ाइटिज़ के राज्य में विस्मयजनक साहस वाले कुत्ते थे और सिकन्दर ने वहाँ सिंह के साथ उनके युद्ध भी देखे थे।[५] कर्टियस यह भी कहता है कि सोफ़ाइटिज़

---

१. देखिए, J. A. S. B., नई सीरीज़, १९, १९२३, पृ० ७६५-६६।

२. ये वेदिका-स्तंभ व्यास के दक्षिण-तट पर ही खड़े हुए होंगे। प्लिनी के अनुसार बाएँ तट पर नहीं (६, ६२)।

३. स्ट्रैबो, Ancient India पृ० ३८।

४. कर्टियस के अनुसार सोफ़ाइटिज़ का राज्य व्यास के पश्चिम था (९, १, Invasion by Alexander, पृ० २१९)।

५. पृ० २२०; स्ट्रैबो, Ancient India, पृ० ३८।

अत्यन्त बुद्धिमान् था और शासन की सुन्दर व्यवस्था में जीवन बिताता था।[1] कठों की ही भाँति वहाँ के रहने वाले सौन्दर्य को बड़ा महत्व देते थे और उनके विवाह का आधार कुल की उच्चता नहीं, रूप का आकर्षण था। प्रत्येक नवजात शिशु की वे परीक्षा करते थे, और यदि उसमें "किसी प्रकार की शारीरिक असुन्दरता अथवा अंगों की पंगुता होती तो उसका वध कर दिया जाता था।"[2]

जलयात्रा

अक्तूबर के अंत में कूच का बिगुल बजा और मकदूनिया की नावें नदी के बहाव में सुन्दर कतारें बाँध चल पड़ीं। उनकी रक्षा के लिए दोनों तटों पर क्रमशः हेफ़िस्टियन और क्रातेरस की अध्यक्षता में सेनाएँ चलीं। इस प्रकार रावी और चिनाब के संगम पर सिकन्दर जा पहुँचा।

सिबोई और अग्लस्सी

वहाँ पर सिबोई (संस्कृत शिवि) जाति से मोर्चा लेने के लिए सिकन्दर को अपनी नौकाएँ छोड़नी पड़ीं। सिबोई ४०,००० पदाति[3] सेना और अग्लस्सी (अग्रश्रेणी) ४०,००० पदाति और ३,००० घुड़सवार[4] लेकर उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। सिबोई जो वन्य जन्तुओं की खाल पहने और लाठी लिए हुए थे, सिकन्दर के पहले ही हमले में कुचल गए। परन्तु अग्लस्सियों ने वीरता के साथ अपनी राजधानी की रक्षा की, और पहले तो उन्होंने सिकन्दर के आक्रमण को प्रभूत हानि के साथ निष्फल कर दिया। अन्त में सिकन्दर की बहुसंख्यक सेना और उत्तम सैनिक नेतृत्व ने उन पर विजय पाई। कर्टियस लिखता है कि जब अग्लस्सियों ने देखा कि पराजय अनिवार्य है तो वे स्वयं अपना सर्वनाश करने को प्रस्तुत हो गए। परन्तु विजेता के आगे उन्होंने सिर नहीं झुकाया। "अपने घरों में उन्होंने आग लगा दी और स्वयं वे अपनी पत्नियों और बच्चों के साथ अग्नि की लपटों में कूद पड़े"।[5] यह मध्ययुगीय राजपूतों की जौहर-प्रथा का पहला रूप था।

मालव और क्षुद्रक

अग्लस्सियों से निबट कर सिकन्दर उन वीर जातियों की ओर बढ़ा जिनको ग्रीक लेखक मल्लाई और ओक्सीड्रेकाई कहते हैं। ये प्राचीन संस्कृत साहित्य के मालव और क्षुद्रक थे, जो उस भाग की "भारतीय जतियों में सबसे शक्तिमान् और युद्धप्रिय थे", और जो अपनी "पत्नियों और बच्चों को दुर्गम नगरों की रक्षा में कर[6] स्वयं उसकी राह रोकने को प्रस्तुत थे।" कर्टियस लिखता है कि मालव और क्षुद्रक परस्पर भीषण शत्रु थे, परन्तु इस उपस्थित भय के सम्मुख उनके

---

१. कर्टियस, ६, १, Invasion by Alexander, पृ० २१९। २. वही।
३. कर्टियस, ९, ४, वही, पृ० २३२। ४. डियोडोरस, १७, ९६, वही, पृ० २८५।
५. कर्टियस, ९, ४, वही, पृ० २३२। ६. एरियन, ६, ४, वही, पृ० १३७।

दृष्टिकोण में सहसा परिवर्तन हो गया। समान शत्रु के सम्मुख उन्होंने अपनी पुरानी शत्रुता भुला दी और शीघ्र सम्मिलित शक्ति में वे संगठित हो गये। उनकी सम्मिलित सेना में ९०,००० पैदल, १०,००० घुड़सवार और ९,०० रथ थे। ग्रीक सैनिकों ने व्यास से लौटते समय विचारा था कि अब वे खतरों को पार कर चुके और भारतीय मोर्चों से उनका छुटकारा हो गया। परन्तु इस नयी 'अप्रत्याशित-विपत्ति' ने उन्हें विकल कर दिया। कर्टियस का कहना है कि वे "फिर विद्रोह के शब्दों में अपने राजा को बुरा-भला कहने लगे।"[१] उन्हें शक हो गया कि सिकन्दर ने युद्ध बन्द नहीं किया केवल उसके मोर्चे बदल दिये हैं। परन्तु सिकन्दर को भी यह मंजूर न था कि व्यास-तट की कहानी दुहराई जाय। इस कारण उसने उनसे मर्मस्पर्शी प्रार्थना की। "मुझे भारत से गौरव के साथ लौट जाने दो, भगोड़े की भाँति भागने को मजबूर न करो।"[२] इस बार सिकन्दर का जादू चल गया और ग्रीकों में खोई हुई सक्रियता जग उठी। सेना रणभय से उन्मत्त हो उठी और सिकन्दर ने इस ज्वर मद से पर्याप्त लाभ उठाया। अपनी सेना लेकर खेतों में काम करते हुए मालवों पर वह वेग से टूट पड़ा।[३] आक्रमण इतना आकस्मिक हुआ कि मालव बड़ी संख्या में कट मरे परंतु ग्रीकों द्वारा उनका निरंतर वध उनकी शक्ति तोड़ न सका। कुछ मालवों ने समीप के नगर में शरण ली, परन्तु सिकन्दर ने हमला कर उनके दो-हजार वीरों को मार डाला। कुछ मालवों ने ब्राह्मणों के एक नगर में आश्रय लिया; परंतु सिकन्दर ने उनका भी शीघ्र पीछा किया। एरियन लिखता है: "चूंकि मालव वीर थे, उनमें से केवल कुछ ही बंदी किये जा सके।" और शेष तलवार के घाट उतर गये।[४]" तदनन्तर सिकन्दर ने आधुनिक झंग और मन्टगुमरी जिलों[५] की सीमा पर स्थित मालवों के प्रमुख दुर्ग पर भीषण आक्रमण किया, परन्तु इस बार उसे लोहे के चने चबाने पड़े। मालवों की विकट मार ने उसको हैरत में डाल दिया। मालवों ने अपनी कीर्ति-कथा अपने रक्त से लिखी। स्वयं सिकन्दर को एक गहरी चोट लगी;[६] जिससे उसकी सेना पर गहरा विषाद छा गया। उसके जीवन-नेतृत्व, और विक्रम पर ही निस्सन्देह ग्रीकों की रक्षा निर्भर थी। यह उसकी सेना भली भाँति जानती थी। प्राण के भय ने उनके भीतर स्फूर्ति और शक्ति का संचार किया, फिर वे मालवों पर अपूर्व भीषणता से टूट पड़े। मालवों का संहार शुरू हो गया और ग्रीकों ने "मर्द, औरत, बच्चा"[७] किसी को जीता न छोड़ा। नारियों और शिशुओं का यह हृदय-विदारक वध निःसन्देह नग्न क्रूरता का उदाहरण है और भारत में

---

१. कर्टियस, ९, ४, वही, पृ० २३४। २. वही, पृ० २३५।
३. एरियन, ६, ६, वही, पृ०, १४०।
४. वही, ६, ७, वही, १४४। ५. E. H. I., चतुर्थ संस्क०, पृ० १०० और उसका नोट। ६. एरियन साफ लिखता है कि यह चोट सिकन्दर को मालवों में लगी, क्षुद्रकों में नहीं (एरियन, ६, ११, Invasion by Alexander, पृ० १४९)। ७. वही।

आचरित ग्रीकों की युद्धनीति पर गहरी कालिमा। जब तक सिकन्दर चोट से सम्भला मालव आत्मसमर्पण कर चुके थे और क्षुद्रकों कें साथ उनका संघ टूट चुका था। क्षुद्रक और मालव अभी दूर-दूर ही थे और उनकी संगठित शक्ति के सक्रिय होने के पूर्व ही दूरदर्शी विजेता ने अकेले मालवों पर टूटकर उन्हें कुचल डाला। क्षुद्रकों में अकेले उसका सामना करने की शक्ति न थी, और उन्होंने उससे संधि कर लेना ही उचित समझा। सिकन्दर के पास इस विचार से उन्होंने अपने दूत भेजे। उन्होंने कहा कि "स्वतंत्रता और स्वशासन जितना उनको प्रिय है उतना किसी और जाति को नहीं[1] और भय के कारण नहीं प्रत्युत देवताओं की इच्छा से उनको उसकी तलवार के आगे झुकना पड़ा।[2] सिकन्दर क्षुद्रक दूतों के असाधारण व्यक्तित्व और शालीन गौरव से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उनकी आवभगत और उनके प्रति प्रभूत आदर-प्रदर्शन से अपने सेनापतियों तक में ईर्ष्या जगा दी। अनन्तर, मालव और क्षुद्रकों पर यह व्यक्त करने के लिए कि ग्रीक सत्ता चिरकालिक होगी उसने उनके ऊपर फिलिप्स[3] को क्षत्रप नियुक्त किया। फिर वह ग्रीक आक्रामक नदियों के स्रोत से चल पड़ा और चिनाव तथा सिन्ध के संगम पर पडिकस की प्रतीक्षा में रुक गया।

अवस्तनोइयों का पराभव

पडिकस अवस्तनोइयों अथवा सम्वस्तइयों (संस्कृत के अम्बष्ठ) की विजय करने गया हुआ था। डियोडोरस लिखता है कि अम्बष्ठ "वीरता और संख्या में भारत की किसी जाति से न्यून न थे। वे अपने नगरों में गणतन्त्र शासन में रहते थे।[4] अन्य जातियों की ही भाँति उन्होंने भी अपने ६०,००० पैदलों, ६,००० घुड़-सवारों, ५,०० रथों के साथ सिकन्दर का मार्ग अवरुद्ध करने का प्रयत्न किया, परन्तु भाग्य उनके विरुद्ध था।

सिन्धु के निचले काँठे की विजय

सिन्धु के मुहाने तक पहुँचने के क्रम में जिन भारतीय जातियों ने सिकन्दर को आत्मसमर्पण किया उनमें से मुख्य थे क्सथ्रोई (मनु के क्षत्री), ओस्सदिओई (महाभारत के वसाति), शोद्रई (शूद्र ?) और मस्सनोई। अभाग्यवश इनके युद्धों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य राजाओं को भी सिकन्दर ने हराया। वे निम्नलिखित थे—मौसिकनस (मुशिकों का राजा ?) आक्सिकनेस,[5] और सम्वोस (शम्भु[6])। ये राजा परस्पर युद्ध करते रहते थे, परंतु इनमें किसी ने सिकन्दर का आधिपत्य न माना।

---

१. एरियन, ६, १४, वही, पृ० १५४। २. कर्टियस, ६, ७, वही, पृ० २४८-४६।

३. फिलिप्स का हलका बाद में और दक्षिण तक बढ़ा दिया।

४. डियोडोरस, १७, १०२, वही, पृ० २९२।

५. डियोडोरस (वही) उसको पोर्टिकनस लिखता है। उसकी राजधानी के लिए देखिए, Invasion by Alexander, पृ० १५८, नोट १।

६ सम्वोस की राजधानी शिन्दिमन अथवा सिंहवन थी।

मौसिकनस

मौसिकनस की राजधानी अलोर (सक्खर जिला) थी। और ओनेसिक्रितस का कहना है कि उसकी प्रजा अपनी आयु और स्वास्थ्य के लिए विख्यात थी, और वहाँ लोग प्रायः १३० वर्ष तक जीते थे[1]। उनकी कुछ और भी विशेषतायें उल्लिखित हैं—"वे सार्वजनिक रूप से खुले में भोजन करते थे; उनका आहार शिकार का होता था; यद्यपि उनके पास सोने चाँदी की खानें थीं परन्तु वे इन धातुओं का उपयोग नहीं करते थे। दासों के बजाय वे अपने तरुणों से काम लेते थे; चिकित्सा को वे अन्य सारे विज्ञानों से ऊपर मानते और उसका विशेष अध्ययन करते थे; उनके कानून में वध और व्यभिचार को छोड़ और किसी अपराध का विधान नहीं, क्योंकि उनका कहना था कि यदि राजीनामे तोड़े जाते हैं तो प्रतिपक्ष को अपने अनुचित विश्वास का दंड मिलना ही चाहिए[2]।

ब्राह्मण विरोध

यहाँ एक महत्वपूर्ण बात विशेष उल्लेखनीय यह है कि इस भाग में तब ब्राह्मणों का बड़ा प्रभुत्व था और राजनीति सर्वथा उनकी चेरी थी। ग्रीक इतिहासकारों के लेख से प्रमाणित है कि मौसिकनस और आक्सिकनेस को विद्रोह कर ग्रीक आधिपत्य का कलंक मिटा डालने के अर्थ उन्होंने प्रोत्साहित किया। इन राजाओं ने उनके मतानुसार आचरण कर उन ब्राह्मणों के साथ ही अपने प्राण भी खोये। ब्राह्मणों का ग्रीकों ने बड़ी संख्या में वध किया। परंतु उनको दबाना सिकन्दर के लिए आसान न हुआ होगा क्योंकि सारे भारत में उनका आदर तो था ही, एरियन के कथनानुसार वे स्वयं भी 'वीर नेता' थे[3]। ब्राह्मणों का यह शस्त्रग्रहण ग्रीक लेखकों की मिथ्या कल्पना का परिणाम अथवा अनजानी विचित्रता न थी। इतिहास पुराणों में परशुराम, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा के से ब्राह्मणों के वीर कृत्यों का सविस्तार वर्णन है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी ब्राह्मण सेनाओं का उल्लेख है जो पराजित शत्रु के प्रति अपनी दया के लिए प्रसिद्ध थीं[4]। इसके अतिरिक्त हिंदू धर्म-शास्त्रकारों ने उन्हें देश और धर्म की रक्षा के अर्थ और आपत् काल में शस्त्र धारण करने की अनुमति दी है। मनु ने कहा है :

> शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
> द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते[5] ॥

अर्थात् "विपत्काल में द्विजातियों का विनाश उपस्थित होने पर अथवा अपने धर्म-कार्यों में विघ्न उपस्थित होने पर ब्राह्मण शस्त्र ग्रहण कर सकते हैं।" ग्रीक आक्रमण के समय निस्सन्देह इसी प्रकार की विपत्ति उपस्थित थी और इसी कारण ब्राह्मण अपने गौरव तथा गृह की रक्षा के लिए उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए।

---

१. स्ट्रैबो, Ancient India, पृ० ४१। २. वही।
३. एरियन, ६, ७, Invasion by Alexander, पृ० १४४।
४. शामशास्त्री का अनुवाद, तृतीय सं०, पृ० ३७३। ५. मनुस्मृति, ८, ३४८।

पत्तल

ब्राह्मणों और निचले सिन्धु-काँठे के राजाओं को परास्त कर सिकन्दर तौआला अथवा पत्तल पहुँचा। "पत्तल विशाल नगर था और उसका शासन-विधान स्पार्टा की भाँति था। दो भिन्न कुलों के दो वंशागत राजाओं में युद्ध का नेतृत्व निहित था और सारे राज्य की शासन-व्यवस्था वृद्धों की एक सभा करती थी।"[1] कटियस के अनुसार इन राजाओं में से एक का नाम मोएरिस था।[2]

यात्रा का अन्त

३२५ ई० पू० के सितम्बर के आरंभ में सिकन्दर ने इस देश को छोड़ दिया। उसने अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर दिया। उनमें से एक तो नियरकस के नेतृत्व में समुद्र के मार्ग से चला, दूसरा स्वयं सिकन्दर की अध्यक्षता में गेद्रोसिया (बलूचिस्तान) के दक्षिणी तट से बढ़ा। कुछ सेना क्रातेरस के साथ बोलन दर्रे की राह पर पहले ही भेजी जा चुकी थी। सिकन्दर ने अपने लिए अत्यन्त कठिन और रेतीला मार्ग चुना जो अराविती और ओरिती से होकर गया था। वह परिणामतः अत्यन्त कष्ट की यात्रा कर बाबुल पहुँचा।

निष्कर्ष

पिछले वर्णन से, जो सर्वथा ग्रीक और रोमन लेखकों की सामग्री पर अवलंबित है, स्पष्ट हो जाएगा कि भारत में सिकन्दर की विजय सुकर न हुई। निस्संदेह कुछ भारतीय राजाओं और गणतन्त्रों ने उसके सामने मस्तक झुका दिया परन्तु यह झुकना वास्तव में तूफान में बेंत का झुकना था। तूफान निकल गया, बेंत पूर्ववत् खड़े हो गए। परन्तु अन्य राष्ट्रों ने दृढ़ता और दर्प से उसका सामना किया। भारतीयों के इस शौर्य और भारत में निरन्तर युद्ध की संभावना ने उन ग्रीकों को संत्रस्त भी कर दिया था जिन्होंने विशाल ईरानी साम्राज्य को फूंक मात्र से उड़ा दिया था। और भारत इस बवंडर के लौट जाने के बाद निष्क्रिय भी नहीं हो रहा[3]। ३२३ ई० पू० के जून में सिकन्दर की मृत्यु के कुछ ही वर्षों बाद ग्रीक आक्रमण और विजय के सारे चिह्न भारतीय धरा से मिटा दिए गए।[4]

सिकन्दर की व्यवस्था

सिकन्दर ३२६ ई० पू० के वसन्त से ३२५ की सितम्बर तक केवल उन्नीस

---

१. डियोडोरस, १७, १०४, Invasion by Alexander, पृ० २९६। पत्तल सम्भवतः आधुनिक बहमनाबाद है। २. कर्टियस, ९,८, वही, पृ० २५६।

३. सिकन्दर अभी मार्ग में ही था कि उसका क्षत्रप फिलिप्स भारत में मार डाला गया पर वह इससे अधिक कुछ नहीं कर सका कि तक्षशिला के आम्भी और उपरले सिन्धु के थ्रेसियन सेनानी युडेमस को उस प्रान्त का शासन सम्हालने की ताकीद कर दे।

४. जब सिकन्दर के साम्राज्य का त्रिपरादेसस में ३२१ ई० पू० में दूसरी बार बँटवारा हुआ तब तक पीठन सिन्धु के पश्चिम चला गया था और पंजाब तथा सिन्धु से ग्रीक सत्ता मिट चली थी, यद्यपि युडेमस अपने पद पर ३१७ ई० पू० तक बना रहा।

मास के लगभग सिन्धु के पूर्व में ठहरा। और इस बीच भी वह निरन्तर लड़ता ही रहा। उसे अपनी विजयों का उचित रूप से प्रबंध करने का अवसर ही न मिला। परन्तु जो कुछ भी उसने अपने विजित की शासन के रूप में व्यवस्था की उससे सिद्ध है कि उसकी मंशा भारतीय प्रांतों को अपने साम्राज्य में चिरकालिक रूप से मिला लेने की थी। विशिष्ट राजनैतिक केंद्रों में उसने ग्रीक सेनाएँ रखीं, सिंध और काबुल की निचली घाटी के बीच की भूमि तथा सिंध में क्रमशः फिलिप्स और पीठन के से क्षत्रप नियुक्त किये; अपने प्रबल शत्रु पोरस से मैत्री की; पत्तलिनी (सिन्धु डेल्टा) में बन्दरगाह बनाया; और भारत तथा ग्रीक के बीच सबसे सुरक्षित तथा शांत मार्ग खोजने के प्रयत्न किए। परन्तु बाबुल में ३२३ ई० पू० के जून में अकाल मृत्यु हो जाने से उसके सारे मनोरथ अपूर्ण रह गये।

आक्रमण का परिणाम

इस तूफानी आक्रमण का परिणाम क्या हुआ? एक महत्वपूर्ण परिणाम तो यह हुआ कि भारत में और उसकी सीमा पर अनेक ग्रीक केन्द्र प्रतिष्ठित हो गए। उसकी पीछे छोड़ी हुई सेना तो उसके लौटने के शीघ्र ही बाद नष्ट हो गई परन्तु उसके बसाए नगर निस्संदेह दीर्घ काल तक खड़े रहे। दूसरा फल यह हुआ कि पंजाब के छोटे राज्यों की दुर्बलता भारतीयों ने समझी और भारत की राजनैतिक एकता पर इस देश के निवासियों की दृष्टि गई। इस आक्रमण ने भारतीयों को यह भी सुझा दिया कि उनका सैन्य-संगठन और युद्ध-कौशल अपर्याप्त और दोषपूर्ण है और यह भी कि उचित रूप से शिक्षित तथा विनीत सेना अल्पसंख्यक होती हुई भी विजयिनी हो सकती है।

समाज और धर्म

ग्रीक लेखकों ने भारत से तत्कालीन समाज तथा धर्म-विश्वास के सम्बन्ध में भी काफी लिखा है। दृष्टांततः वे लिखते हैं कि सोफाइटिज़ के राज्य में सौंदर्य की बड़ी महिमा थी और यदि नवजात शिशु शरीर से अस्वस्थ तथा अंगहीन अथवा रुग्ण हुए तो वे मरने के लिए छोड़ दिए जाते थे। विवाह के क्षेत्र में कुल से कहीं बढ़कर शारीरिक सौंदर्य की महिमा थी। कठों और अन्य जातियों में सती प्रथा का प्रचार था और विधवाएँ पति के शव के साथ ही उसकी चिता में जल मरती थीं। तक्षशिला में ग्रीकों ने दरिद्र पिताओं को बाजारों में अपनी कन्याओं को बेचते देखा। वहाँ मृतकों के शरीर गिद्धों के खाने के लिए भी छोड़ दिए जाते थे। समाज में बहु-पत्नी-विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी।

अनेक विचित्र प्रथाओं के प्रचलन के बावजूद भी उस भाग में ब्राह्मण धर्म का विशेष प्रभाव था और सिकन्दर के अनुयायी ग्रीक इतिहासकार मंदानिस तथा कलानस (कल्याण) के से ब्राह्मण संन्यासियों के अनेक अद्भुतआचारों का उल्लेख करते हैं। अपने गंभीर ज्ञान, सदाचरण, और स्वार्थ-त्याग के कारण ब्राह्मणों का

देश में बड़ा आदर होता था और मौसिकनस आदि की भाँति राजा उनके आदेश पर चलने को प्रस्तुत रहते थे। इसके अतिरिक्त देश में 'सर्मनेज' अथवा श्रमण, बौद्ध और अन्य संप्रदायों के परिव्राजक थे जो जंगलों में रहते, कंदमूल खाते और वृक्ष की छाल पहनते थे। भारतीय साधारणतया जीग्रस ओम्ब्रियस—वर्षा का देवता इंद्र—और हिरैक्लिज, संभवतः कृष्ण के अग्रज हलधर (बलराम), को पूजते थे। गंगा आज ही की भाँति स्तुत्य थी और कुछ वृक्ष इतने पवित्र माने जाते थे कि उनके अपावन करने का दण्ड वध था।

आर्थिक दशा

उस काल की आर्थिक दशा का सबसे महत्वपूर्ण रूप नगरों का बाहुल्य था। मस्सग, ओनरस, तक्षशिला, ३७ ग्लौसाई नगर, पिंप्रमा, संगल, पत्तल, आदि देश की समृद्धि के उदाहरण हैं। उनकी बनावट, स्थिति तथा दुर्गीकरण उनकी तत्कालीन निर्माण शैली पर प्रकाश डालते हैं।[१] इसके अतिरिक्त देश की सम्पत्ति का अनुमान सिकन्दर को अपने आक्रमण-काल में मिली अनन्त भेंटों से भी किया जा सकता है। सुनहरे वस्त्र पहने हुए क्षुद्रक-दूतों ने उसे बहुतेरे सूती थान, कच्छप-त्वक् (खाल), वृषभ-त्वक् के बने बकलस तथा "लोहे के सौ भार", और तक्षशिला के आम्भी ने सोने-चाँदी के ताज (सिक्के ?) "तोल की २८० मात्रा में उसे प्रदान किए।"

उत्तर-पश्चिम भारत आज ही की भाँति तब भी वृषभों की अपनी सुन्दर जाति के लिए प्रसिद्ध था और आस्पासिय जाति से २,३०,००० वृषभ छीन कर सिकन्दर ने कृषिकर्म के लिए मकदूनिया भेजे। इसी प्रकार उसने आम्भी के ३,००० पीवर वृषभों और १०,००० सुन्दर भेड़ों को प्रसन्नता से अंगीकार किया।[२] इससे प्रमाणित है कि पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश के भारतीयों के मुख्य पेशे कृषि-कर्म और पशुपालन थे।

अन्त में यह स्मरण रखने की बात है कि तत्कालीन शिल्पों में से बढ़ई-गीरी अत्यंत महत्व की थी क्योंकि बढ़ई युद्ध के लिए रथ और कृपि, व्यापारादि के अर्थ गाड़ियों का निर्माण करता था। पंजाब की अनेक नदियों के अस्तित्व से नौ-निर्माण-शिल्प की संभावना की जा सकती है। प्रमाणतः यह ज्ञात है कि रावी को सिकन्दर ने नौकाओं के बेड़े पर पार किया था, और उसकी सेना के एक भाग ने नियरकस के नेतृत्व में सिंधु के मुहाने तक नौकाओं में ही यात्रा की थी। इससे यह स्वाभाविक ही अनुमान किया जा सकता है कि इस बेड़े का निर्माण स्थानीय सामग्री, श्रम तथा कौशल द्वारा ही संपन्न हुआ होगा।

———

१. देखिए, बी० बी० दत्त : Town Planning in Ancient India, (थैकर स्पिक एण्ड को, १९२५)।

२. देखिए, Hindu Civilisation, पृ० ३१०—११।

अध्याय ८

प्रकरण १

चन्द्रगुप्त मौर्य

वंश

सिकन्दर के लौटते ही भारत के राजनैतिक आकाश में एक नये नक्षत्र का उदय हुआ जिसने अपने तेज से अन्य सारे नक्षत्रों को मलीन कर दिया। यह चन्द्रगुप्त था जिसके वंश और प्रारम्भिक चरित सम्बन्धी अनुश्रुतियों में पारस्परिक विरोध है। उनमें से एक उसे अन्तिम नन्दराज का मुरा नाम की शूद्रा रखेली से उत्पन्न पुत्र मानती है और इसी कारण उसके मौर्य नाम की सार्थकता प्रतिष्ठित करती है।[1] दूसरी[2] के अनुसार चन्द्रगुप्त पार्ली ग्रंथों के शाक्यों की एक शाखा प्रसिद्ध मोरिय जाति से उत्पन्न मानती है और तब उसका मौर्य नाम 'जन' परक हो जाता है। फिर कुछ, मध्यकालीन अभिलेख और दिव्यावदान उसे क्षत्रिय घोषित करते हैं, यद्यपि यह सम्भव है (जैसा कि ग्रीक इतिहासज्ञ जस्टिन लिखता है) कि चन्द्रगुप्त 'साधारण कुल' में जन्मा हो। इस लेख से यह ध्वनि निकलती है कि वह राजकुमार न होकर साधारण क्षत्रिय था और मगध के राज-मुकुट के अधिकार से उसका सम्बन्ध न था।

उसका उत्कर्ष

चतुर्थ शती ई० पू० के अन्तिम चरण के आरम्भ में उत्तर भारत की राजनैतिक दशा अत्यन्त डाँवाडोल थी। मगध में धननन्द के बलपूर्वक कर-ग्रहण, उसके असीम लोभी, अत्याचारी, और नीचकुलीय होने के कारण नन्द वंश पतनोन्मुख था; और पंजाब की जनता और उसके राष्ट्र सिकन्दर की निर्दयता से अब भी कराह रहे थे। परिणामतः साहसी राजनैतिक पंडितों और महत्वाकांक्षियों के लिए असीम क्षेत्र मिल गया। और चंद्रगुप्त जनता के असंतोष को अपना अस्त्र बनाकर नियति के मार्ग पर बढ़ चला। जान पड़ता है कि उसकी सेवा में पहले की सेना में पहले एक सेनापति था। परन्तु अपने स्वामी के दुर्व्यवहार के कारण असन्तुष्ट होकर उसने विद्रोह का झंडा उठाया। इस कार्य में प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ विष्णुगुप्त अथवा चाणक्य से भी, जो किसी साधारण अवमानना से नन्दराज से कुपित हो गया था, उसे सक्रिय सहयोग मिला परन्तु उनका सहयुक्त षड्यन्त्र विफल हुआ और उनको प्राणरक्षा के लिए भागना पड़ा। महावंश-टीका में कथा लिखी है कि जब चन्द्रगुप्त अपने अज्ञातवास

१. चन्द्रगुप्तं नन्दस्येव पत्न्यन्तरस्य मुरासंज्ञस्य पुत्रं मौर्याणां प्रथमम्। यह स्पष्ट ही दोषपूर्ण है क्योंकि मुरा से 'मौर्य' नहीं 'मौरेय' बन जाएगा।

२. महावंश, गाइगर का अनुवाद, पृ० २७। महापरिनिब्बान सुत्त के अनुसार मोरिय लोग खत्तिय अथवा क्षत्रिय थे।

में एक वृद्धा की झोपड़ी में छिपा हुआ था तब उसने उसे रोटी खाते हुए बच्चे को उसका हाथ जल जाने के कारण झिड़कते सुना[१]। वृद्धा ने कहा कि गरम फुलके को खाते समय किनारे से तोड़ना चाहिए, बीच में हाथ लगाने से हाथ जल ही जाएगा। चन्द्रगुप्त ने इससे यह सबक सीखा कि उसका उद्योग मगध की राजधानी में नहीं, भारतीय सीमा से होना चाहिए और अपने प्रयत्नों का तात्कालिक केन्द्र पश्चिमोत्तर सीमा को बनाया। कहा जाता है कि सिकन्दर जब अभी पंजाब में ही था तब चन्द्रगुप्त उसे मगध के विरुद्ध उभाड़ने के विचार से उससे मिला। परन्तु उसके दर्पयुक्त वाक्यों ने सिकन्दर को क्रुद्ध कर दिया[२], और चन्द्रगुप्त को परिणामतः अपने घोड़े को एड़ लगानी पड़ी। ग्रीक विजेता के लौट जाने के बाद चन्द्रगुप्त अपने गुप्त आवास से बाहर निकला और पंजाब की जातियों को जो ग्रीक आधिपत्य स्वीकार न कर सकी थीं (जैसा कि पश्चिमोत्तर सीमा के क्षत्रप फिलिप्स के वध से प्रमाणित है) शीघ्र एक दुर्दम्य शक्ति के रूप में उसने संगठित कर लिया। ग्रीक सत्ता की दुर्बलता इससे भी सिद्ध होती है कि जब सिकन्दर ने फिलिप्स के वध की खबर सुनी तो वह इससे अधिक कुछ न कर सका कि अपने मित्रों—पोरस और आम्भी—को युडैमस की संरक्षता में शासन सम्भालने की हिदायत कर दे। ३२३ ई० पू० की जून में सिकन्दर की अकाल मृत्यु ने चंद्रगुप्त की महत्वाकांक्षा और जगा दी और उसने ग्रीक सेनाओं को भारत से शीघ्र निकाल बाहर किया यद्यपि युडैमस ने ३१७ ई० पू० तक, "जब उसने यूमेनिस और ऐंटीगोनस के संघर्ष के भाग लेने के लिए भारत छोड़ा", किसी प्रकार भारतीय शासन से सम्बन्ध बनाये रखा।

नन्द-शक्ति का ध्वंस और चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण

यवनों को सिंधु के पार भगा चुकने के बाद[३] चंद्रगुप्त ने मगध के नंदों से लोहा लेने के लिए एक सशक्त सेना संगठित की। मुद्राराक्षस के अनुसार चंद्रगुप्त का प्रमुख सहायक पर्वतक था जिसे कुछ विद्वानों ने पोरस माना है। इस नाटक स पक्षों के संघात और संघर्ष की पेचीदी परिस्थिति पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है; परन्तु पौराणिक, बौद्ध अथवा जैन, सारे प्रमाणों से सिद्ध है कि चंद्रगुप्त नंद की सेना को परास्त करने में पूर्णतः सफल हुआ।[४] यवन शक्ति का विध्वंस और नंदों

१. हेमचन्द्र की स्थविरावलि-चरित में भी इसी प्रकार की एक कथा है।

२. पाठ वस्तुतः "अलेक्ज़ैन्ड्रम" है यद्यपि कुछ लोगों ने उसे 'नेन्द्रम' पढ़कर नन्द अथवा धननन्द माना है।

३. कुछ विद्वानों का मत है कि मगध की विजय पंजाब से ग्रीक सेनाओं के निष्कासन के पहले हुई थी।

४. विष्णु पुराण में लिखा है :—ततश्च नव चैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याः पृथ्वीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तमुत्पन्नं राज्येऽभिषेक्ष्यति।—इसके 'उत्पन्न' शब्द की व्याख्या श्रीधर स्वामिन् इस प्रकार करते हैं : 'नन्दस्यैव भार्यायां मुरासंज्ञायां सञ्जातम्'।

की पराजय सिकन्दर की मृत्यु के दो तीन वर्षों के भीतर ही सम्पादित हो चुकी होगी, अतः चंद्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि हम ३२१ ई० पू०[1] रख सकते हैं। यह तिथि सिंहली प्रमाण से भी समर्थित है जिसका निष्कर्ष जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह है कि शैशुनाग वंश का अंत ३४३ ई० पू० में हुआ और नंदों ने केवल २२ वर्ष राज किया।

दिग्विजय

अभाग्यवश हमारे सामने चंद्रगुप्त के युद्धों का पूर्ण वृत्तांत नहीं है। ग्रीक लेखक (प्लूतार्क और जस्टिन) सारी भारतीय भूमि को रौंदकर उस पर उसके अधिकार कर लेने को चित्रित करना चाहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि शब्दशः लेने पर इनके वक्तव्य अतिरंजित जान पड़ेंगे। परन्तु इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि चंद्रगुप्त ने मगध और पंजाब के अतिरिक्त अपने राज्य की सीमा भारत के अन्य प्रदेशों पर भी बढ़ा ली थी। सौराष्ट्र का उसके राज्यान्तर्गत होना रुद्रदामन् के जूनागढ़वाले शिलालेख से प्रमाणित है। इस लेख में चन्द्रगुप्त की सिंचाई की योजना और उस प्रान्त के लिए पुष्पगुप्त वैश्य की "राष्ट्रिय" के पद पर नियुक्ति का उल्लेख है। तामिल लेखक, मामुलनार और परणार, टिन्नेवेल्ली जिले के पोदियिल पर्वत तक सुदूर दक्षिण पर मौर्य आक्रमण का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार जैन अनुश्रुति और कुछ उत्तरकालीन अभिलेख भी उत्तर मैसूर के साथ चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध प्रमाणित करते हैं। इससे चन्द्रगुप्त द्वारा भारत के एक बड़े भाग की विजय सिद्ध है।

सिल्यूकस के युद्ध

सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके सेनापतियों में साम्राज्य के लिये संघर्ष छिड़ गया। इस कशमकश के बाद सिल्यूकस सर्वशक्तिमान हो उठा। ३०५ ई० पू० तक उसने पश्चिमी एशिया में अपनी शक्ति इतनी प्रतिष्ठित कर ली कि वह अब सिकन्दर की स्पर्द्धा करने और उसके जीते हुए भारतीय प्रांतों पर फिर से अधिकार करने के स्वप्न देखने लगा। ये भारतीय प्रांत ३२१ ई० पू० में साम्राज्य के द्वितीय विभाजन में छोड़ दिये गये थे। परंतु सिकन्दर की मृत्यु के बाद भारतीय परिस्थिति सर्वथा बदल गयी थी। इसका पता सम्भवतः सिल्यूकस को न था। वहाँ अब एक ऐसे नृपति का शासन था जिसकी मेधा ने एक शक्तिमान साम्राज्य का निर्माण किया था और जो ग्रीकों की युद्धशैली से भी अनभिज्ञ न था। उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री से यह तो स्पष्टतः स्थापित नहीं होता कि चन्द्रगुप्त द्वारा सिल्यूकस पराजित हुआ अथवा यह कि दोनों पक्षों में सचमुच खुला युद्ध भी हुआ। पश्चिम से निस्संदेह हरकारे आये थे और आक्रामक वापस लौटकर अपने दुर्घर्ष शत्रु ऐन्टिगोनस से अन्तिम संघर्ष करने को उत्सुक था। परिणामतः चन्द्रगुप्त ने सन्धि की मनमानी शर्तें रखीं और उन्हें सिल्यूकस को अंगीकार करना पड़ा। सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को एरिय (हेरात), ऐराकोसिया (कंदहार), परोपनिसदी (काबुल की

१. एन० के० भट्टशालि इस तिथि को जैन ग्रन्थों के आधार पर ३१३ ई० पू० मानते हैं (J. R. A. S., १९३२, पृ० २७३—८७).

घाटी), और गेड्रासिया (विलोचिस्तान)[१] के चार प्रांत भेंट किये और भारतीय नरेश ने उसके बदले में उसे ५०० हाथी प्रदान किये। इन हाथियों ने ३०१ ई० पू० में इप्सस के युद्ध में बड़ा काम किया। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य की सीमायें हिन्दूकुश तक पहुँच गईं। वह पर्वत 'भारत कीं वैज्ञानिक सीमा' कहा जाए तो अनुचित न होगा। इस मैत्री को पूर्णतः चरितार्थ करने के लिए एक विवाह संबंध भी स्थापित हुआ,[२] और सिल्यूकस ने मेगस्थनीज नाम का अपना राजदूत मौर्य दरबार में भेजा।

मेगस्थनीज और कौटिल्य

मेगस्थनीज और कौटिल्य महत्वपूर्ण लेखक हैं जिनके ग्रंथ चंद्रगुप्त मौर्य की प्रजा, शासन-व्यवस्था और भारतीय संस्थाओं पर प्रभूत प्रकाश डालते हैं। मेगस्थनीज की 'इण्डिका' अब प्राप्य नहीं परंतु यह पश्चात्कालीन लेखकों के लम्बे उद्धरणों में अब भी प्रायः सुरक्षित है।

कौटिल्य अथवा चाणक्य चंद्रगुप्त का प्रसिद्ध मंत्री था। उसका 'अर्थशास्त्र' राजनीति और शासन पर एक अपूर्व ग्रंथ है। और इसके सैद्धांतिक रूप के बावजूद भी भारतीय साहित्य में इसका स्थान अद्भुत और अपना है।[३]

शासन-व्यवस्था

सैन्य-संगठन

चन्द्रगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती सम्राट् से एक विशाल सेना की विरासत पाई थी जिसे उसने खूब बढ़ाया। अब उसकी सेना में ६००,००० पदाति, ३०,००० घुड़सवार, ९,००० हाथी और प्रायः ८,००० रथ थे। यह विशाल सेना एक युद्ध-परिषद् द्वारा शासित होती थी। इस परिषद् के तीस सदस्य पाँच-पाँच की छः समितियों में विभक्त थे। उनके विभिन्न विभाग निम्नलिखित थे।

समिति नं० १	नौ-सेना
" नं० २	सेना-यातायात और आवश्यक युद्धवस्तुओं का विभाग
" नं० ३	पदाति-सेना

---

१. प्लिनी, ६, ६९, E. H. I., चतुर्थ सं० परिशिष्ट एफ, पृ० १५८-६०। देखिए, टार्न : The Greeks in Bactria and India, पृ० १००। टार्न इन प्रांतों की भेंट में सन्देह करता है।

२. इस अनुमान की गुंजायश नहीं कि सिल्यूकस ने अपनी ही कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया। इसका संकेत किसी राजकुमारी के प्रति हो सकता है (देखिए, स्मिथ : Asoka, पृ० १५, नोट १)।

३. कभी-कभी कहा जाता है कि अर्थशास्त्र तीसरी सदी ईसवी का है और वह चाणक्य का न होकर उसके प्रतिष्ठित दृष्टिकोण मात्र का अवलम्बन करता है। डा० राय चौधरी के मत से यद्यपि यह 'अपेक्षाकृत पश्चात्कालीन ग्रन्थ' है फिर भी सम्भवतः यह द्वितीय शती ई० पू० में निर्मित हो चुका था। (Pol. Hist. Anc. Ind., चतुर्थ सं०, पृ० २२९).

„	नं० ४	अश्व-सेना
„	नं० ५	रथ-सेना
„	नं० ६	गज-सेना

इनमें से अन्तिम चार विभाग भारतीय सेना के चार परम्परागत स्कंधों—पत्ति अथवा पदाति, अश्व, रथ, और हस्ति के अनुकूल हैं। और ये कौटिल्य के कथनानुसार अपने-अपने 'अध्यक्षों' के अधीन थे।

साम्राज्य (केन्द्रीय) शासन

शासन का प्रधान राजा था और युद्ध, न्याय, व्यवहार (कानून) आदि के संबंध में उसका विधान अन्तिम और अनिवार्य था। युद्ध के समय वह सेना का नेतृत्व करता और सेनापति के साथ यान-आक्रमण की योजनाओं और रक्षा की सुविधाओं पर मंत्रणा करता। प्रजा आवेदनों द्वारा उससे न्याय की याचना करती और वह उसके अभियोगों को सुनकर उन पर शीघ्र न्याय की व्यवस्था देता था[1]। राजा ही उच्चस्थ राजकर्मचारियों की नियुक्ति तथा अर्थ-कोश की व्यवस्था करता, दूतों के संवाद सुनता, और अपने राज्य के सम्बन्ध में चरों द्वारा संगृहीत समाचारों पर विचार करता था। इनके अतिरिक्त वह प्रजा के आचरण के लिये शासन-घोषणाएँ करता था।[2]

अपने कर्तव्य-कार्य में राजा मंत्रि-परिषद् से सहायता लेता था। परिषद् राजा को मंत्र देने वाले मंत्रियों अथवा सचिवों की एक समिति थी। ये मंत्री विश्वस्त, ईमानदार, बुद्धिमान और कर्तव्यपरायण होते थे। शासन के विविध विभाग अन्य उच्चपदस्थ कर्मचारियों के निरीक्षण में काम करते थे। अर्थ-शास्त्र में इनको अमात्य, महामात्य, अध्यक्ष आदि कहा गया है। प्राचीन परम्परागत अट्ठारह 'तीर्थों' (विभागाध्यक्षों) के नाम इस प्रकार हैं—मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक (द्वारों का रक्षक), अंतर्वंशिक (अंतःपुर का रक्षक), प्रशास्तृ (पुलिस विभाग का अध्यक्ष), समाहर्ता (करादि एकत्र करनेवाला अधिकारी), सन्निधाता (कोषाध्यक्ष), प्रदेष्टृ (विषयों अथवा कमिश्नरियों के शासक), नायक (नगर का पुलिस अफसर),

---

१. मेगस्थनीज़ का कहना है कि जब सम्राट् का शरीर आबनूस के 'मुद्गरों द्वारा दबाया जाता था' उस काल भी उसके समीप प्रजा निवेदन कर सकती थी। कौटिल्य का भी आदेश है कि राजा को कभी 'अपने आवेदकों को द्वार पर न रोकं रखना चाहिए प्रत्युत शीघ्र 'सारे आवश्यक आवेदनों को बिना स्थगित किए झट सुनना चाहिए' (अर्थशास्त्र १, १९, शामशास्त्री का अनुवाद तृतीय संस्करण, पृ० ३२)।

२. अर्थशास्त्र ३, १ (शामशास्त्री का अनुवाद, तृतीय सं०, पृ० १७०-७१) के अनुसार राजा नए कानून बना सकता था, परन्तु गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब आदि उसे व्यवहार का उद्गम नहीं मानते। मनु (८, ३३६) का तो यहाँ तक कहना है कि राजा कानून भंग करने पर साधारण नागरिक की भाँति शुल्क (जुर्माना) से दण्डित हो सकता है।

पौर (राजधानी का शासक), व्यावहारिक (कार्यादि का प्रबंधक अथवा न्यायाधीश), कर्मान्तिक (आकरों अथवा कारखानों का अधिकारी), मंत्रिपरिषदाध्यक्ष (परिषद् का प्रधान), दण्डपाल(पुलिस का प्रधान), दुर्गपाल (गृह-रक्षाधिकारी), और अंतपाल (सीमा-रक्षाधिकारी)। अन्य अध्यक्ष निम्नलिखित विभागों के थे—कोष, आकर (खानें), लौह (धातुएँ), लक्षण (सिक्के ढालने के 'मिन्ट'), लवण (नमक), सुवर्ण, कोष्ठागार (भंडार), पण्य (राजकीय व्यापार), कुप्य (वन्य-आय), आयुधागार (शस्त्रालय), पौतव (तोल के वाट बटखरे), मान (देश-काल का माप), शुल्क (चुंगी आदि), सूत्र(कताई-बुनाई), सीता (राजकीय क्षेत्रों का कृषि-कर्म), सुरा, सून (कसाई-खाना), मुद्रा (पासपोर्ट), विवीत (चरागाह), द्यूत (जुआ), बन्धनागार (जेल), गौ (मवेशी), नौ (नौका-निर्माण), पत्तन (बन्दरगाह), गणिका (वेश्या), सेना[1], संस्था (व्यापार), देवता (मन्दिर, आदि)।

प्रांतीय शासन

सुविस्तृत होने के कारण साम्राज्य शासन की सुविधा के अर्थ अनेक प्रांतों में विभक्त था। समीप के प्रांतों का शासन तो राजा स्वयं करता था परन्तु जैसा अशोक के अभिलेखों से प्रमाणित है मुख्य प्रांतों का प्रबन्ध राजकुलीय 'कुमार' करते थे। तक्षशिला, तोशलि (धौली), सुवर्णगिरि (सोनगिर), और उज्जैन इसी प्रकार के प्रांतीय शासन-केन्द्र थे। सामंत-नृपति सम्राट् के आधिपत्य में रहते और आवश्यकता पड़ने पर सेना से उसकी सहायता करते थे। शासन का कार्य क्रमागत अध्यक्षों का वर्ग (नौकरशाही) करता था जिसकी कार्य-प्रणाली पर चर और अन्य कर्मचारी कड़ी दृष्टि रखते थे। इस प्रकार का चर-कार्य तथा रोध-प्रतिरोध सुदूर प्रांतों की प्रजा को कर्मचारियों की धाँधली से रक्षा करने में सहायक होते होंगे और राजा को बराबर हर बात की खबर मिलती रहती होगी।

नगर-शासन

मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र की शासन-व्यवस्था पर्याप्त विस्तार से दी है। विर्णन तो उसका केवल पाटलिपुत्र के संबंध में है परंतु इससे यह अनुमान लगाना कि अन्य बड़े नगर भी इसी प्रणाली से शासित होते होंगे कुछ अनुचित न होगा। ग्रीक राजदूत लिखता है कि नगर का शासन पाँच-पाँच सदस्यों की छः समितियाँ करती थीं। विन्सेन्ट स्मिथ की राय में ये समितियाँ 'साधारण गैर सरकारी (अवैधानिक) पंचायतों का सरकारी (वैधानिक) विकास थीं।[2]

पहली समिति औद्योगिक शिल्पों का निरीक्षण करती थी। वस्तुओं के बनाने में उचित सामग्री के प्रयोग के अनुशासन करने तथा उचित पारिश्रमिक स्थिर करने

---

१. सेनाध्यक्ष क्रमशः निम्न सेनाओं में पृथक्-पृथक् थे—पत्ति (पैदल), अश्व, हस्ति और रथ।

२. E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० १३३।

के अतिरिक्त शिल्पियों की रक्षा इसका विशेष कर्तव्य था। शिल्पी के अंगों को क्षति पहुँचाने वाले को प्राणदण्ड मिलता था।

दूसरी समिति विदेशियों की गतिविधि देखती और उनकी आवश्यकताओं का प्रबंध करती थी। उनको ठहराने के लिए आवास और आवश्यकतानुसार औषधि भी दी जाती थीं। उनकी मृत्यु होने पर उनके दाहकर्मादि का समिति प्रबंध करती और उनकी सम्पत्ति उनके वारिसों को दे देती थी। इससे सिद्ध है कि राजधानी में विदेशियों की संख्या काफी थी।

तीसरी समिति जन्म-मरण की रजिस्ट्री करती थी; इससे करादि के लिए जन-संख्या के सम्बन्ध में सरकार को ज्ञात होता था।

व्यापार चौथी समिति के प्रबंध में था। यह समिति विक्रय की वस्तुओं का अनुशासन करती थी और दूषित बाट बटखरों पर प्रतिबंध लगाती। जो एक से अधिक वस्तुओं में व्यापार करता उसे उसी औसत से अधिकतर कर देना पड़ता था।

पाँचवीं समिति कारखाने के मालिकों पर अनुशासन रखती और यह देखती थी कि पुरानी और नई वस्तुएँ एक साथ मिलाकर न वेच दी जाएँ। ऐसा करने वाले को शुल्कदण्ड देना पड़ता था।

छठी समिति बिकी वस्तुओं पर कर वसूल करती थी। इस कर से बचने का प्रयत्न, विशेषकर जब यह अधिक द्रव्य संबंधी होता, अभियुक्त को प्राणदण्ड का भागी बनाता। परंतु अनजान से किया हुआ अपराध निश्चय नर्मी से बरता जाता होगा।

नगर का शासन अतिरिक्त मन्दिरों, बंदरगाहों और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं का भी प्रबंध करता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इनमें से किसी शासन-समिति का उल्लेख नहीं है। उसके विधान में नगर का शासक नागरिक अथवा नगराध्यक्ष है जिसके नीचे स्थानिक और गोप नामक पदाधिकारी थे। स्थानिक नगर के चौथाई और गोप केवल कुछ कुलों के ऊपर नियुक्त था।

पाटलिपुत्र

यहाँ साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र के संबंध में भी कुछ विवरण दे देना अप्रासंगिक न होगा। पालिम्बोथ्रा (पाटलिपुत्र को मेगस्थनीज पालिम्बोथ्रा कहता है) 'प्राचियों' के देश में अधिष्ठित 'भारत का सबसे बड़ा नगर था'। यह ९$\frac{1}{2}$ मील (८० स्टैडिया) लम्बा और प्रायः १$\frac{3}{4}$ मील (१५ स्टैडिया) चौड़ा था। यह इरन्नोबोअस (शोण) तथा गंगा से निर्मित जिह्वा (संगम का कोण) पर अवस्थित था। इसकी रक्षा के अर्थ छः सौ फीट से अधिक (६ प्लेथ्रा) चौड़ी और तीस हाथ गहरी खाई इसके चतुर्दिक् दौड़ती थी। इसके अतिरिक्त एक ऊँची प्राचीर भी थी जिसमें ५७० बुर्जियाँ और ६४ द्वार थे। साम्राज्य के अन्य बड़े नगरों में भी निस्संदेह इसी प्रकार का रक्षा-प्रबंध था।

जनपद (देहात) शासन

शासन का निम्नतम आधार ग्राम था, जिसका निग्रह और प्रबंध ग्राम-वृद्धों (बूढ़ों) की सहायता से ग्रामिक करता था। पाँच अथवा दस ग्रामों का अधिकारी गोप कहलाता था जिसके ऊपर जनपद के चतुर्थांश का अधिकारी स्थानिक प्रतिष्ठित था। यह कर्मचारी प्रदेष्टृ और समाहर्ता के निरीक्षण में कार्य करते थे।

दंडनीति (जाब्ता फौजदारी)

मेगस्थनीज और कौटिल्य दोनों दंडनीति की कठोरता का उल्लेख करते हैं। साधारणतः अभियुक्त शुल्क (जुर्माने) से दडित होते थे। परंतु इसके अतिरिक्त भीषण दंडों की भी कमी न थी। शिल्पी की अंग-हानि करने अथवा विक्रय संबंधी राज-कर को जानबूझ कर न देने का दंड प्राणवध था। इसी प्रकार विश्वासघात और व्यभिचार का दंड अंगच्छेद था। राजकर्मचारी की हल्की चोरी के लिए भी कौटिल्य ने प्राणदंड का ही विधान किया है। अभियुक्तों और अपराधियों से अपराध स्वीकार कराने के लिए विविध यातनाओं का प्रयोग होता था। इसमें संदेह नहीं कि दंडनीति कठोर थी, परंतु इसकी कठोरता ही अपराधों के अवरोध में भी पर्याप्त सफल हुई होगी।

सिंचाई

चंद्रगुप्त सिंचाई के संबंध में विशेष प्रयास करता था। मेगस्थनीज ऐसे अधिकारियों का उल्लेख करता है जिनका कर्त्तव्य "भूमि को नापना और उन छोटी नालियों का निरीक्षण करना था जिनमें होकर पानी सिंचाई की नहरों में जाता था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपना सही भाग मिल सके"।[१] अपनी प्रजा के कल्याण के लिए चंद्रगुप्त ने सुदूर सौराष्ट्र के प्रांतीय शासक के द्वारा एक पर्वती नदी के जल को रोक कर सुदर्शन नाम की झील बनवाई जो सिंचाई के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई[२]।

आय-व्यय के साधन

आय का प्रमुख साधन भूमि-कर था। इस राजकर को 'भाग' कहते थे। कर भूमि की उपज का छठा हिस्सा था यद्यपि उसका अनुपात स्थान और परिस्थितियों के अनुकूल घटता-बढ़ता रहता था। आय के साधन भूमि के अतिरिक्त निम्नलिखित थे—आकर, वन, सीमाओं पर चुंगी, घाटों पर खेवे और कर, पेशेवर आचार्यों और विशेषज्ञों से शुल्क (फीस), विक्रय की वस्तुओं आदि पर कर और टैक्स, दंड के शुल्क (जुर्माने) और राज्य की अनिवार्य आवश्यकता के लिए जब-तब विशेष कर। आय को एकत्र करने वाला अधिकारी समाहर्ता कहलाता था।

---

१. ३, ३४; और देखिए, मैक्क्रिण्डल: Ancient India, Megasthenes and Arrian, पृ० ८६।

२. रुद्रदामन का जूनागढ़ शिलालेख, Ep. Ind., ८, पृ० ४३, ४६, पंक्ति ८।

इस प्रकार संचित की हुई आय का व्यय अनेक प्रकार की सार्वजनिक आवश्यकताओं और राजा की व्यक्तिगत जरूरतों पर होता था। ये निम्नलिखित थे—राजा और उसका दरबार, सेना, राज्य की रक्षा, राज-कर्मचारियों के वेतन, शिल्पियों और दूसरे कर्मचारियों को पुरस्कार, दान, धार्मिक संस्थायें, सार्वजनिक उपयोगिता के साधन—जैसे सड़कें, सिंचाई आदि।

मेगस्थनीज और वर्ग

मेगस्थनीज ने अपने वृत्तान्त में भारतीय समाज को सात वर्गों अथवा वर्णों में विभक्त किया है। इनमें से पहला वर्ग 'फिलोस्फरों' का था और यद्यपि इनकी संख्या थोड़ी थी परंतु इनका गौरव बड़ा था। स्पष्टतः इस वर्ग से मेगस्थनीज का तात्पर्य ब्राह्मणों और साधु-संन्यासियों से है। दूसरा वर्ग कृषकों का था जिनकी संख्या तत्कालीन आबादी में सबसे अधिक थी। तीसरा वर्ग शिकारियों, गोपालों (पशु-पालकों) का था। चौथे वर्ग में व्यापारी, शिल्पी और माझी आदि थे। पाँचवां वर्ग क्षत्रिय योद्धाओं का था। छठे और सातवें वर्गों में मेगस्थनीज ने क्रमशः चर और मंत्री गिने हैं। ग्रीक राजदूत का यह वर्णन प्रमाणतः अशुद्ध और दोषपूर्ण है। पिछले दो वर्ग कहीं भी सामाजिक स्तर निर्मित नहीं कर सकते। मेगस्थनीज स्पष्टतः भारतीय सामाजिक व्यवस्था को न समझ सकने के कारण यहाँ भूल कर बैठा।

राजप्रासाद

चन्द्रगुप्त का जीवन बड़े वैभव और तड़क-भड़क का था। उसने अपने निवास के लिए विशाल राजप्रासाद का निर्माण कराया था। यह राजप्रासाद सुविस्तृत पार्क के बीच खड़ा था। उसमें सुनहरे खम्भे थे और कृत्रिम मत्स-ह्रद तथा हरियाली से ढके मार्ग। यह भवन अत्यन्त आकर्षक था और इसकी सुंदरता सूसा और एकबताना के महलों से बढ़ी-चढ़ी थी। काष्ठ-निर्मित होने के कारण यह काल के प्रभाव और ऋतुओं के आक्रोश को न सह सका। इसके भग्नावशेष आधुनिक पटना के समीप कुम्रहार नामक गाँव में डा० स्पूनर ने खोद निकाले थे। इनका एक भाग संभवतः चंद्रगुप्त के राजभवन के सौ खम्भों वाले हाल का है।

उसका व्यक्तिगत जीवन

सम्राट् की शरीररक्षक सेना साधारणतः नारियों की थी[१]। मेगस्थनीज लिखता है कि वह निरंतर प्राण-भय से आशंकित रहता था और इसी कारण लगातार दो रातें एक ही कमरे में नहीं बिता सकता था[२]। निःसंदेह वृत्तांत का यह भाग

१. E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० १३० और नोट। स्ट्रैबो कहता है कि ये स्त्रियाँ उनके पिताओं से खरीद ली जाती थीं (१५, ५५)। कौटिल्य भी लिखता है कि विस्तर छोड़ते सग र राजा का स्वागत धनुष-बाण-धारिणी नारियों के दल करेंगे। (अर्थशास्त्र १, २१, शामशास्त्री का अनुवाद, तृतीय संस्करण पृ० ४१)। मिलाइये, 'प्रविश्य शार्ङ्गहस्ता यवनी', (Shakuntala, अंक ६, पृ० २२४; Vikramorvashi, अंक ५, पृ० १२३)।

२. स्ट्रैबो १५, ५५। मुद्राराक्षस (अंक २) में भी राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र का उल्लेख है। (देखिए, विलसन : Hindu Theatre; २, द्वितीय संस्करण, पृ० १८४)।

अतिरंजित है। यद्यपि निश्चय यह उन विशेष प्रबंधों की ओर संकेत करता है जो राजा के खतरे को दूर करने के अर्थ किये जाते थे। राजा अपने प्रासाद के चार अवसरों पर बाहर जाता था—युद्ध-यात्रा, यज्ञानुष्ठान, न्याय-वितरण और आखेट के निमित्त। यह अत्यंत कर्तव्य-परायण था, और जब आबनूस के मुगदरों से वह अपने शरीर को दबवाता होता तब भी वह प्रजा के अभियोग सुनता था। आखेट के समय उसका मार्ग रस्सियों से घेर दिया जाता था और इनको लाँघने के अपराध के लिए प्राण-दण्ड का विधान था। जब राजा राजमार्ग पर निकलता तब वह सोने की पालकी में सवार होता और सुंदर कढ़े हुए चमकीले वस्त्र पहनता था। यात्रा करते समय वह अश्व अथवा गज का उपयोग करता था। खेल उसे पसंद थे। उसको भेड़ों, सांड़ों, गजों और गेंडों के मरणांतक युद्ध प्रिय थे। वृषभ-धावन उसका एक अन्य मनोरंजन था और इस धावन पर लोग खूब बाजी लगाते थे।

चन्द्रगुप्त का अन्त

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चंद्रगुप्त जैन था और अपने राज्य के अंत में[1] मगध में घोर दुर्भिक्ष के समय जैन आचार्य भद्रबाहु के साथ मैसूर चला गया। फिर, उनका कहना है कि जैन विधान के अनुकूल अनशन करके उसने अपने प्राण दिये। ये अनुश्रुतियाँ कहाँ तक सही हैं, नहीं कहा जा सकता; परंतु यह सही है कि कुछ मध्य-कालीन अभिलेखों द्वारा उसका संबंध मैसूर से स्थापित हो जाता है।[2] सम्भव है कि अपने जीवन के अन्तिम भाग में चंद्रगुप्त जैन-प्रभाव में आ गया हो और सिंहासन अपने पुत्र को देकर तप करने चला गया हो। २४ वर्षों के सक्रिय शासन के बाद २९७ ई० पू० में चंद्रगुप्त का देहांत हुआ।

प्रकरण २

बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त का उत्तराधिकारी

चंद्रगुप्त के बाद उत्तराधिकार उसके पुत्र बिन्दुसार को मिला। बिन्दुसार को ग्रीक लेखकों ने अमित्रचेटीज (अथेनेवस) अथवा अल्लिट्रोचेदिज (स्ट्रैबो) लिखा है। यह शब्द प्रमाणतः संस्कृत अमित्रघात अथवा अमित्रखाद का अपभ्रंश जान पड़ता है।

दक्षिण विजय

कुछ विद्वानों का मत है कि दक्षिण की विजय बिन्दुसार ने की। उनका यह निष्कर्ष तारानाथ के वृत्तांत पर अवलम्बित है। तारानाथ लिखता है कि उसने

---

१. Ind. Ant., १८९२, पृ १५७; Pol. Hist. Anc. Ind., चतुर्थ संस्करण, पृ० २४१।

२. राइस डेविड्स : Epigraphia Carnatica, भाग १, पृ० ३४।

"अपने को पूर्व और पश्चिमी समुद्र के बीच के भूखण्ड का स्वामी बना लिया।"[१] यह निश्चित है कि अशोक ने मैसूर की उत्तरी सीमा के भूभाग पर शासन किया था, यद्यपि विजय उसने केवल कलिंग की की थी। अतः दक्षिण की विजय उसके पिता या पितामह ने की होगी। परन्तु चूंकि चंद्रगुप्त का चरित ओजस्वी, उदात्त और युद्धप्रिय था और जैनानुश्रुति के अनुसार उसका संबंध मैसूर से स्थापित हो जाता है, सम्भवतः यह विजय उसने ही की होगी।

विद्रोह

बिन्दुसार का शासन-काल तूफान और आपत्तियों का था। तक्षशिला में विद्रोह हो गया जिसे उसका ज्येष्ठ पुत्र सुषीम (सुमन) दबा न सका। सुषीम उस प्रांत का शासक था। तब बिन्दुसार को उज्जैन से अशोक को उस ओर भेजना पड़ा और इसने विद्रोह कुचल दिया।

विदेश से सम्पर्क

जान पड़ता है कि बिन्दुसार ने पिता की विदेशी राजाओं से मैत्री की पर-राष्ट्र नीति जारी रखी। उसका संबंध ग्रीक राजाओं से बना रहा। बिन्दुसार और ऐन्टिओकस प्रथम सोटर के बीच एक अद्भुत पत्र-व्यवहार इस सत्य की प्रतिष्ठा करता है। इससे सिद्ध है कि बिन्दुसार ने अपने ग्रीक मित्र से मधुर मदिरा, अंजीर और एक दार्शनिक माँगा। ग्रीक राजा ने उसे उत्तर में लिख भेजा कि उसे पत्र की प्रथम दो वस्तुओं को भेजने में बड़ी प्रसन्नता होगी, परन्तु दार्शनिक वह नहीं भेज सकेगा। क्योंकि उसके देश का कानून इस प्रकार के व्यापार का निषेध करता है। सीरिया के सम्राट् ने बिन्दुसार के दरबार में भी डेइमेकस नाम का अपना राजदूत भेजा।

———

१. तारानाथ के अनुसार चणक (चाणक्य) ने कुछ काल बिन्दुसार का भी मन्त्रित्व किया (Pol. Hist. Anc. Ind., चतुर्थ सं०, पृ० २४३)। बाद में खल्लाटक, जैसा दिव्यावदान (पृ० ३७२) में लिखा है, बिन्दुसार का प्रधान मन्त्री बना।

अध्याय ६

प्रकरण १

अशोक[1]

राज्यारोहण

पुराणों के अनुसार विन्दुसार ने २५ वर्ष राज्य किया। परन्तु पाली ग्रंथों में उसके २७ अथवा २८ वर्ष के शासन का उल्लेख है। पौराणिक तिथि को यदि सत्य माना जाए तो उसकी मृत्यु २७२ ई०पू० में होनी चाहिये। विन्दुसार के बाद उसका पुत्र अशोकवर्धन अथवा अशोक गद्दी पर बैठा। इसने पिता के शासक के अधिकार से उज्जैन और तक्षशिला दोनों प्रान्तीय केन्द्रों से शासन किया था।

राज्य के लिये गृह-कलह

सिंहली-वृत्तान्तों में अशोक को राज्यारोहण के पूर्व निर्दय चित्रित किया गया है। उसमें लिखा है कि उसने अपने सहोदर भाई तिष्य को छोड़ शेष सारे ९९ भाइयों को तलवार के घाट उतार दिया और इस प्रकार रक्त का समुद्र पार कर वह मगध के सिंहासन पर बैठा। अशोक के पाँचवें शिलालेख में भाइयों के प्रति उसके संकेत के आधार पर अनेक विद्वान् सिंहली इतिहासों के इस वृत्तान्त पर संदेह करते हैं। इस अभिलेख का प्रमाण यद्यपि सर्वथा असंदिग्ध नहीं है, क्योंकि इसमें वस्तुत: जीवित भाइयों के नहीं वरन् उनके परिवार के प्रति अशोक की कल्याण-बुद्धि का निर्देश मिलता है, तथापि इसमें संदेह नहीं कि यह दक्षिणी विवरण अतिरंजित है। सम्भव है ऐसा करने में भिक्षुओं का तात्पर्य यह सिद्ध करना रहा हो कि बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होने के पूर्व अशोक अत्यन्त क्रूर और भीषण था, परंतु बौद्ध होते ही वह राक्षस से देवता वन गया। इतना विश्वसनीय अवश्य है कि अशोक का राज्यारोहण स्वाभाविक नहीं हुआ होगा क्योंकि वह अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था। मगध के साम्राज्य का वास्तविक अधिकारी उसका अग्रज सुषीम अथवा सुमन था जो पहले तक्षशिला का शासक रह चुका था और जिसके स्थानीय विद्रोह को न दबा सकने के कारण अशोक को उज्जैन से तक्षशिला जाना पड़ा था। इससे गद्दी पाने के पूर्व अशोक का अपने उस भाई से संघर्ष स्वाभाविक था। उत्तराधिकार का यह संघर्ष सचमुच हुआ यह इससे सिद्ध हो जाता है कि अशोक के राज्यारोहण और राज्याभिषेक के बीच प्राय: ३-४ वर्षों का अन्तर है। अत: राज्याभिषेक की तिथि २६९ अथवा २६८ ई० पू० के लगभग रखी जा सकती है।

---

१. देखिए, मैकफेल : अशोक; स्मिथ अशोक; मुकर्जी : अशोक; भंडारकर : अशोक; वरुआ : अशोक और उसके अभिलेख।

कलिंग युद्ध

अशोक के शासन-काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना कलिंग के साथ उसका युद्ध है जो उसके राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद हुआ था। हमने अन्यत्र यह कल्पना की है कि नंदों का प्रभुत्व इस भाग पर कभी रहा था, इस कारण संभवतः उनके विध्वंस[1] के बाद अथवा बिंदुसार के अशांत राज्यकाल में कलिंग स्वतंत्र हो गया होगा। कलिंग की पुनर्विजय का भार अशोक पर पड़ा। अशोक के आक्रमण के विरुद्ध कलिंग के निवासियों ने पूरी तत्परता दिखाई और उसका सामना करने के लिए एक विशाल सेना रणक्षेत्र में उतर पड़ी। तेरहवें शिलालेख में लिखा है कि "१,५०,०००शत्रु बंदी हुए, १००,००० हत हुए और उनसे कई गुना मर गये।" यह पिछली मृत्युसंख्या संभवतः युद्ध के अनंतर की व्याधियों आदि की ओर संकेत करती है। इससे यह सिद्ध है कि संग्राम भीषण हुआ और कलिंगों के बलिदानों के बावजूद भी उनका देश जीत लिया गया। संग्राम की भीषणता और अवर्णनीय कष्ट ने विजेता के मर्म को छू लिया। अशोक का हृदय इस घटना से इतना द्रवित हुआ कि उसने शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की कि साम्राज्य के विस्तार के लिए वह अब कभी शस्त्र नहीं ग्रहण करेगा[2]। इसके बाद 'भेरीघोष' सदा के लिए मूक हो गया, और 'धम्मघोष' का शांतिप्रद और नेहसिंचित नाद दिगंत में गूंज उठा।

अशोक का व्यक्तिगत धर्म

इस प्रकार अशोक के दृष्टिकोण और उसके जीवन के उद्देश्यों में एक क्रांति हो गयी। उसका हृदय बौद्ध उपदेशों की सादगी और सत्यता से अत्यंत द्रवित हो गया था और उसने इस धर्म को शीघ्र स्वीकार कर लिया। अपने तेरहवें शिलालेख में उसने घोषणा की कि "कलिंग के विजय के शीघ्र बाद देवानांपिय धम्म के अनुकरण, धम्म के प्रेम और धम्म के उपदेश के प्रति उत्साहित हो उठा।" कुछ लोगों ने उसके बौद्ध होने में संदेह किया है, परतु उनकी यह धारणा इसलिए भ्रमपूर्ण है कि ऐतिहासिक अनुश्रुतियों और अभिलेखों के सम्मिलित प्रमाण से बौद्धधर्म के प्रति उसकी निष्ठा प्रमाणित है। भब्रु लेख में उसने बुद्ध, धम्म और संघ, तीनों के प्रति अपनी श्रद्धा घोषित की है और पाठ तथा ध्यान के लिए बौद्ध पुस्तकों के कुछ स्थलों को संघ तथा साधारण उपासकों के लिए प्रस्तुत किया है। सारनाथ के लघु-स्तम्भ-लेख और इसके अन्य पाठों में अशोक ने अपने को बौद्ध धर्म के संरक्षक के स्थान में

---

१. यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है। कलिंगों ने चन्द्रगुप्त को उत्तरी भारत में व्यस्त पाकर अपना बल बढ़ा लिया होगा।

२. इस प्रकार अपने राष्ट्र की युद्ध-विरोधिनी नीति की घोषणा कर अशोक ने 'केल्लग-पैक्ट' को अत्यन्त पूर्व ही कार्यान्वित कर दिया था। पिछले विश्व-समर ने इस पैक्ट के चिथड़े-चिथड़े कर दिये।

रखते हुए संघ-भेदकों के विरुद्ध कुछ दंड-विधान घोषित किये हैं[1]। स्वयं उसने बोधगया (आठवां शिलालेख) और लुम्बिनी (लघु-स्तंभ-लेख[2]) आदि बौद्ध तीर्थ-स्थानों की यात्रा की और यज्ञों तथा ऐसे समाजों को बंद कर दिया जिनमें पशु-वध होता था (प्रथम शिलालेख)। इसके अतिरिक्त अनुश्रुतियों से प्रमाणित है कि पहले आठ स्तूपों में सुरक्षित बुद्ध के भस्मावशेष को उसने वितरित कर अनेक स्तूपों में रखा। इस प्रकार स्तूपों का निर्माण भी इसी निष्कर्ष की ओर संकेत करता है। अन्त में, उसके बौद्ध होने का एक विशिष्ट प्रमाण यह भी है कि बौद्ध सिद्धांतों को स्पष्ट रूप देने के लिए मोग्गलिपुत्त की अध्यक्षता में उसने एक संगीति बुलाई तथा बौद्धधर्म के प्रचार के लिए विदेशों में दूत भेजे।

अशोक की सहिष्णुता

यद्यपि अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था, वह उसका असहिष्णु उपासक किसी प्रकार न था। इसके विरुद्ध उसने अन्य सम्प्रदायों को भी अपनी संरक्षता का लाभ दिया और उनके अनुयायियों का आदर किया। आजीवकों को उसने कुछ गुफाएँ दान दीं और विभिन्न मतावलम्बियों—ब्राह्मण, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि—को अपने पारस्परिक सम्बन्ध में उदारता और सद्भाव रखने के उपदेश किये। उसका विश्वास था कि सभी सम्प्रदायों के अनुयायियों का लक्ष्य "तृष्णाओं का निग्रह और चित्तशुद्धि है" और इस कारण उनको बिना किसी भेदभाव के उसके साम्राज्य में सर्वत्र निवास करना चाहिए (सातवां शिलालेख)[3]। अपने उपदेशों में अशोक ने इस बात पर सबसे अधिक जोर दिया कि उसकी प्रजा आत्मनिग्रह करे और 'बहुश्रुत' हो अर्थात् विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त करे, तथा अन्य सम्प्रदायों के प्रति विद्वेष आदि न करे, जिसमें पारस्परिक सहिष्णुता और सद्भाव बने रहें (द्वादश शिलालेख[4])। निःसंदेह ये भाव सर्वथा उच्च हैं जो विक्षिप्त संसार को भी शांति प्रदान कर सकते हैं।

उसका 'धम्म'

अशोक की उदारता इतनी सार्वभौमिक थी कि उसने कभी अपने व्यक्तिगत धार्मिक विचार प्रजा पर लादने का यत्न नहीं किया। यह महत्वपूर्ण बात है कि

---

१. स्वयं अशोक ने कभी संसार नहीं छोड़ा और वह प्रव्रजित भिक्षु नहीं हुआ यद्यपि दिव्यावदान और ईत्सिंग के वृत्तांत के आधार पर कुछ विद्वान् अशोक को प्रव्रजित मानते हैं। ईत्सिंग ने लिखा है कि उसने भिक्षु के वेष में अशोक की एक मूर्ति देखी थी (J. R. A. S., १६०८, पृ० ४६६)। प्रथम लघु-शिला-लेख के पाठ—"संघं उपयीते"—में केवल अशोक के संघ के पक्ष में अधिक सक्रिय हो जाने का भाव है।

२. सारनाथ, जहाँ बुद्ध ने पहली बार धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया था, और कुशीनगर, जहाँ परिनिब्बान हुआ था, वे नाम अशोक के अभिलेखों में उसकी तीर्थ यात्राओं के संबंध में उल्लिखित नहीं हैं।

३. देखिए, अर्थशास्त्र २, ४ और ३६, शामशास्त्री का अनुवाद, तृतीय संस्करण, पृ० ५४, १६१, जिसमें कौटिल्य पाषण्डों के सर्वत्र बसने के अधिकार को संकुचित कर देता है।

४. द्वादश शिलालेख के हिन्दी अनुवाद के लिए परिशिष्ट १ देखिए।

अपने शिलालेख में उसने बौद्ध धर्म के तात्विक "चार आर्य सत्यों" "अष्टांगिक मार्ग" और निव्वान (निर्वाण) के लक्ष्य का उल्लेख नहीं किया। जिस "धम्म" का रूप उसने संसार के सामने रखा वह प्रमाणतः सारे धर्मों का सार है। जीवन को अपेक्षाकृत सुखी और पावन बनाने के विचार से उसने कुछ आचरणों के विधान किये हैं। उसने माता-पिता, गुरु और वृद्धों की शुश्रूषा और आदर (अपचिति) पर अत्यधिक जोर दिया है। ब्राह्मणों, श्रमणों, सम्बन्धियों, मित्रों, वृद्धों और आर्तों के प्रति दान तथा उचित व्यवहार (सम्प्रतिपत्ति) की उसने सराहना की है। अशोक ने धर्म के निम्न-लिखित गुणों का भी परिगणन किया है : दान, दया, सत्य (सचे), शौच (सोचये), साधुता, संयम, कृतज्ञता, दृढ़भक्तिता (दधभतिता) आदि (द्वितीय स्तम्भ लेख, सप्तम शिलालेख)। इसी को दूसरे प्रकार से अशोक ने इस प्रकार कहा है—क्रोध, नैष्ठुर्य, मान, ईर्ष्या आदि से प्रजनित पाप से मोक्ष ही धर्म है (तृतीय स्तम्भ लेख)। स्पष्टतः ये सारे धर्मों के सार-भूत आधार हैं, अतः अपने सुविस्तृत साम्राज्य के साधनों को किसी विशेष धर्म के प्रचार में उपयोग करने का दोषी अशोक को नहीं ठहराया जा सकता। कर्तव्य की नितान्त असंकुचित व्याख्या तथा सार्वभौमिक धर्म के सर्वप्रथम निरूपण का श्रेय अशोक को ही देना होगा।[1]

विशेषताएं

फिर भी अशोक ने सारे तात्कालिक धर्म-आचारों तथा विश्वासों को अङ्गीकार न किया। प्राणियों के प्रति अहिंसा के सिद्धान्त (अनारम्भो प्राणानां, अविहिंसा भूतानां) पर आचरण करते हुए यज्ञों में पशुवध की वह अनुमति न दे सका। पशु-वध-परक यज्ञों को उसने सर्वथा निषिद्ध कर दिया (प्रथम शिलालेख)। निःसन्देह जिन लोगों का इस प्रकार के यज्ञानुष्ठानों में विश्वास था उनको यह निषेध अन्याय-पूर्ण लगा होगा, परन्तु अपने धर्म के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त पर अशोक किसी प्रकार का समझौता करने को प्रस्तुत न था। कुछ अनुष्ठानों को उसने अनुचित, अश्लील और निरर्थक समझ कर निषिद्ध कर दिया (नवम शिलालेख)। ये अनुष्ठान जन्म, मृत्यु, विवाह, यात्रा आदि के सम्बन्ध में अधिकतर स्त्रियों द्वारा किये जाते थे। अशोक के विचारानुसार वास्तविक धम्म-मंगल जीवन के उचित आचरण में था। इसी प्रकार उसने दान के सम्बन्ध में भी जनता के विचारों को प्रभावित करने का प्रयत्न किया। उसने कहा कि धम्म-दान से बढ़कर कोई दान नहीं और यह 'सेवकों तथा दासों के साथ उचित व्यवहार, माता-पिता के आज्ञाकरण, मित्रों, साथियों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों तथा श्रमणों के प्रति उदारता और यज्ञार्थ प्राणि-वध से विरक्ति' में प्रदर्शित है (एकादश शिलालेख)।

---

१. अशोक अपने विचारों में अपने समय से बहुत आगे था और उसका 'धम्म' आज के अनेक सुधारवादी आन्दोलनों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। देखिए, मुकर्जी : अशोक, पृ० ६०-७६।

धर्म-प्रचार के उद्योग

अशोक ने धर्म-प्रचार में प्रचार की निष्ठा से कार्य किया और प्रथम लघु-शिला-लेख में उसका कहना है कि उसके सक्रिय उद्योग के कारण वर्ष भर में (सम्भवतः एक वर्ष से अधिक काल में[1]) सारे जम्बूद्वीप में जो मनुष्य देवताओं में अयुक्त थे वे उनसे युक्त हो गये[2] ।' यह असाधारण सफलता उसे अपनी उचित धर्म-योजना से मिली। उसने स्वर्ग में पुण्यात्माओं द्वारा अनेक भोगे जाने वाले आनन्दों के दृश्य जनता के सामने रखे। इनमें से कुछ थे विमान-प्रदर्शन, अग्नि-कन्दुक-प्रदर्शन (अगि-कन्धानि) और गज-प्रदर्शन (हस्ति-दसन)। उसकी धारणा थी कि इन प्रदर्शनों से उसकी प्रजा धर्माचरण की ओर आकर्षित होगी। उसने स्वयं आखेट और मनोरंजन की विहार-यात्राओं को छोड़कर धर्म-यात्रायें करनी आरम्भ कीं जिससे अपने आचरण तथा दृष्टांत से वह अपनी प्रजा की धर्म और उदारता में अनुरक्ति उत्पन्न कर सके (अष्टम शिलालेख)। इसी उद्देश्य से, जैसा अशोक सप्तम स्तम्भ लेख में कहता है, उसने "धम्म स्तम्भ खड़े किये, धम्म महामात अथवा धर्म-महामात्र नियुक्त किए और धम्म-सावन अथवा धर्म-श्रावण" किए। धम्म-महामात्रों की नियुक्ति निःसन्देह एक महत्वपूर्ण बात थी। इनका कर्तव्य प्रजा की भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना था।

मानव-कल्याण के कार्य

मनुष्य और पशु के दुःख-निवारण और कल्याण कार्य के प्रति अशोक अब दत्तचित्त हुआ। ऊपर प्रथम शिलालेख में यज्ञों के पशुवध के निषेध की बात कही जा चुकी है। उसी शिलालेख मे प्रमाणित है कि अशोक ने धीरे-धीरे अपनी रसोई में शाकवर्जित-पाक बन्द कर दिए और स्वयं निरामिष हो गया। मांसाहार-नृत्य-संगीत-प्रधान 'समाजों' को उसने सर्वथा बन्द कर दिया। इसी प्रकार पंच स्तम्भ-लेख में पशुओं के अङ्गविच्छेद तथा वध के विरुद्ध कुछ विधानों का उल्लेख है। वह साधुओं, दरिद्रों और पीड़ितों को दान देता था और अपनी रानियों तथा राजकुमारों के दानों का प्रबंध करने के लिए उसने एक प्रकार के उच्चाधिकारियों की नियुक्ति की जिनको 'मुख' कहते थे। द्वितीय शिलालेख के अनुसार अशोक ने मनुष्य और पशुओं की चिकित्सा के अर्थ देश-विदेश में अस्पताल खोले। इस प्रकार के चिकित्सा सम्बन्धी प्रबन्ध दक्षिण के पड़ोसी राज्यों में—चोलों, पांड्यों, सतियपुत्रों, केरलपुत्रों—और ताम्रपर्णी (सिंहल) तथा यवन राज्यों में किए गए (द्वितीय और त्रयोदश शिलालेख)। यवन राजाओं का परिगणन इस प्रकार हुआ है :—अन्तिओक

---

१. अशोक प्रथम लघु-शिलालेख में स्वयं कहता है कि उपासक की ढाई वर्ष की अवधि में उसने उद्योग नहीं किया।

२. 'इमिनां चु कालेन अमिसा समाना मुनिसा जम्बुदीपसि मिसा देवेहि'। इस वाक्य का सही अर्थ कठिन है। तात्पर्य इसका यही है कि उसका उद्योग सफल हुआ और जो लोग धर्म के प्रति उदासीन थे वे धर्मानुरक्त हो गये।

अथवा सीरिया का ऐन्टिओकस द्वितीय थीयस (२६१-४६ ई० पू०), तुरमाय अथवा मिश्र का तालेमी द्वितीय फिलाडेलफ़स(२८५-४७ ई०), अन्तेकिन अथवा मकदूनिया का ऐन्टीगोनस गोनैटस (२७८-३९ ई० पू०), मग अथवा साईरिन का मेगस (३००-२५८ ई० पू०), अलिकसुदरो अथवा एपिरस का अलेक्जंडर (२७२-५८ ई० पू०)।[1] अशोक ने इसके अतिरिक्त प्रत्येक आधे कोस पर कूप और विश्रामगृह बनवाये; जहाँ औषधियों के पौधे न थे वहाँ उन्हें अन्यत्र से लाकर लगवाया। मनुष्यों और पशुओं के लिए (परिभोगाय पशुमनुषानां) उसने वटवृक्ष और आम्रकानन लगवाये। इस प्रकार अशोक ने सारे जीवित प्राणि-जगत् के सुख और कल्याण के अर्थ अथक उद्योग किए क्योंकि उसके प्रेम, उदारता और सहानुभूति की कोई सीमा अथवा अवरोध न था। उसकी कभी यह कामना न थी कि यवन "विदेशी के विधान से", जैसा डा० राइज़ डेविड्स ने अनुमान किया है, अपने देवताओं की पूजा छोड़ दें। परन्तु निःसंदेह अशोक ने अपने दूतों द्वारा शान्ति और स्नेह के सन्देश भेजना अपना कर्तव्य समझा। इन दूतों को उसकी ओर से परार्थ के कार्य सम्पन्न करने की भी हिदायत कर दी गयी जिससे सम्राट् प्राणियों के प्रति अपने ऋण से मुक्त हो सके (भूतानां आनण्यं गच्छेयं)।

तृतीय बौद्ध संगीति

अशोक के राज्याभिषेक के सत्रहवें वर्ष में बौद्ध संगीति[2] का अधिवेशन उसके शासन-काल की दूसरी महत्वपूर्ण घटना थी। यह अधिवेशन बौद्ध धर्म के विविध सम्प्रदायों में सामंजस्य और विभिन्न दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित करने के लिए किया गया। इसकी बैठक मोग्गल्लिपुत्त तिस्स (उत्तरी ग्रंथों के अनुसार उपगुप्त) की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में हुई और नौ मास की निरन्तर बैठक के बाद निर्णय स्थविरों के पक्ष में दिया गया। अधिवेशन के अन्त में अध्यक्ष ने धर्म के प्रचारार्थ दूर देशों में बौद्ध दूत भेजे। मज्झांतिक कश्मीर और गंधार में, मज्झिम हिमालयवर्ती देश में, महादेव महिषमंडल(मैसूर) में, सोन और उत्तर सुवर्ण भूमि (वर्मा) में महा-धर्मरक्षित और महारक्षित क्रमशः महाराष्ट्र और यवन देश में तथा अशोक का प्रव्रजित पुत्र महेन्द्र[3] लंका (सिंहल) में गया। पश्चात् सम्भवतः सम्राट् की कन्या संघमित्रा बोधिवृक्ष की एक शाखा लंका को ले गई। अशोक के काल में बौद्धधर्म का प्रचार और अभिवृद्धि इन्हीं धर्म-दूतों के अथक अध्यवसाय का फल था।

साम्राज्य-विस्तार

यह प्रमाणित सत्य है कि अशोक ने केवल कलिंग की विजय की परन्तु उसने

---

१. अलिकसुदरो कोरिन्थ का अलेक्जेन्डर (२५२—२४४ ई० पू०) नहीं जान पड़ता जैसा ब्लोच ने अनुमान किया है। पाँच यवन राजाओं के प्रति यह उल्लेख अशोक सम्बन्धी तथा अन्य साधारण तिथि-क्रम की समस्याओं को सुलझाने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है।

२. प्रथम संगीति का अधिवेशन महाकश्यप ने राजगृह में बुलाया, और द्वितीय धर्म के कुछ अविहित आचरणों को लिच्छवि प्रदेश में रोकने के लिए वैशाली में बुलाया गया।

३. संस्कृत में लिखे बौद्ध-ग्रंथ और ह्वान च्वांग के लेखानुसार महेन्द्र अशोक का भाई था।

अपने पूर्वजों से एक सुविस्तृत साम्राज्य पाया था जिसकी सीमायें प्रायः सही निर्धारित की जा सकती हैं। उत्तर-पश्चिम में यह सीमा हिन्दूकुश तक पहुंचती थी क्योंकि यह सिद्ध है कि अशोक ने सिल्यूकस निकेटर द्वारा उसके पितामह को दिए गए चारों प्रान्तों पर शासन किया। ये चारों प्रांत एरिया (हिरात), एराकोसिया (कन्वहार), गेड्रोसिया (बिलोचिस्तान, परोपनिसदाइ (काबुल की घाटी) थे। और ये अन्त तक अशोक के अधिकार में बने रहे। दक्षिणी अफगानिस्तान और सीमा प्रांत की भूमि अशोक के साम्राज्य में बनी रही, यह शहबाजगढ़ी (पेशावर जिला) और मानसेहरा (हजारा जिला) के शिलालेखों और हुआन च्वांग के वृत्तान्त से भी प्रमाणित है। हुआन-च्वांग काफिरिस्तान (कपिशा) और जलालाबाद में बनवाये अशोक के स्तूपों का वर्णन करता है।

इसी प्रकार हुआन-च्वांग के वृत्तान्त और कल्हण की 'राजतरंगिणी' से स्पष्ट है कि कश्मीर भी अशोक के शासन में था। श्रीनगर अशोक का ही बसाया हुआ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त उस सुन्दर घाटी से अनेक स्तूपों और चैत्यों के निर्माण का श्रेय भी अनुश्रुतियों ने उसी यशस्वी निर्माता को दे दिया है।

गिरनार और सोपारा (थाना जिला) के अशोक के अभिलेख सौराष्ट्र और दक्षिण-पश्चिमी भारत पर भी उसका स्वामित्व प्रतिष्ठित करते हैं। इसके अतिरिक्त रुद्रदामन के जूनागढ़ वाले शिलालेख से भी विदित है कि यवनराज तुषास्प[1] सौराष्ट्र में अशोक का प्रांतीय शासक था।

उत्तर में अशोक की सत्ता हिमालय पहाड़ तक फैली हुई थी। यह उसके उन अभिलेखों से सिद्ध है जो कलसी (देहरादून जिला), रुमिनदेई और निग्लीव (नैपाल की तराई) में पाए गए हैं। अनुश्रुतियों का प्रमाण सिद्ध करता है कि अशोक ने नैपाल में ललित-पाटन नाम का नगर बसाया जो आज तक खड़ा है और जहाँ अपनी कन्या चारुमती तथा जामाता देवपाल क्षत्रिय के साथ वह गया था।

पूर्व में उसके साम्राज्य में बंगाल भी शामिल था। हुआन-च्वांग ने बंगाल के विविध भागों में, अशोक के अनेक खड़े स्तूपों का उल्लेख किया है और अनुश्रुतियों से भी विदित होता है कि सम्राट् अपने पुत्र और कन्या को सिंहल[2] भेजने के लिए ताम्रलिप्ति (तामलुक) तक उनके साथ गया था। कलिंग जो सम्राट् का एकमात्र विजित प्रांत था निश्चय उसके शासन के अन्तर्गत था। इस प्रांत में उसने दो शिलालेख, धौली (पुरी जिला) और जोगड़ (गंजाम जिला) में, खुदवाये।

---

१. Ep. Ind. भाग ८, पृ० ४६। तुषास्प ईरानी नाम जान पड़ता है यद्यपि उसे यवन कहा गया है।

२. बंगाल का मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत होना महास्थान (बोगरा जिला) के स्तंभ लेख से भी स्पष्ट होता है। यह लेख मौर्य काल की ब्राह्मी लिपि में खुदा हुआ है (देखिए, Ep. Ind, भाग २१, अप्रैल, १९३१, पृ० ८३ और आगे)।

दक्षिण में अशोक के शिलालेख निज़ाम की रियासत में मस्की और इरागुडी तक तथा मैसूर के चीतलद्रुग जिले तक पाए गए हैं। इन स्थानों के दक्षिण चोलों, पांड्यों, सतियपुत्रों और केरलपुत्रों के स्वतन्त्र राज्य थे (द्वितीय शिलालेख)।

पंचम और त्रयोदश शिलालेखों में साम्राज्य के बाहरी प्रांतों में बसने वाली प्रजा का उल्लेख हुआ है। इन जातियों के नाम निम्नलिखित थेः—योन, कम्बोज, गंधार, रष्ट्रिक-पेतनिक, भोज, नाभक-नाभपंक्ति, आंध्र और परिन्द अथवा पालद[1]।

अन्त में अशोक के अभिलेखों में साम्राज्य के कुछ नगरों का भी उल्लेख मिलता है। इनके नाम हैं, बोधगया, तक्षशिला, तोसली, समापा उज्जयिनी, सुवर्ण-गिरि (सोनगिर अथवा कनकगिरि), इसिला, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि अशोक का साम्राज्य उत्तर-पश्चिम में हिन्दू-कुश से पूर्व में बंगाल तक और उत्तर में हिमालय की तराई से दक्षिण में चीतल-द्रुग जिले तक फैला हुआ था। इसमें पूर्व और पश्चिम के अंतिम समुद्र-तटवर्ती भूखंड—कलिंग और सौराष्ट्र—भी शामिल थे। वास्तव में साम्राज्य इतना विस्तृत था कि अशोक का उसे "महालके हि विजितं" अर्थात् "मेरा साम्राज्य सुविस्तृत है" (चतुर्दश शिलालेख)[2] ऐसा लिखवाना नितांत समीचीन है। प्राचीन भारत का कोई सम्राट् इतने सुविस्तृत भूखंड का स्वामी न था।

शासन-प्रबन्ध

अशोक का शासन-प्रबन्ध बहुत कुछ चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन-प्रणाली के अनुसार ही था। यह निरंकुश परन्तु सदय राजतन्त्र था और अशोक ने अपने शासन प्रयोग में प्रजा के पितृत्व की विशेष पुट दी। राजा को उसने प्रजा का पिता कहा और तद्वत् ही उसने स्वयं आचरण किया। अपने द्वितीय कलिंग-लेख में वह कहता है: "सारे मनुष्य मेरी संतान हैं और जिस प्रकार मैं अपनी संतति को चाहता हूँ कि वह सब प्रकार की समृद्धि और सुख इस लोक और परलोक में भोगे ठीक उसी प्रकार मैं अपनी प्रजा के सुख-समृद्धि की भी कामना करता हूँ।" पहले की ही भाँति अब भी राजा को सम्मति प्रदान करने और शासन कार्य में उसका हाथ बटाने के लिए एक मंत्रि-परिषद् का सहकार प्राप्त था (तृतीय और षष्ठ शिलालेख)। प्रांतीय शासन का रूप भी अशोक ने पूर्ववत् ही रखा। मुख्य प्रांत राजकुल के 'कुमार' के शासन में थे। अभिलेखों से विदित होता है कि अशोक के शासन-काल में तक्षशिला, उज्जयिनी, तोसली (धौली), और सुवर्णगिरि (सोनगिर) इस प्रकार के प्रातीय शासकों (वायसराय) की राजधानियाँ थीं। जब तब प्रमुख सामन्त भी प्रांतीय शासक नियुक्त किए जाते थे जैसा सौराष्ट्र की राजधानी गिरनार के लिए नियुक्त

१. रैप्सन ने इनको उत्तर-पश्चिम और दक्षिण की "सीमा प्रान्तीय जातियां" कहा है जो उनके विचार से यद्यपि "राजा के राज्य से बाहर" थीं फिर भी "उसके प्रभाव के अन्तर्गत ही थीं" (Cam. Hist. Ind., खंड १, पृ० ५१४)।

२. पञ्चम शिलालेख में अशोक अपने साम्राज्य को "सव पु (थ) वियं" कहता है।

राजा तुषास्प यवन के प्रमाण से सिद्ध है। अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि इन राजवर्गीय प्रांतीय शासकों के भी अपने-अपने अमात्य थे। बिन्दुसार के समय में तक्षशिला का विद्रोह इन्हीं अमात्यों के विरुद्ध हुआ था। साधारण छोटे प्रांतों के शासक सम्भवतः राजुक कहलाते थे जिनका उल्लेख अभिलेखों में हुआ है और इसी प्रकार प्रादेशिक आधुनिक कमिश्नरों की भाँति विस्तृत भूखंडों के शासक थे। विविध विभागों के प्रधान साधारणतः 'मुख' (सप्तम स्तम्भ-लेख) अथवा महामात अर्थात् महामात्र कहलाते थे। विभाग का नाम प्रधान के पद के साथ जोड़ दिया जाता था। उदाहरणतः अन्तःपुर, नगर, और सीमा प्रान्त के महामात्र क्रमशः स्त्र्यध्यक्ष-महामात्र, नगर व्यवहारक-महामात्र, और अन्त-महामात्र कहलाते थे। शासन के अन्य अधिकारी साधारणतः 'पुरुष' संज्ञा से सम्बोधित होते थे और उनके उच्च, निम्न तथा मध्य, तीन वर्ग थे। इनसे भी निचले वर्ग के अधिकारियों की साधारण संज्ञा 'युक्त' थी।

शासन-सुधार

शासन की सुव्यवस्था के लिए अशोक ने उसमें अनेक सुधार किए। अपनी प्रजा के पार्थिव और आध्यात्मिक कल्याण के लिए 'धम्म-महामातों' का विधान किया। इनका पद सर्वथा नवीन था और इनका कर्तव्य विविध सम्प्रदायों का अर्थ-सावन और उनमें दान-वितरण का प्रबन्ध करना था। इसके अतिरिक्त इनका यह भी कर्तव्य था कि अधिक संतान अथवा आय के आधार पर बंदियों को मुक्त करायें, अथवा दण्ड को कम कराकर और अनावश्यक यन्त्रणा का विरोध कर न्याय की कठोरता को सरल करें (पंचम शिलालेख)।

अशोक ने राजुकों और प्रादेशिकों से लेकर युक्तों तक के लिए पंचवर्षीय अथवा त्रिवर्षीय दौरों (अनुसन्धान) के विधान किए जिससे ये अधिकारी देहात की प्रजा के सम्पर्क में आयें और उनके दुःख को दूर करें (तृतीय शिलालेख और प्रथम कलिंग-शिलालेख)। तीसरी नयी बात जो अशोक ने की वह यह थी कि उसने 'पटिवेदकों' (सूचकों) को आज्ञा दी कि वे सारे महत्वपूर्ण सार्वजनिक विषय प्रत्येक समय उसे सूचित करें (षष्ठ शिलालेख)[1]। चतुर्थ नवीन विधान के रूप में अशोक ने अपने राजुकों को जो "लाखों प्रजा के ऊपर नियुक्त थे" गौरव (अभिहाल) और दंड के प्रदान में स्वतन्त्र कर दिया जिससे वे अपने कर्तव्य-कार्य विश्वास और निर्भीकता-पूर्वक पूरा कर सकें। उनसे यह आशा की जाती थी कि वे दंड (सजा) और व्यवहार (कानून) में समता स्थापित रखें (चतुर्थ स्तम्भलेख)। अन्त में सम्राट् ने एक

१. अशोक ने प्रतिवेदकों के लिए विधान किया कि वे उसको हर समय और हर स्थान पर, चाहे वह भोजन कर रहा हो (भुंजमानस) अथवा अन्तःपुर (ओरोधनंहि) में हो, अथवा गर्भागार (गर्भागारंहि) में हो, अथवा राजकीय पशुशाला (?) (वचंहि), अथवा घोड़े की पीठ पर हो (विनीतंहि—धार्मिक अध्ययन ?) चाहे उद्यान में ही क्यों न हो, बराबर सूचना देते रहें।

और नयी बात यह की कि अपने राज्याभिषेक की वार्षिक तिथि को वह बन्दियों को मुक्त करने (पंचम स्तम्भलेख) और प्राणदंड पाए हुए अभियुक्तों को तीन दिनों का जीवन-दान देने लगा (चतुर्थ स्तम्भलेख)।

समाज

अशोक के अभिलेखों से तत्कालीन समाज पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। उनसे विदित होता है कि धार्मिक सम्प्रदायों में मुख्य ब्राह्मण, श्रमण और अन्य 'पाषण्ड' थे और इनमें प्रमुख आजीवक और निर्ग्रन्थ (जैन) थे। ये परिव्राजक और भिक्षु अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार सत्य का प्रचार करते थे। ये ज्ञान का प्रसार उपदेश तथा कथोपकथन द्वारा करते थे। इनके अतिरिक्त गृहस्थ तो थे ही, और अभिलेखों में चारों वर्णों का उल्लेख हुआ है। वे हैं: ब्राह्मण, सैनिक और उनके सामंत (भटमाय) जो क्षत्रिय थे, इभ्य अथवा वैश्य (पंचम शिलालेख); और दास तथा सेवक (दासभटक), अर्थात् शूद्र। सौभाग्य के अर्थ लोग अनेक अनुष्ठान करते थे और परलोक अथवा स्वर्ग में भी उनकी आस्था थी। पशुवध के विरुद्ध अशोक के अनेक नियमों और प्रतिबंधों (पंचम स्तभलेख) से विदित है कि तत्कालीन समाज में मांसभक्षण साधारणतः होता था। यदि स्वयं अशोक के उदाहरण से निष्कर्ष निकाला जाए तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि अभिजात वर्ग बहुपत्नीक विवाह का समर्थक था। पंचम शिलालेख में उल्लिखित अवरोधों से प्रमाणित है कि स्त्रियों की स्वतंत्रता पर प्रतिबंधों की कमी न थी।

इमारतें

अशोक का यश केवल उसकी धर्म-विजय पर ही नहीं वरन् कला और वास्तु के क्षेत्रों में उसके निर्माण कार्यों पर भी अवलम्बित है। अनुवृत्त ने कश्मीर में श्रीनगर तथा नैपाल में ललित पाटन नगर के निर्माण का श्रेय उसे दिया है। फाह्यान के लेखानुसार उसने राजभवन और राजधानी के सम्बन्ध में भी प्रभूत निर्माण कार्य किये। अपने सुविस्तृत साम्राज्य में बुद्ध[1] के अस्थ्यवशेषों की रक्षा के अर्थ उसने अनन्त स्तूप बनवाये। इसके अतिरिक्त उसने भिक्षुओं के आवास के अर्थ विहार तथा दरी-गृहों का भी निर्माण कराया। अभाग्यवश उसकी इमारतों के भग्नावशेष अत्यन्त अल्पसंख्यक हैं। उसके निर्माण-क्षेत्र में विशिष्ट स्थान उन विशाल स्तंभों का है जो चुनार के पत्थर के बने हुए हैं, जो तौल में प्रायः पचास टन हैं और जिनकी साधारण ऊँचाई ४० से ५० फीट तक की है। ये नीचे चौड़े और ऊपर पतले हैं, और एक ही पत्थर से निर्मित हैं। उनका शीर्ष उस शैली में बना है जिसको लाक्षणिक रूप से ईरानी घंटाशीर्ष कहते हैं, परन्तु जिसे हैवेल ने निम्नाभिमुख कमल कहा है।

१. बुद्ध के निर्वाण के बाद आठ हकदारों ने उनके भस्म के भाग पाए और प्रत्येक ने अपने भाग पर एक-एक स्तूप का निर्माण किया। किंवदन्तियों का कहना है कि अशोक ने इन स्तूपों से बुद्ध के अवशेषों को निकाल कर ८४,००० स्तूपों में रखा जिनका उसने इसी अर्थ निर्माण कराया।

इन स्तंभों के अन्य भाग प्रतीकों से सुशोभित हैं। शीर्ष का भेरीनुमा सामना विविध आकृतियों से आभूषित है और ऊपर सिंह, वृषभ, गज, अथवा अश्व में से कोई सर्वतोभद्रिका आकृति तक्षित है। इन आकृतियों का निर्माण इतना स्वाभाविक, अद्भुत और सजीव हुआ है कि विद्वानों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि यह कला विदेशी ग्रीक अथवा पारसी शैली से प्रभावित हुई थी। इसमें सन्देह नहीं कि इन स्तंभों की मूर्तिकला की जब 'पारखम-यक्ष' की मूर्ति से तुलना की जाती है तब वह सर्वथा एक पहेली खड़ी करती है और जब तक कि हम उसका मूल विदेशी शैली में स्थापित न करें अथवा यह न मान लें कि तब भारत में सहसा कला का एक स्रोत फूट पड़ा था, हम इस पहेली को सुलझा नहीं सकते। दूसरी बात यह है कि इन स्तंभों के ऊपर की पालिश इतनी अद्भुत है कि वह दर्शकों को अचरज में डाल देती है। इसी भ्रम में पड़ कर कुछ विद्वानों ने इन्हें धातु-निर्मित समझ लिया था। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस प्रकार की पालिश पश्चात्कालीन कला में नहीं मिलती जो हमें इस निष्कर्ष को स्वीकार करने में विवश करती है कि अशोक के बाद सम्भवतः इसका लोप हो गया। विन्सेंट स्मिथ ने सही कहा है कि इन स्तंभों का "निर्माण, स्थानांतर और स्थापना मौर्ययुगीय शिल्प-आचार्यों और शिला-तक्षकों की बुद्धि और कुशलता के प्रति अद्भुत प्रमाण प्रतिष्ठित करते हैं।"[1]

अशोक के अभिलेख

अशोक के अभिलेख[2] अद्भुत ऐतिहासिक भंडार प्रस्तुत करते हैं। इनसे हमें उस महान् सम्राट् के आदर्शों और अन्तर्भावनाओं का ज्ञान होता है और सदियों पूर्व उच्चारित उसके शब्द जैसे इस विस्तृत काल प्रसार का अतिक्रमण कर स्पष्ट सुन पड़ते हैं। ये अभिलेख जो "असम अदिक्कण उलझे और द्विरुक्तियों से भरे हैं"(राइज डेविड्स) निम्नलिखित विविध वर्गों में विभाजित हो सकते हैं :—

(१) दो लघु शिलालेख—इनमें से नं० २ सिद्धपुर, जटिंग रामेश्वर, ब्रह्मगिरि में पाया गया है। ये तीनों स्थान मैसूर के चीतलद्रुग जिले में हैं। नं० १ ऊपर के तीनों स्थानों में तो मिला ही है इनके अतिरिक्त यह रूपनाथ (जबलपुर जिला), सहसराम (आरा जिला), बैराट (जयपुर के समीप), मास्की, गवीसठ, पल्कीगुन्डू और इरागुड़ी में भी पाया गया है। पिछले चारों स्थान निजाम की रियासत में हैं।

(२) भब्रू शिलालेख।

---

१. Ashoka, तृतीय सं०, पृ० १२०-२१।

२. अपने अभिलेखों में अशोक सर्वत्र अपने को "देवानं पिय पियदसि राजा" कहता है, अपना नाम नहीं लेता। केवल प्रथम लघु-शिलालेख के मस्की पाठ में उसका अशोक नाम लिखा मिलता है। अन्य अभिलेखों में, जिनमें उसका नाम खुदा मिला है एक रुद्रदामन् का जूनागढ़ वाला लेख है जिसकी तिथि ७२=१५० ईसवी है (Ep. Ind., ८, पृ० ३६-४९), और दूसरा कुमारदेवी का सारनाथ वाला अभिलेख है (वही, ९, ३१९-२८)।

(३) चतुर्दश शिलालेख १४ की संख्या में ये शिलालेख निम्नलिखित स्थानों पर मिले हैं :—शाहबाजगढ़ी (पेशावर जिला), मंसेहरा (हजारा जिला), गिरनार (जूनागढ़ के समीप), सोपारा (थाना जिला), कालसी (देहरादून), धौली (पुरी जिला), जौगढ़ (गंजाम जिला) इरागुड़ी (निजाम की रियासत)।

(४) धौली और जौगढ़ के दो पृथक् कलिंग अभिलेख जो एकादश, द्वादश और त्रयोदश शिलालेखों के बजाय लिखे मिलते हैं।

(५) बराबर दरी गृह के तीन अभिलेख।

(६) सात स्तम्भ अभिलेख जो निम्नलिखित स्थानों पर मिले हैं :—तोपरा दिल्ली, मेरठ-दिल्ली, कौशाम्बी-इलाहाबाद; रामपुरवा, लौरिया—अरराज, लौरिया-नन्दनगढ़। इनमें से अंतिम तीन स्थान विहार के चम्पारन जिले में हैं।

(७) रुम्मिनदेई और निग्लिव के दो तराई अभिलेख।

(८) सांची, कोशाम्वी-इलाहाबाद और सारनाथ के लघु-स्तंभ-लेख।

शाहबाजगढ़ी और मन्सेहरा के लेख खरोष्ठी लिपि में खुदे हैं जो अरबी की भांति दाहिनी से बाईं ओर लिखी जाती है। शेष सारे लेख ब्राह्मी लिपि में हैं जो वर्तमान नागरी लिपि का मूल है और जो बाईं से दाहिनी ओर को लिखी जाती है।

अशोक का चरित्र

अशोक निःसंदेह प्राचीन जगत् के महत्तम व्यक्तियों में से है। इतिहास के महान् व्यक्ति कान्सटेनटाइन, मार्कस आरीलियस, अकबर, खलीफा उमर और दूसरों के साथ उसकी तुलना की गयी है। ये तुलनायें वास्तव में सर्वथा उचित नहीं हैं। अशोक उदारता की मूर्ति था और मानवता का सबसे बड़ा पुजारी। उसकी सहानुभूति और स्नेह मानव जगत को लांघ कर प्राणिमात्र तक पहुँचते थे। उसको अपने कर्तव्य का गहरा ध्यान रहता था जिस कारण उसने अपने पद और स्थान से सम्बन्धित सुख तक को त्याग दिया और जिसके सम्पादन के अर्थ वह निरंतर श्रम करता था। हर घड़ी और हर स्थान पर शासन का कार्य और प्रजा के कल्याण सम्पन्न करने को वह तत्पर रहता था। अपने साम्राज्य के सारे साधन उसने मनुष्य मात्र के दुःख-मोचन और अपने 'धम्म' के प्रचार के अर्थ लगाये। वस्तुतः प्राणिमात्र विशेषकर अपनी प्रजा के हित और सुख की भावना उसके जीवन में इतनी प्रबल हो गयी थी कि अपने कार्यों और परिश्रम से वह कभी संतुष्ट न हो पाता था। उसके शासनकाल में कला को अद्भुत शक्ति और स्फूर्ति मिली और पाली अथवा मागधी जिसमें उसके अभिलेख खुदे हैं, भारत की राष्ट्रभाषा बन गयी। परंतु इसमें संदेह नहीं कि अशोक की 'धम्मविजय' संबंधी नीति के कारण राजनीतिक महत्ता को अवश्य धक्का लगा। कलिंग की विजय के बाद मौर्य-प्रसार-नीति को उसने सहसा रोक दिया और इस प्रकार अपने 'धम्मविजय' के कारण मगध का विस्तार भी रोक दिया। जनता का सामरिक उत्साह जो ठंडा पड़ गया उससे देश विदेशी लुटेरों का

शिकार हो चला। भारत की उत्तरी सीमा के समीप ही बाख्त्री (बल्हीक) में ग्रीकों का एक उपनिवेश राज्य था। उस आधार से उन राजाओं के आक्रमण का आरंभ हुआ जिनको भारतीय इतिहास में हिंदू-ग्रीक कहते हैं। शीघ्र इन विदेशी चोटों से भारत क्षत-विक्षत हो उठा और इसका दूरस्थ कारण निःसंदेह अशोक की अराजनीतिक करुण नीति थी।

प्रकरण २

अशोक के उत्तराधिकारी

अशोक के उत्तराधिकारी

२३२ ई० पू० में ४० वर्षों[1] के दीर्घ शासन के बाद अशोक का निधन हुआ। उसके सशक्त करों से राजदंड के छूटते ही मौर्य वंश के भाग्य निम्नाभिमुख हो चले। उसके उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में अनुश्रुतियाँ परस्पर विरोधी हैं। परंतु उनके सम्मिलित संकेत से स्पष्ट है कि इन उत्तराधिकारियों में से कोई अशोक की ऊँचाई न प्राप्त कर सका। अशोक के पुत्रों में केवल तीवर का नाम उसके अभिलेखों में मिलता है जो संभवतः अपने पिता के राज्य काल में ही मर गया। फिर हम उसका नाम नहीं सुनते। अशोक का दूसरा पुत्र, जालौक, शैव था और राजतरंगिणी के प्रमाण से विदित होता है कि वह अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् कश्मीर में स्वतंत्र हो गया। तीसरे पुत्र कुणाल (सुयशस् ?) ने, वायुपुराण के अनुसार, आठ वर्ष राज्य किया, यद्यपि दक्षिणी ग्रन्थों में उसे अंधा कह कर सिंहासन से वंचित कर दिया है। इस प्रकार अशोक के पुत्रों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यंत न्यून और अस्पष्ट है। अशोकावदान में एक दूसरी ही कथा कही गयी है। उससे जान पड़ता है कि संघ को निःशेष धन दान कर देने के कारण मंत्रियों के दबाव से अशोक को कुणाल[2] के पुत्र (अपने पौत्र) सम्प्रति के पक्ष में गद्दी छोड़ देनी पड़ी। अनुश्रुतियों का वक्तव्य है कि सम्पदि अथवा सम्प्रति, जिसकी राजधानी उज्जैन थी, जैन सम्प्रदाय का बड़ा संरक्षक और पोषक था। परंतु वायु और मत्स्य पुराणों से विदित होता है कि सम्प्रति से पहले अशोक के एक और पौत्र दशरथ ने राज्य किया। नागार्जुनी गुफा लेख से दशरथ की ऐतिहासिकता प्रमाणित है। इन अभिलेखों में आजीविकों के प्रति उसके दान का जिक्र है। विन्सेंट स्मिथ ने इस विरोध की समस्या को यह कह कर हल करने का प्रयत्न किया है कि अशोक के निधन के बाद उसका साम्राज्य संभवतः दो भागों में विभक्त हो गया, जिसका पूर्वी भाग दशरथ को और पश्चिमी

---

१. विन्सेन्ट स्मिथ एक तिब्बती अनुवृत्त के आधार पर अशोक का तक्षशिला में मरना मानते हैं (The Oxford History of India, पृ० ११६)। परन्तु इस प्रमाण की पुष्टि नहीं होती।

२. कहा जाता है कि कुणाल का नाम अपने नेत्रों की सुन्दरता के कारण पड़ा था और उसके नेत्र विमाता तिष्यरक्षिता की ईर्ष्या के फलस्वरूप निकाल लिए गए थे।

सम्प्रति को मिला[१]। परंतु उपलब्ध प्रमाणों से इस दृष्टिकोण की सत्यता स्थापित नहीं हो पाती, क्योंकि कुछ जैन पाठों में सम्प्रति को सारे भारत का राजा कहा गया है और उसकी राजधानी को उज्जैन के बजाय पाटलिपुत्र लिखा है। अतः यह जान पड़ता है कि दशरथ और सम्प्रति दोनों ऐतिहासिक व्यक्ति थे और इनमें से प्रथम ने दूसरे से पहले राज्य किया। सम्प्रति के उत्तराधिकारी नाम मात्र को राजा थे[२], और उनके शासन-काल में मौर्य शक्ति अघोध: गिरती गयी। अंत में बृहद्रथ अपने ही सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग के हाथों मारा गया और मगध का शासन इस नये ब्राह्मण कुल के हाथ चला गया।

मौर्यों के पतन के कारण

मौर्य शासन की समाधि पर खड़े होने पर स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि अशोक के निधन के इतने शीघ्र बाद ही क्यों इस साम्राज्य का पतन हुआ। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री[3] का विचार है कि इसका कारण अशोक की नीति के विरुद्ध ब्राह्मणों का वैमनस्य था। अशोक ने यज्ञों के निषेध, धम्म-महामात्रों की नियुक्ति और व्यवहार तथा दंड की अपनी अविषम समता के विधान में उनको नितांत विद्वेषी बना लिया था। इन विधानों ने ब्राह्मणों को कुपित कर दिया। यज्ञानुष्ठान का निषेध उन्होंने बेजा समझा और कानूनी समता को अपने पद पर आघात। इन विधानों ने कुछ सीमा तक ब्राह्मणों के वैमनस्य को निश्चय बढ़ाया जिसकी परिणति अंतिम मौर्य सम्राट् की ब्राह्मण सेनापति द्वारा हत्या में हुई। परंतु इसके अतिरिक्त इस विशाल साम्राज्य के पतन के अन्य कारण भी थे। अशोक के उत्तराधिकारी नितांत दुर्बल थे और प्रांतों में पृथक्त्व की भावना बलवती हो चली थी, क्योंकि यह प्रमाणित है कि जालौक (राजतरंगिणी) और वीरसेन (तारानाथ) अशोक के निधन के बाद ही कश्मीर और गंधार में स्वतंत्र हो गये थे। जो शासक सीमा प्रांतों में नियुक्त थे उन्होंने भी केन्द्रीय शासन की इस दुर्बलता से लाभ उठाया और वे भी प्रायः स्वतंत्र हो गये। अपने प्रांतों में उनके अत्याचार की सीमा न रही। उनको संयत और मर्यादित रखने के लिए अशोक अब जीवित न था और जनता में उनके प्रति विरक्ति और क्षोभ तीव्र गति से बढ़ चले। साम्राज्य की शक्ति नष्ट हो चुकी थी और जब तूफान उठा तब उसके प्रांत शीघ्र तितर-बितर हो गये।[४]

परिशिष्ट १

द्वादश शिलालेख (सहिष्णुता अभिलेख) का अनुवाद

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा सारे सम्प्रदायों का आदर करते हैं, प्रव्र-

१. E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० २०३।
२. देखिये, परिशिष्ट २।
३. J. A. S. B., १९१२, पृ० २५९ और आगे।
४. देखिये, रायचौधरी (Pol. Hist. Anc. Ind.), चतुर्थ सं०, पृ० २९३-३०५

जितों का भी, गृहस्थों का भी; विविध प्रकार के दान-विसर्जन से वे उनका आदर करते हैं। परन्तु देवताओं के प्रिय इन दोनों और गौरवों से इस बात का मूल्य अधिक मानते हैं कि किस प्रकार सारे धार्मिक सम्प्रदायों के मूल स्तर का विकास हो। इस आधारभूत तत्त्व का विकास अनेक प्रकार का है परंतु उनका मूल है वाक् संयम अर्थात् अपने सम्प्रदाय का गुणगान और दूसरों के सम्प्रदायों का दोष परिगणन निराधार न हो। इस प्रकार की साम्प्रदायिक अवमानना केवल स्पष्ट और शुद्ध आधारों पर ही होनी चाहिये। इसके विरुद्ध अन्य सम्प्रदायों की प्रशंसा उनके विभिन्न आधारों पर होनी चाहिए। ऐसा आचरण कर व्यक्ति अपने संप्रदाय का विकास करता है और दूसरे सम्प्रदायों को भी लाभ पहुँचाता है। इसके विरुद्ध आचरण से वह अपने सम्प्रदाय की क्षति तो करता ही है दूसरे संप्रदायों का भी वह अनिष्ट करता है। भाव यह है कि जो कोई अपने संप्रदाय को गौरव देता है और दूसरों के सम्प्रदायों की अपने सम्प्रदाय की भक्ति के कारण अवमानना करता है, इस विचार से कि "मैं किस प्रकार अपने धर्म का गौरव बढ़ाऊँ" वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय का गहरा अनिष्ट करता है। अतः सहिष्णुता ही प्रशंसनीय है, इस अर्थ में कि सभी दूसरों के सिद्धान्त सुनें और सुनने को तत्पर रहें। देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है कि सारे सम्प्रदाय बृहत् ज्ञान प्राप्त करें और सुन्दर सिद्धान्त सीखें। और जो अपनी-अपनी भक्ति में संतुष्ट हैं उनको यह बता देना चाहिए कि देवताओं का प्रिय दान अथवा बाह्य गौरव को इतना श्रेय नहीं देता जितना सब सम्प्रदायों के आधारभूत तत्त्व के विकास और प्रसार को............।'[1]

---

१. राधाकुमुद मुकर्जी : Ashoka पृ० १५८-१६०, २३२।

परिशिष्ट २

मौर्यों की वंश-तालिका

———
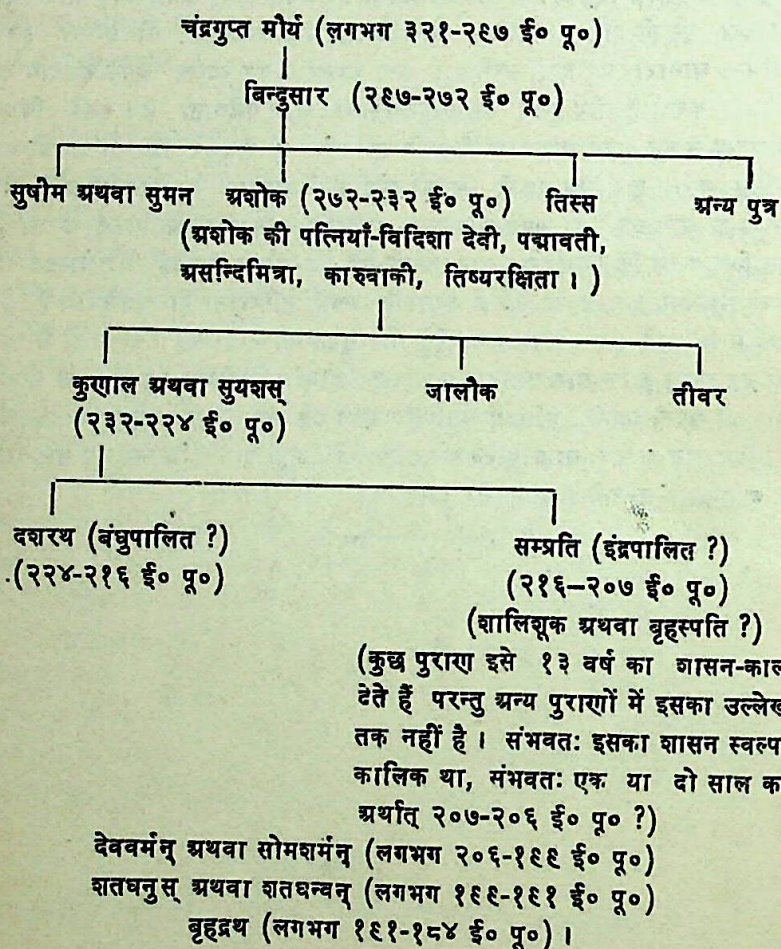
अध्याय १०

१. ब्राह्मण साम्राज्य

प्रकरण १

शुंग साम्राज्य

मौर्य वंश का अन्त

पुराणों के अनुसार पुष्यमित्र शुंग ने १८४ ई० पू० के लगभग मौर्य वंश का अन्त कर मगध का सिंहासन स्वायत्त कर लिया ।[1] हर्षचरित में बृहद्रथ की हत्या का हवाला मिलता है । उसमे लिखा है कि सेना का निरीक्षण करते समय राजा का वध सेनानी ने कर डाला ।[2] संभवतः बृहद्रथ अत्यंत दुर्बल (प्रज्ञा-दुर्बल) राजा था और पुष्यमित्र को सारी सेना की पूरी सहायता उपलब्ध थी, नहीं तो सेना के सामने ही खुले मैदान में वह अपने स्वमी को कभी मार न सका होता ।

शुंग कौन थे ?

शुंग वर्ण से ब्राह्मण जान पड़ते हैं । विख्यात वैयाकरण पाणिनि इनका सम्बन्ध भारद्वाज गोत्र से स्थापित करता है और आश्वलायन-श्रौतसूत्र में इन्हें आचार्य[3] कहा गया है । तारानाथ भी पुष्यमित्र को ब्राह्मण और किसी राजा का पुरोहित कहता है । एक स्थान पर तो उसने उसे 'ब्राह्मण राजा' तक कहा है ।[4]

वास्तव में शांत और चिंतक ब्राह्मण के इस शस्त्र-धारण कर्म में किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं, क्योंकि आवश्यकतावश उनके शस्त्र-ग्रहण का विधान मनु ने

---

१. पुष्यमित्रस्तु सेनानीः समुद्धृत्य बृहद्रथम्······।

२. हर्षचरित—प्रज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम् ।।

(देखिए, कावेल और थामस का अनुवाद भी, पृ० १९३; हर्षचरित ६, पृ० १९९, बम्बई सं०, १९२५) ।

३. १२, १३, ५; भरद्वाजा शुङ्गाः कृताः शौशिरयः । देखिए Pol. His. Anc. Ind., चतुर्थ सं०, पृ० ३०७-३०८ । दिव्यावदान भ्रमवश पुष्यमित्र को मौर्य पुष्यधर्म का पुत्र कहता है (२९, पृ० ४३३) । कुछ प्राचीन ग्रन्थों में कश्यपगोत्रीय बैम्बिकों के साथ शुंगों का सम्बन्ध स्थापित किया गया है (Pol. Hist. Anc. Ind., चतुर्थ सं० पृ०, ३०७ और नोट) ।

४. शीफ़नर का अनुवाद, अध्याय १६ ।

किया है (८, ३४८)[१]। फिर महाभारत के द्रोण और अश्वत्थामा के उदाहरण के अतिरिक्त हमें ग्रीक लेखकों के प्रमाण भी उपलब्ध हैं जिनसे सिद्ध है कि सिंधु की निचली घाटी में ब्राह्मणों ने सशस्त्र होकर सिकन्दर की राह रोकी थी। द्वितीय शताब्दी ई० पू० के प्रथम चरण में इसी प्रकार भारत वाह्य आक्रमणों से आशंकित हो उठा था और इस विपत्ति से उसकी रक्षा के लिए पुष्यमित्र ने तलवार उठाई।[२]

घटनाएँ

(क) विदर्भ से युद्ध :—पुष्यमित्र के राज्यकाल की पहली घटना विदर्भ से युद्ध थी। मालविकाग्निमित्र के अनुसार विदर्भ का राज्य अभी निकट पूर्व में ही स्थापित हुआ था और उस नाटक में वहाँ का राजा यज्ञसेन, जो मौर्य अमात्य का सम्बन्धी था, शुंगों का 'स्वाभाविक शत्रु' कहा गया है। जान पड़ता है कि वृहद्रथ के वध के बाद जो अराजकता हुई उसमें यज्ञसेन विदर्भ में स्वतन्त्र हो गया। परन्तु पुष्यमित्र ने जैसे ही उससे छुट्टी पाई, उसने यज्ञसेन से आत्मसमर्पण करने को कहा। इस संघर्ष का क्रम सर्वथा स्पष्ट नहीं है परन्तु इतना जान पड़ता है कि पुष्यमित्र के पुत्र और विदिशा के शासक अग्निमित्र ने सफल शक्ति और नीति के साथ विदर्भ के विरुद्ध लड़ाई की। यज्ञसेन के चचेरे भाई माधवसेन को उसने अपनी ओर मिला लिया, और फिर इस संघर्ष के अंत में विदर्भ का राज्य उसने अपने आधिपत्य में दोनों भाइयों के बीच बाँट दिया।

(ख) यवन-आक्रमण—पुष्यमित्र के समय में भारत दारुण यवन आक्रमणों का लक्ष्य बन गया। विख्यात वैयाकरण पतंजलि जो पुष्यमित्र के समकालीन थे (यह नीचे प्रमाणित किया जाएगा), यवनों के मध्यमिका (चित्तौर के समीप नगरी) और साकेत (अयोध्या) के घेरों का उल्लेख करते हैं। अनद्यतन भूतक्रिया के उदाहरण देते समय उन्होंने इसका उल्लेख किया है जो घटना को लेखक के काल से पूर्व परन्तु उसकी स्मृति में संरक्षित कर देता है। उदाहरण इस प्रकार है: अरुणद् यवनः साकेतं (ग्रीकों ने साकेत को घेरा); अरुणद् यवनो मध्यमिकां (ग्रीकों ने मध्यमिका घेरी)[3]। इस प्रमाण को गार्गीसंहिता भी यह कहकर पुष्ट करती है कि दुष्ट विक्रान्त यवनों ने मथुरा, पंचाल देश (गंगा का द्वाब) और साकेत को जीत लिया और वे कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) तक जा पहुँचे। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र में भी वसुमित्र द्वारा सिंधु[४] तट पर यवनों की —सम्भवतः उनकी अग्रसेना की—

१. देखिये—सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ।। (मनुस्मृति १२, १००)।

२. राज्य के सम्बन्ध में पाणिनि के नियम (६, २, १३०) की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने 'ब्राह्मण राज्य' को सर्वोत्तम कहा है। क्या इससे यह निष्कर्ष निकल सकता है कि पतंजलि ब्राह्मण राज्य के निवासी थे।

३. महाभाष्य, ३, २, १११।

४. विन्सेन्ट स्मिथ का विचार है कि यह नदी "अब बुन्देलखण्ड और राजपूताना की

पराजय लिखी है। हमें ठीक-ठीक ज्ञात नहीं कि यह 'यवन सेनापति जिसने भारत पर आक्रमण किया, कौन था। कुछ विद्वान उसको डेमिट्रियस और अन्य उसे मेनेंडर मानते हैं। स्ट्रेबो के अनुसार दोनों ही महान् विजेता थे और दोनों ने ही ग्रीक पताका दूर देशों में फहराई थी।

(ग) अश्वमेध यज्ञ—अश्वमेध का अनुष्ठान पुष्यमित्र के राज्यकाल की एक महत्वपूर्ण घटना थी। मालविकाग्निमित्र और पतंजलि दोनों ने इसका उल्लेख किया है। पतंजलि तो वस्तुतः इस यज्ञ में स्वयं ऋत्विज बने थे जैसा उनके वक्तव्य से—"इह पुष्यमित्रं याजयामः" (यहाँ हम पुष्यमित्र का यज्ञ कराते हैं)—प्रमाणित है। यह उदाहरण भाष्यकार ने अपूर्ण घटना को उद्धृत करने के लिए वर्तमान के सम्बन्ध में दिया है। अयोध्या के लेख[1] से भी विदित होता है कि पुष्यमित्र ने एक ही नहीं दो अश्वमेध किए। जायसवाल का अनुमान है कि पुष्यमित्र ने दूसरा अश्वमेध कलिंग के राजा खारवेल से पराजित होने के बाद किया। परन्तु नीचे हम प्रमाणित करेंगे कि इन दोनों राजाओं की समकालीनता अत्यन्त संदिग्ध है।

राज्य का विस्तार

यदि हम दिव्यावदान और तिब्बती इतिहासकार तारानाथ का प्रमाण मानें तो यह स्पष्ट है कि पुष्यमित्र का अधिकार पंजाब में जालंधर और शाकल (स्यालकोट) पर भी स्थापित था। दिव्यावदान से विदित होता है कि पाटलिपुत्र राजधानी बनी रही। अयोध्या के ऊपर पुष्यमित्र का अधिकार वहाँ पाए गए एक अभिलेख[2] से प्रमाणित है। और मालविकाग्निमित्र के अनुसार पुष्यमित्र के साम्राज्य में विदिशा और नर्मदा तक के दक्षिणी प्रांत भी शामिल थे। जान पड़ता है कि पुष्यमित्र ने अपने साम्राज्य का विभाजन कर दिया था जो वायुपुराण के एक उल्लेख से स्पष्ट है—

पुष्यमित्रसुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः।

अर्थात्—पुष्यमित्र के आठों पुत्र सम्मिलित रूप से राज्य करेंगे[3]।

पुष्यमित्र की दमन-नीति

दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र बौद्ध धर्म के प्रति असहिष्णु था, और

रियासतों के बीच की सीमा निर्धारित करती है (E. H. I., चतुर्थ सं, पृ० २११)। परन्तु इस नदी का पंजाब का सिन्धुनद होना भी सम्भव है (I. H. Q., १९२५, पृ० २१४ से आगे; और देखिए, J. U. P. Hist. Soc., जुलाई, १९४१, पृ० ९—२०)।

१. Ep. Ind., २० (अप्रैल, १९२०), पृ० ५४—५८। कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य......।

२. अयोध्या प्रान्तीय शासन का केन्द्र जान पड़ता है। यह कोशलाधिप धन (देव अथवा भूति) जिसके सिक्के मिले हैं, था। उसको पुष्यमित्र का छठा पुत्र—"पुष्यमित्रस्य षष्ठेन"—कहा गया है। कुछ विद्वान् इस संकेत में पुष्यमित्र का पुत्र नहीं, भाई का आभास पाते हैं।

३. मिलाइये, "पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुत्पाट्य वै राज्यम्।"

उसमें लिखा है कि साकल में उसने प्रत्येक बौद्ध-भिक्षु के मस्तक के लिए सोने के सौ दीनार देने की घोषणा की[1]। तारानाथ का भी कहना है कि पुष्यमित्र बौद्ध-विरोधियों का मित्र था और उसने बिहार जला दिये और भिक्षुओं का वध किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुष्यमित्र ब्राह्मण-धर्म का संरक्षक और उत्साही हिन्दू था परन्तु भारहुत (नागोद रियासत) के बौद्ध स्तूप और वेदिका (वेष्टनी=रेलिंग) "जिनका निर्माण शुंगों के शासन में हुआ था[2]" निःसन्देह दिव्यावदान की कहानी के विरुद्ध पड़ते हैं और पुष्यमित्र की असहिष्णुता को निर्मूल कर देते हैं। यदि यह माना जाए कि ऊपर का उल्लेख पुष्यमित्र के काल के सम्बन्ध में नहीं है तभी इस निष्कर्ष को बदला जा सकता है।

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी

३६ वर्ष राज्य करने के बाद लगभग १४८ ई० पू० पुष्यमित्र का निधन हुआ। उसका पुत्र अग्निमित्र, जो विदिशा के शासक की हैसियत से राजतन्त्र में दक्ष हो चुका था, पिता की गद्दी पर बैठा। उसने केवल आठ वर्ष राज्य किया और तब शासन-भार संभवतः उसके भाई सुज्येष्ठ अथवा सिक्कोंवाले जेठमित्र (ज्येष्ठमित्र) के ऊपर पड़ा। उसके बाद अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र राजा हुआ। वसुमित्र ने अपने पितामह के राजसूय के अवसर पर उसके अश्व की रक्षा की थी और उसके भ्रमण के क्रम में उसने यवनों को पराजित किया था। इस शुङ्ग कुल में १० राजा हुए, परंतु शेष के संबंध में इतिहास प्रायः मूक है। इनमें से एक पाँचवाँ ओद्रक अथवा, जैसा कुछ विद्वानों का मत है, नवाँ भागवत संभवतः बेसनगर-स्तंभ-लेख का काशीपुत्र भागभद्र ही है। इसी राजा की सभा में तक्षशिला के प्रभु ऐन्टीआल्कीडस् (अन्तलिकित) ने दियन (दिय) के पुत्र हेलियोडोरस (हेलिवोदोर) को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। हेलियोडोरस उस अभिलेख में अपने को "भागवत"[3] कहता है।

शुंगकालीन धर्म, कला और साहित्य

बेसनगर-स्तंभ-लेख की सूचना महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे सिद्ध है कि ग्रीक लोग न केवल हरा कर पीछे फेंक दिये गये वरन् उन्होंने शुंगों के साथ मैत्री-नीति बनाये रखना ही उचित समझा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि तब का हिन्दू धर्म आज की भाँति संकुचित न था और इसकी छाया में विदेशी भी साँस ले सकते थे। भागवत धर्म का विशेष प्रचार था और इसके अनुयायियों की संख्या नित्यप्रति बढ़ती जा रही थी।

---

१. दिव्यावदान, कावेल और नील का संस्करण, पृ० ४३३—३४—यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।

२. कनिंघम का Stupa of Bharhut, प्ल. १२, पृ०, १२८।—'सुगनं रजे……' यद्यपि कोई नाम नहीं दिया हुआ है परन्तु संकेत सम्भवतः पुष्यमित्र के प्रति ही है।

३. J. R. A. S., १९०९, पृ०, १०५३—५६।

इस काल कला को भी प्रभूत शक्ति मिली और भारहूत स्तूप की रेलिंग जिसका निर्माण शुंग काल में हुआ था, सिद्ध करती है कि शुंग राजा इस प्रकार के निर्माण-कार्य से उदासीन न थे। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि विदिशा के गजदंत-शिल्पियों ने ही साँची के असाधारण द्वार-तोरण का निर्माण किया था (फूशे)।

शुंगों के समय में साहित्य के क्षेत्र में भी बहुत उन्नति हुई। गोनद (गोंडा ?) के निवासी पतंजलि ने पाणिनि के व्याकरण के ऊपर अपना प्रसिद्ध भाष्य 'महाभाष्य' इसी समय लिखा। इस काल संभवतः अनेक अन्य साहित्यिक महारथियों का भी प्रादुर्भाव हुआ था जिनके नाम आज काल के गर्भ में खो गये।

प्रकरण २

कण्व-कुल

कण्वों का उदय काल

पुराणों से विदित होता है कि शुंग वंश ने कुल ११२ वर्ष राज्य किया और इस आधार पर यह मानना समीचीन होगा कि काण्वायनों अथवा कण्वों ने ७२ ई० पू० के लगभग मगध की राज-शक्ति स्वायत्त कर ली। कण्वों का कुल भी शुंगों की भाँति ही ब्राह्मण था। पुराणों और हर्षचरित के सम्मिलित प्रमाण से सिद्ध है कि प्रथम कण्व, वसुदेव ने स्त्री-व्यसनी देवभूति का षड्यन्त्र द्वारा वध कर मगध की गद्दी ले ली।[1]

इस कुल में केवल चार राजा हुए और उनके शासन-काल का जोड़ केवल ४५ वर्ष निकलता है। इन राजाओं ने किसी क्षेत्र में विशेष कीर्ति अर्जित नहीं की।[2]

---

१. "स्त्रीव्यसन के परवश देवभूति को अमात्य वसुदेव ने रानी वेषधारणी उसकी दासी-पुत्री द्वारा मरवा डाला" (हर्षचरित, कावेल और थामस का संस्करण, पृ० १९३), हर्षचरित (६, पृ० १९९, बम्बई, १९२५); अतिस्त्रीसङ्गरतमनङ्गपरवशं शुङ्गममात्यो वसुदेवो देवभूतिदासी-दुहित्रा देवीव्यञ्जनया वीतजीवितमकारयत्। देखिये, पार्जिटर : Dynasties of the Kali Age, पृ० ७१। मिलाइये, विष्णुपुराण, ४, अध्याय २४, ३९, पृ० ३५२, गीता प्रेस—देवभूतिं तु शुङ्गराजानं व्यसनिनं तस्यैवामात्यः कण्वो वसुदेवनामा निहत्य स्वयमवनीं भोक्ष्यति।

२. मिलाइये वायुपुराण—चत्वारः शुङ्गभृत्यास्ते नृपाः काण्वायना द्विजाः।

परिशिष्ट १

शुङ्ग राजाओं की तालिका

संख्या	नाम				शासन काल
१.	पुष्यमित्र	...	...	...	३६ वर्ष
२.	अग्निमित्र	...	...	...	८ ,,
३.	वसुज्येष्ठ अथवा सुज्येष्ठ			...	७ ,,
४.	वसुमित्र	...	...	...	१० ,,
५.	आद्रक अथवा ओद्रक	...		...	२ ,,
६.	पुलिन्दक	...	...	...	३ ,,
७.	घोष	...	...	...	३ ,,
८.	वज्रमित्र	...	...	...	९ ,,
९.	भागवत	...	...	...	३२ ,,
१०.	देवभूति अथवा देवभूमि			...	१० ,,
				जोड़	१२० वर्ष

नोट :—पुराण कहते हैं : "ये दस शुङ्ग राजा पूरे ११२ वर्ष पृथ्वी भोगेंगे"। परन्तु आश्चर्य है कि शासन अवधियों का योग १२० वर्ष होता है।

परिशिष्ट २

काण्व (कण्व) अथवा काण्वायन राजा

१.	वसुदेव	...	...	...	९ वर्ष
२.	भूमिमित्र	...	...	...	१४ ,,
३.	नारायण	...	...	...	१२ ,,
४.	सुशर्मन्	...	...	...	१० ,,
				जोड़	४५ वर्ष

प्रकरण ३

सातवाहन-कुल

उदय की तिथि

सातवाहनों के उदय की तिथि अत्यन्त विवादग्रस्त है और विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अनेक तर्क-वितर्क किये हैं। कुछ विद्वान् मत्स्य पुराण के इस आधार पर कि अन्ध्रों ने साढ़े चार सौ वर्ष राज्य किया, सातवाहनों के शासन का आरम्भ तृतीय शती ई० पू० के अन्तिम चरण में मानते हैं। परन्तु इस तिथि पर सर्वथा निर्भर नहीं किया जा सकता, क्योंकि वायुपुराण का एक दूसरा अनुवृत्त उनकी शासनावधि केवल ३०० वर्ष मानता है। डा० भंडारकर के मतानुसार सातवाहन कुल का आरम्भ प्रायः ७२-७३ ई० पू० में हुआ। उनके विचार से पुराणों का यह वक्तव्य कि "सातवाहनों में प्रथम सिमुक अथवा शिशुक "सुशर्मन् काण्वायन तथा शेषशुङ्ग शक्ति को उखाड़कर पृथ्वी स्वायत्त करेगा"[1] यह सिद्ध करता है कि 'शुंग-भृत्य' कण्वों ने पेशवों की भाँति अपने स्वामियों के साथ-साथ शासन किया था। परन्तु यदि हम इस विचार को स्वीकार करें तो उस पौराणिक उल्लेख के साथ, जिसमें वसुदेव कण्व द्वारा शुङ्ग देवभूति के वध का वर्णन है, कैसे इसका सामंजस्य स्थापित कर सकेंगे? वास्तव में ऊपर का वक्तव्य, जैसा डा० रायचौधरी ने दर्शाया है, केवल यह स्थापित करता है कि सिमुक ने शुङ्ग रक्त के उन सामन्तों का भी नाश कर दिया जो कण्व-क्रांति के बाद भी बच रहे थे।[2] अतः सातवाहनों द्वारा कण्वों का अन्त २८ ई० पू० (अर्थात् ७२ ई० पू०—४५ वर्ष) में हुआ। परंतु इससे यह निर्धारित किसी प्रकार नहीं होता कि सिमुक, जिसने २३ वर्ष राज्य किया, गद्दी पर इससे पहले अर्थात् प्रथम शती ई० पू० के मध्य में न बैठा हो।

अन्ध्र अथवा सातवाहन ?

पुराणों में सातवाहनों को अन्ध्र कहा गया है। अन्ध्र गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच की तैलगू देश में बसनेवाली प्राचीन जाति के थे। ऐतरेय ब्राह्मण में उनको आर्य संस्कृति से अप्रभावित कहा गया है। मेगस्थनीज ने भी उनकी शक्ति और समृद्धि का कुछ वृत्तान्त दिया है।[3] अशोक के अभिलेखों में उसके राजनीतिक प्रभाव के अन्तर्गत बसनेवाली जातियों में अन्ध्रों का भी परिगणन हुआ है। मौर्य-साम्राज्य के अवसान के पश्चात् उनका क्या हुआ, यह कहना कठिन है, परन्तु यह

---

१. मिलाइये वायुपुराणः—काण्वायनस्ततो भृत्यः सुशर्माणं प्रसह्य तम्। शुङ्गानां चैव यच्छेषं क्षपयित्वा बलं तदा। सिन्धुको ह्यन्ध्रजातीयः प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम्।

२. Pol. Hist. Anc. Ind., चतुर्थ सं० पृ० ३३३। इस ग्रन्थ के अनेक सुझाव मैंने अंगीकार किये हैं।

३. प्लिनि के अनुसार कलिंग के राजा के पास ६००० पदाति, १००० घुड़सवार और ७०० गजसेना थी। प्लिनि के इस वृत्तान्त का आधार सम्भवतः मेगस्थनीज की 'इन्डिका' है।

धारणा संभवतः सही होगी कि वे स्वतंत्र हो गये। अब हम सातवाहनों और अन्ध्रों के सम्बन्ध पर विचार करेंगे। अपने अभिलेखों[1] में सातवाहन अपने को सर्वदा और सर्वत्र सातवाहन अथवा शातकर्णी घोषित करते हैं इन अभिलेखों में अन्ध्र शब्द कहीं नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त उनके प्राचीनतम अभिलेख नानाघाट (पूना जिला) और साँची (मध्य भारत) में मिले हैं। यह अन्ध्र और सातवाहनों के परस्पर समान होने में एक प्रबल संदेह उपस्थित करते हैं। वास्तव में जान तो यह पड़ता है कि सातवाहनों ने अपनी शक्ति का आरम्भ पहले दक्कन (दक्षिण) में किया[2] और शीघ्र ही बाद उन्होंने अन्ध्र देश जीत लिया। परन्तु शक और आभीर आक्रमणों के परिणामस्वरूप जब उनका अधिकार उनके पश्चिमी प्रांतों से उठ गया तब उनकी शक्ति गोदावरी और कृष्णा की भूमि तक ही सीमित रह गयी। तब उनकी संज्ञा अन्ध्र हुई।

सातवाहनों का मूल

सातवाहनों का मूल अन्धकार में है। कुछ विद्वान् उनका सम्बन्ध अशोक के अभिलेखों के सतियपुतों और प्लिनि के 'सेताइ' से स्थापित करते हैं। कई ने उनके नाम की अद्भुत काल्पनिक व्युत्पत्तियाँ दी हैं।[3] शातकर्णी अथवा सातवाहन शब्दों का चाहे जो यथार्थ हो, इस कुल के अभिलेख इसे ब्राह्मण घोषित करते हैं। नासिक के अभिलेख में गौतमीपुत्र को "एक ब्राह्मण और शक्ति में राम (परशुराम) तुल्य"[4] कहा गया है। इस वक्तव्य की पुष्टि एक दूसरे प्रसंग से भी होती है जिसमें उसे "क्षत्रियों के दर्प और मान का दलने वाला"[5] कहा गया है। इस अभिलेख का रचयिता स्पष्टतः गौतमीपुत्र को असाधारण ब्राह्मण और परशुराम[6] का समानधर्मा मानता है।

इस कुल का राजा

इस कुल के प्रतिष्ठाता सिमुक के विषय में हमें इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं

---

१. सातवाहनों का शालिवाहन नाम भी जब तब साहित्य में मिलता है।

२. सातवाहनों की मूल निवास-भूमि असन्दिग्ध नहीं। डा० सुक्थंकर उसे बेलारी जिला (Ann. Bhand. Inst, १९१८-१९, पृ० २१) बताते हैं, परन्तु डा० रायचौधरी के मतानुसार वह "मध्य देश के निकट दक्षिण की भूमि" है (Pol. Hist. Anc. Ind., चतुर्थ सं०, पृ० ३४२)। महामहोपाध्याय मिराशी इसके विरुद्ध बरार अथवा वेनगंगा की दोनों तटों की भूमि को अन्ध्रों का मूल निवास प्रान्त मानते हैं। (J. N. S. I., भाग २, पृ० ९४)।

३. कथासरित्सागर, ६, ८७ से आगे; जिनप्रभासूरि का तीर्थकल्प।

४. Ep. Ind., ८, पृ० ६०, ६१ पंक्ति ७।

५. वही, पंक्ति ५—"खतियदपमानमदनस"।

६. देखिये, जायसवाल का लेख, J. B. O. R. S., खण्ड १६, भाग ३ और ४, पृ० २९५-९६।

कि उसने कण्वों और बची हुई शुंग शक्ति का नाश किया। उसका उत्तराधिकार उसके भाई कन्ह (कृष्ण) को मिला और नासिक के एक लेख से विदित होता है कि उसके शासन काल में किसी व्यक्ति ने वहाँ एक दरी-गृह बनवाया। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण की सत्ता नासिक खंड पर स्थापित हो चुकी थी। इस वंश का तीसरा राजा सिमुक का पुत्र शातकर्णी काफी शक्तिमान जान पड़ता है। नानाघाट के एक अभिलेख[1] के अनुसार उसने अनेक विजय कीं और दो अश्वमेध किये। अगर यह शातकर्णी सांची स्तूप के तोरण-लेख का शातकर्णी ही है तब निस्संदेह यह प्रमाणित है कि सातवाहनों ने अपने उदय के प्रायः आरम्भ में ही मध्य भारत को जीत लिया था। इसी प्रकार नानाघाट और हाथीगुम्फा के अभिलेखों[2] से विदित होता है कि संभवतः इसी शातकर्णी के विरुद्ध कलिंगराज खारवेल ने अपने शासन के द्वितीय वर्ष में युद्ध ठाना था। शातकर्णी की पत्नी का नाम नायनिका अथवा नागनिका(अंगीय कुल के महारथी अणकयिरों की कन्या) थी जिसने अपने कुमारों, शक्ति-श्री और वेद-श्री का कुमारावस्था में अभिभावकत्व किया। तदनन्तर सातवाहन इतिहास अन्धकार में छिप जाता है और तब तक प्रच्छन्न रहता है जब तक कि ऐतिहासिक रंगमंच पर गौतमीपुत्र शातकर्णी का प्रवेश नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि पुराणों में इस काल के राजाओं की एक नाम-माला दी हुई है परंतु उसकी सत्यता प्रमाणित करने के लिए अभाग्यवश हमारे पास न तो कोई सिक्के हैं न अभिलेख। इनमें से एक हाल नाम का नृपति प्राकृत की अपनी 'सत्तसई' (सप्तशतक) के लिए विख्यात है। प्रथम शती ईसवी के प्रायः अन्त में सातवाहनों की राज्य-लक्ष्मी विचलित हो चली और शक-क्षत्रपों ने उनके हाथ से महाराष्ट्र छीन लिया।

गौतमीपुत्र शातकर्णी

सातवाहनों के विजेता फिर भी अपनी विजय को दीर्घकाल तक न भोग सके क्योंकि गौतमीपुत्र शातकर्णी ने दक्खन उनसे शीघ्र छीन लिया। इस गौतमीपुत्र की विजयों की सुविस्तृत तालिका राजमाता गौतमीबलश्री के नासिक के अभिलेख[3] में खुदी हुई है। उसमें लिखा है कि गौतमीपुत्र ने क्षत्रियों का मानमर्दन किया और वर्णधर्म की फिर से प्रतिष्ठा की। उसने शकों, यवनों, पल्लवों तथा क्षहरातों का नाश कर सातवाहन कुल के गौरव की पुनः स्थापना की[4]। इसमें संदेह नहीं कि इस विजय की पुष्टि गौतमीपुत्र द्वारा शासित प्रदेशों के नाम[5] करते हैं। इन

---

१. Rep. Arch. Surv. West. Ind., ५, पृ० ६० और आगे।

२. देखिए, बनर्जी: Mem. As. Sco. Beng., 11, संख्या ३, पृ० १३१ और आगे। ३. Ep. Ind., ८, पृ० ५९-६२।

४. खतियदपमानमदनस सकयवनपहलवनिसूदनस······खखरातवसनिरवसेसकरस सातवाहनकुलयसपतिथापनकरस······

५. उनके नाम निम्न प्रकार हैं—असिक, असक, मुलक, सुरठ, कुकुर, अपरान्त, अनूप, विदभ (विदर्भ), आकरावन्ति।

प्रांतों के वर्तमान नाम इस प्रकार हैं :—गुजरात, सौराष्ट्र, मालवा, बरार, उत्तर कोंकण तथा पूना और नासिक के चतुर्दिक् का भूप्रदेश। जोगलथम्बी (नासिक) के नहपान के सिक्कों से भी जान पड़ता है कि उसने क्षहरातों के प्रांत छीन लिए थे। इन सिक्कों को गौतमीपुत्र शातकर्णी ने फिर से अपने नाम से प्रचलित किया। अपने शासन काल के अठारहवें वर्ष में उसने नासिक के पास पांडुलेण में एक दरी-गृह बनवाकर दान किया। अपने शासन के २४ वें वर्ष में उसने कुछ साधुओं को भूमि-दान[1] दिया जिसका विवरण एक अभिलेख में उसने खुदवाया। इस लेख से प्रमाणित है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी ने कम से कम २४ वर्ष राज्य किया।

वासिष्ठिपुत्र श्रीपुलमावि

१३० ई० के लगभग गौतमीपुत्र का बेटा वासिष्ठिपुत्र श्रीपुलमावि सातवाहनों का राजा हुआ। उसने सातवाहनों का प्रभुत्व अन्ध्र देश पर फैलाया। उसको उचित ही "सिरोपोलेमायु" माना गया है जिसे तालेभी ने बैठन अथवा पैठान (प्रतिष्ठान) का राजा कहा है। सम्भवतः यही नगर सातवाहनों की राजधानी थी। यह भी माना जाता है कि पुलमावि ही दक्षिणापथ का स्वामी वह शातकर्णी था जिसका उल्लेख जूनागढ़ के शिलालेख में हुआ है और जिसका रुद्रदामन द्वारा दो-दो बार हार जाना लिखा है[2]। इस लेख से यह भी स्पष्ट है कि इन दोनों नृपतियों का सम्बन्ध "अनतिदूर' था; संभवतः पुलमावि अपने विजेता रुद्रदामन् का जामाता था। यह निष्कर्ष रैप्सन के उस मत पर अवलम्बित है जिसमें कन्हेरि (थानाजिला) लेख के महाक्षत्रप रुद्र (रुद्रदामन्) की कन्या के पति को वासिष्ठिपुत्र श्री शातकर्णी माना गया है। परन्तु यद्यपि रुद्रदामन् ने सातवाहन नृपति का नाश नहीं किया, उसने उसके राज्य का एक बड़ा भाग स्वायत्त अवश्य कर लिया। यह जूनागढ़ वाले लेख में दी हुई उस शक महाक्षत्रप द्वारा शासित प्रान्तों की तालिका से सिद्ध है। श्री पुलमावि १५५ ई० के लगभग मरा।

यज्ञश्री शातकर्णी

यज्ञश्री शातकर्णी अथवा श्रीयज्ञ शातकर्णी सातवाहन वंश का अन्तिम शक्तिशाली नृपति था। उसने लगभग १६५ ई० से १९५ ई० तक राज्य किया। यह उसके शासनकाल के २७ वें वर्ष में उत्कीर्ण कृष्णा जिले के चिन्न नामक स्थान के एक अभिलेख से प्रमाणित है। इस अभिलेख और अन्य अभिलेखों से जो कन्हेरी और पांडुलेण (नासिक) से मिले हैं, तथा उसके सिक्कों के प्रचलन-विस्तार से प्रमाणित है कि उसके राज्य की सीमायें पूर्व में बंगाल की खाड़ी तथा पश्चिम में अरब सागर तक थीं। स्पष्ट है कि उसका राज्य-विस्तार प्रचुर था। इस प्रकार शकों द्वारा छीने हुए सातवाहनों के अनेक प्रान्त उसने जीत लिए, और पश्चिमी क्षत्रपों के अनु-

१. Ep. Ind., ८ नं० ५, पृ० ७३—७४।

२. वही, पृ० ३६—५४—दक्षिणापथपतेः सातकर्णेद्विरपि निर्व्याजमवजित्यावजित्य सम्बन्धाविदूरतयानुत्सादनात्प्राप्तयशसा...

करण में उसके चलाये सिक्के संभवतः इन्हीं प्रान्तों के लिए ढाले गये थे। श्रीयज्ञ-शातकर्णी का प्रभुत्व स्पष्टतः समुद्र पर भी प्रतिष्ठित था। उसके एक प्रकार के सिक्कों पर दो मस्तूलों वाले पोत और मत्स्य तथा शंख की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। इनके अतिरिक्त उन पर निम्नलिखित लेख भी खुदा मिलता है—(र) ए समससर (f) यज्ञ सतकणस अथवा रण सामिस सिरि यज्ञ सातकणिस। ये आकृतियाँ और लेख इस सिक्के पर सामने की ओर हैं और उसके पीछे की ओर उज्जैनी—लक्षण मुद्रित है।[१]

यज्ञश्री के उत्तराधिकारी नाम मात्र के राजा थे। उनके राज्य काल में सातवाहनों की शक्ति तीव्रता से नष्ट होने लगी और जब आभीरों ने उनसे महाराष्ट्र और इक्ष्वाकुओं तथा पल्लवों ने पूर्वी प्रान्त छीन लिए, तब तो उनकी प्रभुता सर्वथा विलुप्त हो गयी।

सातवाहनों के शासन में दक्खन की दशा

सातवाहनों के अभिलेखों से जो राजनैतिक सामग्री उपलब्ध होती है वह नितान्त न्यून है। परन्तु जैसा डा० भण्डारकर ने दर्शाया है, उनसे दक्खन की सामाजिक, धार्मिक, और आर्थिक परिस्थिति पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है।[२]

समाज

इस काल में समाज में कम से कम चार वर्ग थे। महाभोज, महारठी, और महासेनापति जो जिलों अथवा 'राष्ट्रों' के अधिपति थे, समाज के सर्वोच्च वर्ग के थे। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत अमात्य, महामात्र, भाण्डागारिक आदि राजकर्मचारी और नैगम (सौदागर), सार्थवाह (वणिक्पति), तथा श्रेष्ठिन् (श्रेणि-मुख्य) आदि थे। तीसरा वर्ग वैद्य, लेखक, सुवर्णकार (सुनार), गान्धिक (इत्रविक्रेता), हालाकीय (कृषक) आदि द्वारा निर्मित था। मालाकार (माली), वर्धकी (बढ़ई), दासक (धीवर), आदि चौथे वर्ग के थे। कुल का मुख्य कुटुम्बिन् अथवा गृहपति कहलाता था और उसकी सत्ता गृह में सर्वमान्य थी।

धर्म

सातवाहनों के सहिष्णु शासन-काल में ब्राह्मण और बौद्ध दोनों धर्मों की उन्नति हुई। धनी धर्मात्मा चैत्यगृह (मन्दिर) बनवाते और भिक्षुओं के निवास के लिए (लयन) दरी-गृह खुदवाते थे। साथ ही इनके अर्थ श्रेणियों के पास ब्याज पर धन भी जमा कर देते थे। ब्राह्मण-धर्म पुनर्जीवन प्राप्त कर रहा था। अश्वमेध, राजसूय, आप्तोर्याम के अनुष्ठान राजाओं में प्रचलित थे और ब्राह्मणों को पर्याप्त दक्षिणा

---

१. J. N. S. I., खंड ३, भाग १, जून १९४१, पृ० ४३—४५।

२. Ind. Ant., ४८ (१९१९), पृ० ७७ और आगे। देखिए, डा० भण्डारकर: Deccan of the Satavahana Period, Ind. Ant. ४७ (१९१८), पृ० १४९ और आगे।

मिलती थी। शिव और कृष्ण की पूजा लोकप्रिय हो गई थी।[1] विभिन्न संप्रदायों के अनुयायी परस्पर सहिष्णुतापूर्वक रहते थे। कभी-कभी वे एक दूसरे को दान भी देते थे। विदेशी ब्राह्मण अथवा बौद्ध धर्म में दीक्षित हो जाते थे और वे धीरे-धीरे हिंदू समाज में घुलते-मिलते जा रहे थे। उनके नाम सर्वथा हिंदू हो चले थे। कार्ले के एक लेख में दो यवनों के नाम क्रमशः सिहदय (सिंहध्वज) और धर्म लिखे मिले हैं। इसी प्रकार शक उषवदात भी कट्टर ब्राह्मणधर्मी कहा गया है।

आर्थिक परिस्थिति

इस युग के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार श्रेणियाँ थीं। विभिन्न व्यवसायियों की श्रेणियों के उल्लेख मिलते हैं, उदाहरणतः—धंभिक (अन्नविक्रेता), कुम्हार, जुलाहे (कोलिक-निकाय), तिलपिषक (तेली), कासाकर (काँसे के धातुकार), आदि अपनी-अपनी श्रेणियाँ बना लेते थे। इन श्रेणियों का उद्देश्य एक ही वस्तु के व्यवसायियों का संगठन करना तो था ही, साथ ही वे आधुनिक बैंकों का भी काम करते थे जिनके पास व्याज पर धन (अक्षय-नीवी) जमा कर दिया जाता था। चाँदी और ताँबे के सिक्के 'कार्षापण' तथा सोने के 'सुवर्ण' कहलाते थे। सुवर्ण ३५ चाँदी के कार्षापण के बराबर होता था।

व्यापार खूब चलता था और पश्चिम के देशों से वाणिज्य की वस्तुओं से भरे जहाज भड़ोच, सोपारा और कल्यान के पत्तनों (बन्दरगाहों) में लगर डालते थे। नगर और पैठान के बाजार समुद्रतट से दूर देश के भीतर थे जहाँ इन पत्तनों से एक सिरे से दूसरे को व्यवसाय-संबंधी यात्रायें किया करते थे।

साहित्य

सातवाहन-नृपति प्राकृत के पोषक थे। उनके अभिलेखों में प्राकृत का ही प्रयोग हुआ है। राजा हाल ने तो अपने काव्य 'सत्तसई' (सप्तशतक) की रचना ही प्राकृत में की। प्राकृत में ही गुणाढ्य ने भी 'वृहत्कथा' की मूल रचना की। एलेन का मत है कि एक आंध्र राजा के लाभार्थ हो सर्ववर्मन् ने अपने 'कातन्त्र' की रचना की क्योंकि यह राजा "संस्कृत के अपने अज्ञान के कारण लज्जित था परन्तु पाणिनि का व्याकरण उसे अत्यन्त दुरूह प्रतीत होता था[2]।" इन अनुवृत्तों के ऊपर निश्चय हम एक मात्रा तक ही निर्भर कर सकते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि सातवाहनों ने ब्राह्मण होते हुए भी संस्कृत के बजाय प्राकृत-साहित्य का पोषण क्यों किया?

२ कलिंगराज खारवेल

तिथि-क्रम पर विचार

हम यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् कलिंग की क्या दशा हुई। परन्तु कुछ काल के बाद जब परदा उठता है तब हम कलिंग के

१. नानाघाट के अभिलेख में धर्म, इन्द्र और चारों दिशाओं के देवताओं—यम, वरुण, कुबेर और वासव का उल्लेख है।

२. Cam. Sh. Hist. Ind., पृ० ६१।

राजनैतिक मंच पर एक विशालकाय व्यक्ति को खड़ा पाते हैं। भुवनेश्वर (पुरी जिला)[1] के समीप उदयगिरि में हाथीगुम्फा का प्रख्यात अभिलेख चेत-कुल के तृतीय नरेश खारवेल का कीर्ति-वर्णन करता है। इसमे इस नृपति के १३ वें शासनवर्ष तक के कार्यों का उल्लेख है, परन्तु तिथि न दिए जाने के कारण यह तत्कालीन तिथि-क्रम पर प्रकाश नहीं डालता। कुछ विद्वानों का मत है कि इसकी सोलहवीं पंक्ति में मौर्य संवत् के १६५ वें वर्ष का हवाला है, परन्तु यह मत अनेक अन्य विद्वानों को ग्राह्य नहीं है। खारवेल की तिथि का उल्लेख सभवत: इस हाथीगुम्फा की लिपि में है जो नानाघाट-लेख की लिपि से मिलती है। एक और संकेत इस लेख के 'तिवससत' पद में है जो इसकी छठी पंक्ति में है। डा० रायचौधरी का मत इस संबंध में सही जान पड़ता है। उनका कहना है कि 'तिवससत' का भाव नन्दराज—महापद्म[2]—के पश्चात् १०३ वर्ष नहीं, बल्कि ३०० वर्ष है। इससे विदित होता है कि खारवेल प्रथम शती ई० पू० के तृतीय चरण में कभी हुआ था।

घटनाएं

लेख, गणित, व्यवहार (कानून), और अर्थशास्त्र का युवराज-सबधी ज्ञान प्राप्त कर खारवेल २४ वर्ष की आयु में सिंहासन पर बैठा। अपने शासन का प्रथम वर्ष उसने सार्वजनिक निर्माण में बिताया। द्वितीय वर्ष में उसने शातकर्णी की शक्ति का तिरस्कार कर मुषिक नगर पर आक्रमण किया। चौथे वर्ष में रथिकों और भोजकों ने उसको आत्मसमर्पण किया और पाँचवें में उसने एक प्रणाली का उद्घाटन कराया जिसका 'ति-वस-सत' वर्षों से, जब नन्दराज उसे राजधानी में ले आए थे, उपयोग न हुआ था। अपने शासन के ८वें और १२वें वर्ष में उसने मगध पर दो वार आक्रमण किया। मगध की प्रजा अत्यन्त भयभीत हो गई और बहसतिमित्र ने, जिसे राजगृह का राजा कहा गया है, संधि की प्रार्थना की। बहसतिमित्र के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं और उसका तथा उसकी राजधानी का नाम उसके पुष्यमित्र होने के विरुद्ध प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उसकी विजयों ने 'योनराज' को संत्रस्त कर दिया परंतु इस सेनापति का नाम तथा पहचान सर्वथा स्पष्ट नहीं हैं[4]। १३ वें वर्ष में खारवेल ने पाण्ड्यों की विजय की परंतु इसके बाद उसके शासन के संबंध में इस अभि-लेख में कोई सूचना नहीं मिलती। खारवेल जैन था और दरिद्रों को प्रभूत दान देता था। उसने जैन-भिक्षुओं के निवास के लिए दरी-गृह बनवाए और मगध से वह जैन तीर्थंकर की प्रसिद्ध मूर्त्ति छीन लाया जिसे कभी नन्दराज कलिंग से उठा ले गया था।

---

१. Ep. Ind., २० जनवरी, १९३०, पृ० ७१ और आगे; देखिये, J. B.O. R.S., १९१८ (४), पृ० ३६४ और आगे; वही, १९२७ (१३), पृष्ठ २२१; वही, १९२८ (१४), पृष्ठ १५०।

२. Pol. Hist. Anc. Ind., चतुर्थ सं०, पृष्ठ ३१४-१५,३३७-३८, ३४५; महापद्म की तिथि के लिए पीछे देखिए।

३. मुषिकनगर के स्थान पर डा० दिनेशचन्द्र सरकार असिकनगर, असिकों (पुराणों के ऋषिक) का नगर कहते हैं, जिसे वह कृष्णा (कन्हवन्न) के वाम तट पर बताते हैं—J.N.S.I. खण्ड ३, भाग १, (जून १९४१), पृ० ६२।

४. दिवंगत श्री राखालदास बनर्जी और काशीप्रसाद जायसवाल के पाठ द (f) मि (त) अथवा दिमित (डेमिट्रियस)—असन्दिग्ध नहीं हैं (मिलाइए हाथीगुम्फा लेख की ८वीं पंक्ति—Ep. Ind., २० पृ० ७१ और आगे। और देखिए, टार्न : The Greeks in Bactria and India, परिशिष्ट ५, पृ० ४५७-५९।

अध्याय ११

१. विदेशी आक्रमणों का युग

प्रकरण १

इण्डो-ग्रीक[1]

पार्थिया और बैक्ट्रिया के विद्रोह

तृतीय शती ई० पू० के मध्य एशिया में दो ऐसी घटनायें घटीं जिनका प्रभाव भारतीय इतिहास के विकास पर पड़ना अनिवार्य था। ये घटनायें पार्थिया और बैक्ट्रिया का सेल्यूकस के साम्राज्य से पृथक् हो जाना था। पार्थिया खुरासान और कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व का तटवर्ती प्रान्त था जिसने ग्रीक संस्कृति कभी स्वीकार न की थी। पार्थिया का विद्रोह जनविद्रोह था जिसका नेतृत्व आर्सेकीज नामक एक सामंत ने किया था। जिस राजकुल का २४८ ई० पू० में उसने आरम्भ किया वह प्रायः ५ शताब्दियों तक बना रहा। इसके विरुद्ध बैक्ट्रिया का विद्रोह सामंती विप्लव था। बैक्ट्रिया का शासक डियोडोटस् था जिसकी महत्वाकांक्षा प्रांतीय शासक की शक्ति-सीमा को लांघ गयी थी। उसके ही प्रयत्नों से बैक्ट्रिया सीरिया के साम्राज्य से स्वतंत्र हो गया। बलख (बाख्त्रीं, वह्लीक) की भूमि हिन्दूकुश और वक्षुनद के बीच की थी जो अत्यन्त उर्वर, समृद्ध और आबाद थी। साथ ही पूर्व में ग्रीक उपनिवेश का यह एक केन्द्र भी मानी जाती थी। ज्ञात नहीं ऐन्टियोकस द्वितीय थीयस की २४६ ई० पू० में मृत्यु के बाद सीरिया के राजकुल की उथल-पुथल से डियोडोटस् को अपने अध्यवसाय में कहाँ तक सहायता मिली, पर उसके बाद डियोडोटस् द्वितीय, जिसने अपने समकालीन पार्थव राजा से समझौता कर लिया था, संभवतः सर्वथा स्वतन्त्र हो बैठा। उसने लगभग २४५ ई० पू० से २३० ई० पू० तक राज्य किया। उसका अन्त मैगनेशिया

आर्सेकीज़

डियोडोटस् प्रथम

डियोडोटस् द्वितीय

---

१. डब्लू-डब्लू टार्न : The Greeks in Bactria and India (कैम्ब्रिज, १९३८); एच० जी० रालिन्सन, Bactria (लन्दन, १९१२); India and the Western World (कैम्ब्रिज, १९१६), Cam. Hist. Ind., खंड एक, अध्याय २२ पृ० ५४०-६२।

युथिडेमस्

(सिपिलस के अधीन?)के एक सामरिक पर्यटक युथिडेमस् द्वारा हुआ। युथिडेमस् ने बैक्ट्रिया का सिंहासन स्वायत्त कर लिया। जब ऐन्टियोकस तृतीय (लगभग २२३ ई०पू० से १८५ तक) ने २१२ ई०पू० में अपने विद्रोही प्रांतों की फिर से विजय करनी चाही तब उसके साथ युथिडेमस् का दीर्घकालिक संघर्ष छिड़ गया। ऐन्टियोकस ने बलख पर घेरा डाला, परन्तु उसका प्रयास प्रायः व्यर्थ गया। तदनन्तर टेलियस नामक

ऐन्टियोकस तृतीय का आक्रमण

एक व्यक्ति के बीच-बिचाव से दोनों राजाओं में सन्धि हुई। सीरियाके राजा ने बैक्ट्रिया की स्वतन्त्रता स्वीकार की और अपनी मैत्री के प्रमाण-स्वरूप उसने अपनी कन्या का विवाह युथिडेमस् के पुत्र डेमिट्रियस[1] के साथ कर दिया। इस सन्धि-दौत्य के प्रसंग में ऐन्टियोकस के ऊपर डेमिट्रियस के व्यक्तित्व और नीति-कुशलता का बड़ा प्रभाव पड़ा था। ऐन्टियोकस तृतीय ने इसके बाद २०७ अथवा २०६ ई० पू० में हिन्दूकुश लांघ कर भारत पर धावा किया। सोफागसेनस् (सुभागसेन) ने, जो संभवतः वीरसेन का उत्तराधिकारी था, उसके प्रति आत्मसमर्पण कर दिया। यह वीरसेन, तारानाथ के अनुसार, अशोक की मृत्यु के पश्चात् गन्धार[2] में स्वतन्त्र हो गया था। ऐन्टियोकस महान् भारतीय सीमा के भीतर न घुसा और अपने देश की असंयत राजनीतिक परिस्थिति को सम्भालने शीघ्र लौट पड़ा। उसके लौट जाने के बाद बाख्त्री के ग्रीक राजा अपने राज्य-विस्तार के प्रयत्न में लगे।

बाख्त्री-ग्रीकों की भारत-विजय

युथिडेमस की अधीनता में बाख्त्री की राज्य-शक्ति शीघ्र बढ़ चली। उसने अफगानिस्तान का भी एक बड़ा भाग जीत लिया। १९० ई० पू० के लगभग जब वह मरा तब उसके पुत्र डेमिट्रियस् ने देशिक आक्रमणों की

डेमिट्रियस

एक सविस्तर नीति अपनायी। १८३ ई० पू० के लगभग हिन्दूकुश पार उसने पंजाब का एक बड़ा भाग जीत किया और यदि 'महाभाष्य' तथा 'गार्गी-संहिता' के युगपुराण का यवन सेनापति वही है तब उसने निश्चय पचाल देश को आक्रान्त कर लिया, मध्यमिका (नागरी, चित्तौर) और साकेत (अयोध्या) को घेर लिया और संभवतः पुष्यमित्र के समय में पाटलिपुत्र पहुँचकर उस नगर को भी खतरे में डाल दिया। यह महत्व की बात है कि स्ट्रेबो ग्रीक राज्य के एरिआना और भारत[3] में विस्तार का श्रेय डेमिट्रियस और मिनेन्डर

१. टार्न कहता है कि "डेमिट्रियस ने चाहे जिससे विवाह किया हो वह ऐन्टियोकस की कन्या न थी" (Greeks Bact. Ind., पृ० ८२, २०१, फुटनोट नं० १)।

२. और देखिये, वही, पृ० १३० और नोट २; J.A.S.B., १९२०, पृ० ३०५, ३१०।

३. देखिये, स्ट्रेबो; "ग्रीक, जिन्होंने विद्रोह किया (अर्थात् युथिडेमस् और उसका कुल) बैक्ट्रिया की उर्वर भूमि और अन्य सुविधाओं के कारण एरिआना और भारत के स्वामी बन गये······इन विजयों को कुछ तो मिनेन्डर ने और कुछ युथिडेमस् के पुत्र डेमिट्रियस् ने सम्पन्न किया। पत्तलिनी ही नहीं वरन् सराओस्तस् तथा सिगेंडिस् के राज्यों को भी, जिनमें समग्र समुद्र-

युक्रेटाइड्ज का विद्रोह

दोनों को देता है। जब डेमिट्रियस अपनी भारतीय विजयों में संलग्न था, युक्रेटाइड्ज नामक विक्रमशील व्यक्ति ने असन्तुष्ट ग्रीक निवासियों की सहायता से बाख्त्री में विद्रोह का झंडा खड़ा किया और लगभग १७५ ई०पू० में डेमिट्रियस् की राजगद्दी पर जा बैठा। टार्न[1] का कहना है कि यह संभवतः ऐन्टियोकस चतुर्थ का बन्धु और सेनापति था। डेमिट्रियस् अपने प्रयत्नों के वावजूद भी उसें स्थानच्युत न कर सका। और इस कारण स्वयं उसका अधिकार पंजाब और सिन्ध की विजयों तक ही सीमित रहा। डेमिट्रियस को ग्रीक अनुश्रुतियों में 'भारत का राजा' (रेक्स इनडोरम) कहा गया है। उनसे यह भी पता चलता है कि उसने अपने पिता की स्मृति में 'युथिडेमिया' नाम का नगर भी बसाया था। इसके अतिरिक्त जैसा कि पतंजलि[2] की एक टिप्पणी के आधार पर टार्न ने लिखा है डेमिट्रियस अथवा दत्तामित्र ने अपने नाम पर भी दत्तामित्री नाम का एक नगर सौवीरों (सिन्ध) में बसाया था। डेमिट्रियस पहला ग्रीक राजा था जिसने दुभाषिये सिक्के चलाये। इन पर खरोष्ठी लिपि[3] में ग्रीक और भारतीय भाषा में लेख खुदे हैं। कुछ काल बाद (लगभग १६५-६० ई० पू०) यूक्रेटाइड्ज ने, जिसने अपने नाम पर यूक्रेटाइडिया नामक नगर का बाख्त्री में निर्माण किया था, "भारत को जीता और वह हजार नगरों का स्वामी बन गया" (जस्टिन)। इस प्रकार पूर्व

विभाजन

में युथिडेमस् और यूक्रेटाइड्ज के परस्पर प्रतिस्पर्धी राजकुलों द्वारा शासित दो ग्रीक उपनिवेश उठ खड़े हुए। इनमें से पहला राजकुल पूर्वी पंजाव, सिन्ध और आसपास के प्रदेशों का स्वामी था और उसकी राजधानी युथिडेमिया अथवा शाकल (स्यालकोट) थी। यूक्रेटाइड्ज के राजकुल का अधिकार बाख्त्री, काबुल की घाटी, गन्धार और पश्चिमी पंजाब पर स्थापित हुआ। इन बहुसंख्यक छोटे-बड़े राजाओं के संबंध का

युथिडेमस् का राजकुल

हमारा ज्ञान प्रायः सर्वथा इनके सिक्कों पर ही अवलम्बित है और इस सामग्री की न्यूनता के कारण उनके कुल, तिथि तथा शासित राज्य की सीमाओं का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। युथिडेमस् के उत्तराधिकारियों में अगाथोक्लीज, पन्टालियन और ऐन्टीमेकस के नाम

तटवर्ती देश शामिल था, उन्होने रौंद डाला। अपने साम्राज्य की 'सीमा उन्होंने सीरिज़ तथा फ़िनोई तक बढ़ा ली।" टार्न का विश्वास है कि डेमिट्रियस और मिनेन्डर 'सम्मिलित' प्रयास कर रहे थे और मिनेन्डर शायद डेमिट्रियस से भी आगे बढ़ गया (G. B. I. पृ०, १४४)।

१. G. B. I., पृ० १६५, १६७।

२. वही, पृ० १४२ और नोट।

३. कुछ विद्वान इन सिक्कों को डेमेट्रियस् द्वितीय के बताते हैं (देखिये एलेन, Cam. Sh. Hist. Ind., पृ० ६४)।

मिलते हैं। अपोलोडोटस् और मिनेन्डर भी सम्भवत: इसी कुल के थे।[1] मिनेन्डर इण्डोग्रीक इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण नृपति है। स्ट्रैबो लिखता है कि उसने "सिकन्दर से भी अधिक जातियाँ जीतीं।" इसमें सन्देह नहीं कि यह वक्तव्य मिनेन्डर के सिक्कों की प्रचलन-सीमाओं से अधिकांश में स्थापित हो जाता है। उसके सिक्के काबुल से मथुरा और बुन्देलखंड तक पाये गये हैं। 'पेरिप्लस मारिस इरिथ्राई' के अज्ञातनामा लेखक के अनुसार अपोलोडोटस् के सिक्कों के साथ ही मिनेन्डर के सिक्के भी बेरी गाजा (भड़ोंच) के बाजारों में प्रथम शती ईसवी के तीसरे चरण के लगभग चलते थे। कुछ विद्वानों ने मिनेन्डर को वह यवन आक्रमक माना है जिसने पुष्यमित्र[2] के शासन-काल में मध्यमिका, साकेत, और पाटलिपुत्र तक धावा मारा था। मिलिन्द अथवा मिनेन्डर बौद्ध हो गया था और भारतीय अनुवृत्तों में उसका उल्लेख हुआ है। "मिलिन्द-पन्हो' में उसके कुछ पेचीदे प्रश्नों का संग्रह है जिनका उत्तर थेर नागसेन ने दिया है। एक स्यामी अनुश्रुति के अनुसार तो मिनेन्डर अर्हत[3] तक हो गया था। कुछ सिक्कों पर धर्म-चक्र की आकृति और 'ध्रमिकस' विरुद खुदा हुआ है जिनसे उसका बौद्ध होना सर्वथा प्रमाणित हो जाता है। मिलिन्द-पन्हो में उसकी राजधानी शाकल के उद्यान, सर, भवन, दुर्ग, राजमार्गों आदि का विशद वर्णन है। इस ग्रंथ से प्रमाणित है कि उस नगर में बनारसी मलमल, रत्न, और बहुमूल्य वस्तुओं के विक्रय के लिए बड़ी-बड़ी दूकानें थीं। इस ग्रीक राज्य की समृद्धि का यह विशिष्ट प्रमाण है कि मेनेन्डर अपने न्याय के लिए प्रसिद्ध था, और प्लूतार्क लिखता है कि यात्रा काल में शिविर में[4] उसकी मृत्यु के बाद उसके भस्म के वितरण के सबंध में प्रजा में झगड़े उठ खड़े हुए क्योंकि वह इतना जनप्रिय था कि लोग उसके भस्म पर पृथक्-पृथक् स्तूप बनाना चाहते थे। सिक्कों पर मिनेन्डर के उत्तराधिकारियों-स्ट्रेटो प्रथम और स्ट्रेटो द्वितीय तथा अन्य राजाओं के नाम भी मिलते हैं परन्तु उनके सम्बन्ध में हमें कोई ऐतिहासिक ज्ञान नहीं।

मिनेन्डर

यूक्रेटाइड्ज़ का राजकुल

जान पड़ता है कि यूक्रेटाइड्ज़ अपने भारतीय आक्रमण से घर लौट रहा था तब उनके पुत्र और सहशासक (?) हेलिओक्लीज[5] ने

---

१. विंसेन्ट स्मिथ के अनुसार (E. H. I., चतुर्थ सं० पृ० २३८-३९) अपोलोडोटस् और मिनेन्डर यूक्रेटाइड्ज़ के कुल के थे। मिनेन्डर के लिए देखिए, बाजोर का अभिलेख (New Ind. Ant., खंड २, भाग १०, जनवरी, १९४०, पृ० ६४७)।

२. देखिए, पीछे यथास्थान।

३. रालिन्सन : Bactria, पृ० १११। और देखिए, टार्न : G. B. I., पृ० २६२-६८।

४. टार्न मिनेन्डर की मृत्यु की तिथि १५०-४५ ई० पू० के लगभग रखता है। G. B. I., पृ० २२६)।

५. विन्सेन्ट स्मिथ के अनुसार पितृहन्ता एपोलोडोटस था। (E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० २३८। जस्टिन द्वारा वर्णित एक अन्य कथा के अनुसार यूक्रेटाइड्ज पार्थवों द्वारा मारा गया। टार्न पितृहत्या की संभावना ही नहीं मानता। वह उसकी हत्या "किसी मृत युथिडेमोकुलीय राजा के पुत्र" द्वारा मानता है। क्या वह डेमेट्रियस द्वितीय हो सकता है? G. B. I., पृ० २२०,२२२)

हेलिग्रोक्लीज़ उसकी हत्या कर दी। यह घटना १५५ ई० पू० के लगभग घटी और कहते हैं कि उस स्वाभाविक युवक ने अपने दारुण अपराध को इतना प्रिय माना कि उसने अपने पिता के शव का अन्त्य संस्कार तक न होने दिया। टार्न पितृहत्या की अनुश्रुति अर्थात् हेलिग्रोक्लीज द्वारा पिता के शव की अवमानना की कहानी नहीं स्वीकार करता।[1] बाख्त्री का वह अन्तिम ग्रीक राजा था क्योंकि हेलिग्रोक्लीज़ के बाद मध्य एशिया के मैदानों से निकली शकों की बाढ़ द्वारा यह वंश विपन्न हो गया। उसके अनेक

ऐन्टिग्रालिकडस् वंशधरों में से, जिन्होंने अफगानिस्तान की घाटी तथा भारतीय सीमाप्रान्त पर शासन किया था, किसी के सम्बन्ध में इतिहास ने सिवाय नाम के कुछ नहीं लिखा। इनमें से ऐन्टिग्रालिकडस् का नाम, जो वेसनगर के स्तंभ-लेख में मिलता है, निश्चय महत्व का है। उसने दिय (दियन) के पुत्र हेलियोदोर अथवा हेलियोडोरस् को अपना दूत बनाकर काशीपुत्र भागभद्र की राज्यसभा में भेजा था। यह काशीपुत्र पाँचवाँ शुंग नृपति ओद्रक अथवा नवाँ भागवत[2] माना गया है। यह महत्व का विषय है कि अन्तलिखित अथवा ऐन्टि-ग्रालिकडस् तक्षशिला का राजा कहा गया है और उसका राजदूत अपने को भागवत अर्थात् विष्णु का उपासक कहता है। ऐन्टिग्रालिकडस् के अधिकतर सिक्के भी इंडो-ग्रीक-राजाओं के सिक्कों की ही भाँति दुभाषिये हैं। परन्तु अट्टिक-तौल के एक प्रकार के चाँदी के सिक्के पर केवल ग्रीक लेख—"विजयी राजा ऐन्टिग्रालिकडस् का' खुदा है, जिससे उसकी कतिपय विजयों का हवाला मिलता है। सीमा-प्रान्त

हर्मियस और काबुल घाटी का अन्तिम ग्रीक राजा हर्मियस था जिसने प्रथम शती ईसवी के द्वितीय चरण के लगभग राज्य किया।[3] सर्वतः शत्रुओं से आक्रान्त होकर कुजूल कडफाइसिज़ के नेतृत्व में बढ़ते हुए कुषाणों द्वारा वह विनष्ट हो गया। ग्रीक शक्ति अन्तःसंघर्ष के कारण पहले ही दुर्बल हो गयी थी और वह इन बर्बर जातियों की चोटों के सामने क्षण भर न ठहर सकी।

ग्रीक सम्पर्क का प्रभाव

अब हम भारत के उत्तर-पश्चिमी भागों पर ग्रीक शासन के प्रभाव पर विचार करेंगे। इन विदेशी शासकों ने क्या भारतीय राजनीति और संस्थाओं के पश्चात्का-लीन विकास को प्रभावित किया अथवा भारतीयों ने उनको केवल क्रूरकर्मा संचालक जाना और सर्वथा उनके अनुकरण से विरत रहे? इस प्रकार के प्रश्नों के विविध

---

१. G. B. I., पृ०२२० पर लिखा है कि पितृहन्ता ने पिता के खून के ऊपर अपना रथ दौड़ा दिया (E. H. I., चतुर्थ सं० पृ० २३८)।

२. देखिए, पीछे यथास्थान।

३. टार्न का सुझाव ५० ई० पू० है (G. B. I., पृ० ३३१, ३३७)।

उत्तर दिये गये हैं जिनमें से कुछ भारत पर ग्रीस का ऋण स्वीकार करते हैं और अन्य सर्वथा इसको अयुक्तियुक्त मानते हैं। परन्तु सत्य संभवतः मध्यम मार्ग में है। सिकन्दर के आक्रमण के समय ग्रीक पहले पहले भारत के सम्पर्क में आए और विजेता का मन्तव्य चाहे जो भी रहा हो, अपने १९ महीनों के युद्धों द्वारा सर्वथा आक्रान्त काल में उसका ग्रीक सभ्यता का प्रचारक हो सकना सम्भव न था। इसी कारण हिन्दू समाज को वह विशेष प्रभावित भी न कर सका। वल्कि उसकी मृत्यु के शीघ्र बाद भारतीय विप्लव ने ग्रीक विजयों के सारे चिह्न तक नष्ट कर दिए। तदनन्तर लगभग ३०६ ई० पू० में सिल्यूकस निकेटर का आक्रमण हुआ परन्तु उसको भी भारतीय भूमि में ग्रीक संस्कृति के बीज बोने का अवसर न मिला। सीमा पर ही चन्द्रगुप्त ने उसके घोड़ों की वाग रोक दी और बलूचिस्तान तथा दक्षिणी अफगानिस्तान के उसके अनेक प्रान्त भारतीय नृपति ने छीन लिए। न मेगस्थनीज और न कौटिल्य ही मौर्य दरवार के ऊपर किसी ग्रीक प्रभाव का उल्लेख करते हैं। तदनन्तर प्रायः शताब्दी भर भारत ग्रीक आक्रमणों से अछूता रहा। २०६ ई० पू० एन्टीओकस तृतीय भारतीय सीमा पर उतरा, परन्तु वह भी सोफागसेनस (सुभागसेन) नामक राजा का समर्पण स्वीकार कर शीघ्र स्वदेश लौट गया। डेमिट्रियस, यूक्रेटाइड्ज और मिनेन्डर के आक्रमण, जिसका काल-विस्तार प्रायः ४० वर्षों का था (लगभग १९०—१५५ ई० पू०), देश के भीतर दूर तक प्रवेश कर गये। इनके आक्रमण केवल अल्पकालिक ही न थे क्योंकि उसके फलस्वरूप पंजाब और समीपवर्ती प्रान्तों में जो ग्रीक शासन की नींव जमी वह १५० वर्षों तक बनी रही। परन्तु यह विस्मय की बात है कि इन स्थानों में भी ग्रीक प्रभाव के चिह्न नहीं के बराबर हैं।

जान पड़ता है कि सिक्कों के मुद्रण में भारतीयों ने ग्रीकों से बहुत कुछ सीखा। उनके भारत प्रवेश से पूर्व यहाँ केवल चिह्न-मुद्रित सिक्के चलते थे। परंतु उनके प्रभाव से उचित आकृति और मुद्रण के सिक्कों का प्रचलन हुआ। ग्रीक शब्द द्रख्म को भारतीयों ने अपने 'द्रम्म' शब्द में स्वीकार किया[1]।

इसके अतिरिक्त यह कहा गया है कि सिक्कों के ऊपर खुदी ग्रीक भाषा इण्डो-ग्रीक राज्यों में समझी जाती थी, परंतु यह मत प्रमाण के अभाव में स्वीकार नहीं किया जा सकता। भारतीय लेखों और खरोष्ठी लिपि का इन सिक्कों पर प्रयोग वल्कि यह सिद्ध करता है कि साधारण जनता ग्रीक भाषा विल्कुल नहीं समझती थी। यह निष्कर्ष इस बात से भी प्रमाणित हो जाता है कि अब तक भारत में एक भी ग्रीक अभिलेख नहीं पाया जा सका।

साहित्य के संबंध में संत क्रिसोस्टम (११७ ई०) ने कहा है कि "भारतीय होमर का काव्य गाते हैं जिन्होंने उसका अनुवाद अपनी भाषा और भावांकन शैलियों में कर लिया है।" प्लूतार्क और एलियन ने भी इस वक्तव्य की पुष्टि की है परंतु

---

१. क्या हिन्दी शब्द 'दाम' इसी द्रम्म का अपभ्रंश है?

इसकी सत्यता संदिग्ध है यद्यपि ग्रीक और भारतीय अनुश्रुतियों में कुछ ऊपरी समताएं स्थापित की जा सकती हैं। उदाहरणतः रामायण का केंद्रीय विषय इलियड की कहानी से मिल जाता है। इसी प्रकार यद्यपि ग्रीक नाटक शाकल और ग्रीक शक्ति के अन्य केंद्रों में अभिनीत हुए तथापि हमारे पास इसका पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं कि भारतीय नाटक ग्रीक माडल से बहुत प्रभावित हुआ। 'यवनिका' शब्द से केवल ग्रीक प्रकार के परदे का बोध होता है, और अन्य समतायें भी अधिकतर आकस्मिक ही हैं।

ज्योतिष के क्षेत्र में भारतीयों ने ग्रीकों से निश्चय बहुत कुछ सीखा। गार्गी-संहिता में लिखा है कि "यद्यपि यवन वर्बर हैं तथापि ज्योतिष के मूल निर्माता होने के कारण वे देवताओं की भांति स्तुत्य हैं। भारतीय ज्योतिष में अनेक ग्रीक लाक्षणिक शब्द सुरक्षित हैं और 'रोमक' तथा 'पोलिससिद्धान्त' तो निश्चय ग्रीक प्रभाव को घोषित करते हैं। फलित ज्योतिष का कुछ ज्ञान भारतीयों को पहले से ही था परंतु नक्षत्रों को देखकर भविष्य-कथन की कला उनकी वाबुल से सीखी हुई कही जाती है।

यह कहना कठिन है कि इन इण्डो-ग्रीकों ने भारतीय कला और वास्तु को कहाँ तक प्रभावित किया। डेमिट्रियस और मिनेन्डर के समय की एक भी महत्व की मूर्ति अभी तक प्राप्त नहीं हुई[1] परन्तु पश्चात्कालीन गन्धार शैली जिसमें बुद्ध की जीवन-घटनाएँ प्रस्तर में उत्कीर्ण हैं निश्चय ग्रीक आदर्शों से अनुप्राणित हैं। इसी प्रकार प्रथम शताब्दी ई० पू० के प्रथम चरण के यवन स्तम्भों और ग्रीक शैली में निर्मित तक्षशिला के एक मन्दिर तथा कुछ भवनों की अलंकृत दीवारों को छोड़कर किसी ग्रीक इमारत की उपलब्धि भारत में नहीं हुई। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रीक शैली भारत की अलंकार कला को वास्तु के क्षेत्र में दीर्घकाल तक प्रभावित करती रही, वाद में भारतीय 'अभिप्रायों' ने उसे कालान्तर में नितान्त भारतीय बना डाला।

सभ्यताओं के इस सम्पर्क से व्यापार को विशेष लाभ हुआ[2]। विचारों का भी आयात-निर्यात शुरू हुआ जिसका प्रभाव विविध दिशाओं में काफी गहरा पड़ा[3]। हेलिओडोरस् की वैष्णव धर्म में दीक्षा और मिनेन्डर तथा स्वात भाण्ड लेख के थियोडोरस् की बौद्ध-धर्म में दीक्षा इस बात को प्रमाणित करती है कि ग्रीक धीरे-धीरे भारतीय धर्मों के प्रभाव में आने लग गए थे। इस प्रकार जब-जब विदेशी सेनाओं का तूफान आया भारत ने क्षणमात्र के लिए सिर झुकाया, उसे निरखा,

---

१. ग्रीक मूर्ति कला के कुछ नमूने जो मिले हैं उनमें से एक डयोनिसस् का मस्तक और दूसरा होठों पर उँगली रखे बालक का है (देखिए, A. S. I., १६१४-१५, पृ० १३ और आगे)।

२. उदाहरणतः भारतीय गजदन्त और गर्म मसालों के प्रभूत परिमाण का १६६ ई० पू० में डफ़्ना में ऐन्टिओकस चतुर्थ द्वारा प्रदर्शन (टार्न, G. B. I., पृ० ३६१-६२)। इसी प्रकार टालेमी द्वितीय ने भी अपनी विजय के स्मारकों में भारतीय कुत्तों और मवेशियों का प्रदर्शन किया था (वही, पृ० ३६६)। ग्रीक देशों से भारत में आने वाली वस्तुओं में संभवतः लिखने की सामग्री और "सुन्दर कुमारी उपपत्नियाँ" थीं जिनका हवाला पेरिप्लस देता है। (देखिए, वही, पृ० ३७३)

३. स्टेनकोनो, C. I. I., खंड २, नं० १, पृ० १-४।

और फिर वह अपने स्वाभाविक विचार-वितन्वन के निमित्त अन्तर्मुख हो रहा और अपनी इस नीति से उसने अपने विजेताओं को आध्यात्मिक दास बना डाला। ग्रीकों का यह भारतीयकरण कुछ अंश तक शायद अन्तर्विवाहों के कारण भी हुआ होगा।

प्रकरण २

शक पह्लव

शक संक्रमण

१६५-१६० ई० पू० के लगभग मध्य एशिया में घुमक्कड़ जातियों के आकस्मिक गति-विप्लव हो चले थे। उत्तर-पश्चिमी चीन से युह्‌ची जाति को अपनी रक्षा के लिए पश्चिम की तरफ संक्रमण करना पड़ा। अपने संक्रमण के क्रम में वे शकों अथवा स्से[1] से जा टकराए। शक सर दरिया के उत्तर में बसे हुए थे और युह्‌ची की इस टक्कर से टूटकर उनको दक्षिण की ओर बिखर जाना पड़ा। अपनी बिखरी शक्ति एकत्र कर वे बैक्ट्रिया और पार्थिया के राज्यों पर १४० और १२० ई० पू० के बीच जा टूटे। बाख्त्री का राज्य जो पहले ही बाहरी लड़ाइयों और गृह-कलह का शिकार हो चुका था अब इन वर्बर शकों की चोट से सर्वथा नष्ट हो गया। तदनन्तर शक दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़े और पार्थव राज्य से जो उनका संघर्ष हुआ उसमें फ्रानीज़ द्वितीय १२८ ई० पू० में मारा गया और ५ वर्ष बाद १२३ ई० पू० में आर्तवानुस प्रथम ने भी उसी संघर्ष में अपने प्राण खोये। मिथ्रिडेट्ज़ द्वितीय (१२३-८८ ई० पू०) ने पार्थव शक्ति को फिर से सम्भाला और शकों को पूर्व की ओर रुख करने को मजबूर किया। परन्तु आगे राह बन्द थी क्योंकि काबुल घाटी का सीमित ग्रीक राज्य अब भी सशक्त था और शकों को उसके पास ही सीइस्तान अथवा शकस्तान में बिखर कर बस जाना पड़ा। कुछ काल बाद शक एराकोसिया (कंदहार) और बलोचिस्तान से होते हुए सिन्धु की निचली घाटी में जा पहुँचे और वहाँ बस गए। उनकी इस नयी बस्ती को हिन्दू लेखकों ने शकद्वीप और ग्रीक भौगोलिकों ने इन्डो-सीथिया कहा। इस आधार से शकों ने भारत में अपने अनेक राज्य खड़े किये।

१
माउस्

भारत का प्रथम शक विजेता माउस् जान पड़ता है। यह सम्भवतः मैरा

१. ग्रीक ग्रन्थकारों ने उनको सकाई कहा है। देखिए, स्टेनकोनो, भूमिका, C. I. I., खंड २, भाग १, पृ० १६ और आगे......; काशीप्रसाद जायसवाल, J. B. O. R. S.; खंड १६, भाग ३ और ४, पृ० २२७-३१६ (Problems of Saka- Satavahana History); आर० डी० बैनर्जी, Ind. Ant., ३७ (१९०८), पृ० २५ और आगे; Cam. Hist. Ind., खंड १, अध्याय २३, पृ० ५६३-९२; गोविन्द पाई Chronology of Sakas, Pahlavas and Kushans, Journal Ind. Hist., खंड १४ (१९३५), पृ० ३०९ और आगे।

(नमक की पहाड़ियाँ)—कूप लेख[१] का मोग्रा ("मोग्रस्") ही है और क्षत्रप पतिक[२] के तक्षशिला-ताम्रपत्र का मोग भी। इसके विरुद्ध विन्सेन्ट स्मिथ[३] माउस् को हिन्दू पार्थव राजा मानते हैं। वास्तव में शक और पह्लव नाम (पार्थियन, पार्थव) भारतीय साहित्य और अभिलेखों में निरन्तर एक साथ व्यवहृत होते हैं और अनेक वार एक को दूसरे से पृथक् करना कठिन हो जाता है। एक ही कुल के राजाओं में पह्लव और शक दोनों नाम मिलते हैं और दोनों के सिक्कों तथा क्षत्रप-शासन-पद्धति में अद्भुत समानता है। अतः रैप्सन ने सही कहा है कि माउस् और उसके उत्तराधिकारियों को शक कहना वस्तुतः एक "सुविधाजनक नामकरण मात्र" है।[४] माउस् (माऊअकिस ?) निःस्संदेह महान् राजा था। तक्षशिला से मिले[५] एक ताम्रपत्र में उसको 'महाराय' कहा गया है जिससे सिद्ध है कि वह प्रान्त भी उसके शासन में सम्मिलित था। पश्चात् उसने अपने सिक्कों पर राजाधिराज का विरुद खुदवाया और इन सिक्कों के प्रकार और प्रचलन के स्थानों से विदित है कि गन्धार और समीपस्थ प्रान्त जो कभी यवनों के अधीन रहे थे, अव उसके अधिकार में आ गये थे। परन्तु माउस् सम्भवतः सारे पंजाव पर अधिकार न कर सका और इस कारण उसका राज्य कावुल घाटी और पूर्वी पजाव के दोनों अवशिष्ट यवन राज-कुलों के बीच ही खड़ा हो सका। माउस् की तिथि निश्चित नहीं है क्योंकि तक्षशिला ताम्रपत्र में उल्लिखित ७८वाँ वर्ष किस संवत् का है यह निश्चित नहीं किया जा सका। डा० राय चौधरी का अनुमान है कि उसने "३३ ई० पू० के बाद, परन्तु प्रथम शती ईस्वी के उत्तरार्ध के पूर्व"[६] शासन किया। स्टेनकोनो इसके विरुद्ध यह मानते हैं कि माउस ने ६०वें ई० पू०[७] में अथवा इसके लगभग राज्य करना शुरू किया।

उसके उत्तराधिकारी

माउस् के वाद एजेस्[८] गद्दी पर बैठा और जैसा कि उसके सिक्के की किस्मों

---

१. मैरा अभिलेख ५८वें वर्ष में खुदा जान पड़ता है। (C. I. I., २, नं० ८, पृ० ११-१३)।

२. गोविन्द पाई तक्षशिला ताम्रपत्र लेख में मोगस के स्थान पर मागस (माघ मास का) पढ़ते हैं Journ. Ind. Hist., १४, १९३५, पृ० ३२८-३८।

३. E. H. I., चतुर्थ० सं०, पृ० २४२।

४. Cam. Hist. Ind., १, पृ० ५६८।

५. C. I. I., २, भाग १, पृ० २८-२९।

६. Pol. Hist. Anc. Ind. चतुर्थ सं०, पृ० ३६५।

७. Jour. Ind. Hist., पृ० १९। देखिए, स्टेनकोनो : Notes on Indo-Scythian Chronology, वही, पृ० १—४६।

८. क्या वह १३४वें वर्ष के लेख और किसी अव्यक्त संवत् के १३६वें वर्ष के तक्षशिला

से विदित है, उसने अपने पूर्ववर्ती प्रान्तों को अपने अधिकार में रखा। हिप्पोस्ट्रेटस के सिक्कों को भी उसने पुनः मुद्रित किया जिससे जान पड़ता है कि एजेस् ने पूर्वी पंजाब पर भी अधिकार जमा लिया। कुछ विद्वानों का मत है कि उसी ने ५८ ई० पू० में प्रारम्भ होनेवाले संवत् का प्रचलन भी किया। परन्तु निःसन्देह यह धारणा निराधार है। सिक्कों के प्रमाण से ज्ञात होता है कि एजेस् प्रथम के बाद एजिलिसेस् राजा हुआ यद्यपि कुछ काल तक दोनों ने सम्मिलित शासन किया। एजिलिसेस् का उत्तराधिकार एजेस् द्वितीय को मिला। कुछ विद्वान् दोनों एजेसों को एक ही मानते हैं परन्तु उनको पृथक् मानना ही समीचीन जान पड़ता है। जैसा कि नीचे बताया जाएगा, एजेस् द्वितीय के बाद शक प्रांत गोन्डों फरनीज (गुदफर) के अधिकार में चले गये।

२

उत्तर-पश्चिम के क्षत्रप

क्षत्रपों के शासन में साधारण व्यवहार यह था कि महाक्षत्रप, क्षत्रप[1] के साथ-साथ शासन करता था। और यह क्षत्रप साधारणतः उसका पुत्र होता था जो उचित समय पर महाक्षत्रप हो जाता था। ७८ वें वर्ष के तक्षशिला ताम्रपत्र लेख में इस प्रकार के, लियक कुसुलक और उसके पुत्र पतिक[2] के दो नाम मिलते हैं। वे छहर और चुक्ष (तक्षशिला के पास) जिलों के महाराय मोग की ओर से क्षत्रप नियुक्त थे।

३

मथुरा क्षत्रप

इस कुल के प्रारम्भिक राजा हगान और हगामस थे जिन्होंने कुछ काल तक संभवतः सम्मिलित राज्य किया था। उनका उत्तराधिकारी शायद रञ्जुवुल अथवा राजुवुल था जिसे मोरा (मथुरा के पास) लेख में महाक्षत्रप कहा गया है। उसने स्ट्रेटो प्रथम और स्ट्रेटो द्वितीय के सिक्कों का अनुकरण किया था और इससे यह निष्कर्ष निकालना कुछ बेजा न होगा कि रञ्जुवुल ने पूर्वी पंजाब में ग्रीक शासन का अन्त कर दिया। मथुरा के सिंह-मस्तक वाले अभिलेख के अनुसार वह उस समय क्षत्रप था जब पडिक अथवा पतिक (जो तक्षशिला लेख[3] का पतिक है) महाक्षत्रप

रजतरेखा लेख का अय अथवा अज ही तो नहीं है (C. I. I. २, नं० २७, पृ० ७०—७७)? स्टेनकोनो कलवान (तक्षशिला के पास) के लेख के १३४वें वर्ष को विक्रम संवत का मानते हैं (Ep. Ind. २१, पृ० २५६, २५९)।

१. क्षत्रप शब्द फारसी क्षत्रपावन् (प्रान्त का शासक) का संस्कृत रूपान्तर है।

२. देखिए, स्टेनकोनो C. I. I., भाग १, नं० १३, पृ० २३-२९।

३. Ep. Ind. ४, पृ० ५४-५७। फ्लीट ने दोनों पतिकों के इस एकीकरण में सन्देह किया है (J. R. A. S. १९१३, पृ० १००१ और नोट ३)। मथुरा सिंहमस्तक-लेख के लिए देखिए, स्टेनकोनो, C. I. I., २, भाग १, पृ० ३०-४९।

था। इस प्रकार हम दोनों को समसामयिक मान सकते हैं। अमोहिनी-आयागपट-लेख में सोडास को महाक्षत्रप कहा गया है और यदि इसकी तिथि ४२ (रैप्सन) विक्रम संवत् में दी हुई है तो हम इस राजा का १७-१६ ई० पू०[1] के लगभग राज्य करना मान सकते हैं। उसके उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प है।

४
महाराष्ट्र के क्षहरात

पश्चिमी भारत का पहला ज्ञात क्षत्रप क्षहरातकुलीय[2] भूमक था। उसका अधिकार सौराष्ट्र के ऊपर था। उसके सिक्कों की बनावट और उन पर खुदे लेखों से स्पष्टत: जान पड़ता है कि भूमक नहपान का पूर्ववर्ती था। इन सिक्कों के लक्षण "बाण, चक्र और वज्र" उन सिक्कों के लक्षणों से मिलाये जा सकते हैं जो पीछे की ओर "चक्र धनुष और बाण" हैं और जिनको "स्पलिरिसेज तथा एजस् ने साथ-साथ"[3] चलाया था।

नहपान

दूसरा क्षहरात राजा नहपान था जिसका भूमक के साथ ठीक-ठीक सम्बन्ध ज्ञात नहीं है। इसमें फिर भी संदेह नहीं कि नहपान शक था क्योंकि उसकी कन्या हिन्दूनामधारिणी दक्षमित्रा उषवदात (ऋषभदत्त) से ब्याही थी और यह उषवदात अपने एक अभिलेख में अपने को शक कहता है। नहपान के पांडुलेन-(नासिक के पास), जुन्नार और कारले (पूना जिला) के अभिलेखों से स्पष्ट है कि वह महाराष्ट्र के बड़े भाग का स्वामी था। यह भाग निश्चय उसने सातवाहनों से जीता होगा। उसने अपने जामाता को मालवों के आक्रमण के विरुद्ध उत्तमभद्रों की सहायता के लिए भेजा। विजय के पश्चात् उषवदात ने पुष्कर तीर्थ (पोखरन) में कुछ दान दिये जिससे नहपान का अधिकार अजमेर तक प्रमाणित होता है। उसके शासन के अभिलेख किसी अज्ञात संवत् के ४१वें से ४६वें वर्ष तक के हैं। यदि इनको शक संवत् का मानें (यद्यपि डुब्रुए ने इन्हें विक्रम संवत् का माना है[4]) तो

---

१. कुछ विद्वानों ने इसे ७२ पढ़ा है। उस दशा में सोडास् की तिथि १५ ईसवी के लगभग पड़ेगी। स्टेनकोनो ने इस वर्ष को विक्रम संवत् का माना है (Ep. Ind. १४ पृ० १३९-१४१)। अन्य विद्वान् सोडास् की इस तारीख़ को शक संवत् में लिखा मानते हैं। बूलर ने प्रारम्भ में अमोहिनी लेख की तिथि को ४२ पढ़ा था (Ep. Ind. २, पृ० १९९), परन्तु बाद में इसे ७२ माना (वही, ४, पृ० ५५, नोट २)। रैप्सन् पहला पाठ ही स्वीकार करते हैं (Cam. Hist. Ind., १, पृ० ५७६ नोट १)।

२. क्या क्षहरात शब्द टालेमी का 'करतई' ही है? क्या यह शब्द जिला क्षहर से निकला है?

३. डुब्रुए, Anc. Hist. Dec., पृ० १७।

४. वही, पृ० २२।

नहपान का ११९ ईसवी से १२४ ईसवी तक राज्य करना प्रमाणित होगा। परंतु यदि वह पेरिप्लस[1] का मैम्बरस् अथवा मैम्बनस् है, जैसा कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है, तो निश्चय उसने प्रथम शती ईसवी के तृतीय चरण में राज्य किया होगा। नासिक-लेख और जोगलथम्बी (नासिक के पास) सिक्कों की ढेरी से प्रमाणित होता है कि नहपान अथवा उसके उत्तराधिकारी की शक्ति गौतमीपुत्र शातकर्णी[2] द्वारा नष्ट कर दी गयी।

५
उज्जैन के क्षत्रप

चष्टन

इस कुल ने पश्चिमी भारत पर कई सदियों तक राज्य किया। इसका प्रथम राजा यसामोतिक का पुत्र चष्टन था। कुछ विद्वान् उसे ७८ ईसवी[3] के संवत् का प्रारम्भकर्ता मानते हैं। अन्य इसका विरोध करते हैं, यद्यपि वे मानते हैं कि अन्धाउ (कच्छ)—अभिलेख का ५३ वाँ वर्ष इसी संवत् का है। यह दृष्टिकोण १३० ईसवी को चष्टन के शासन[4] का एक वर्ष बना देता है। चष्टन टालेमी द्वारा लिखित "ओजेन का टिग्रास्टेनिज" माना गया है। उसके सिक्के नहपान के सिक्कों के अनुकरण में बने थे। चष्टन ने पहले क्षत्रप के पद से शासन किया, फिर वह महाक्षत्रप बना। जोवो डुब्रुए ने उसे "गौतमीपुत्र का सामन्त" माना है।[5] वह गौतमीपुत्र का सामंत था अथवा कुषाणों का?

रुद्रदामन्

चष्टन का पुत्र जयदामन् क्षत्रपमात्र था और उसने कोई यशस्वी कार्य नहीं किया। उसका पुत्र रुद्रदामन् शक्तिशाली नृपति था। उसकी विजयों की प्रशस्ति जूनागढ़ के शिलालेख में खुदी है जो ७२ वें साल अर्थात् १५० ईसवी का है।[6] इस लेख में उसे महाक्षत्रप[7] कहा गया है। इससे यह भी सिद्ध है कि उसने दृप्त यौधेयों को जीता और दक्षिणापथ के स्वामी उस शातकर्णी को दो बार पराजित किया जो

---

१. राजधानी मीननगर को किसी ने जूनागढ़ माना है (भगवानलाल इन्द्रजी), किसी ने मंदसोर अथवा आधुनिक दसोर (डा० भण्डारकर), किसी ने जुन्नार अथवा दोहद (फ्लीट); परन्तु जायसवाल का मत है कि नहपान ने भड़ोच केन्द्र से शासन किया।

२. देखिए पीछे। क्या गौतमीपुत्र नहपान से स्वयं लड़ा था अथवा दोनों में "एक लम्बे काल का अन्तर था?" (देखिए, Anc. Hist. Dec., पृ० २४-२५)।

३. डुब्रुए, Anc. Hist. Dec., पृ० ३६।

४. चष्टन को कुछ लोगों ने अन्धाऊ के लेख के आधार पर रुद्रदामन् के साथ सम्मिलित शासक कहा है (डा० भंडारकर, Ind. Ant. ४७ (१९१८, पृ० १५४)। डुब्रुए इस मत को नहीं मानते और अन्धाऊ के लेखों को रुद्रदामन् के शासन काल का मानते हैं Anc. Hist. Dec., पृ० २७)।

५. वही, पृ० ३७।

६. Ep. Ind., ८, पृ० ३६-४९।

७. मिलाइये—स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना।

उसका निकट सम्बन्धी था। इसमें संदेह नहीं कि यह प्रशस्ति सच्ची है और इसकी सत्यता इसमें परिगणित उसके विजित प्रांतों की तालिका से भी प्रमाणित है। ये प्रांत निम्नलिखित थे: उत्तरी गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ, सिन्धु की निचली घाटी, उत्तरी कोंकण, मान्धाता प्रदेश, पूर्वी और पश्चिमी मालवा, कुकुर और मरु अर्थात् राजपूताना के भाग आदि[२] जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है इनमें से कुछ प्रांत गौतमीपुत्र शातकर्णी के अधिकार में थे। इससे स्पष्ट है कि रुद्रदामन् के शासनकाल की दूसरी महत्वपूर्ण घटना सुदर्शन झील के बाँध का टूट पड़ना था। रुद्रदामन् ने उसे अपने पह्लव शासक अथवा 'सम्पूर्ण आनर्त तथा सुराष्ट्र' के पुत्र सुविशाख द्वारा पहले से तीन गुना मजबूत बनवा दिया। इस लेख से यह भी प्रमाणित है कि रुद्रदामन् ने इस पुनर्निर्माण का सारा व्यय स्वयं उठाया और इस निमित्त उसने अपनी प्रजा के ऊपर किसी प्रकार का कर न लगाया। निश्चय अपनी प्रजा के कल्याण का वह प्रभूत उपासक था।

रुद्रदामन् के उत्तराधिकारी

रुद्रदामन् के बाद इस कुल में अनेक राजाओं ने राज्य किया परंतु उनके संबंध में हमारा ज्ञान नहीं के बराबर है[3]। तृतीय शती ईसवी की चतुर्थ दशी के लगभग क्षत्रपों के शक्ति-सूर्य पर ईश्वरदत्त-राहु का उदय हुआ। इस आभीर राज्य ने क्षत्रप प्रांतों के एक बड़े भाग को ग्रस लिया। क्षत्रप राजकुल ने फिर एक बार मस्तक उठाया और जैसे-तैसे शक ३१ क (=ईस्वी ३१ क+७८)[४] तक वह जीवित रहा। यह तिथि रुद्रसिंह तृतीय के सिक्कों पर खुदी हैं। रुद्रसिंह हर्षचरित का संभवतः वह शक राजा ही है जिसका चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने वध किया। तदनंतर गुप्तों ने शक प्रांतों को अपने शासन में मिला लिया और क्षत्रप किस्म के सिक्कों का प्रचलन किया। इन सिक्कों पर उन्होंने क्षत्रप लक्षणों के स्थान पर गरुड़ की आकृति खुदवाई।

६
पह्लव[3]
वोनोनिस्

हिन्दू-पार्थवों अथवा पह्लवों का इतिहास अन्धकार में है परन्तु उनके संबंध की कुछ सामग्री सिक्कों और अभिलेखों से उपलब्ध है। इस कुल का पहला ज्ञात राजा वोनोनिस् था जिसने एराकोसिआ और सीस्तान में अपनी शक्ति प्रतिष्ठित

१ देखिए पीछे।

२. मिलाइये—पूर्वापराकरावन्त्यनूपनीवृदानर्तसुराष्ट्रश्वभ्र (भ) रुकच्छसिन्धुसौवीरकुकुरापरान्तनिषादादीनां समग्राणां तत्प्रभावाद्य।

३. देखिए, रैप्सन : Catalogue of the Coins of Andhra Dynasty, the Western Kshatrapas, etc. (लन्दन, १६०८)।

४. 'क' का चिह्न वर्ष तिथि के उस सैकड़ा स्थान के अंक के लिए है जो सिक्कों पर स्पष्ट नहीं है।

५. देखिए, स्टेनकोनो, C. I. I., २, भूमिका, पृ० ३७-४६।

की और महाराजाधिराज[1] का विरुद धारण किया। युक्रेटाइड्ज के कुल के राजाओं के अनुकरण में ढाले अपने सिक्कों पर वोनोनिस् अपने भाइयों, स्पलिराइसिस् और स्पलहोरिस्, तथा अपने भतीजे, स्पलगदमिस्, के साथ उल्लिखित है। संभवतः ये विजित प्रान्तों के उसके प्रतिनिधि शासक थे। स्पलिराइसिस् ओनोनिस् का उत्तराधिकारी हुआ। यह एजेस् द्वितीय का अधिराट् जान पड़ता है क्योंकि कुछ सिक्कों पर सामने की ओर उसका नाम ग्रीक अक्षरों में खुदा है और एजेस् का पीछे की ओर खरोष्ठी में।

स्पलिराइसिस्

गोन्डोफ़रनिस्

गोन्डोफ़रनिस् (विन्दफ़र्ण)[2] इस कुल का सबसे शक्तिमान् नृपति था। एक सौ तीसरे वर्ष के तख़्त-ए-बाही[3] अभिलेख से उसकी शासन-अवधि प्रायः निश्चित हो गई है। इसे विक्रम संवत्[4] का वर्ष मानकर फ्लीट ने इसकी तिथि ४५ई० मानी है। यह तिथि महाराय गुदुव्हर (?) के शासन का २६वाँ वर्ष प्रकट करती है, अतः वह १९ ई० में गद्दी पर बैठा और कम से कम ४५ई० तक उसने राज्य किया। इस लेख से पेशावर जिले पर उसका स्वत्व भी प्रमाणित होता है। उसके सिक्कों की किस्मों से जान पड़ता है कि वह पूर्वी ईरान तथा पश्चिमी भारत दोनों के शक-पह्लव प्रांतों का स्वामी बन गया था। एज़ेस् द्वितीय के कुछ प्रांतों का भी वह स्वामी हो गया था, यह अस्पवर्मन् के सिक्कों से प्रमाणित है जो पहले तो एज़ेस् द्वितीय का 'स्ट्रैटेगस्' था, पश्चात् उसने गोन्डोफ़रनिस् की आधीनता स्वीकार की। ख्रिष्टीय अनुश्रुतियों में उसे 'भारत का राजा' कहा गया है और उसका सम्बन्ध सेन्ट थामस से जोड़ा गया है। इस प्रकार की किंवदन्तियों पर विश्वास तो नहीं किया जा सकता परन्तु इतना सही जान पड़ता है कि वह सन्त गोन्डोफेरिस अथवा गोन्डोफरनिस् के दरबार में गया था और उसे अपने धार्मिक प्रचार में कुछ सफलता भी मिली थी।[5] पह्लव नृपति की मृत्यु के पश्चात् उसका राज्य बिखर गया और उसके प्रान्तों पर अन्य राजाओं ने अधिकार कर लिया। इनमें से एक, पकोरिस्, संभवतः

---

१. रैप्सन वोनोनिस् को 'पूर्वी ईरान के राज्य का अधिराट्' मानता है, और उसे मिथ्रिडेट्स द्वितीय के शासन काल के बाद का कहा है (C. I. I., १, पृ० ५७२-७३)।

२. इस नाम के अन्य पाठ हैं, गुदुफर, गुदुव्हर, गोन्डोफेरिस्, गुडन (सिक्के), आदि।

३. देखिए, स्टेनकोनो, C. I. I., २, नं २०, पृ० ५७-६२।

४. इस मत की सत्यता में कुछ विद्वानों ने सन्देह किया है। दिवंगत आर० डी० बैनर्जी ने तख्त-ए-बाही-लेख के एक सौ तीसरे वर्ष को शक संवत् का माना था (Ind. Ant. १९०८, पृ० ४७, ६२) परंतु) विन्सेन्ट स्मिथ गोन्डोफ़रनिस् के लिए इतनी पीछे तिथि नहीं मानते। उनका मत है कि "तक्षशिला के स्तरों से ज़ाहिर है कि गोन्डोफेरिस् कडफ़ाइसिस् प्रथम से पूर्व हुआ" (E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० २४८, नोट १)।

५. सेन्ट थामस की अनुश्रुति के लिए, देखिए, E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० २४५-५०।

पश्चिमी पंजाब और दक्षिणी अफगानिस्तान के कुछ भागों पर राज्य करता था। कुषाणों के आक्रमण से यह कुल विनष्ट हो गया।

प्रकरण ३

कुषाण[1]

युह्‌ची-संक्रमण

द्वितीय शताब्दी ई० पू० के चतुर्थ दशक के लगभग—संभवतः १६५ ई० पू० में—तुर्की खानाबदोश जाति ह्यु ग-नू ने उत्तर-पश्चिमी चीन के कान्सू प्रान्त के अपने पड़ोसी युह्ची जाति को पूर्णतया पराजित कर उसे अपनी मूल भूमि छोड़ने को बाध्य किया। अपने पश्चिमाभिमुख संक्रमण काल में युह्ची इली नदी की घाटी में बसने वाली जाति वुसुन से मिले। युद्ध अवश्यम्भावी था और उसमें वुसुनो का सरदार नयन-ताऊ-मी मारा गया। यहाँ पर युह्चियों के दो भाग हो गए। उनमें से एक तो दक्षिण की ओर बढ़ता हुआ तिब्बती सरहद पर जा बसा और अल्पकाय युह्ची (सिआवो युह्ची) कहलाया। युह्चियों का वृहत्तर भाग (ता युह्ची) आगे बढ़ता गया और उन शकों से जा टकराया जो जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है सर दरिया के उत्तर में बसे हुए थे और जिन्हें नयी विपत्ति के सामने अपना देश छोड़ना पड़ा। परन्तु युह्ची भी इसी नयी भूमि पर दीर्घ काल तक न बस सके और वुसुन जाति के मृत सरदार के पुत्र क्वेन-मो ने ह्यु ग-नू की सहायता से १४० ई० पू० के लगभग उन्हें वहाँ से निकाल बाहर किया। तदनन्तर युह्‌ची वक्षु की घाटी में जा पहुँचे और वहाँ के शान्तिप्रिय और समृद्ध निवासी जिनको चीनी ता-हिया (बैक्ट्रियन) कहते थे, परास्त किया। फिर धीरे-धीरे उन्होंने बाख्त्री और सोग्दियाना पर कब्जा कर लिया और पहली सदी ई० पू० के आरम्भ में अपने घुमक्कड़ जीवन को तिलाञ्जलि देकर वहाँ बस गए। युह्‌ची वहाँ पाँच हिस्सों में बट गए जिनके नाम निम्नलिखित थे : ह्यू-मी, कुआँग-मो कुएई-चुआँग, हि-थुन, काओ-फू। इस विभाजन के प्रायः एक सदी बाद यव्यू अथवा यवुग (जबगो) ने, जो कुएई-चुआंग (कुषाण)

पाँच कबीले अथवा प्रान्त

---

१. देखिए, स्मिथ, The Kushan or Indo-Scythian Period of Indian History, (J.R.A.S., १९०३ पृ० १-६४); आर० डी० बैनर्जी, Ind. Ant., ३७, १९०८, पृ० ३५ और आगे; स्टेनकोनो C. I. I., २, भूमिका, पृ० ४९-८२; नाम का साधारण पाठ कुषन है, परंतु कभी-कभी कुषान भी प्रयुक्त होता है। डा० एफ० डब्ल्यू० थामस ने इसे वंश अथवा राज-कुल का विरुद समझा था (J. R. A. S., १९०६, पृ० २०३), २२१वें वर्ष के पंजतर-लेख में 'महाराय' का नाम गुषण एक है (C. I. I., २, नं० २६, पृ० ७०) इसी प्रकार १३६वें वर्ष के तक्षशिला-रजत-रेखालेख (वही, नं० २७, पृ० ७७) में कुषाण के नाम से राजा का बोध हुआ है, संभवतः कडफ़ाइसेस् प्रथम बीम कडफ़ाइसिस् का (मिलाइए, 'महाराज, महाराजाधिराज, देवपुत्र, कुषाण')।

की एक शाखा थे, शेष चारों को पराजित कर दिया और सब का एक सम्मिलित राज्य बना। इस राज्य का स्वामी क्यू-त्सीओ-किओ था।

कुजूल कडफाइसिस इस राजा (वांग) की एकता सिक्कों के कुजूल कडफाइसिस के साथ स्थापित कर दी गई है। इन सिक्कों से काबुल घाटी में ग्रीक शक्ति का धीरे-धीरे लोप हो जाना भी प्रमाणित होता है क्योंकि कुछ सिक्कों पर कुजूल कस का नाम खरोष्ठी में और कोजोलो कडफेस हरमियस के साथ ग्रीक में खुदा मिलता है परन्तु दूसरों पर पिछला नाम नहीं मिलता। इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित ही है कि पहले दोनों राजाओं की मैत्री थी और सम्भवतः सम्मिलित शासन भी था जिसके बल पर वे शायद नित्य-प्रसारित पह्लव शक्ति के साथ-साथ लोहा लेते थे, परन्तु बाद में कुषाणों ने काबुल घाटी में ग्रीकों का राज्य हड़प लिया। कुजूल कडफाइसिस ने पार्थिया पर आक्रमण किया और किपिन (संभवतः गन्धार) तथा दक्षिण अफगानिस्तान को जीत लिया। यह विजय उसने अपने राज्य काल के अन्त में की होगी जब गोन्डोफरनिस् मर चुका था। इस पह्लव राजा ने तख्त-ए-बाही लेख के अनुसार ४५ ईस्वी में पेशावर पर राज्य किया था। चीनी लेखकों का कहना है कि कुजूल कडफाइसिस अस्सी वर्ष तक जीवित रहा और परिणामतः उसका अन्त प्रथम शती ईसवी के तृतीय चरण के मध्य में कहीं रखना होगा।

वीम कडफाईसिस

चीनी इतिहासकारों के उल्लेख से विदित होता है कि कुजूल कडफाइसिस के बाद उसका पुत्र यन-काओ-चेन गद्दी पर बैठा। यह राजा सिक्कों का 'महाराज उवियम कवथिस' अथवा ओमो अथवा वेम अथवा वीम कडफाइसिस है[1]। भारत (तियन-चिओ) की विजय का श्रेय इसी राजा को दिया गया है। यह अनुमान शब्दशः तो सही नहीं है परन्तु उसके सिक्के के सुविस्तृत प्रचलन और "महाराज राजाधिराज जनाधिप..." ऐसे उसके समुन्नत विरुदों से प्रमाणित होता है कि उसका अधिकार सिन्धु नद के पूर्व पजाब और सम्भवतः संयुक्त प्रान्त के ऊपर भी था। अपने भारतीय प्रान्तों का वह प्रतिनिधि शासक द्वारा शासन करता था। ताँबे के वे सिक्के जो साधारणतः 'नाम रहित राजा' के बताए जाते हैं और जो उत्तर भारत के अनेक भागों में आम तौर से पाए जाते हैं इसी शासक के चलाये कहे जाते हैं। अन्त में उसके सिक्कों पर खुदे विरुद "माहेश्वर" तथा पृष्ठ पर उत्खचित

---

१. इसे १२२वें वर्ष के पजंतर लेख में निर्दिष्ट महाराय गुषण से मिलाया गया है (C. I. I., २, नं० २६, पृ० ६७—७०)। सर जान मार्शल इसके विरोध में अनिश्चयपूर्वक उसको कडफाइसिस् प्रथम मानते हैं (J. R. A. S., १९१४, पृ० ९७७)। उविम कवथिस अथवा वीम कडफाइसिस् का नाम, यदि पाठ सही है तो, १८४वें अथवा १८७वें (?) वर्ष के खलत्से (लदाख) लेख में मिलता है (C. I. I., २. नं० २९, पृ० ७९—८१)।

नन्दी और शिव की आकृतियों से विदित होता है कि वीम कडफाइसिस सम्भवतः हिन्दू देवता शिव का भक्त था। यह लिखना अनावश्यक है कि कुषाण शीघ्र हिन्दू समाज में घुल मिल गए।

कनिष्क

उसकी तिथि

निःसन्देह कनिष्क भारत के कुषाण राजाओं में सबसे शक्तिशाली है। वह महान् विजयी और बौद्ध धर्म का संरक्षक था और इस रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य की सैनिक योग्यता तथा अशोक का धार्मिक उत्साह दोनों उसे समान मात्रा में उपलब्ध थे। फिर भी कनिष्क के विषय में हमारा ज्ञान अधिक नहीं है और उसकी तिथि तो आज भी हमारे लिए एक पहेली ही है। यह नहीं मालूम कि उसका वीम कडफाइसिस के साथ क्या सम्बन्ध था यद्यपि दोनों के बीच एक अल्पकालिक अन्तर की सम्भावना वर्जित नहीं। उनका क्रम वस्तुतः निश्चित हो चुका है[१]। अनेक स्थानों पर(उदाहरणतः बनारस, गोरखपुर जिले में गोपालपुर स्तूप, काबुल के समीप बेग्रम) कनिष्क और वीम कडफाइसिस दोनों के सिक्के साथ-साथ मिले हैं और "वे चतुष्कोणिक समान लक्षण प्रदर्शित करते हैं, उनकी तौल और 'फिनिश' समान है। इसके अतिरिक्त सामने के मुद्रित लक्षणों में भी उनमें अद्भुत समानता है"[२]। इस प्रकार सिक्कों के प्रमाण तथा तक्षशिला के भग्नावशेषों के स्तरों से ज्ञात होता है कि कनिष्क काल के क्रम से वीम कडफाइसिस के अत्यन्त समीप था और वस्तुतः उसका वह उत्तराधिकारी था। कनिष्क के राज्यारोहण का वर्ष वास्तव में ७८ ईसवी अथवा १२५ ईसवी है यद्यपि ५८ ईसवी पूर्व (फ्लीट) से लेकर २४८ ईसवी (डा. आर. सी. मजूमदार) अथवा २७८ ईसवी (आर. जी. भंडारकर) तक तिथियाँ बताई गई हैं। इस अनन्त वादविवाद के बावजूद भी हमें कनिष्क द्वारा ७८ ईसवी[३] के शक सम्वत् का संचालन सही जान पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि उसने एक सम्वत् चलाया था क्योंकि उसकी गणना-पद्धति उसके उत्तराधिकारियों द्वारा भी प्रयुक्त हुई और उत्तर भारत में प्रचलित हम किसी अन्य सम्वत् को नहीं जानते जिसका आरम्भ उस दूसरी शती ईसवी के प्रथम चरण में हुआ था जो तिथि कनिष्क के राज्यारोहण के सम्बन्ध में दी जाती है।[४] इनके अतिरिक्त यदि प्रथम

---

१. फ्लीट का मत था कि कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों के बाद दोनों कडफाइसिसों ने राज्य किया (J. R. A. S., १९०३, १९०५-६, १९१३)। कनेडी और ओटोफ्रांक का भी यही मत था।

२. E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० २७३ और नोट।

३. बाद में यह संवत् पश्चिमी भारत के शक राजाओं द्वारा दीर्घकाल तक प्रयुक्त होने के कारण शक संवत् कहलाने लगा।

४. कनिष्क की तिथि के सम्बन्ध में देखिए, J. R. A. S., १९१३-१४। और देखिए, nd. Hist. Quart., खंड ५ (१९२९), पृ० ४९—८०।

शती ईसवी के तृतीय चरण के मध्य के लगभग कुजूल कडफाइसिस मरा तब कनिष्क उस तिथि से बहुत दूर नहीं हो सकता क्योंकि अस्सी वर्ष तक जीवित रहने के कारण वीम कडफाइसिस का शासन अल्पकालिक ही रहा होगा।

दिग्विजय

कनिष्क महान् योद्धा था और उसने अनेक युद्ध जीते। कश्मीर को उसने कुषाण साम्राज्य में मिला लिया और वह सुन्दर घाटी उसे बड़ी प्रिय थी। यदि चीनी और तिब्बती ग्रन्थों में सुरक्षित अनुवृत्तों पर विश्वास किया जाए तो उसने साकेत और मगध तक धावे मारे और वहाँ से वह प्रसिद्ध भिक्षु और दार्शनिक कवि अश्वघोष को लिवा ले गया। पार्थव राजा के आक्रमण को भी उसने सफलतापूर्वक रोका। परन्तु उसका सबसे महत्वपूर्ण युद्ध चीनियों के विरुद्ध हुआ जिसके परिणाम-स्वरूप उसे काशगर, खोतान और यारकन्द प्राप्त हुए। प्रथम हान राजकुल के अन्त में, २३ ईसवी में, जो मध्य एशिया में चीनी प्रभाव नष्ट हो गया था उसको चीनियों ने प्रायः ५० वर्ष बाद फिर स्थापित कर लिया और अपने सेनापति पान-चाऊ के नेतृत्व में वे पश्चिम की ओर बढ़े। उनका यह यान कुषाणराज के लिए निःसन्देह चिंताजनक हुआ और चीनी सम्राट् के प्रति अपनी समता घोषित करने के लिए उसने देवपुत्र का विरुद धारण किया और एक चीनी राजकुमारी मांगी। पान-चाओ ने इसे अपने स्वामी का अपमान माना और फलतः कुषाण दूत को बन्दी बना लिया। इस पर कनिष्क उससे लड़ने के लिए पामीर लांघकर सामने जा पहुँचा। परन्तु युद्ध में पराजित हो जाने के कारण चीन को प्रतिज्ञापूर्वक कर देने की उसे सन्धि करनी पड़ी। कुछ वर्ष बाद कनिष्क ने फिर पामीर लांघा और इस बार पान-चाऊ के पुत्र पान-यांग के विरुद्ध उसकी विजय हुई। कुषाण राज ने इस प्रकार अपनी पुरानी पराजय का निराकरण किया और चीन के एक सामन्त राज्य को जमानत देने को बाध्य किया। कहा जाता है कि इस जमानत में हान सम्राट् का एक पुत्र भी शामिल था, परन्तु यह सही नहीं जान पड़ता। जमानत में आए राजकुमारों के प्रति, कहा जाता है, विशेष आदर का भाव रखा गया। उनको वर्ष के विविध ऋतुओं की सुविधाओं के अनुसार कपिशा (काफिरिस्तान) के विहार शे-लो-क में, गन्धार और पूर्वी पंजाब के स्थान चीनभुक्ति में समय-समय पर रखा गया। कहते हैं कि उन्होंने ही आड़ू और नाशपाती के पौधे इस देश में लगाए और उनकी स्मृति युआन-च्वांग के समय तक कपिशा के विहार में बनी रही। इस चीनी यात्री के जीवनचरितकार हुई-ली के अनुसार उन्होंने शे-लो-क विहार के चैत्य के जीर्णोद्धार तथा व्यय के लिए प्रभूत दान अर्पित किया। वह कोष वैश्रवण मूर्ति के चरण के नीचे गाड़ दिया गया और जब एक लोभी राजा ने उसको निकालना चाहा तब दैवी शक्तियों ने उसे डरा कर उसकी रक्षा की। कहा जाता है कि युआन-च्वांग ने देवता को प्रसन्न कर वह धन हस्तगत किया और उस रत्न और स्वर्ण का एक भाग उस विहार के

जमानत

जीर्णोद्धार में व्यय किया गया और शेष कोष भावी आवश्यकता के अर्थ रख लिया गया।[1]

कनिष्क का साम्राज्य विस्तार

कनिष्क सुविस्तृत साम्राज्य का स्वामी था। भारत के बाहर उसके साम्राज्य में अफ़गानिस्तान, बैक्ट्रिया, काशगर, खोतान (खुत्तन) और यारकन्द शामिल थे। भारत के अन्दर उस साम्राज्य की स्पष्ट सीमायें निश्चित करनी कठिन हैं। कनिष्क के शासन-काल के लेख पेशावर, माणिक्याल (रावलपिंडी के पास)[2], सुई विहार (बहावलपुर)[3], जैदा (उन्ड के समीप), मथुरा, श्रावस्ती, कोशाम्बी, सारनाथ में पाए गए हैं। उसके सिक्के भी सारे उत्तर भारत में बंगाल और विहार तक पाए जाते हैं। इस प्रकार इन प्राप्ति-स्थानों तथा विजयों की अनुश्रुतियों से विदित होता है कि कनिष्क द्वारा शासित भारतीय प्रांतों में पंजाब, कश्मीर, सिन्ध, संयुक्तप्रांत और सम्भवतः आगे की कुछ पूर्व और दक्षिणवर्ती भूमि भी शामिल थी।

उसकी राजधानी

इन दूरस्थ प्रांतों की राजधानी पुरुषपुर अथवा पेशावर थी। पेशावर अफगानिस्तान से सिन्धु की घाटी को जाने वाले प्रमुख राजपथ पर अवस्थित था। उसकी स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण थी।

उसके क्षत्रप

कनिष्क के शासन के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बहुत थोड़ा है। फिर भी तीसरे अथवा ८१ ईसवी (?)[4] के सारनाथ के लेख से प्रांतों की क्षत्रप-शासन-पद्धति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उससे विदित होता है कि उसका खरपल्लान नामक महाक्षत्रप सम्भवतः मथुरा में और क्षत्रप वनष्फर बनारस के समीपस्थ पूर्वी प्रांतों के शासन के अर्थ नियुक्त था। इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि साम्राज्य के अन्य दूरस्थ प्रांत भी इसी प्रकार शासित होते थे।

कनिष्क के निर्माण-कार्य

अशोक की ही भाँति कनिष्क भी स्तूपों और नगरों का महान् निर्माता था। अपनी राजधानी में उसने एक विहार और एक विशाल काष्ठ-स्तम्भ बनवाया और उसमें बुद्ध की अस्थियाँ सुरक्षित कीं।[5] कई वर्ष हुए वहाँ खुदाई में अस्थियों के

---

१. Life, पृ० ५६—५८; E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० २७८—२८०।

२. मिलाइये—महाराज कणेष्क (कनिष्क) के राज्यकाल के १८वें वर्ष का माणिक्याल लेख; C. I. I., २, भाग १, नं० ७६, पृ० १४५—५०।

३. मिलाइए, महाराजाधिराज देवपुत्र कनिष्क के शासन के ११वें वर्ष का सुई-विहार लेख (वही नं० ७४, पृ० १३८-१४१)।

४. पहले यह कनिष्क का प्राचीनतम ज्ञात अभिलेख समझा जाता था परन्तु कुछ वर्ष हुए एक दूसरा अभिलेख उसके शासन के द्वितीय वर्ष का, सम्भवतः कोशाम्बी से प्राप्त हुआ। यह अब इलाहाबाद संग्रहालय में सुरक्षित है।

५. चीनी यात्री सुंग-युन ने क-नि-सि-क अर्थात् कनिष्क के स्तूप का हवाला दिया है(बील,

टुकड़ों से भरी एक सन्दूकची मिली थी। इस पर खुदे अभिलेख[1] से ज्ञात होता है कि स्तूप अगिशल अथवा अगेसी-लाओस नामक ग्रीक शिल्पी द्वारा निर्मित हुआ था। कनिष्क ने तक्षशिला[2] के समीप एक नगर बनवाया और राजतरंगिणी में उल्लिखित कानिसपोर (कनिष्कपुर) के निर्माण का श्रेय भी उसी को है।[3]

उसका धर्म

सिक्कों से कनिष्क के धार्मिक विश्वास के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। उनसे केवल उसकी धर्म-चयनिकता[4] सिद्ध होती है। वह अनेक ग्रीक, ईरानी तथा हिन्दू देवताओं का उपासक था। उसके सिक्कों पर केवल ग्रीक अक्षरों में लेख खुदे हैं और जिन देवताओं की आकृतियाँ उन पर उत्खचित हैं वे निम्नलिखित हैं : हिरैक्लीज़, सिरापिज़, ग्रीक नामधारी सूर्य और चन्द्र—हेलिओस और सेलिनी, मीइरो (सूर्य); अथ्रों (अग्नि), ननाइया, शिव आदि। कुछ असाधारण सिक्कों पर भारतीय वेश में बैठे अथवा ग्रीक वेश में खड़े बुद्ध (बौद्दो) की आकृति खुदी है। इसके विरुद्ध बौद्ध ग्रन्थकार कनिष्क के कट्टर बौद्ध होने की घोषणा करते हैं। उनका कहना है कि अपने प्राग्बौद्ध जीवन में कनिष्क भी अशोक की ही भाँति पापी और क्रूर था, और अपने पापों के प्रायश्चित्त स्वरूप ही उसने शाक्य मुनि का धर्म ग्रहण किया। इसमें सन्देह नहीं कि इन कथाओं का मुख्य उद्देश्य बौद्ध धर्म के चमत्कार का प्रभाव घोषित करना है यद्यपि इसी से कनिष्क के बौद्ध सम्प्रदाय में दीक्षित होने के प्रसंग पर अश्रद्धा भी नहीं की जा सकती। बुद्ध की अस्थियों को विशाल स्तूप में रखवाना तथा बौद्ध संगीति का आवाहन भी उसका बौद्ध होना प्रमाणित करते हैं।

बौद्ध संगीति

कनिष्क का शासन बौद्धधर्म के इतिहास में विशेष महत्व का है क्योंकि हमें बताया जाता है कि धार्मिक अध्ययन में गुत्थियाँ पाकर उसने अपने गुरु पार्श्विक अथवा पार्श्व की अनुमति से इनको सुलझाने के लिए सर्वास्तिवादिन् शाखा के ५००

पृ० १०३-१०४)। देखिए, फाह्यान : फ़ो-कुओ-कि, अध्याय १२, बील, पृ० ३२; और युआन-च्वांग : सी-यू-की, २, बील, १, पृ० ९९; वाटर्स, १, पृ० २०४—किनिकिया अथवा किया-नि-से-किया (कनिष्क) के स्तूप के सम्बन्ध में। अल्बरूनी ने भी लिखा है कि पुरुषावर का विहार कनिष्क ने बनाया था। उसीके नाम पर इसका नाम भी कनिक-चैत्य पड़ा (सचाऊ, अनुवाद, खंड २, पृ० ११)।

१. देखिए, स्टेन कोनो, C. I. I., २, भाग १, नं० ७२, प० १३७।

२. इसके भग्नावशेष सीर-सुख में मिले हैं।

३. कुछ विद्वानों का मत है कि इसको आरा लेखवाले किसी अन्य कनिष्क ने बनवाया था।

४. अथवा, क्या हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सिक्कों पर के देवता कनिष्क के विस्तृत साम्राज्य में प्रचलित विभिन्न धर्मों का निर्देश करते हैं?

भिक्षुओं (महासंघ) की संगीति बुलायी। इसका अधिवेशन कश्मीर[1] के कुंडलवन में हुआ। वसुमित्र इसका अध्यक्ष था और उसकी अनुपस्थिति में अश्वघोष उसका कार्य सम्पन्न करता था। इस अधिवेशन के परिणामस्वरूप 'विभाषा-शास्त्र' का प्रणयन हुआ और धर्म के ऊपर बड़े-बड़े भाष्य सम्पादित हुए जिनको रक्तताम्र की चद्दरों पर खुदवा कर एक स्तूप में सुरक्षित किया गया। कौन जानता है ये अमूल्य रत्न आज भी भूमि के अन्दर समाधिस्थ पड़े हों और एक दिन पुराविद की कुदाल उन्हें प्रकाशित कर दे?

महायान का उदय

कनिष्क के सिक्कों पर बुद्ध तथा अन्य देवताओं की आकृतियों का प्रादुर्भाव इस बात को सिद्ध करता है कि बौद्ध धर्म अब अपने प्राचीन विचारों से दूर हट चला था। प्राचीन बौद्ध विचारों के अनुसार बुद्ध मानवमात्र और जीवन-यात्रा के पथ-प्रदर्शक मात्र थे। परन्तु अब उनका स्थान देवपरक हो चला था। वे देवता माने जाने लगे थे जो उपासना द्वारा प्राप्त हो सकते थे। उनके चारों ओर बोधि-सत्त्वों तथा अन्य देवताओं का परिवार उठ खड़ा हुआ था। इस मनोवृत्ति से बुध में भक्ति के परिणामस्वरूप मोक्ष अथवा निर्वाण की भावना जगी। इसमें सन्देह नहीं कि आवागमन के बन्धन से मुक्ति वाला व्यक्ति के प्रयास का प्राचीन आदर्श अब भी जीवित था परन्तु इसके साथ ही इस विचार का भी उदय हुआ कि प्रत्येक मनुष्य अपना लक्ष्य बुद्धत्व-प्राप्ति रख सकता है और संसार को दुःख से मुक्त करने के लिए बुद्धत्व तक प्राप्त कर सकता है। इन विचारों के अनुरूप ही जनपरक अनंत अनुष्ठानों का भी उदय हुआ। इससे प्राचीन बौद्ध धर्म में काफी परिवर्तन हुआ और इस परिवर्तन युक्त नव सम्प्रदाय का नाम 'महायान' पड़ा जो प्राचीन 'हीनयान' का स्पष्ट विरोधी था। यद्यपि प्रमाण सर्वथा प्रस्तुत नहीं तथापि इस बात के मान लेने के लिए विशिष्ट कारण है कि महायान का उदय वास्तव में कनिष्क के काल से काफी पहले हो चुका था। इसका प्रारम्भ बौद्धधर्म में भक्ति के समावेश के साथ माना जाना चाहिए। बौद्ध धर्म का साधारण जनता में प्रचार कुछ हद तक इसका कारण हो सकता है, क्योंकि उसे हीनयान के आदर्शवाद के ऊपर उदार जन धर्म की आवश्यकता थी और हीनयान में उसकी भक्ति को प्रज्वलित करने का सामर्थ्य न था। इसके अतिरिक्त भारतीय समाज में बाहरी जातियों की पुट तथा संस्कृतियों के अंतःसंघर्ष ने भी बौद्धधर्म के इस नये सम्प्रदाय के समुदाय में योग दिया होगा।

---

१. युआन-च्वांग, सी-यू-की (बील, १, पृ० १५१-१५६; वाटर्स, १, पृ० २७०-७८) एक अन्य चीनी वृत्तान्त के अनुसार यह अधिवेशन गंधार में हुआ। दूसरा वृत्तान्त इसे जालंधर में होना कहता है। इसका उल्लेख वास्तव में उत्तरी अनुवृत्तों में ही है, सिंहली इतिहासों में नहीं।

गन्धार कला

बौद्धों के इस नये सम्प्रदाय ने कला के क्षेत्र में एक नयी शैली को जन्म दिया। प्राचीन बौद्ध मूर्तिकला, जैसा उसके सांची और भारहुत के भग्नावशेषों से प्रमाणित है, पूर्वकाल में जातक कथाओं और बुद्ध सम्बन्धी अन्य कहानियों को पत्थर पर उत्कीर्ण तो करती थी परन्तु स्वयं बुद्ध की मूर्ति का प्रादुर्भाव उसमें अभी न हुआ था। उनकी उपस्थिति कला में पदचिन्हों, बोधिवृक्ष, रिक्त आसन अथवा छत्र आदि के लक्षणों से सूचित की जाती थी। परन्तु अब तथागत की मूर्ति तक्षकों का प्रिय विषय बन गयी और चूँकि इस प्रारम्भिक काल में इन मूर्तियों के नमूने अधिकतर गन्धार में, जिसका केन्द्र पुरुषपुर (पेशावर) था, पाये गये हैं। इस कला का नाम उस प्रदेश के अनुकूल गन्धार शैली पड़ा। कभी-कभी इसको 'ग्रीको-बुद्धिस्ट' अथवा 'इन्डो-हैलेनिक' भी कहते हैं, क्योंकि इसमें धार्मिक विषयों और अभिप्रायों को मूर्त करने के लिए ग्रीक आकार तथा 'टैकनीक' का प्रयोग किया गया। इस प्रकार इन मूर्तियों की परिधान-शैली नितान्त यूनानी है और बुद्ध की आकृति-निर्माण में भी कलाकारों ने इतनी स्वतंत्रता ली है कि बुद्ध की मूर्तियाँ अक्सर अपोलो की सी बन पड़ी हैं। पश्चात् तथागत की आकृति एक विशिष्ट प्रकार की मान ली गई और उसी का नमूना सर्वथा बुद्ध की मूर्ति के रूप में स्वीकृत हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि गन्धार-शैली में गुप्त शैली की शक्ति और निखार, सफाई और 'फिनिश' नहीं आ सकी, परन्तु निःसन्देह स्वयं उस शैली की बारीकियाँ भी कुछ कम नहीं। मथुरा और अमरावती की कला को गन्धार शैली ने किस सीमा तक अनुप्राणित किया है यह विवादास्पद है।

कनिष्क की राज्यसभा

अनुश्रुतियों से विदित होता है कि कनिष्क की राज्यसभा में पार्श्व, वसुमित्र, अश्वघोष, नागार्जुन, चरक, मातृचेट से अनेक उद्भट बौद्ध दार्शनिक तथा अन्य मेधावी थे। कनिष्क के सम्बन्ध की ये कथायें विक्रमादित्य की कथाओं के समानान्तर हैं। ऊपर परिगणित नामों में से प्रथम तीन तो कनिष्क द्वारा आहूत बौद्ध संगीति के समर्थ दार्शनिक थे परन्तु अन्य के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता कि वे कहाँ तक कनिष्क के समसामयिक थे।

उसकी मृत्यु

कहा जाता है कि कनिष्क उत्तर में अपने ही अनुचरों द्वारा, जो उसके निरन्तर समरयान से थक गये थे, हत हुआ।[1] उसने कम से कम २३ वर्ष राज्य किया, परन्तु यदि आरा अभिलेख[2] के कनिष्क से उसकी एकता मानी जाए तो उसके

१. Ind. Ant., ३२, १९०३, पृ०, ३८८, E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० २८५-८६।

२. देखिए स्टेन कोनो C. I. I., २, भाग १, नं० ८५, पृ० १२६–६५। मिलाइए महरजस रजतिरजस देवपुत्रस, (क) f (स) रसवझेष्क-पुत्रस कनिष्कस सवशरे एकचपर (f) (श) f सम् २० २० १........." अर्थात् "वाझेष्क-पुत्र महाराज राजातिराज देवपुत्र कैसर कनिष्क के शासन के ४१वें वर्ष में।"

शासन-काल का अन्तिम वर्ष ४१ मानना होगा। कनिष्क की एक मस्तक रहित मूर्त्ति मथुरा जिले के माट नामक स्थान से प्राप्त हुई थी जो आज मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित है।

वासिष्क

कनिष्क के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान स्वल्प है। मथुरा और साँची से प्राप्त दो .अभिलेखों से विदित होता है कि वासिष्क २४ वें और २८ वें वर्ष में उन प्रदेशों पर शासन कर रहा था। परन्तु इस राजा का कोई सिक्का अब तक नहीं मिला और संभवतः उसने अपने नाम का सिक्का चलाया भी नहीं।

हुविष्क

हुविष्क के शासन-काल का प्रसार कनिष्क संवत् के ३१ वें वर्ष से ६० वें वर्ष तक है। कुछ विद्वानों का मत है कि कनिष्क के बाद क्रमशः वासिष्क और हुविष्क राजा हुए। परन्तु यह मत सन्दिग्ध है क्योंकि पेशावर जिले में आरा[१] नामक स्थान पर जो एक अभिलेख मिला है उसमें वाझेष्क अथवा वाझेष्प के पुत्र किसी कनिष्क का ४१ वें वर्ष में राज्य करने का उल्लेख है। अब प्रश्न यह है कि यह कनिष्क कौन था? वह कनिष्क महान् है अथवा कोई अन्य कनिष्क? यदि वह कोई अन्य है, तो या तो वह हुविष्क का समकालीन स्वतंत्र नृपति रहा होगा, अथवा अधिक संभवतः, उसका ही प्रतिनिधि-शासक। परन्तु यदि दोनों कनिष्क एक ही हैं तो हमें निम्न तीन अवस्थाय स्वीकार करनी होंगी: (१) वासिष्क और हुविष्क पहले कनिष्क महान् के प्रतिनिधि-शासक थे; (२) वासिष्क उसकी मृत्यु से पहले ही मर गया; और (३) हुविष्क पूरी राजशक्ति ४१वें वर्ष के पश्चात् ही प्राप्त कर सका। इनमें से चाहे जो सिद्धांत स्वीकार किया जाए, सिक्कों और अभिलेखों से प्रमाणित है कि हुविष्क शक्तिशाली नृपति था और उसने कनिष्क का साम्राज्य पूर्ववत् बनाये रखा। निःसन्देह उसकी सत्ता काबुल[२], कश्मीर, पंजाब, मथुरा और संभवतः संयुक्तप्रांत के पूर्वी भाग में भी मानी जाती थी। परन्तु इस शासन में सिन्ध की निचली घाटी और पूर्वी मालवा का रहना सन्दिग्ध है। कम से कम इसको मानने का कोई प्रमाण नहीं है। हुविष्क के सिक्के कला के सुन्दर नमूने हैं और उन पर खुदी राजा की आकृति भी बड़ी स्पष्ट और सुघड़ है। उसके सिक्कों के प्रचलन की सीमायें भी विस्तृत थीं। इन सिक्कों पर हिरैक्लीज, सारापीज (सरापो), मिथ्र और माओं, फ़रों, स्कंध और विशाख और अन्य देवताओं की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। परन्तु बुद्ध के नाम और आकृति दोनों ही का उन पर अभाव है। हुविष्क बौद्ध धर्म के प्रति सर्वथा उदासीन न था, क्योंकि

१. स्टेन कोनो, C. I. I., २, पृ० १६२—६५, नं० ८५; Ep. Ind., १४, पृ० १३०-४५।

२. वारदक (खवात स्तूप)—कांस्य-भाण्ड-लेख (५१वें वर्ष का), वही न० ८६, पृ १६५—७०, Ep. Ind., ११, पृ० २०२—१६।

अनुश्रुतियों से प्रमाणित है कि उसने मथुरा में एक बौद्ध विहार और मन्दिर बनवाया था। कश्मीर में उसने जुष्कपुर अथवा[1] हुविष्कपुर (आधुनिक हुष्कपुर अथवा उष्कूर=जुकुर) नामक नगर बसाया।

वासुदेव

हुविष्क की मृत्यु की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं परन्तु कनिष्क की गणना के ७५ वें वर्ष के एक अभिलेख से सिद्ध है कि तब वासुदेव (सिक्कों का बाजोदेओ) राज्य कर रहा था। दूसरे अभिलेख के अनुसार उसका एक जाना हुआ वर्ष ९८ है। इससे जान पड़ता है कि उसने २५ से ३० वर्षों तक राज्य किया। उसके अभिलेख मथुरा प्रदेश में ही मिले हैं और उसके सिक्के पंजाब तथा उत्तरप्रदेश में। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उसके पूर्वजों द्वारा शासित उत्तर-पश्चिम के प्रदेश वासुदेव के हाथ से निकल गये थे। उसके सिक्कों की किस्मों की अपेक्षाकृत न्यूनता से भी उसकी राज्य-सीमाओं का अल्प विस्तार प्रमाणित है। देवी ननाइया की आकृतिवाले सिक्के अत्यन्त अल्प हैं। और जो हैं उन पर भी पृष्ठ भाग पर शिव और नन्दी का रूप उत्खचित है। इस प्रकार के सिक्कों के आधार पर वासुदेव को शैव माना गया है। कुछ भी हो, वासुदेव का विष्णु का समानार्थी हिन्दू नाम यह प्रमाणित करता है कि कुषाण ब्राह्मण प्रभाव से मुक्त न थे।

कुषाण-साम्राज्य का पतन

वासुदेव के शासन काल में ही कुषाण शक्ति का ह्रास हो चला था, और कनिष्क की मेधा और शक्ति द्वारा निर्मित वह विशाल साम्राज्य टूट कर उन छोटे-छोटे प्रान्तों में बिखर गया जिनके अनेक स्वामी वासुदेव नामधारी थे। इनका ज्ञान हमें इनके सिक्कों से होता है जिन पर उनके नाम के आद्य अक्षर अथवा नामलक्षण ऊपर से नीचे को खुदा है। विन्सेन्ट स्मिथ की राय में तृतीय शती ईसवी के आरंम्भ में "उत्तरी भारत के कुषाण सिक्कों का फारसी-करण" इस बात को सिद्ध करता है कि कुषाण शक्ति का अन्त उन ईरानी आक्रमणों द्वारा हुआ जिनमें से एक प्रथम सस्सानी राजा द्वारा—का उल्लेख फिरिश्ता ने किया है[2]। इन कुषाण राजाओं का अन्त वास्तव में अधिकतर नागों तथा अन्य भारतीय राजकुलों के उदय का परिणाम था। इसकी परिणति गुप्तों द्वारा उत्तर भारत में एक विशाल साम्राज्य के रूप में हुई। परन्तु कुषाणों की एक शाखा जो किदार कुषाण नाम से काबुल की

---

१. राजतरंगिणी, १, श्लोक १६९; हुई-ली में भी उ—स्से—किआ—लो (हुष्कपुर) का उल्लेख है—Life., पृ० ६८।

२. E. H. I,, चतुर्थ सं०, पृ० २८८-८९। उसमें अर्दशीर बाबगान (२२५-२४१ ईसवी के लगभग) का सरहिन्द तक बढ़ना और वहां से जूना से प्रभूत धन लेकर लौट जाना लिखा है (इलियट, Hist. of Ind., ६ (फिरिश्ता के इतिहास की भूमिका), पृ० ५५७-५८; E.H,I., चतुर्थ सं० पृ० २८९, नोट ३।

घाटी और अन्य समीपवर्ती प्रदेशों में प्रतिष्ठित हो गई वह ५वीं सदी में हूणों की चोटें सहती नवीं सदी के मध्य तक किसी न किसी रूप में जीवित रही।

२. अन्धकार युग

कुषाण साम्राज्य के अवसान के पश्चात् भारत का इतिहास अन्धकारगत हो जाता है और गुप्त युग के उदय के पूर्व तक की घटनायें हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती हैं। जब तक आलोक की एक रश्मि भारतीय रंगमंच पर तृतीय और आरम्भिक चतुर्थ शतियों की घटनाओं और उनके घटयिताओं को उद्भासित कर देती है परन्तु उससे चतुर्दिक् का तम और सघन हो उठता है। यह काल नागों और उनकी भारशिव शाखा का उत्थान-काल था जब उन्होंने उत्तर भारत में खड्ग से अपनी कीर्ति लिखी[1]। पुराणों के अनुसार उनकी शक्ति के केन्द्र विदिशा, पद्मावती (पदम पवाया) कान्तिपुरी (मिर्जापुर जिले में कन्तित), और मथुरा थे। नागों के प्राचीनतम नरेशों में से एक वीरसेन था जिसने कुषाणों के शक्तिमान केन्द्र मथुरा में "फिर से हिन्दू सत्ता" प्रतिष्ठित की। भारशिव नागों की सत्ता तथा प्रभाव का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि भारशिव राजा भवनाग की कन्या का प्रवरसेन वाकाटक के पुत्र के साथ विवाह इतना महत्वपूर्ण समझा गया कि उसका उल्लेख वाकाटकों के सभी राजकीय अभिलेखों में हुआ। इसके अतिरिक्त यह भी प्रमाणित है कि इस वैवाहिक मैत्री के पूर्व भारशिवों ने "उस भागीरथी (गंगा) के पावन जल से अपना अभिषेक कराया था जिसकी अपनी शक्ति से उन्होंने विजय की थी।" काशी में गंगा के तट पर उन्होंने दस अश्वमेघ[2] किये जिनकी स्मृति आज भी दशाश्वमेघ घाट की संज्ञा में सुरक्षित है। इससे सिद्ध है कि नाग राजा शक्तिशाली थे और कुषाणों की शक्ति नष्ट कर दीर्घ काल तक उन्होंने अपनी प्रभुता कायम रखी। नाग शासन के पश्चात्कालीन चिह्न प्रयाग-स्तंभ-लेख[3] से भी रक्षित हैं जिसमें समुद्रगुप्त के हाथों गणपतिनाग तथा अन्य नाग नरेशों का पराभव लिखा है जैसा नीचे बताया जाएगा। इस अभिलेख से चतुर्थ शती ईसवी के भारत की राजनीतिक परिस्थिति पर प्रकाश पड़ा है। इससे यह प्रमाण माना जा सकता है कि इस अभिलेख में उल्लिखित कुछ राजकुलों तथा गणतन्त्रों का उदय काफी पहले हो चुका था। वस्तुतः वे कुषाण-शक्ति के भग्नावशेषों पर उसके पतन के शीघ्र ही बाद उठ खड़े हुए थे।

---

१. जायसवाल, J. B. O. R. S., मार्च-जून, १९३३, पृ० ३ और आगे।

२. फ्लीट, C. I. I., ३, पृ० २३७, २४१, २४५, २४८।—पराक्रमाधिगतभागीरथ्यमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथस्नानानां भारशिवानाम्।

३. C. I. I., ३, नं० १, पृ०१—१७।

खंड ३

अध्याय १२

१. गुप्त साम्राज्य

गुप्तों का मूल

गुप्त काल तक पहुँच कर हमारी दृष्टि फिर स्पष्ट हो जाती है और हमारा राजपथ समकालिक अभिलेखों के प्रखर प्रकाश से सर्वथा आलोकित। भारत का इतिहास फिर शक्ति और एकता प्राप्त कर लेता है। गुप्तों का मूल अंधकार में छिपा है परंतु उनके नामों के अन्त्य पद 'गुप्त के' आधार पर उनको वैश्यवर्णीय[1] माना गया है। परन्तु इस तर्क पर भी बहुत निर्भर नहीं किया जा सकता। अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि गुप्त पद से वैश्येतर वर्णियों के नाम भी अलंकृत हुआ करते थे। ब्राह्मण ज्योतिषी ब्रह्म-गुप्त का प्रमाण ही इस प्रसंग में पर्याप्त होगा। डा० जायसवाल का मत है कि गुप्त सम्राट् कारस्कर गोत्र के जाट थे और आरम्भ में पंजाब से आये थे।[2] परन्तु जिस प्रमाण के आधार पर उन्होंने अपना सिद्धान्त रखा था उस पर शायद निर्भर नहीं किया जा सकता। क्योंकि इसका आधार, "कौमुदी-महोत्सव" के चंद्रसेन से चंद्रगुप्त प्रथम की एकता, सर्वथा अनिश्चित है।

गुप्त शक्ति का आरम्भ

वंश-तालिकाओं के अनुसार इस राजकुल का प्रतिष्ठाता गुप्त नाम का व्यक्ति था। उसका विरुद 'महाराज" मात्र है जिससे जान पड़ता है कि वह मगध के एक छोटे प्रदेश का मण्डलिक राजा था। उसे महाराज चे-लि-कि-तो (श्री-गुप्त) माना गया है जिसने ईत्सिंग के लेखानुसार कुछ धार्मिक चीनी यात्रियों के लिए मृग शिखावन के समीप एक मन्दिर बनवाया था। इस मन्दिर के व्यय के अर्थ प्रभूत धन दान किया गया था और ईत्सिंग की यात्रा के काल में (३७३-९५ ईस्वी) इसका खंडहर 'चीनी मंदिर' के नाम से विख्यात था। गुप्त का शासन काल साधारणतः २७५-३०० ई० माना जाता है। और ईत्सिंग फिर भी लिखता है कि इस मंदिर के

---

१. शर्मा देवस्य विप्रस्य वर्मा त्राता च भूभुजः।
भूतिर्गुप्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत्॥ विष्णु पुराण, III, १०.९।

२. J. B. O. R. S., १९,(मार्च-जून १९३३)पृ० ११५–१६। जायसवाल के अनुसार कक्कड़ जाट "गुप्तों की प्राचीन जाति के आधुनिक प्रतिनिधि" हैं।

निर्माण का आरम्भ उसकी यात्रा से ५०० वर्ष पहले हुआ था[१]। इससे गुप्त के संबंध में अंगीकृत तिथि में विरोध होगा परन्तु ईत्सिंग का उल्लेख सर्वथा सम्मान्य नहीं जब कि उसने अपना वक्तव्य "प्राचीन काल से स्थविरों द्वारा कही और सुनी गयी अनुश्रुतियों[२]" के आधार पर किया है।

गुप्त के बाद उसका पुत्र घटोत्कच गद्दी पर बैठा। उसका विरुद भी महाराज था। यह नाम कुछ असाधारण और विदेशी सा लगता है यद्यपि इस कुल के कुछ अन्य पश्चात्कालीन राजाओं ने भी इसका वहन किया था[३]। उसके विषय में हम प्रायः कुछ नहीं जानते।

चन्द्रगुप्त प्रथम

घटोत्कच के पश्चात् उसका पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम सिंहासनासीन हुआ। अपने पूर्वजों के असमान इस नृपति का विरुद महाराजाधिराज है जिससे विदित होता है कि वह इस कुल के गौरव, प्रभाव तथा प्रभुता का प्रथम प्रतिष्ठाता था। जैसा अभिलेखों में खुदे समुद्रगुप्त के विरुद "लिच्छविदौहित्रः" से सिद्ध है चन्द्रगुप्त ने लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह किया। इस विवाह की पुष्टि कुछ स्वर्ण-मुद्राओं से भी होती है। उनकी सम्मुख भूमि पर रानी को मुद्रिका अथवा वलय प्रदान करते हुए राजा की मूर्ति खुदी है तथा दाहिनी और बाँयी ओर क्रमशः चन्द्र अथवा चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी अथवा श्री-कुमारदेवी के लेख हैं। पीछे की ओर इन सिक्कों पर "लिच्छवयः" लेख और सिंहवाहिनी दुर्गा की आकृति खुदी है। एलेन का विश्वास है कि इन सिक्कों का मुद्रण समुद्रगुप्त ने अपने माता-पिता के स्मारक में कराया था,[४] परन्तु यह भी संभव है कि उनको चन्द्रगुप्त प्रथम ने स्वयं चलाया हो[५]। लिच्छवि इस काल में एकाएक फिर भारतीय इतिहास में स्पष्ट हो आते हैं और निःसन्देह उनके साथ चन्द्रगुप्त की मैत्री गुप्तकाल के सौभाग्य का विधाता सिद्ध हुई। विन्सेंट स्मिथ का मत है कि इस विवाह के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त प्रथम को "अपनी पत्नी के सम्बन्धियों द्वारा मुक्त पूर्वकालिक शक्ति" सहसा सम्प्राप्त हो गयी और उसने पाटलिपुत्र पर परिणामतः अधिकार कर लिया[६]। यह सुझाव

१. एलेन, Cat. Coins of the Gupta Dyn., भूमिका, १०, पृ० १५; बील, J. R. A. S., १८८१, पृ० ५७०-७१; Ind. Ant., पृ० ११०।

२. फ्लीट गुप्त की ईत्सिंग के चे-लि-कि-तो (C. I. I., ३, पृ० ८ नोट ३) के साथ एकता नहीं मानते। परन्तु देखिये एलेन, C. C. G. D., भूमिका, १५। इस राजा को अभिलेखों में श्री-गुप्त कहा गया है। परन्तु 'श्री' नाम का अन्तरंग नहीं, केवल आदरसूचक है।

३. उदाहरणतः वैशाली मुहर का श्रीघटोत्कचगुप्तस्य (ब्लोच, Arch. Surv. Ann. Rep. १९०३-१९०४, पृ० १०७)।

४. C. C. G D,, भूमिका, पृ० १८।

५. J. A. S. B., Numismatic Supplement, नं० ४७, खंड ३, (१९३७), पृ० १०५—११।

६. E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० २९५—९६।

सर्वथा प्रामाणिक नहीं ज्ञात होता क्योंकि ईत्सिग के लेखानुसार महाराज गुप्त का अधिकार पाटलिपुत्र पर पहले ही स्थापित हो चुका था। इसके साथ ही यह भी सन्दिग्ध है कि लिच्छवियों की राजधानी वैशाली इस विवाह-सम्बन्ध के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त प्रथम के अधिकार में आ गयी। यथार्थ चाहे जो हो, प्रमाणों का एक विख्यात प्रसंग यह प्रमाणित करता है कि इस राजा का स्वत्व दक्षिण बिहार, प्रयाग, साकेत, तथा समीपस्थ प्रदेशों पर[1] स्थापित हो चुका था।

उसने ३२० ईसवी से लगभग ३३५ तक राज्य किया[2]। जिस संवत् शैली का अपने राज्यारोहण के अवसर पर उसने आरम्भ किया उसके उत्तराधिकारियों ने बराबर उसका उपयोग किया। इसके प्रथम वर्ष का प्रसार २६ फ़रवरी ३२० ईसवी से १५ मार्च ३२१ ईसवी तक है।

समुद्रगुप्त

चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद उसका पुत्र समुद्रगुप्त मगध की गद्दी पर बैठा। समुद्रगुप्त अपने पिता द्वारा उत्तराधिकारी मनोनीत था, इसलिए संभवतः वह उसका ज्येष्ठ पुत्र न था। इसकी आरम्भिक अवस्था चाहे जो रही हो, इसमें सन्देह नहीं कि समुद्रगुप्त गुप्त सम्राटों में कई अर्थों में अद्वितीय था और अपनी विजयों से अपने पिता की दूरदर्शिता उसने प्रमाणित कर दी[3]। अपनी प्रसर और युद्ध की नीति में समुद्रगुप्त उस अशोक का पूर्ण विरोधाभास था जिसके आदर्श शान्ति और धर्म थे।

प्रयाग स्तम्भ लेख

समुद्रगुप्त की विजयों की विस्तृत प्रशस्ति उसके दरबारी कवि हरिषेण द्वारा रची गयी थी, जिसे समुद्रगुप्त ने अशोक के उस स्तम्भ पर खुदवाया जो अब इलाहाबाद[4] के किले में खड़ा है। काल का यह अद्भुत व्यंग है कि अशोक के शान्तिप्रद आचार-उपदेशों के साथ ही समुद्रगुप्त की रक्त-रंजित विजयों का भी परिगणन समान स्तम्भ पर हो! अभाग्यवश इस अभिलेख में तिथि नहीं दी हुई है। परन्तु निश्चय ही

---

१. अनुगङ्गं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

२. परन्तु यदि समुद्रगुप्त के नालन्दा और गया के पत्र-लेखों को, जो क्रमशः ५वें और ९वें वर्ष में लिखे हैं, सही मानें और यदि वे गुप्त संवत् में दिए हुए हैं, तब चन्द्रगुप्त प्रथम का शासन-काल और भी कम मानना पड़ेगा।

३. समुद्रगुप्त के सिक्कों से मिलते-जुलते काच के कुछ सोने के सिक्के भी मिले हैं। विन्सेन्ट स्मिथ इस काच को समुद्रगुप्त का प्रतिस्पर्द्धी भ्राता मानते हैं E. H. I. (चतुर्थ सं० पृ० २९७, नोट १)। परन्तु हमारे विचार में इन सिक्कों पर पीछे की ओर खुदे "सर्वराजोच्छेत्ता" पद से दोनों की एकता स्थापित हो जाती है। सम्भवतः काच समुद्रगुप्त का मूल या वैयक्तिक नाम था, और समुद्रगुप्त नाम विजयों के बाद अंगीकृत हुआ। भंडारकर इसके विरुद्ध काच (राम ?) के सिक्कों को रामगुप्त के मानते हैं (Malaviyaji Commemoration Volume. १९३२, पृ० २०४—२०६।

४. फ्लीट, C. I. I., ३. नं०, १–१७।

यह उसकी मृत्यु के पश्चात् का लेख नहीं है जैसा फ्लीट ने अनुमान[1] किया है। यह अभिलेख ३६० ईसवी के लगभग समुद्रगुप्त की दिग्विजय की परिसमाप्ति के बाद और उसके अश्वमेध के अनुष्ठान के पूर्व खुदा होगा क्योंकि अश्वमेध का उसमें उल्लेख नहीं है। यद्यपि इस वृत्तान्त में बजाय तिथिपरक के[2] भौगोलिक क्रम से विजयों का अंकन किया गया है, यह मानना युक्तियुक्त होगा कि समुद्रगुप्त ने पहले आर्यावर्त के अपने पड़ोसी राजाओं पर आक्रमण किया। इनके सम्बन्ध में उसने कठोर नीति का अवलम्बन किया, उनको बलपूर्वक नष्ट कर उनके राज्य छीन लिए। आर्यावर्त के इन नौ नृपतियों के नाम निम्नलिखित हैं :—

दिग्विजय

(१) रुद्रदेव (रुद्रसेन प्रथम वाकाटक ?)।

(२) मतिल। बुलन्दशहर से मिले एक मुहर पर खुदे मत्तिल नाम के साथ इसकी एकता स्थापित की गई है।

(३) नागदत्त। सम्भवतः यह कोई नाग राजा था।

(४) चन्द्रवर्मन्। इसकी पहचान प्रामाणिक नहीं है। कुछ विद्वानों ने उसको सुसुनिया-शिलालेख[3] में उल्लिखित पोखरण का चन्द्रवर्मन् माना है। इसके विरुद्ध कुछ लोगों ने उसे महरौली-लौह-स्तंभ-लेख का चन्द्र भी माना है (फ्लीट का नं० ३२)। परन्तु इस मत की सत्यता में सन्देह किया गया है और यह असत्य जान पड़ता है।

(५) गणपतिनाग। यह पद्मावती (ग्वालियर रियासत में नर्वार के पास पद्मपवाया) का एक नाग राजा था।

(६) नागसेन }
(७) नन्दिन् } दोनों सम्भवतः नागकुलीय थे।

(८) अच्युत। यह सम्भवतः वह "अच्यु" है जिसका नाम बरेली जिले के अहिच्छत्र (रामनगर) से मिले सिक्कों पर खुदा है।

---

१. वही, पृ० ४, १० और नोट २। यह वाक्यांश (पंक्तियाँ २९-३०) केवल यह स्थापित करता है कि समुद्रगुप्त का यश "देवराज (इन्द्र) के लोक तक पहुँच गया।"

२. नामों की पहचान के लिए देखिए फ्लीट, वही, नोट; ऐलेन, C. C. G. D., भूमिका, पृ० २१-३०; स्मिथ, J. R. A, S., १८९७, पृ० ८५९-९१०; डुब्रुए A. H. D. पृ० ५८-६१; रायचौधरी, Pol. Hist. Anc. Ind., चतुर्थ सं०, पृ० ४४७-६०; भंडारकर Ind. Hist., Quart., १,२, पृ० २५०-६०; रामदास, वही, एक १,४, पृ० ६७९ और आगे; दीक्षित, Proc, Ist. Or. Con., १, पृ० १२४; जायसवाल, J. B. O. R. S. मार्च-जून, १९३३, पृ० १४४ और आगे।

३. Ep. Ind., १२, पृ० ३१८; Proc. As. Soc. Beng., १८९५, पृ० १७७ और आगे।

(६) बलवर्मन् । इसकी पहचान ठीक ठीक नहीं हो सकी[1] ।

इसके बाद समुद्रगुप्त अब दक्षिणापथ के राजाओं की ओर बढ़ा । निःसन्देह यह कार्य कुछ आसान न था । उन राजाओं को पहले तो उसने पराजित कर बन्दी कर लिया फिर मुक्त कर उन्हें उनका राज्य लौटा दिया । उनकी कृतज्ञता उसने अपनी उस उदारता द्वारा प्राप्त की । दक्षिणापथ के ये राजा निम्नलिखित थे—

(१) कोशल का महेन्द्र (महाकोशल अथवा विलासपुर, रायपुर और संभलपुर के जिले) ।

(२) महाकान्तार का व्याघ्रराज (सम्भवतः गोंडवाना के जांगल प्रदेश)[2] ।

(३) कोशल का मन्तराज (दक्षिण भारत का कोराड अथवा सोनपुर का प्रदेश, जिसकी राजधानी महानदी तीर पर ययाति नगरी थी) ।

(४) पिष्टपुर का महेन्द्र (गोदावरी जिले में आधुनिक पिठापुरम्) ।

(५) गिरिकोट्टूर का स्वामिदत्त (गंजाम जिले में कोठूर) । एक अन्य अनुवाद के अनुसार वाक्यांश "पैष्टपुरक-महेन्द्रगिरि-कौट्टूरक-स्वामिदत्त" का अर्थ है 'स्वमिदत्त जिसकी राजधानी पिष्टपुर तथा महेन्द्रगिरि के समीप के कोट्टूर में थी ।' परन्तु यह अनुवाद प्रमाणतः असिद्ध है क्योंकि अन्य किसी राजा के सम्बन्ध में एक से अधिक स्थानों का इस अभिलेख में उल्लेख नहीं किया गया है ।

(६) एरंडपल्ल का दमन(गंजाम जिले में चिकाकोल के समीप एरंडपल्ली)।

(७) कांची का विष्णुगोप (मद्रास के निकट कांजीवरम्) ।

(८) अवमुक्त का नीलराज । हाथीगुम्फा अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस आव प्रदेश अथवा जाति की राजधानी गोदावरी के निकट पिथुंडा थी ।

(९) वेंगी का हस्तिवर्मन् (एलोर में पेड्ड-वेगी) ।

(१०) पालक्क का उग्रसेन (नेलोर जिला) ।

(११) देवराष्ट्र का कुबेर (विजगापट्टम् जिले में येल्लमंचिली) ।

(१२) कुस्थलपुर का धनञ्जय (उत्तर अरकाट का कुट्टलूर)

---

१. डा० जायसवाल का मत है कि बलवर्मन पाटलिपुत्र के राजा उस "कल्याणवर्मन् का द्वितीय अभिषेक-नाम है जिसका उल्लेख 'कौमुदी-महोत्सव' में मिलता है परन्तु प्रयाग-स्तम्भ-लेख के "७वें श्लोक में जिसका नाम छोड़ दिया गया है" (J. B. O. R. S., मार्च-जून १९३३, पृ० १४२) । दीक्षित (Proc. Ist, Or. Conf., ६, १९२०, १, पृ० १२४) बलवर्मा को आसाम के भास्करवर्मन का वह पूर्वज मानते हैं जिसका उल्लेख विधानपुर के लेख में (Ep. Ind., १२, पृ० ७३, ७६) हुआ है ।

२. रायचौधुरी का मत है कि महाकान्तार "मध्यभारत का जांगल प्रदेश था जिसमें सम्भवतः जासो की रियासत भी शामिल थी"(Pol.Hist. Anc. Inc., चतुर्थ सं० पृ०४५२)। परन्तु रामदास उसे गंजाम और विजगापट्टम का 'झारखंड' मानते हैं। (I. H. Q., १, ४, पृ० ६८४) ।

पहचान-सम्बन्धी जो अनुमान ऊपर दिए गए हैं, उनके अनुसार समुद्रगुप्त का आक्रमण दक्खन के पूर्वी तटमात्र के मार्ग में पड़ा, परन्तु जोवो-डुब्रुए का मत कि कांची के विष्णुगोप के नेतृत्व में संगठित दक्षिणी राजाओं के संघ द्वारा पराजित होकर समुद्रगुप्त को लौटना पड़ा[1], सर्वथा निराधार है। इसके विरुद्ध यदि हम फ्लीट और स्मिथ द्वारा प्रस्तुत ऊपर के कोराल, एरन्डपल्ल, पालक्क और देवराष्ट्र की एकता क्रमशः केरल (मालाबार का तट), खानदेश में एरन्डोल, पालघाट अथवा पालक्काडु और महाराष्ट्र के साथ मानें तो यह मानना पड़ेगा कि समुद्रगुप्त सुदूर दक्षिण के चेर राज्य तक पहुँच गया था और वह महाराष्ट्र तथा खानदेश के रास्ते अपनी राजधानी को लौटा।

समुद्रगुप्त की विजयों ने स्वतन्त्र जातियों और सीमा प्रान्तीय राजाओं को सन्त्रस्त कर दिया और वे परिणामतः "उस प्रचण्ड शासन वाले नृपति को कर प्रदान, आज्ञाकरण और प्रणाम द्वारा प्रसन्न करने लगे"।[2]

प्रत्यन्तराज्य निम्नलिखित थे—

(१) समतट (दक्षिण पूर्वी बंगाल; इसकी राजधानी कोमिल्ला के पास कर्मान्ति अथवा बड़-कम्ता थी)।

(२) दवाक (ढाका; अथवा चिटगांव और टिपरा के पहाड़ी प्रदेश)। विन्सेन्ट स्मिथ इसको बोगरा, दिनाजपुर और राजशाही जिले का पूर्ववर्ती मानते हैं, बरुआ उसे आसाम की कोपिली घाटी मानते हैं।

(३) कामरूप (आसाम)।

(४) नेपाल (नैपाल)।

(५) कर्तृपुर (कुमायूँ, गढ़वाल और रुहेलखण्ड का कतुरिया राज्य जान पड़ता[3] है, अथवा फ्लीट और एलेन द्वारा प्रस्तुत जालन्धर जिले का करतारपुर)।

जिन जातियों के गण-राज्यों ने समुद्रगुप्त के प्रति स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) मालव। ये ग्रीक लेखकों के मल्लोई जाति के समान हैं। प्रथम शती ईसवी के अन्त तक वे पंजाब से राजपूताना की ओर निष्क्रमण कर चुके थे और अन्त में अवन्ति में बसकर उसको उन्होंने अपना मालवा नाम दिया।

(२) आर्जुनायन। ये सम्भवतः अलवर रियासत और जयपुर के पूर्वी भाग में बसे थे।

(३) यौधेय। ये उत्तरी राजपूताना के निवासी थे। इनका नाम "जोहिया-

---

१. A. H. D., (१९२०), पृ० ६१।

२. "सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य।"

३. J. R. A. S., १८९८ पृ० १९८—९९।

वार" में अब भी ध्वनित है और यह प्रदेश बहावलपुर रियासत की सीमा पर आज भी स्थित है[1]।

(४) मद्रक। ये यौधेयों के उत्तर में बसे थे और इनकी राजधानी शाकल अथवा स्यालकोट थी।

(५) आभीर। इनका प्रदेश (अहिरवाड़) मध्य भारत में पार्वती और बेतवा नदियों के बीच था[2]।

(६) प्रार्जुन। इनकी राजधानी मध्यप्रदेश में नरसिंहपुर अथवा नरसिंह गढ़ थी।

(७) सनकानीक। ये भिलसा के पास थे। उदयगिरि के लेख (फ्लीट का नं० ३) में चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक सनकानीक सामन्त का उल्लेख हुआ है।

(८) काक। ये सनकानीकों के पड़ोसी थे।

(९) खरपरिक। सम्भवत: ये मध्यप्रदेश के दमोह जिले में बसे थे और जैसा कि डा० देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर[3] ने बताया है वे बतिहगढ़ अभिलेख[4] के खरपर थे।

विजय की मात्राएं

ऊपर के वृत्तान्त से सिद्ध है कि समुद्रगुप्त की विजयों की मात्राएँ विभिन्न थीं। कुछ राजाओं को तो उसने समूल नष्ट करके उनके राज्य स्वायत्त कर लिए। कुछ को पराजित, बन्दी तथा मुक्त करके और उनको उनका राज्य लौटा कर उनसे आधीनता अंगीकार कराई और अन्ततः उसके भय से आतंकित होकर प्रत्यंत नृपतियों और गणराज्यों ने स्वयं उसके प्रति आत्मसमर्पण कर दिया।

परराष्ट्रों से सम्बन्ध

इस प्रकार समुद्रगुप्त ने अपने को एक विस्तृत साम्राज्य का स्वामी बना लिया। परन्तु फिर भी उसकी सत्ता की सीमाओं के बाहर अनेक राज्यों की स्वतन्त्र स्थिति थी, यद्यपि वे उससे मैत्री रखने की सतत चेष्टा करते रहते थे। एक चीनी प्रमाण[5] से सिद्ध है कि सिंहल के उसके समकालीन राजा मेघवण्ण अथवा मेघवर्ण (३५२-७९ ईसवी) ने बोधगया को दो बौद्ध भिक्षु भेजे। जब उनको अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ा तब उन्होंने स्वदेश लौटकर अपने राजा से उचित

---

१. भरतपुर रियासत में बयाना के निकट विजयगढ़ से प्राप्त एक अभिलेख में यौधेयों का उल्लेख है (C. I. I., ३, नं० ५८, पृ० २५१—५२)। बृहत्-संहिता का रचयिता आर्जुनायनों और यौधेयों को भारत के उत्तरी भाग में रखता है।

२. कुछ विद्वान् आभीरों का निवास सौराष्ट्र तथा गुजरात में इस प्रमाण से मानते हैं कि उनका उल्लेख क्षत्रप अभिलेखों में हुआ है।

३. Ep. Ind., १२, पृ० ४६, ४७, श्लोक ५।

४. Ind. Hist. Quart., १, (१९२५), पृष्ठ २५८।

५. सिल्वा लेवी, Journal Asiatique १९००, पृ० ४०६, ४११; स्मिथ Ind. Ant., १९०२, पृ० १९२-९७।

विश्राम-गृह आदि की स्थापना के लिए प्रार्थना की। परिणामतः मेघवर्ण ने बहुमूल्य भेंटों के साथ समुद्रगुप्त के पास अपने दूत भेजे और उससे सिंहली यात्रियों के निवासार्थ विहार निर्माण की अनुमति मिल जाने पर उसने शीघ्र बोधगया में वह विहार बनवाया जो युआन-च्वांग के समय में महाबोधि संघाराम के नाम से विख्यात था। प्रयाग के स्तंभ-लेख से विदित होता है कि दैवपुत्र शाहि-शाहानुशाही, शक-मुरुण्डों तथा सिंहल और अन्य द्वीपों के निवासियों ने "आत्मसमर्पण, कन्याओं की भेंट, और अपनी विषयभुक्ति के लिए गरुड़ के चिह्न से अंकित आज्ञापत्र के स्वीकरण द्वारा उससे शान्ति क्रय की।"[1] इसमें सन्देह नहीं कि यह वृत्तान्त प्रशस्ति-वाचक है और इस प्रकार के वक्तव्य वस्तुतः अतिरंजित होते भी हैं। जान पड़ता है कि ऊपर लिखी राजशक्तियाँ समुद्रगुप्त के प्रभुत्व, यश और प्रभाव से सचमुच ही आतंकित हो उठी थीं और उन्होंने उसके साथ मैत्रीभाव बनाये रखना उचित समझा। ये राजशक्तियाँ उन कुषाणों तथा शकों के अवशेष थीं जिन्होंने कभी भारत के एक बड़े भाग पर राज्य किया था। परन्तु इनको सही-सही पहचानना अथवा अभिलेख के समस्त पदों का विश्लेषण करना भी आज कठिन है। दैवपुत्र-शाहि-शाहानुशाही का विरुद प्रारम्भ में शक्तिमान् कुषाण सम्राटों ने धारण किया था। उनका साम्राज्य अपने पतन के बाद अनेक प्रांतीय राज्यों में बट गया था। इस प्रकार देवपुत्र संभवतः अब पंजाब में थे और शाहि अथवा शाहानुशाही अफगानिस्तान तथा समीपस्थ प्रदेशों पर राज्य करते थे। इसी प्रकार शक-मुरुण्डों[2] से या तो दो विभिन्न जातियों का तात्पर्य है या, यदि दोनों को एक शब्द माना जाए तो, "शक-स्वामियों" का।

अश्वमेध

अपने उत्तराधिकारियों के लेखों में समुद्रगुप्त को उस अश्वमेध का पुनरुद्धार-कर्ता कहा गया है जो चिरकाल से बन्द हो गया था (चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः)।[3] इस अश्वमेध का अनुष्ठान समुद्रगुप्त की सामरिक योजनाओं तथा प्रयाग के प्रशस्ति-

---

१. "दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डैः सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य"

"अन्य द्वीप-निवासियों" से मलयद्वीप की जातियों का तात्पर्य तो नहीं है ?

२. मुरुंडों के सम्बन्ध में देखिए, C. C. G. D., भूमिका, पृ० २९-३०; जायसवाल, "The Muruṇḍa Dynasty." Mālavīyajī Commemoration Volume, पृ० १८५-८७।

३. यद्यपि यह वक्तव्य सर्वथा सही नहीं क्योंकि हमें ज्ञात है कि समुद्रगुप्त से बहुत पहले भारशिवों, प्रवरसेन प्रथम वाकाटक तथा अन्य राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। इससे क्या यह अभिप्राय तो नहीं है कि समुद्रगुप्त ने उसका अनुष्ठान पूरी साम्राज्य सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं के साथ किया था ? (देखिए, आयंगर : Studies in Gupta History, पृ० ४४-४५)।

लेखन के पश्चात् ही हुआ होगा क्योंकि इसका उल्लेख उसमें नहीं है।[१] इस अनुष्ठान के अन्त में समुद्रगुप्त ने अनन्त धन दान किया और इसके स्मारक में एक प्रकार के सोने के सिक्के चलाये जिन पर सामने की ओर यूप के सम्मुख अश्व की आकृति खड़ी थी और पीछे की ओर "अश्वमेधपराक्रमः" लेख के साथ रानी की आकृति खुँदी थी।

व्यक्तिगत गुण

समुद्रगुप्त की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वह न केवल युद्ध नीति तथा रण-कौशल में अद्वितीय था वरन् शास्त्रों में भी उसकी बुद्धि अकुंठित थी। वह स्वयं सुसंस्कृत था और विद्वानों का सतत सम्पर्क उसको विशेष प्रिय था। अभिलेख में उसे कविराज' कहा गया है जिससे सिद्ध है कि काव्य के क्षेत्र में भी उसकी असाधारण गति थी। इसके अतिरिक्त संगीत की कला में भी वह परम निपुण था और एक प्रकार के उसके सिक्कों पर उसके इस गुण को प्रदर्शित करने के लिए भद्रपीठ पर बैठी वीणा बजाती हुई उसकी आकृति खुदी है। प्रयाग-स्तम्भ लेख का वक्तव्य है कि उसने "अपनी तीव्र और कुशाग्र बुद्धि द्वारा देवराज के गुरु (बृहस्पति) को और गायन से तुम्बुरु और नारद तक को लज्जित कर दिया था[२]।"

उसका धर्म

उसी लेख से विदित होता है कि उत्तर-पश्चिमी भागों के सामंत राजा अपनी 'विषय-भुक्ति' के लिए गरुडांक से चिह्नित समुद्रगुप्त का आज्ञापत्र प्राप्त करते थे। चूँकि गरुड विष्णु का वाहन है, यह स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त की भक्ति इस देवता के प्रति विशेष थी। परन्तु उसका वैष्णव होना उसकी सामरिक नीति में किसी प्रकार की रुकावट न डाल सका और वह सर्वथा क्षत्रिय बना रहा।

उसकी मृत्यु-तिथि

समुद्रगुप्त के निधन की ठीक तिथि कहीं उल्लिखित नहीं परन्तु निःसन्देह उसका शासन-काल लम्बा था। चंद्रगुप्त द्वितीय की पूर्वतम ज्ञात तिथि मथुरा से हाल में प्राप्त एक अभिलेख में ३८० ईस्वी मिलती है[3], इससे समुद्रगुप्त का ३७५ ईस्वी के लगभग तक राज्य करना माना जा सकता है।

रामगुप्त

समुद्रगुप्त के अनेक पुत्र थे (बहु-पुत्र-पौत्र, C.I.I. ३, नं० २, पृ० २०-२१)। और उनमें से एक का नाम राम (सर्म ?) गुप्त था जिसका पिता के पश्चात् राज्य करना कहा जाता है। रामगुप्त का नाम विशाखदत्त द्वारा रचित परन्तु अब अप्राप्य नाटक "देवीचन्द्रगुप्तम्" में मिलता है। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' स्वयं तो अब उपलब्ध नहीं,

१. दिवेकर A. B. R. I., खंड ७ (१९२६), पृ० १६४-६५।

२. "निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादेर्विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य"।

३. देखिए पीछे, यथास्थान।

परन्तु इसके उद्धरण रामचन्द्र और गुणचन्द्र द्वारा प्रणीत 'नाट्य-दर्पण' में दिये हुए हैं। इस नाटक से विदित होता है कि रामगुप्त बड़ा कायर था। किसी शकराज से सन्त्रस्त होकर उसने रुचि के अनुसार अपनी रानी ध्रुवदेवी उसको अर्पण करना स्वीकार कर लिया परन्तु देवी के देवर चन्द्रगुप्त द्वारा रानी के मान की रक्षा हुई। चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी के वेश में जाकर शकराज को मार डाला। तदनन्तर चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त की भी हत्या कर ध्रुवदेवी के साथ-साथ पाटलिपुत्र के सिंहासन पर भी अधिकार कर लिया। प्रजा ने उसके इस कार्य पर हर्ष मनाया। इस कथा की प्रतिध्वनि बाण के हर्षचरित, उस पर शंकरार्य की टीका तथा पश्चात्कालीन प्रकरणों, उदाहरणतः भोज के शृंगार-प्रकाश, अमोघवर्ष[1] के संजन पत्र-लेख तथा मुजमालुत-तवारीख[2] में भी सुन पड़ती है। परंतु इन प्रमाणों के बावजूद भी रामगुप्त की ऐतिहासिकता विद्वानों में बड़े विग्रह का विषय है। कहा जाता है कि ऊपर के अनुवृत्त पश्चात्कालीन हैं और उनमें सत्यांश नितान्त न्यून है; और इसमें सन्देह नहीं कि रामगुप्त के सिक्कों का अभाव[3] तथा गुप्त-अभिलेखों में उसके नाम का अनुल्लेख इस सन्देह को पुष्ट करता है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (लगभग ३७५-४१४ ई०)

राज्यारोहण

चन्द्रगुप्त जिसे अपने पितामह से पृथक् करने के लिए साधारणतः चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य कहते हैं, समुद्रगुप्त तथा दत्तदेवी का पुत्र था। हम चाहे उसे अपने कायर भ्राता रामगुप्त अथवा उदात्त पिता का उत्तराधिकारी मानें, जैसा "तत्परिगृहीत" शब्द से विदित[4] होता है, इतना सही है कि चन्द्रगुप्त ३७५ और ३८०[5] ईसवी के बीच राज्यारोहण के समय आयु में प्रौढ़ हो चुका था।

साम्राज्य की अवस्था

चन्द्रगुप्त द्वितीय को साम्राज्य-निर्माण का कठिन कार्य न करना पड़ा। उसे

---

१. Ep Ind. १८, पृ० २४८-५५, श्लोक ४८।

२. इलियट और डाउसन : History of India, १, पृ० ११०-१२।

३. कांच के सिक्कों को रामगुप्त के सिक्के सिद्ध करने का डा० भंडारकर का प्रयास (Mālavīyajī Commemoration Volume, १९३२, पृ० २०४-६) नितांत अग्राह्य है। देखिए, वही पृ० २०६-११ में मूल प्रसंगों के उद्धरण रामगुप्त के सम्बन्ध में; देखिए, J. B. O. R. S., जून, १९२८, पृ० २२३-५३; मार्च-जून, १९२९, पृ० १३४-४१; मार्च १९३२, पृ० १७-३६, आदि।

४. C. I. I., ३, नं० १२, पृ० ५०, पंक्ति १९।

५. चंद्रगुप्त द्वितीय की पूर्वतम ज्ञात तिथि गुप्त संवत् ६१=३८०-८१ ईसवी है (मथुरा अभिलेख, Ep. Ind., २१, पृ० १ और आगे)।

उसके यशस्वी पिता की प्रखर सामरिक प्रतिभा ने ही सम्पन्न कर दिया था। समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था और प्रत्यन्त नृपति तथा गण-राज्य संत्रस्त होकर आत्मसमर्पण कर बैठे थे और उत्तर-पश्चिम की स्वतन्त्र राज्य-शक्तियाँ आशंका से उससे मैत्री का दम भरती थीं। परंतु पश्चिमी क्षत्रप अब भी शक्तिमान थे और वाकाटकों द्वारा अल्पकालिक ग्रहण के बावजूद भी समसामयिक राजनीति में उनका अपना स्थान था।

वाकाटक-सन्धि

चन्द्रगुप्त द्वितीय अब शकों के विरुद्ध अपनी प्रसरनीति को सफल करने में दत्तचित्त हुआ परन्तु इस अर्थ उसका वाकाटकों के साथ सद्भाव स्थापित करना आवश्यक था। उसने नाग राजकुमारी कुबेरनागा से उत्पन्न अपनी कन्या प्रभावती का विवाह रुद्रसेन द्वितीय वाकाटक के साथ कर दिया। यह विवाहाचरण वस्तुतः राजनीति की एक अद्भुत चोट थी जिससे चन्द्रगुप्त को शक-विजय में बड़ी सुविधा मिली। क्योंकि वाकाटक महाराजों की "भौगोलिक स्थिति इस प्रकार की थी जिससे शकों के विरुद्ध इस उत्तरभारतीय विजेता के वे शत्रु-मित्र दोनों ही हो सकते थे।"[1]

शक युद्ध

चन्द्रगुप्त एक विशाल सेना संगठित करके पश्चिमी भारत के शकों के विरुद्ध बढ़ा। भिलसा के समीप उदयगिरि का उसके सान्धि-विग्रहिक शाब-वीरसेन द्वारा शम्भु को समर्पित जो एक दरीगृह है उसके अभिलेख से चन्द्रगुप्त के इस आक्रमण के मार्ग पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उसने लिखा है कि "शाब-वीरसेन सारी पृथ्वी की जयकामना करते हुए स्वयं अपने राजा के साथ वहाँ आया।"[2] अभाग्यवश इस अभिलेख में तिथि का अभाव है वरना शकों के साथ चन्द्रगुप्त के युद्ध का सही वर्ष ज्ञात हो जाता। परन्तु सिक्कों की सहायता से हम फिर भी इसकी सम्भाव्य तिथि स्थापित कर सकते हैं। पश्चिमी क्षत्रपों के अन्तिम सिक्के रुद्रसिंह तृतीय के हैं जिन पर उनका मुद्रण वर्ष ३१ क=३८८=९७ ईसवी दिया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने क्षत्रपों के सिक्कों के पूर्णतः अनुकरण में इन प्रांतों के लिए अपने सिक्के चलाये। इन सिक्कों पर पूर्वतम तिथि ९० अथवा ९० क=४०९ अथवा ४०९-४१३ ईसवी[3] दी हुई है। अतः हम सही-सही यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यह विजय ३९५ और ४०० ईसवी[4] के बीच कभी हुई होगी। इस घटना का एक निर्देश बाण के

---

१. J. R. A. S., १९१४, पृ० ३२५।
२. C. I. I., खंड ३, पृ० ३५-३६—कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः।
३. चंद्रगुप्त द्वितीय इसी वर्ष के आसपास मरा।
४. देखिए, ऐलेन, Cam. Sh. Hist. Ind., पृ० ९३।

हर्षचरित में भी मिलता है यद्यपि उसमें शकराज का चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा वध षड्यन्त्र से हुआ लिखा है, युद्ध में नहीं। उसमें उस 'घृणित अनुश्रुति' का उल्लेख है जिससे ज्ञात होता है कि "शत्रु के नगर में दूसरे की पत्नी के प्रति कामुक शकराज नारी वेश में गुप्त चन्द्रगुप्त द्वारा मारा गया।"[1]

युद्ध का परिणाम

रुद्रसिंह तृतीय की पराजय से विजेता को मालवा, गुजरात, तथा सौराष्ट्र (काठियावाड़) के उर्वर और समृद्ध प्रदेश तो मिले ही, इससे गुप्त-साम्राज्य पश्चिमी तटवर्ती पत्तनों के सम्पर्क में भी आ गया। इससे व्यापार में बड़ी अभिवृद्धि हुई। और इसके परिणाम-स्वरूप विदेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो जाने के कारण खूब फूला फला और सौदागर विना किसी प्रतिबन्ध के, बगैर किसी प्रकार के भीतरी सीमाओं पर स्थान-स्थान पर कर (Tax) दिये, विक्रय की वस्तुएँ देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक भेज सकते थे। इससे पूर्व अनेक छोटे-छोटे राज्यों की विभिन्न सीमाओं पर बार-बार उनको कर देना पड़ता था, जिससे विक्रय की वस्तुओं का मूल्य तो अत्यधिक मात्रा में बढ़ता ही जाता था, स्वयं उनके लाभ का अनुपात भी नितान्त अल्प हो जाता था। उस काल उज्जैन व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र था और सारे वणिक्पथ वहीं केन्द्रीभूत थे। उज्जैन धार्मिक और राजनीतिक केन्द्र भी था और अपनी पश्चिमी विजयों के पश्चात् तो चन्द्रगुप्त ने वस्तुतः गुप्त साम्राज्य की उसको द्वितीय राजधानी भी बना दिया।

चन्द्र कौन था ?

दिल्ली के पास मेहरौली गाँव के बाहर कुतुबमीनार के आँगन में जो लौह-स्तंभ खड़ा है उस पर 'चन्द्र' नाम के राजा की प्रशस्ति खुदी है। उसमें लिखा है कि चन्द्र ने अपने शत्रुओं के संघ को वंग (बंगाल) में पराजित किया; दक्षिण जलनिधि को अपने 'वीर्यानिल' द्वारा सुवासित किया; तथा सिन्धु के सातों मुखों (पंजाब की सिंधु की सहायक नदियों) को पार कर वाह्लीकों[2] को परास्त किया[3]। इस प्रकार

---

१. हर्षचरित, कावेल और थामस का संस्करण, पृ० १९४।—अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तश्चंद्रगुप्तः शकपतिमशातयत्॥

२. यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागता-
न्वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।
तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिंधोर्जिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः॥

(C. I. I., ३, नं० ३२, पृ० १४१, श्लोक १)

३. वराहमिहिर के अनुसार वाह्लीक उत्तरी प्रदेश के निवासी थे। कुछ विद्वानों ने उनको पंजाब के वाहीक माना है। (बसाक : History of North-Eastern India, पृ० १४, नोट १२)। अन्य उन्हें बलख के निवासी मानते हैं। यह भी सुझाया गया है कि वाह्लिक शब्द से साधारणतः सारे विदेशी आक्रामकों, पह्लवों, यवनों आदि का बोध होता है(देखिए, एलेन : C. C. G. D., भूमिका पृ० ३६)।

"पृथ्वी पर ऐकाधिराज्य" स्थापित करके उसने 'दीर्घकाल तक'(सुचिरं) राज्य किया। विद्वानों[1] में इस चन्द्र की पहचान के संबंध में बडा वादविवाद हुआ है। परंतु, जैसा अधिक संभव जान पड़ता है, यदि चंद्रगुप्त द्वितीय ही चंद्र है तब इससे यह प्रमाणित है कि इस गुप्त सम्राट ने बंगाल के ऊपर अपना पूरा अधिकार स्थापित कर लिया, और उत्तर-पश्चिम में उसने शक-कुषाणों की शक्ति का अवशेष सर्वथा नष्ट कर दिया। यह एक ऐसा कार्य था जिसका सम्पादन समुद्रगुप्त केवल एकांश में कर सका था।

फ़ाह्यान की यात्रा (३९९-४१४ ईस्वी)

चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल में प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान गोवी मरुप्रदेश की मुसीबतें झेलता खोतान, पामीर, स्वात तथा गंधार लाँघता भारत पहुँचा। पेशावर पहुँचकर पहाड़ियाँ पार करता वह उत्तर-पश्चिमी मार्ग से पंजाब में प्रविष्ट हुआ और मथुरा, सकांश्य, कन्नौज, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वैशाली, पाटलिपुत्र, काशी आदि नगरों में भ्रमण करता रहा। तदनन्तर ताम्रलिप्त(मिदनापुर जिले में तामलुक) पहुँच कर वह गृह-यात्रा के अर्थ सिंहल और जावा की ओर जाने वाले जहाज पर सवार हुआ[2]। इसमें संदेह नहीं कि फाह्यान बौद्ध पांडुलिपियों तथा अन्य प्राचीन अवशेषों के संग्रह में इतना संलग्न था कि अन्य पार्थिव वस्तुओं से वह सर्वथा उदासीन बना रहा। यहाँ तक कि उसने जिस सम्राट् के सुव्यवस्थित शासन में अपनी यात्रा के वर्ष बिताये, उसका नामोल्लेख तक नहीं किया। फिर भी उसने भारत के निवासियों के जीवन के संबंध में और इस देश की तत्कालीन दशा पर विस्तृत वृत्तान्त लिखे हैं। नीचे हम उसके वृत्तान्त का प्रासंगिक सारांश देंगे।

पाटलिपुत्र

फ़ाह्यान साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में तीन वर्ष रहकर संस्कृत सीखता रहा। उसने लिखा है कि उस नगर में दो 'विशाल और सुन्दर' विहार थे जिनमें से एक हीनयान और दूसरा महायान का था। छः-सात सौ विद्वान् भिक्षु उनमें निवास करते थे। इन भिक्षुओं की विद्वत्ता इतनी असाधारण थी कि देश के सुदूर प्रान्तों से धर्म और आचार के जिज्ञासु उनके पास ज्ञानार्थ उपस्थित होते थे। अशोक के राजप्रासाद का वैभव देखकर यात्री पूर्णतः चमत्कृत हो उठा था। यह अशोक का

---

१. बसाक (H. N. -E. Ind., पृ० १३-१८) और फ्लीट (C. I. I., ३, भूमिका पृ० १२) चंद्र को चंद्रगुप्त प्रथम मानते हैं परन्तु विन्सेंट स्मिथ चंद्रगुप्त द्वितीय (J. R. A. S., १८९७, पृ० १-१८); बैनर्जी (Ep. Ind., १४, पृ० ३६७-७१) और हरप्रसाद शास्त्री (वही, १२, पृ० ३१५-२१; १३, पृ० १३३) चंद्र को चंद्रवर्मन् मानते हैं, और डा० रायचौधरी उसे सदाचंद्र अथवा चंद्रांश। चंद्रांश का उनके विचार से चंद्र होना अधिक सम्भव है (Pol. Hist. Anc. Ind., चतुर्थ सं०, पृ० ४४६, नोट १)

२. देखिए, फ़ो-क्वो-की : The Travels of Fa-hian, बील, Buddhist Records of Western World, पृ० २३-४० (भूमिका)।

राजभवन यात्री के पर्यटन काल में भी उसी प्राचीन गौरव के साथ पाटलिपुत्र में खड़ा था और अमानुषिक निर्माण का नमूना माना जाता था। यात्री मगध की सम्पत्ति और समृद्धि से बड़ा प्रभावित हुआ और वह लिखता है कि इस प्रदेश के निवासी "धर्म तथा दान के आचरण में परस्पर स्पर्धा करते थे।" प्रत्येक वर्ष द्वितीय मास की अष्टमी को बुद्ध और बोधिसत्त्व की मूर्तियों को बहुमूल्य साजों से सजाकर वे उनका जलूस निकालते थे। मूर्तियां "प्रायः २० रथों" पर निकाली जाती थीं और ये रथ यद्यपि एक ही नमूने के बनते थे परन्तु इनका वर्ण-रंजन तथा सजावट विभिन्न होती थी। फ़ाह्यान यह भी लिखता है कि "वैश्य कुलों के कुलपति दान तथा औषधियों के वितरण के अर्थ अनेक सदाव्रत चलाते थे।" नगर में एक सुंदर औषधालय था जहाँ पर गृहस्थों तथा अभिजात-कुलीयों के व्यय से दरिद्र रोगियों को निःशुल्क भोजन तथा औषधियाँ वितरित की जाती थीं। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े नगरों में तथा उन्नत राजपथों पर यात्रियों के आराम के लिए विश्रामगृह प्रस्तुत थे।[1]

समाज की अवस्था

इस यात्री के वृत्तान्त से मध्यदेश की सामाजिक स्थिति की भी कुछ झलक मिलती है। उससे विदित होता है कि जनता साधारणतः शाकाहारी थी और अहिंसा के सिद्धान्त का आचरण करती थी। उनके "बाजारों में मांस तथा मद्य की दूकानें न थीं।" वह और भी लिखता है कि "लोग सूअर तथा मुर्गे नहीं पालते, प्याज और लस्सुन नहीं खाते तथा सुरापान नहीं करते थे।[2] चांडाल समाज से बहिष्कृत समझे जाते थे और वे ही आखेट कर सकते तथा मांस बेच सकते थे।"

चांडाल अस्पृश्य थे और उनको नगर से बाहर रहना पड़ता था। जब वे नगर अथवा बाजार में आते उनको लकड़ियाँ बजाकर शब्द करना पड़ता था जिससे सवर्ण हिन्दू उनके स्पर्श से अलग हट जाएँ[3]। यह वास्तव में अस्पृश्यता का वह रूप था जो आज भी हिन्दुत्व के ऊपर काला धब्बा है।

धार्मिक स्थिति

फ़ाह्यान भारत में बौद्ध हस्तलिपियों के संग्रह तथा बुद्ध के सम्पर्क से पुनीत तीर्थों की यात्रा के अर्थ आया था। अतः उसने बौद्ध धर्म तथा संघ से संबंध रखने वाले वृत्तान्तों का स्वाभाविक ही उत्साहपूर्ण उल्लेख किया है। उसके वृत्तांत से स्पष्ट है कि सद्धर्म बंगाल तथा पंजाब में हरा-भरा था और मथुरा में, जहाँ उसने २० विहार देखे थे, वह धीरे-धीरे फैल चला था। परन्तु निश्चय मध्यदेश में यह धर्म लोकप्रिय न था क्योंकि इसके प्रमुख नगरों में यात्री ने केवल एक ही दो

---

१. वही, अध्याय २७, पृ० ५६-५७।
२. इस वक्तव्य की सत्यता सन्दिग्ध है।
३. वही, १६, पृ० ३८।

विहार देखे और कहीं-कहीं तो उनका सर्वथा अभाव था। मध्यदेश में ब्राह्मणधर्म का प्रभूत प्रभाव था और राजा स्वयं वैष्णव (परमभागवत) मतावलम्बी था। ब्राह्मणधर्मियों तथा बौद्धमतावलम्बियों में साधारणतः परस्पर मेल था और कभी किसी प्रकार की धार्मिक असहिष्णुता दृष्टिगोचर न होती थी। वस्तुतः अभिलेखों से तो यहाँ तक प्रमाणित है कि शाव-वीरसेन तथा आम्रकार्दव के-से चंद्रगुप्त द्वितीय के उच्चस्थ राजकर्मचारी शैव तथा बौद्ध थे[२]।

गुप्त शासन

फाह्यान ने मध्यदेश अर्थात् चन्द्रगुप्त द्वितीय के साम्राज्य के शासन तथा जलवायु का सुंदर विवरण दिया है। वह लिखता है कि प्रजा समृद्ध थी और जन-संख्या कर तथा अतिशासन के प्रतिबंधों से मुक्त थी। उनको "अपने गृह की रजि-स्टरी नहीं करानी पड़ती थी और न मजिस्ट्रेटों के यहाँ हाजिरी ही देनी पड़ती थी"। प्रजा के आवागमन में राजा किसी प्रकार का विरोध नहीं करता था। "यदि वे कहीं जाना चाहें तो जाते हैं; यदि वे कहीं रुकना चाहते हैं तो रुकते हैं।" दंडविधान चीनी पद्धति के मुकाबिले में विनम्र था। अपराधी अपने अपराधों के अनुपात से भारी अथवा हलका शुल्क अथवा (जुर्माने) से दंडित होते थे। शारीरिक यंत्रणायें अभियुक्तों को नहीं दी जाती थीं। यह महत्त्व की बात है कि प्राण-दंड सर्वथा उठा दिया गया था और देशद्रोह के अपराधी को केवल अंगच्छेद का दंड मिलता था। यह चित्र निश्चय यथार्थ से कुछ भिन्न, आदर्श से अतिरंजित प्रतीत होता है।

अर्थ का आधार भूमि-कर था जो उपज का एक भाग अथवा उसकी कीमत के सिक्कों में दिया जाता था। राजकर्मचारी वैतनिक थे। साधारण और थोड़े मूल्य के चुकाने में यहाँ कौड़ी का प्रयोग होता था। परंतु, जैसा अभिलेखों से प्रमाणित है, 'सुवर्ण' तथा 'दीनार' नाम के सोने के सिक्के भी यहाँ आम तौर से चलते थे।

ऊपर के यात्री के वक्तव्यों से स्पष्ट है कि चंद्रगुप्त द्वितीय का शासन सुव्यव-स्थित तथा सुसंगठित था। प्रजा शांति के वातावरण में सुखी थी और फाह्यान बिना किसी उपद्रव के उत्तरी भारत में स्वच्छन्द भ्रमण कर सका। यद्यपि साधारण जन की स्थिति इतनी संतोषजनक थी, तथापि गया, कुशीनगर, कपिलवस्तु, श्रावस्ती के-से नगर जो कभी जीवन के सक्रिय केन्द्र रह चुके थे अब उजड़ गए थे।

---

१. उदयगिरि के अभिलेख में लिखा है कि चंद्रगुप्त द्वितीय के सान्धिविग्रहिक शाववीरसेन ने शिव की अभ्यर्थना में एक दरी-गृह का निर्माण कराया (C. I. I., ३, नं० ६, पृ० ३४-३६)। इसी प्रकार साँची के एक दूसरे अभिलेख से विदित होता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय के सेनानी आम्रकार्दव ने आर्य-संघ अथवा बौद्ध-संघ को २५ दीनार तथा एक गाँव दान किए (वही, नं० ५, पृ० २९-३४)।

२. फ़ो-क्वो-की, बील का अनुवाद, १६, पृ० ३७।

अभिलेखों की सामग्री

चंद्रगुप्त के साम्राज्य-शासन के सम्बन्ध में हमें बसाढ़ की मुहरों[1] और अन्य अभिलेखों से भी सामग्री प्रस्तुत करनी होगी। राजा अपने मंत्रियों की मंत्रणा तथा सहायता से शासन करता था। मंत्रियों का पद बहुधा कुलागत[2] होता था। उनमें से कुछ शांति और युद्ध सम्बन्धी दोनों प्रकार के शासन की व्यवस्था करते थे और सम्राट् के साथ युद्ध-भूमि में भी जाते थे। साम्राज्य शासन की सुविधा के अर्थ अनेक 'देशों' अथवा 'भुक्तियों' में विभाजित था और इनमें से प्रत्येक प्रांत का शासक, जो प्राय: राजकुलीय होता था, उपरिक महाराज अथवा गोप्ता कहलाता था। प्रांतों के अतिरिक्त जिले (विषय) और उनसे भी छोटे शासन के हलके थे। प्रांतीय तथा स्थानीय शासन सुव्यवस्थित उच्चावच पदाधिकारियों द्वारा सम्पन्न होता था। बसाढ़ में प्राप्त मुहरों से इस प्रकार के अनेक पदाधिकारियों के पदों के नाम उपलब्ध हुए हैं; उदाहरणत: कुमारामात्य (कुमार का मंत्री, अथवा कुमारावस्था से ही मंत्री); महादंडनायक (सेनापति); विनयस्थिति-स्थापक (शांति का स्थापक?); महाप्रतीहार (राजप्रासाद का रक्षक); भटाश्वपति (पैदल और घुड़सवार सेना का अध्यक्ष); दंडपाशाधिकरण (पुलिस के आफिस का अध्यक्ष), आदि। दामोदरपुर ताम्रपत्र के लेख से विदित होता है कि जिले का अध्यक्ष (विषयपति) सीधा प्रांतीय शासक के प्रति उत्तरदायी था और "तन्नियुक्तक" कहलाता था। उसका 'हेडक्वार्टर' 'अधिष्ठान' में होता था, जहाँ 'अधिकरण' अर्थात् आफिस होता था। उसकी सहायता के लिए स्थानीय प्रतिनिधियों की एक समिति नियुक्त होती थी। यह प्रतिनिधि निम्नलिखित थे—सेठ अथवा नगर श्रेष्ठिन्, प्रधान सौदागर (सार्थवाह), प्रधान शिल्पी, (प्रथम कुलिक), प्रधान लेखक (प्रथम कायस्थ)। परन्तु हमें ज्ञात नहीं कि यह समिति केवल सम्मति देने वाली थी अथवा इसके सदस्यों के कर्तव्य पृथक्-पृथक् निश्चित थे। अन्य पदाधिकारियों में से एक रेकार्ड रखने वाला पुस्तपाल था जिसको भूमि के क्रय-विक्रय की सारी व्यवस्था सूचित करनी पड़ती थी। वस्तुत: "भूमि का क्रय तभी कानूनी माना जाता था जब पुस्तपाल क्रेता का आवेदन-पत्र पाकर विक्रय संबंधी भूमि का स्वामित्व निर्णय कर लेता और अपनी रिपोर्ट सरकार को लिख भेजता।"[3] पहले की ही भाँति शासन का निम्नतम आधार ग्राम था जिसका

---

१. Ann. Rep. Arch. Surv., १९०३-४, पृ० १०१-२०।

२. उदयगिरि का लेख (C. I I., ३, नं० ६, पृ० ३४-३६) चंद्रगुप्त द्वितीय के सान्धिविग्रहिक शाब वीरसेन को "अन्वय-प्राप्त-साचिव्यो व्यापृत-सन्धि-विग्रहः". कहता है। इसी प्रकार करमदंड अभिलेख (Ep. Ind., १०, पृ० ७० और आगे) कुमारगुप्त प्रथम के मंत्री पृथ्वीसेन के पिता का हवाला देता है जिसका नाम शिखरस्वामिन् था और जो चंद्रगुप्त द्वितीय का मंत्री रह चुका था।

३. Ep. Ind., १५, पृ० १२८।

मुखिया ग्रामिक कहलाता था। ग्रामवृद्धों से निर्मित पंचमंडली अथवा पंचायत की सहायता से ग्रामिक अपने हलके में शांति और सुरक्षा का प्रबंध करता था।

परिवार

चंद्रगुप्त की रानियों में कुबेरनागा का नाम पहले दिया जा चुका है। उसकी दूसरी रानी ध्रुवदेवी अथवा ध्रुवस्वामिनी थी। उसके दो पुत्र थे—कुमारगुप्त प्रथम और गोविन्दगुप्त। इनमें से दूसरा वैशाली में चंद्रगुप्त द्वितीय का प्रतिनिधि-शासक था।

विरुद

अभिलेखों में चंद्रगुप्त द्वितीय के विरुदों, परम-भागवत और महाराजाधिराज श्रीभट्टारक का प्रयोग हुआ है। उसके सिक्कों पर अन्य उच्चध्वनि विरुद व्यवहृत हुए हैं; उदाहरणतः, विक्रमादित्य, विक्रमांक, नरेन्द्रचंद्र, सिंहविक्रम, सिंहचंद्र, आदि। उसका दूसरा नाम देवराज भी था[१]। कुछ वाकाटक अभिलेखों में उसे देवगुप्त[२] कहा गया है।

कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य (४१४-५५ई०)

राज्यारोहण की तिथि

सांची-लेख (नं०५) के अनुसार चंद्रगुप्त द्वितीय गुप्त संवत ९३—४१२-१३ ई० में राज्य कर रहा था किंतु बिल्सड-लेख (नं० १०)[३] जो गुप्त संवत् ९६=४१५ ई० का है, ध्रुवदेवी से उत्पन्न उसके पुत्र और उत्तराधिकारी कुमारगुप्त (प्रथम) के समय का है। अतः यह मानना उचित होगा कि राजदंड चंद्रगुप्त द्वितीय के हाथ से कुमारगुप्त के हाथ ४१४ ई० के लगभग चला गया।

उसकी शक्ति

कुमारगुप्त के चरित के विषय में विशेष ज्ञात नहीं है परंतु उसके सिक्कों की बहुसंख्या तथा बहुप्रकारता और उसके अभिलेखों के विस्तृत विवरण से प्रमाणित है कि वह अपनी प्रभुता और साम्राज्य को प्रायः अन्त तक बनाये रख सका। उसके साम्राज्य के अंतर्गत पूर्व का बंगाल और पश्चिम का सौराष्ट्र तक शामिल था, और उत्तर तथा दक्षिण की सीमायें हिमालय और नर्मदा थीं। तब कुमारगुप्त के सामंत के रूप में दशपुर (मन्दसोर, पश्चिमी मालवा) में बन्धुवर्मन् राज्य करता था; चिरातदत्त उत्तरी बंगाल (पौंड्रवर्धन-भुक्ति) का शासक था; और घटोत्कचगुप्त ऐरिकिण अथवा एरण प्रदेश (मध्यप्रदेश का सागर जिला) का स्वामी था।

---

१. C. I. I., ३, नं० ५, पृ० ३२-३३, पंक्ति ७।
२. चम्मक पत्रलेख, C. I. I., ३, नं० ५५, पृ० २३७, २४०, पंक्ति १५।
३. नम्बरों का अभिप्राय फ्लीट: C. I. I., खंड ३ से है।

अश्वमेध

कुमारगुप्त प्रथम के कुछ सोने के सिक्कों से उसके अश्वमेधानुष्ठान का प्रकरण मिलता है। अभाग्यवश उसके अभिलेख उसकी विजयों के ऊपर कोई प्रकाश नहीं डालते परंतु यह प्रायः निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है विना कुछ प्रदेश विजय किए वह इस साम्राज्यपरक अनुष्ठान का आयोजन नहीं कर सकता था।

पुष्यमित्र-युद्ध

भीतारी-स्तम्भ-लेख से विदित होता है कि कुमारगुप्त प्रथम के जीवन के अंतिम वर्ष पुष्यमित्रों के आक्रमण से आक्रांत हो गये थे। इस जाति ने अपनी "शक्ति और सम्पत्ति अत्यधिक मात्रा में बढ़ा ली थी।"[1] कुमारगुप्त प्रथम अति वृद्ध अथवा रुग्ण होने के कारण स्वयं तो उनके विरुद्ध अस्त्र ग्रहण न कर सका परंतु इस आफत का सामना करने के लिये उसने युवराज स्कंदगुप्त को भेजा। स्कंदगुप्त ने सुदारुण और सुदीर्घ संघर्ष के पश्चात् जिसमें उसे एक रात साधारण सैनिक की भाँति "कड़ी भूमि पर सो-सो कर" बितानी पड़ी थी, उन्हें परास्त कर अपनी "विचलित कुललक्ष्मी स्तंभित कर ली।"[2]

धार्मिक स्थिति

अपने पूर्वजों की ही भाँति कुमारगुप्त भी धर्म के क्षेत्र में सहिष्णु था। उसके सुदीर्घ शासनकाल में सत्रों तथा मन्दिरों के व्यय के अर्थ अनेक दान दिये गये। बुद्ध और पार्श्व की मूर्तियों के स्थापना-सम्बन्धी प्रमाण भी अनेक हैं। ब्राह्मण-धर्म के देवताओं में विशेष पूज्य सूर्य, शिव, विष्णु और कार्त्तिकेय थे। इनमें से अंतिम देवता की पूजा विशेष लोकप्रिय हो चली थी। कुमारगुप्त प्रथम के कुछ सोने और चाँदी के सिक्कों से तो विदित होता है कि उसने विष्णु के स्थान पर कार्त्तिकेय को ही अपना इष्ट देवता मान लिया था।[3]

स्कन्दगुप्त-क्रमादित्य (४५५-६७ ई०)

प्रारम्भिक मुसीबतें

जान पड़ता है कि कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु पुष्यमित्रों से युद्ध के समय में ही हो गयी। क्योंकि स्कंदगुप्त ने अपने शत्रुओं की पराजय की सूचना बजाय पिता

---

१. C. I. I., ३, पृष्ठ ५४, ५५—"समुदितबलकोषान्"। फ्लीट पुष्यमित्रों को नर्मदा-तट पर कहीं रखते हैं (Ind. Ant., १८८९ पृष्ठ २२८)। विष्णुपुराण के अनुसार पुष्यमित्र नर्मदा के उद्गम के निकट मेकल प्रदेश में निवास करते थे (४. २४. १७; Pol. Hist. Anc. Ind., चतुर्थ सं०, पृष्ठ ४७९। इसके विरुद्ध दिवेकर निम्नलिखित पाठ प्रस्तुत करते हैं : "युद्धयमित्रांश्च" A. B. R. I., १९१९-२०, पृष्ठ ९९-१०३)। यदि यह पाठ स्वीकृत करें, तो "अमित्रों" से तात्पर्य क्या स्कन्दगुप्त के आभ्यंतर शत्रुओं से होगा?

२. "विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा (C. I. I., ३, पृष्ठ ५३, ५५)।

३. Ind. Hist. Quart., १५, नं० १, मार्च १९३९, पृष्ठ ६।

को देने के "कृष्ण की भांति देवकी को" दी।[1] वस्तुतः भीतरी स्तम्भ-लेख में स्पष्ट उल्लेख है कि इस युद्ध के बाद स्कंदगुप्त ने "अपना वाम पद राज-चरण-पीठ पर रखा"[2] अर्थात् वह सिंहासनारूढ़ हुआ। परंतु उसके शासन का काल असाधारण था, झंझावातों से भरा।

हूण आक्रमण

पुष्यमित्रों से छुट्टी पाते ही उससे कहीं बड़ी विपत्ति के साम्राज्य का सामना करना पड़ा। खानाबदोश और क्रूरकर्मा हूण उत्तर-पश्चिमी दर्रों से भारत-भूमि पर उतर पड़े थे और उनकी प्रबल धारा को रोकना आसान न था। पहले तो स्कंदगुप्त ने उनकी बढ़ी हुई कतार को टकरा कर तोड़ दिया और जो भयंकर रक्तमय समर[3] हुआ उसमें वह विजयी भी हुआ परंतु इस बर्बर जाति की अनवरत चोटों ने, जिनसे संसार के अनेक सभ्य साम्राज्य टूट चुके थे, गुप्त साम्राज्य को भी अन्त में तार-तार कर डाला। यदि भीतारी स्तंभ-लेख के हूणों को जूनागढ़ शिलालेख के 'म्लेच्छ' माना जाए, तब स्कंदगुप्त ने उन्हें गुप्त संवत् १३८=४५७-५८ ई० के पूर्व ही पराजित कर दिया होगा क्योंकि यह तिथि जूनागढ़ वाले लेख में अन्तिम तिथि है। जान पड़ता है कि सौराष्ट्र स्कन्दगुप्त के साम्राज्य का दुर्बल प्रान्त था और शत्रुओं के आक्रमण से उसकी रक्षा के निमित्त स्कंदगुप्त को विशेष प्रबन्ध करना पड़ा था। लिखा है कि उस प्रान्त का उचित शासक चुनने के अर्थ अनेक दिन और रातें उसने चिन्ता में बिताईं। अन्त में जब उसने पर्णदत्त को वहाँ का गोप्ता नियुक्त किया तब उसके हृदय को शांति मिली।

सुदर्शन झील

स्कन्दगुप्त के शासनकाल की दूसरी महत्वपूर्ण घटना सुदर्शन झील के बाँध का अतिवृष्टि से टूटना और उसका पुनर्निर्माण था। इस झील का इतिहास पुराना है। पहले पहल चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक पार्वतीय नदी के जल को रोक कर एक झील निर्मित की और तब अशोक ने सिंचाई के अर्थ उसमें से नहरें निकालीं। ७२ वें वर्ष (शक=१५० ई०) में रुद्रदामन् ने तूफान से नष्ट उसकी सीमाओं का जीर्णोद्धार[4] कराया। गुप्त संवत् १३६=४५६ई० में उस झील का बाँध फिर टूट गया और पर्ण-

---

१. पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्रां हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः॥

२. "क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः"। मेरा अनुवाद फ्लीट के अनुवाद से सर्वथा भिन्न है।

३. "हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता
भीमावर्तकरस्य"

(C. I. I., ३, पृष्ठ ५४, ५५)।

४. रुद्रदामन् का जूनागढ़-लेख, Ep. Ind., ८, पृष्ठ ३६-४९।

दत्त के पुत्र चन्द्रपालित ने, जो गिरनार का शासक था, 'असीम व्यय' से उसका बाँध पक्का करा दिया। इस निर्माण-कार्य के सफल सम्पादन के स्मारक में चक्रभृत् अथवा विष्णु का एक मंदिर गुप्त संवत् १३८=४५८ ई०[1] में बनवाया गया। इस झील अथवा मंदिर के कोई चिह्न आज वर्तमान नहीं हैं।

धर्म

स्कंदगुप्त स्वयं श्रद्धालु वैष्णव था परन्तु अपने पूर्वजों की ही भाँति उसने भी धार्मिक सहिष्णुता की नीति जारी रखी।[2] प्रजा भी अपने सम्राट् के श्रेष्ठ उदाहरण का अनुसरण करती रही। उदाहरणतः कहौम-लेख[3] (नं० १५) से विदित होता है कि मद्र नामक एक व्यक्ति ने जो "ब्राह्मणों, गुरुओं तथा परिव्राजकों के प्रति अतीव श्रद्धालु था", जैन तीर्थंकरों की पत्थर की पाँच मूर्तियाँ स्थापित कराईं। इसी प्रकार इन्दौर पत्रलेख (नं० १६)[4] से ज्ञात होता है कि किसी ब्राह्मण ने इन्द्रपुर (बुलन्दशहर जिले में इन्दौर) के क्षत्रियों द्वारा निर्मित सूर्य मंदिर में नित्य दीप जलाने के व्यय के अर्थ दान किया था। इस दाता ने स्थानीय तैलिक-श्रेणी के पास अक्षय नीवी (मूल-धन) जमा कर दी जिससे "मूलधन की क्षति के बिना ही" केवल उसके व्याज से दीप जलाने का नित्य का व्यय चलता रहे।

उपाधियाँ

स्कन्दगुप्त का साधारण विरुद 'क्रमादित्य' था। उसके चाँदी के कुछ सिक्कों पर उसका प्रसिद्ध 'विक्रमादित्य' विरुद भी लिखा मिलता है। कहौम अभिलेख में उसे 'क्षितिपशतपतिः' अर्थात् 'सौ राजाओं का स्वामी' कहा गया है।

तिथि

चाँदी के सिक्कों से कुमारगुप्त प्रथम और स्कंदगुप्त की अंतिम ज्ञात तिथियाँ क्रमशः ४५५ और ४६७ई० हैं। अतः स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण तथा मृत्यु की यही दोनों तिथियाँ हुईं।

पश्चात्कालीन सम्राट्

स्कंदगुप्त के बाद भी गुप्त राजकुल जीवित रहा परन्तु निश्चय इसका गौरव नष्टप्राय हो चला था। उसकी मृत्यु के बाद ४६७ ई० के लगभग उसके भ्राता अथवा वैमातृभ्राता (अनन्तदेवी से) पुरगुप्त सिंहासन पर बैठा। पुरगुप्त का नाम भीतारी-

---

१. स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिलालेख, C. I. I. ३, नं० १४ पृष्ठ ५६-६५।

२. देखिए मेरा लेख, Religious toleration under the Imperial Guptas, Indian Hist. Quart, खंड १५, नं० १ (मार्च १६३६), पृष्ठ १-१२।

३. C. I. I., ३, पृष्ठ ६५-६८।

४. वही, पृष्ठ ६८-७२।

मुहर-लेख[1] पर मिलता है, यद्यपि आश्चर्य की बात है कि इस वंश-तालिका में स्वयं स्कन्दगुप्त का नाम उल्लिखित नहीं। इससे कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि दोनों भाइयों में शत्रुता थी और गृहकलह के पश्चात् साम्राज्य उनमें विभक्त हो गया। परंतु यह सिद्धांत सर्वथा निराधार है क्योंकि इस प्रकार की भूलें प्राचीन भारतीय अभिलेखों में अनजानी नहीं हैं। और उपलब्ध सामग्री से प्रमाणित हो जाता है कि स्कन्दगुप्त गुप्तसाम्राज्य का प्रबल शासक था। पुरगुप्त के सिक्कों पर उसका विरुद 'श्री-विक्रम' लिखा है। और होर्नले का मत है कि जिन सिक्कों के पीछे की ओर 'प्रकाशादित्य' लेख खुदा है उनको भी पुरगुप्त का ही समझना चाहिए।[2] पुरगुप्त के राज्य अथवा उसके शासन-काल की सीमायें निर्धारित करना कठिन है।

नरसिंहगुप्त

पुरगुप्त का उत्तराधिकारी वत्सदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र नरसिंहगुप्त था। उसका विरुद 'बालादित्य' था परंतु, वह, जैसा कि साधारणतः माना जाता है, हूणों का प्रसिद्ध विजेता न था। नरसिंहगुप्त की शासन-अवधि सम्भवतः अत्यन्त संक्षिप्त थी।

कुमारगुप्त द्वितीय

नरसिंहगुप्त के बाद महालक्ष्मी देवी से उत्पन्न उसका पुत्र कुमारगुप्त राजा बना। उसे कुमारगुप्त द्वितीय उसके प्रपितामह कुमारगुप्त प्रथम से स्पष्ट करने के लिए कहते हैं। यदि हम उसे सारनाथ लेख[3] वाला कुमारगुप्त मानें तो वह गुप्त संवत् १५४=४७३-७४ ई० में 'पृथ्वी की रक्षा' कर रहा था। उसी के शासन काल में (मालव संवत् ५२९=५७२-७३ ई०) रेशम के जुलाहों की एक श्रेणी ने दशपुर के उस सूर्य मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया जिसका मूल निर्माण कुमारगुप्त प्रथम के शासन काल में मालव संवत् ४९३=५३६-३७ ई० में हुआ था।[4]

बुधगुप्त

सारनाथ के एक दूसरे अभिलेख के अनुसार बुधगुप्त गुप्त संवत् १५७-४७६-७७ ई० में गद्दी पर था।[5] अतः उसका राज्यारोहण एक आधा वर्ष पूर्व रखा जा सकता है। इससे जान पड़ता है कि भीतारी-मुहर अभिलेख के तीनों राजाओं के साथ बुधगुप्त का क्या सम्बन्ध था। युआन-च्वांग उसे शक्रादित्य का एक-पुत्र कहता है और चूंकि संस्कृत में शक्र और महेन्द्र दोनों ही इन्द्र के पर्याय हैं, बुधगुप्त कुमारगुप्त प्रथम का, जिसने महेन्द्रादित्य का विरुद धारण किया था, पुत्र रहा होगा।

---

१. J. A. S. B., १८८९, पृष्ठ ८४-१०५।

२. वही, पृष्ठ ९३-९४। बाद में होर्नले ने इन सिक्कों को यशोधर्मन् का ठहराया (J.R.A.S.) १९०९, पृष्ठ १३५-३६। परन्तु देखिए, एलेन, C. C. G. D., भूमिका ५१-५५।

३. Ann. Rep. Arch. Surv., १९१४-१५, नं० १५, पृ० १२४।

४. मन्दसोर प्रस्तर अभिलेख, C. I. I., ३, नं० १८, पृ० ७९-८८।

५. वही, नं० १६, पृ० १२५-२६।

दामोदरपुर जिला (दीनाजपुर)[1] सारनाथ (बनारस जिला) और एरण (मध्य प्रान्त का सागर जिला)[2] के अभिलेखों से स्थापित है कि बुधगुप्त की सत्ता बंगाल और मध्य भारत के बीच के सारे प्रदेशों में मानी जाती थी। उस काल उत्तर बंगाल के शासक उसके प्रतिनिधि ब्रह्मदत्त तथा जयदत्त थे, पूर्वी मालवा का महाराज मातृविष्णु और कालिन्दी (यमुना) तथा नर्मदा के बीच के प्रदेश का शासक उसका सामन्त महाराज सुरश्मिचन्द्र था।

भानुगुप्त

बुधगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि उसके चाँदी के सिक्कों का गुप्त संवत् १९५ =४९४-९५ ई० है, अतः उसके शासन-काल का इस तिथि के शीघ्र ही बाद अन्त हो गया होगा। उसके बाद संभवतः उसका पुत्र भानुगुप्त राजा हुआ। वास्तव में दोनों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। भानुगुप्त के शासन-काल में हूणों ने गुप्तों से मालवा छीन लिया। यह इससे सिद्ध है कि मातृविष्णु का (जो बुधगुप्त का सामन्त था) अनुज धन्यविष्णु तोरमाण को अपना अधिपति मानता था।[3] एरण अभिलेख भी, जो गुप्त संवत् १९१=५१० ई०[4] का है, प्रमाणित करता है कि भानुगुप्त का सेनानी गोपराज एक 'बड़े प्रसिद्ध युद्ध' में मरा। संकेत स्पष्ट हूणों से युद्ध के प्रति है। इसके पश्चात् गुप्त-शक्ति का अघोषः पतन होता गया और सिक्कों से उपलब्ध कुछ नामों को छोड़कर इस राजकुल के पिछले राजाओं के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते। इन्होंने बिहार और बंगाल के भागों तक सीमित एक छोटे प्रदेश पर शासन किया। साम्राज्य के विभिन्न प्रान्त स्वतन्त्र होकर स्वयं अपने भाग्य-विधाता बन गये।

---

१. Ep. Ind., १५, प्लेट ३ और ४, पृ० १३४-१४१।
२. C. I. I., ३, नं० १९, पृ० ८८-९०।
३. वही नं० ३६, पृ० १५८-१६१।
४. वही नं० २०, पृ० ९१-९३।

गुप्त सम्राटों की वंश-सूची
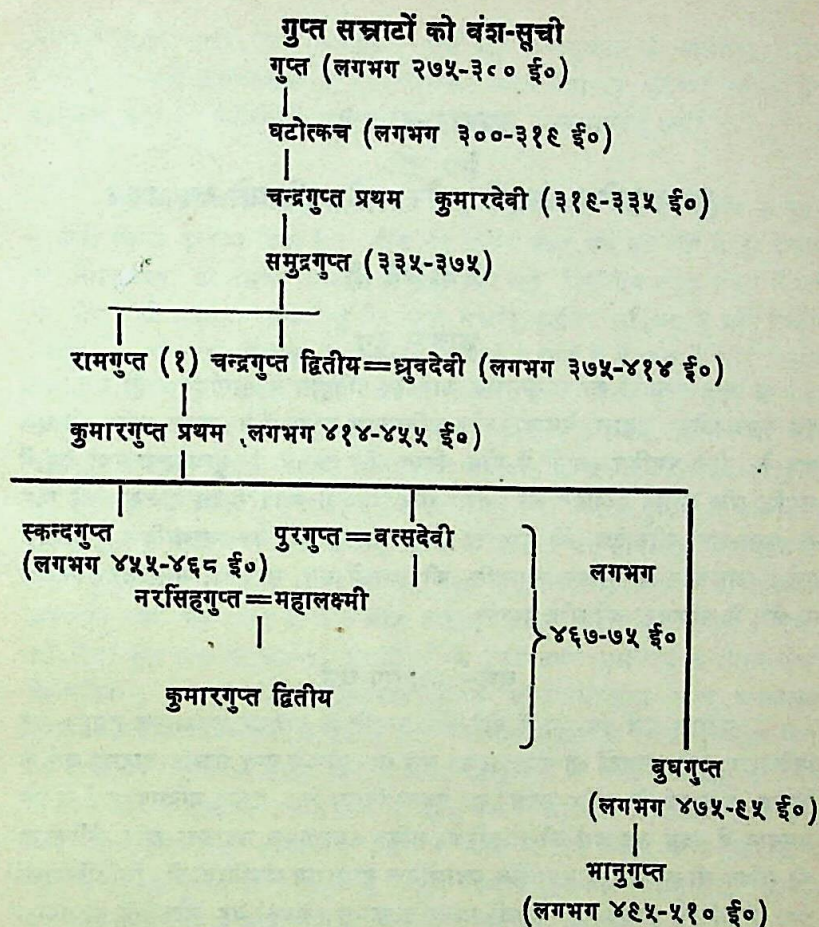
पश्चात्कालीन सिक्कों से विष्णुगुप्त चंद्रादित्य[1], वैण्यगुप्त द्वादशादित्य और अन्य राजाओं के नाम प्राप्त हुए हैं। इनके इतिहास तथा पारस्परिक संबंध के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं।

---

१. नालन्दा से एक मुहर प्राप्त ई है जिसमें विष्णुगुप्त को कुमार, संभवतः कुमारगुप्त द्वितीय, का पुत्र कहा गया है। परंतु यह पता नहीं कि वह कब हुआ था और उसके राज्य की सीमाएँ क्या थीं। डा० अल्तेकर ने मेरा ध्यान इस मुहर की ओर आकर्षित किया।

अध्याय १३

गुप्तकालीन संस्कृति और नयी शक्तियों का उदय

प्रकरण १

शालीन युग

गुप्त सम्राटों का शासनकाल भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग कहा जाता है। इस काल अनेक उदात्त, मेधावी, और शक्तिमान् राजाओं ने उत्तर भारत को एक छत्र के नीचे संगठित करने में योग दिया और शासन में सुव्यवस्था तथा देश में समृद्धि और शान्ति स्थापित की। देशी और विदेशी व्यापार इस राजकुल की रक्षा में फ़ला-फला और देश की सम्पत्ति अनेक गुना बढ़ी। यह स्वाभाविक ही था कि इस सुरक्षा और साम्पत्तिक समुन्नति की दशा में धर्म, साहित्य, कला तथा विज्ञान के क्षेत्र में सक्रियता बढे और उन्नति हो।

धर्म—ब्राह्मण धर्म

ब्राह्मण धर्म इस युग में धीरे-धीरे उन्नति के राजपथ पर आरूढ़ हुआ। यह विशेषकर गुप्त सम्राटों की संरक्षता का फल था, और ये गुप्त सम्राट् ब्राह्मण धर्म के विशेष अनुयायी थे और उनके इष्ट देवता विष्णु थे। परन्तु ब्राह्मण धर्म के इस समुदाय में स्वयं उस धर्म की आंतरिक शक्ति तथा प्रभूत उदारता और अंगीकरण की शक्ति भी कारण हुई। प्राचीन अदार्शनिक साधारण अंधविश्वासों, विधिक्रियाओं तथा पौराणिक कथाओं को अपनी स्वीकृति का पुट देकर यह लोकप्रिय हो गया। निर्वर्ण विदेशियों को इसने अपने समाज में अंगीकार कर अपनी शक्ति बढ़ाई और अंत में बुद्ध को अपने दशावतारों की श्रेणी में गिनकर और उनके उदार उपदेशों को स्वीकृत कर अपने प्रतिस्पर्धी बौद्ध धर्म की भी इसने जड़ काट दी। अपनी इन नयी मान्यताओं के कारण ब्राह्मण धर्म ने जो अपना नया रूप धारण किया वही आज का हिन्दू धर्म है। इसमें सब देवताओं की एक विविध बहुसंख्यकता का प्रचार हुआ जिसमें प्रमुख विष्णु था। विष्णु की उपासना चक्रभृत्, गदाधर, जनार्दन, नारायण, वासुदेव, गोविंद आदि नामों से होने लगी। अन्य लोकप्रिय देवता शिव अथवा शम्भु,[1] कार्त्तिकेय[2] और सूर्य थे। देवियों में मुख्य स्थान लक्ष्मी, दुर्गा, अथवा

---

१. शिव के दूसरे नाम भूतपति, शूलपाणि, महादेव, पिनाकिन्, हर आदि थे।
२. कार्त्तिकेय के अन्य नाम थे स्कन्द, स्वामी महासेन।

भगवती, पार्वती आदि का था। ब्राह्मण धर्म यज्ञों के अनुष्ठान को उत्साहित करता था और तत्कालीन अभिलेखों में निम्नलिखित अनेक यज्ञों का हवाला मिलता है : अश्वमेध, वाजपेय, अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, अतिरात्र, पञ्चमहायज्ञ आदि।

बौद्ध धर्म

गुप्त काल में मध्यदेश में निश्चय बौद्ध धर्म अवनति पर था, यद्यपि फाह्यान ने इसके विरुद्ध वक्तव्य दिया है। चूंकि वह प्रत्येक वस्तु धर्म की दृष्टि से ही देखता था, स्वाभाविक ही उसको मध्यदेश में सद्धर्म की यह दिनोंदिन क्षीण होती स्थिति न दीख सकी। इतना अवश्य है कि गुप्त सम्राट् पूर्णतः सहिष्णु थे और उन्होंने किसी धर्म को कभी स्वेच्छा से क्षति न पहुँचाई। स्वयं वे वैष्णव थे और विविध धर्मों के सम्बन्ध में उनकी नीति सर्वथा सहिष्णु थी। उनके बीच तुला के पलड़े उन्होंने सर्वदा बराबर रखे। उनकी प्रजा आचार-विचार में सर्वथा स्वतन्त्र थी, और यदि हम चन्द्रगुप्त द्वितीय के बौद्ध धर्मानुयायी सेनापति आम्रकार्दव का उदाहरण लें, तो मानना पड़ेगा कि गुप्त सम्राट् ऊँचे पदाधिकारियों की नियुक्ति में धर्म-विशेष का विचार न करते थे। बौद्ध धर्म के ह्रास के कारणों पर सविस्तर विचार करना यहाँ युक्तिसंगत न होगा, फिर भी यह कहा जा सकता है कि संघ के आन्तरिक अनाचार तथा भेद आदि दोषों ने बौद्ध धर्म की शक्ति क्षीण कर दी थी। इसके अतिरिक्त बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की मूर्तियों के पूजन तथा उस धर्म के नित्य फैलते देव-परिवार, नये-नये क्रिया-अनुष्ठानों, धार्मिक योजनाओं तथा अन्य अपेक्षाकृत आधुनिक नवीन व्यवस्थाओं ने उसको अपनी प्राचीन शुद्धता से इतना दूर हटा दिया कि साधारण मनुष्य को उसमें और लोकप्रिय हिन्दू धर्म में कोई अन्तर ही न समझ पड़ा। इससे परिणामतः बौद्ध धर्म के हिन्दू धर्म में खो जाने के लिए प्रशस्त भूमि और परिस्थिति प्रस्तुत हो गयी। वर्तमान काल में इस प्रकार के अंगीकरण का स्पष्ट उदाहरण नेपाल द्वारा प्रस्तुत है जहाँ, विन्सेन्ट स्मिथ के मतानुसार, "हिन्दुत्व का दैत्य अपने शिकार बौद्ध-धर्म को धीरे-धीरे निगलता जा रहा है।"[१]

जैन धर्म

जैन धर्म के प्रचार और प्रसार पर भी अभिलेखों से प्रकाश पड़ता है, यद्यपि अपने आचरण की कठोरता तथा राजकीय संरक्षा के अभाव के कारण यह धर्म कभी देशव्यापी न हो सका। इसका अन्य धर्मों के साथ साधारण सद्भाव रहा। मद्र नामक एक व्यक्ति के सम्बन्ध में उल्लेख है कि उसने जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ स्थापित करते हुए अपने सम्बन्ध में लिखवाया कि उसका हृदय "ब्राह्मणों तथा धार्मिक गुरुओं के प्रति स्नेह से भरा है।"[२]

---

१. E. H. I., चतुर्थ संस्करण, पृ० ३८२।

२. कहौम-स्तम्भ-लेख, C. I. I. ३, नं० १५, पृ० ६५-६८—"द्विजगुरुयतिषु प्रायशः प्रीतिमान् यः"।

धार्मिक दान

इस लोक और परलोक में सुख और पुण्य अर्जित करने के अर्थ साधु उपासक सत्रों को प्रभूत दान करते और ब्राह्मणों को स्वर्ण तथा अग्रहार (ग्राम-दान) देते थे। मूर्तियों तथा मंदिरों के निर्माण और उनके व्यय के चिरकालिक प्रबंध (अक्षय-नीवी) में भी वे दत्तचित्त रहते थे। अक्षय-नीवी के व्याज से बारहों मास मंदिर में दीप जलाने की व्यवस्था की जाती थी। यह तो हुई ब्राह्मण-धर्म-संबंधी दानों की बात परंतु बौद्ध और जैन साम्प्रदायिक दान भी कुछ कम न होते थे। अधिकतर वे बुद्ध तथा तीर्थंकर मूर्तियों की स्थापना के रूप में होते थे। बौद्ध-मतावलम्बी श्रीमान् भिक्षुओं के निवासार्थ विहार बनवाते और उनके आहार तथा वस्त्र का प्रबंध करते थे।

संस्कृत का पुनरुद्धार

ब्राह्मण धर्म के पुनरुज्जीवन के साथ-साथ ही संस्कृत भाषा भी सजग और प्रगतिशील हो उठी। उसका प्रयोग और प्रभाव बढ़ चला। इस भाषा के पुनरुद्धार के मार्ग में रुद्रदामन् का ७२वें (शक ?=१५० ई०) वर्ष का जूनागढ़ वाला शिला-लेख एक मंजिल है। परन्तु वास्तव में गुप्त काल में इस भाषा को गौरव का स्थान मिला और वह राजकीय भाषा का पद ग्रहण कर सकी। सरकारी अभिलेखों तथा सिक्कों के लेखों[1] में निरन्तर संस्कृत का प्रयोग होने लगा। वसुबन्धु तथा दिङ्नाग के से विख्यात बौद्ध दार्शनिक और ग्रन्थकार भी पाली को छोड़कर संस्कृत में ही अपने ग्रन्थ रचने लगे[2]।

साहित्य का विकास

गुप्त काल की साधारणतः ग्रीक इतिहास के पेरिक्लियन युग अथवा इंगलैंड के ऐलिजाबेथन् युग से समता दी जाती है। निःसंदेह इस युग में अनेक प्रतिभाशाली मेधावी हुए जिनके सक्रिय योग ने भारतीय साहित्य की अनेक शाखाओं को विकसित और समृद्ध किया। गुप्त सम्राट् स्वयं सुसंस्कृत थे और विद्या के प्रचार में सयत्न रहते थे। ऊपर प्रयाग-स्तम्भ-लेख में उल्लिखित समुद्रगुप्त की काव्य-प्रतिभा तथा संगीत-कुशलता की चर्चा की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त विविध किंवदन्तियों के नायक विक्रमादित्य के नव-रत्नों की सार्वदेशिक अनुश्रुति से प्रमाणित है कि चन्द्र-गुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के दरबारी मेधावियों की साहित्यिक प्रखरता का कितना गहरा प्रभाव जनता पर पड़ा था। उस राज्यसभा का सबसे देदीप्यमान नक्षत्र

---

१. यह महत्व की बात है कि पुष्यमित्र (लगभग १८५ ई० पू०—१४८ ई० पू०) के समय का छोटा अयोध्यालेख (Ep. Ind., २०, पृ० ५४-५८) सम्पूर्णतः संस्कृत में है। भाषा के प्राचीनतम ज्ञात अभिलेखों में से यह एक है।

२ स्वयं बुद्ध ने संस्कृत के स्थान पर साधारण बोली और समझी जाने वाली जनभाषा ा प्रयोग किया।

प्रसिद्ध कवि और नाटककार (सम्भवतः मालवा का निवासी)[1] कालिदास था। अभाग्यवश उसकी तिथि अभी विवादास्पद है और कुछ विद्वान् अब भी उसका ५७ ई० पू० होना मानते हैं। परन्तु इस बात के प्रबल प्रमाण प्रस्तुत हैं जिनसे सिद्ध होता है कि कालिदास गुप्त काल का था और चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा कुमारगुप्त प्रथम का वह समकालीन था। वास्तव में चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रति अपने रघुवंश में रघु की दिग्विजय में महाकवि ने संकेत किया है। कालिदास का दूसरा महाकाव्य कुमारसम्भव है। इसके अतिरिक्त ऋतुसंहार और मेघदूत काव्य भी उसकी कृतियाँ हैं। मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी तथा शकुन्तला नाम के तीन नाटकों में से अंतिम ने संसार के सबसे विचक्षण साहित्य द्वारा मुक्तकंठ से प्रशंसा पाई है। कालिदास की प्रखर मेधा की ऊँचाई तक और कवि न पहुँच सके तथापि उससे इतर कवियों का भी बाहुल्य गुप्तकाल में था। हरिषेण और वत्सभट्टि भी क्रमशः समुद्रगुप्त तथा कुमारगुप्त द्वितीय के समकालीन थे और प्रशस्तियों के रूप में उनकी सुन्दर रचना के नमूने अभिलेखों में पाए गए हैं। मुद्राराक्षस का रचयिता विशाखदत्त इसी युग का था। इसी प्रकार अमरकोष का रचयिता अमरसिंह, प्रखर-बुद्धि वैद्य धन्वन्तरि और बौद्ध दार्शनिक भी, जिनका उल्लेख पिछले प्रकरण में किया गया है, सम्भवतः इसी काल में हुए।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों ने अपने अनुयायियों की सुविधाओं तथा भावनाओं के ध्यान से तथा उन पर अपना प्रभाव स्थापित करने के अर्थ साहित्य को घटा-बढ़ा कर फिर से संभाला। साहित्य का यह नवीन दृष्टिकोण से एक नया संस्कार था। पुराणों में गुप्त राजकुल का वर्णन सब वृत्तांतों के अंत में आया है जिससे जान पड़ता है कि वे इसी काल में बने। मनुस्मृति भी सम्भवतः तभी प्रस्तुत हुई। याज्ञवल्क्यस्मृति तथा अन्य स्मृतियाँ और 'सूत्रों' पर अनेक भाष्य नई व्यावहारिक (कानूनी) परिस्थितियों के अनुकूल निर्मित हुए। ज्योतिष और गणित के अध्ययन में भी प्रभूत उन्नति हुई और आर्यभट्ट (४७६ ईसवी में जन्म), वराहमिहिर (०५-२७ ईसवी), तथा ब्रह्मगुप्त (जन्म ५९८ ई०) ने वैज्ञानिक साहित्य के इस क्षेत्र की अपनी मेधा के योग से अपूर्व उन्नति की। ये विद्वान् ग्रीक ज्योतिष से अभिज्ञ जान पड़ते हैं क्योंकि इनके ग्रंथ में अनेक ग्रीक लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

शिक्षा

इस काल की बौद्धिक अभिसृष्टि से विदित होता है कि उस युग में प्रचलित शिक्षा की प्रणाली काफी अच्छी रही होगी। अभाग्यवश उस क्षेत्र में हमारा ज्ञान अत्यंत अल्प है। अभिलेखों के अनुसार शिक्षकों को आचार्य तथा उपाध्याय कहते

१. Nagpur University Journal., संख्या ५, दिसम्बर १९३९; श्री केदार ने अपने विद्वत्तापूर्ण लेख, "Kalidasa—His birthplace and date., में महाकवि को शुंगकालीन तथा भागभद्र अथवा भागवत की संरक्षता में होना कहा है। उनका यह भी कहना है कि कालिदास मालवा का निवासी था और उसका जन्म देवगिरि में हुआ था।

थे और जब तब विद्वान ब्राह्मणों को भट्ट की संज्ञा दी जाती थी। दानप्रिय जनता के दानों तथा अग्रहार में मिले गाँवों से उनका व्यय चलता था। धार्मिक अनुयायियों को शिष्य अथवा ब्रह्मचारिन् कहते थे जो शाखाओं और वेद-विशिष्ट शाखा मानने वाले चरणों में विद्योपार्जन के निमित्त प्रस्तुत होते थे[1]। इन शाखाओं में से मैत्रायणीय, तैत्तिरीय, वाजसनेय, और अनेक अन्य शाखाओं का अभिलेखों में उल्लेख हुआ है। अधीत विषयों में १४ विद्याएँ (चतुर्दश-विद्या) प्रामाणिक थीं। इनमें चार वेदों, छः वेदांगों, पुराणों, मीमांसा, न्याय, तथा धर्मशास्त्र की गणना की जाती थी। शालातुरीय व्याकरण (पाणिनि की अष्टाध्यायी) और शतसाहस्री-संहिता अथवा महाभारत का उल्लेख भी उनमें मिलता है। इनके अतिरिक्त धर्मेतर साहित्य में भी शिक्षा दी जाती होगी।

उस काल की शिक्षा-सम्बंधी उदारता का अनुमान इससे भी किया जा सकता है कि बौद्ध विद्या के प्रमुख केन्द्र नालन्दा का प्रारम्भ ५वीं सदी ई० के मध्य में ही शक्रादित्य ने किया। शक्रादित्य सम्भवत: कुमारगुप्त प्रथम था जिसने नालन्दा बौद्ध विहार को दान दिया। नालन्दा की पीठ को फिर नित्यप्रति दान मिलते रहे और बुधगुप्त, तथागतगुप्त, बालादित्य तथा अन्य गुप्त राजाओं ने भी यथासम्भव उस केन्द्र को दान दिए। उस विद्यापीठ में अनेक विषय पढ़ाये जाते थे और धीरे-धीरे उसकी ख्याति इतनी बढ़ी कि देश और विदेश के दूर-दूर के विद्यार्थी अपनी आध्यात्मिक तथा मानसिक पिपासा बुझाने के लिए वहाँ पहुँचने लगे।

गुप्त सिक्के समुद्रगुप्त के प्राचीनतम सिक्के (अथवा चंद्रगुप्त प्रथम के ?) जो तौल में ११८-१२२ ग्रेन हैं, कुषाण सिक्कों की तौल और आकृति के अत्यन्त अनुकूल हैं। सिक्कों पर यह विदेशी प्रभाव गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त कुषाण शब्द 'दीनार' (लेटिन Denarius का अपभ्रंश) शब्द से भी प्रमाणित है। फिर भी चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में, जिसके सिक्कों की तौल १२४ से १३२ ग्रेन तक है, कुषाण अथवा रोमन तौल से अंतर पड़ने लगा था और स्कन्दगुप्त के समय तक पहुँचते-पहुँचते 'सुवर्ण' (१४६ ग्रेन) की सर्वथा हिन्दू तौल स्वीकार कर ली गई। क्षत्रप प्रदेशों की विजय के पश्चात् गुप्तों ने भी ३२ ग्रेन के शक सिक्कों के अनुकरण में अपने चाँदी के सिक्के चलाये, जिनको अंत में स्कन्दगुप्त ने कार्षापण की तौल में ढाला। गुप्तों के तांबे के सिक्के बहुत कम हैं। सम्भवतः इस कारण कि, जैसा फाह्यान ने लिखा है, अल्पमात्रिक क्रय-विक्रय में कौड़ियों का प्रयोग होता था।

वास्तु

गुप्त शासन में वास्तु-शिल्प को बहुत प्रोत्साहन मिला, यद्यपि इस काल की इमारतें अनेक कारणों से आज अवशिष्ट न रह सकीं। गुप्त काल की अधिकतर इमारतें प्रकृति के कोप से विनष्ट हो गईं; कुछ के अवशेषों से लोगों ने अपने मकान

---

1. कुछ लोगों का यह मत भी है कि शाखा और चरण अब तक लुप्त हो चुके थे।

वना डाले; और जो इस्लाम की सेना के राह में पड़ीं उनको उन्होंने अपनी कट्टरता के जोश में भूमि में मिला दिया। अतः हमारा ज्ञान केवल अत्यंत अल्पसंख्यक अवशेषों के आधार पर निर्मित है और ये अवशेष भी साधारणतः मंदिरों के हैं। विन्सेंट स्मिथ ने दो मंदिरों का उल्लेख किया है—इनमें से एक देवगढ (झाँसी जिला) का है जिसकी दीवारों में सुंदर मूर्तियाँ बैठाई हुई हैं। और दूसरा भीतर-गाँव (कानपुर जिला) में है जो अपनी मृण्मूर्तियों की अद्भुत कला के लिए प्रसिद्ध है[1]। इस संबंध में अजन्ता के दरीगृहों का भी उल्लेख किया जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि वे अधिकतर विविध युगों में ठोस चट्टान काट कर बनाए गए, परंतु यह भी सही है कि इनमें से कुछ गुप्त काल में ही खोदे गए और ये उस युग की असाधारण वास्तु कुशलता प्रमाणित करते हैं।

तक्षण-कला (भास्कर्य)

सारनाथ और अन्य स्थानों के उत्खनन से उपलब्ध सामग्री से प्रमाणित है कि गुप्त काल में भास्कर्य की कला असाधारण उन्नति कर चुकी थी। इस युग में तक्षण-कला ने गंधार शैली से अपनी स्वतंत्रता सर्वथा घोषित कर दी। इस काल की बुद्ध प्रतिमायें अलंकृत प्रभा-मंडलों, सटे हुए त्रिचीवरों तथा केश के सर्वथा नवीन प्रसाधन से युक्त हैं। सारनाथ में उपलब्ध अनेक गुप्तकालीन मूर्तियों में सबसे सुंदर और आकर्षक धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा में आसीन बुद्ध की प्रतिमा है। इसके अतिरिक्त तथागत के जीवन की घटनाएँ और पौराणिक कथाएँ अद्भुत सफाई और शक्ति से उत्कीर्ण हैं। आमतौर से गुप्त कलावंतों की कृतियाँ अपनी सजीवता, सादगी, गति, तथा 'टेकनीक' की उत्तमता में विशिष्ट हैं।

चित्रकला

चित्रकला के क्षेत्र में भी इस काल में प्रभूत उन्नति हुई जैसा अजंता दरी-गृहों (हैदराबाद रियासत) के भित्ति-चित्रों से प्रमाणित है। ये दरी-गृह समय के प्रसार से प्रथम शती से सप्तम तक के हैं और इस कारण इनमें से कुछ गुप्तकालीन हैं। एक विशेषज्ञ की राय में[2] अजंता की कला "कृति में इतनी पूर्ण, परम्परा में इतनी निर्दोष, अभिप्राय में इतनी सजीव तथा विविध, और आकृति तथा वर्ण के सौंदर्य में इतनी प्रसन्न है" कि उसे संसार की सर्वोत्तम कला-कृतियों में बरबस गिनना पड़ेगा। ग्वालियर रियासत के बाग के दरीगृहों में भी अजंता की शैली का प्रसार हुआ और वहाँ भी चित्रण-कला के सुंदर नमूने अंकित हैं।

धातु-कार्य

गुप्तकालीन शिल्पी धातु-कार्य में भी परम निपुण थे। यह ताँबे की अनेक विशाल बुद्ध प्रतिमाओं तथा दिल्ली के निकट मेहरौली के लौह स्तम्भ से सिद्ध है। इस स्तम्भ से धातु-कार्य में गुप्तकालीन दक्षता सिद्ध है और आश्चर्य का विषय तो

१. Ox. Hist. Ind., पृ० १६१।
२. ग्रिफिथ, The Paintings of the Buddhist Caves of Ajanta पृ० ७।

यह है कि सदियों धूप और वर्षा में खड़े रहने के बावजूद भी उसमें आज तक जंग न लगा।

इस सक्रियता के कारण

गुप्तकालीन संस्कृति का सिंहावलोकन हम कर चुके। सहज ही यह प्रश्न उठता है कि इस बौद्धिक और कलात्मक अभिसृष्टि के कारण क्या थे? विन्सेन्ट स्मिथ का मत है कि इसका कारण "भारत का विदेशी सभ्यताओं से संपर्क था।"[१] इसमें संदेह नहीं और यह अप्रयास मानना होगा कि सचमुच उस काल भारत चीन तथा पश्चिमी जगत् के सम्पर्क में निरन्तर आता रहा। फाह्यान की भाँति धार्मिक यात्री प्रायः अविच्छिन्न प्रवाह में बुद्ध के देश को आते रहे; और भारत भी कुमारजीव (३८३ ई०) के-से विद्वान् भिक्षुओं को चीनी साम्राज्य में धार्मिक दौत्य के अर्थ भेजता रहा। इसके अतिरिक्त गुप्तसीमा के सौराष्ट्र तथा गुजरात तक पहुँच जाने से भारत का पश्चिम के साथ व्यापार प्रभूत मात्रा में बढ़ा, जिससे यह विश्वास किया जाता है कि पश्चिमी जगत् के विभिन्न विचारों के संपर्क में भारत निरंतर आता रहा और भारतीय मेधा पर उसकी विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया होती रही। परंतु निःसंदेह इस सर्वतोमुखी उन्नति के लिए प्रोत्साहन गुप्त सम्राटों की उदार सांस्कृतिक नीति से ही मिला। कला और विद्या-सम्बन्धी उनकी उदार संरक्षता से ही इस प्रकार के ओजस्वी और देदीप्यमान परिणाम सम्भूत हो सके।

प्रकरण २

वाकाटक

उनकी महत्ता

वाकाटकों का राजकुल गुप्तों के समकालीन सबसे शक्तिमान् राजवंशों में से एक था। उनके अभिलेखों तथा पुराणों से सिद्ध है कि अपने उत्कर्ष काल में उनका प्रभुत्व सम्पूर्ण बुन्देलखंड, मध्यप्रदेश, बरार, आसमुद्र उत्तरी दक्कन के ऊपर था। इसके अतिरिक्त दुर्बल पड़ोसी राज्यों के ऊपर भी उनका आधिपत्य प्रतिष्ठित था।

वाकाटकों का मूल और उनके नाम की व्युत्पत्ति

डा० जायसवाल के मतानुसार वाकाटक शक्ति का प्रारंभ बुन्देलखंड से हुआ। उनका मूल निवास वाकाट में था जो ओरछा रियासत के बगाट नामक

---

१. E. H. I., च० सं०, पृ० ३२४। चीन और पश्चिमी देशों के अतिरिक्त भारत मलय प्रायद्वीप तथा द्वीपों के व्यापार सम्पर्क में भी आया और वे भारत के उपनिवेश बने। जावा, कम्बोडिया, सुमात्रा और अन्य देशों के वास्तु तथा भास्कर्य-संबंधी अवशेषों पर गुप्त शैली की स्पष्ट और गहरी छाप है।

स्थान के नाम में आज भी सुरक्षित है।[१] यह भी बतलाया गया है कि वाकाटक ब्राह्मण वर्ण के थे क्योंकि अजन्ता के अभिलेख[२] में इस राजकुल के प्रतिष्ठाता को 'द्विज' कहा गया है। परंतु यह प्रमाण सर्वथा ग्राह्य इसलिए नहीं है कि द्विज शब्द का प्रयोग क्षत्रिय राजा के संबंध में भी हो सकता था।

इस राजकुल के मुख्य राजा

इस कुल की शक्ति का प्रतिष्ठाता विन्ध्यशक्ति था। तृतीय शती ईस्वी के चतुर्थ चरण के लगभग उसने अपनी सत्ता स्थापित की। उसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम (पुराणों का प्रवीर), जैसा उसके विरुद 'सम्राट्' से जान पड़ता है, विशेष शक्तिशाली हुआ। उसने चार अश्वमेधों और वाजपेय तथा वृहस्पति-सत्र आदि के अनुष्ठान किए। उसके पुत्र गौतमीपुत्र ने भारशिव राजा भवनाग की कन्या से विवाह किया, परंतु वह राजगद्दी पर न बैठ सका। प्रवरसेन प्रथम के पश्चात् उसका पौत्र रुद्रसेन प्रथम राज्यारूढ़ हुआ। यह समुद्रगुप्त द्वारा पराजित प्रयाग-स्तंभ-लेख का रुद्रदेव माना गया है। इसके बाद मध्यभारत के स्वामी गुप्त सम्राट् हो गए जिससे वाकाटकों का शक्ति-केंद्र दक्षिण की ओर हट गया। रुद्रसेन प्रथम के पुत्र और उत्तराधिकारी पृथ्वीसेन ने कुंतल (उत्तर कनाडा) पर अधिकार किया। उसके पुत्र रुद्रसेन द्वितीय ने कुबेरनागा से उत्पन्न चंद्रगुप्त द्वितीय की कन्या प्रभावती गुप्ता को ब्याह कर कुल का गौरव बढ़ाया। इस प्रकार गुप्त और वाकाटक कुल संबंधी हो गए और इस संबंध से निस्संदेह गुप्तों को पश्चिमी भारत के शकों की विजय में बड़ी सहायता मिली होगी। यह विवाह संबंध वाकाटक तिथि-शृंखला की एक निश्चित कड़ी है। अपने पति की मृत्यु के उपरांत प्रभावती गुप्ता अपने पुत्रों की अभिभाविका बनी और उनकी ओर से उसने स्वयं शासन किया। उसके पश्चात् अनेक नगण्य राजाओं ने राज्य किया। पाँचवीं सदी के अंत के लगभग वाकाटक कुल का राजदंड हरिषेण वाकाटक के सशक्त करों में आया। उसे अनेक प्रदेशों का विजेता कहा गया है। उसके विजित प्रांतों में निम्नलिखित का उल्लेख हुआ है : अवन्ति (मालवा), कलिंग (महानदी और गोदावरी का मध्यवर्ती प्रदेश), कोशल (महाकोशल अथवा पूर्वी मध्य प्रदेश), त्रिकूट (संभवतः कोंकण), लाट (दक्षिण गुजरात), और आंध्र (गोदावरी और कृष्णा के बीच का देश)। यदि इस परिगणन को साधार माना जाए तो हरिषेण वाकाटक ने पश्चिमी और पूर्वी समुद्र के बीच की सारी भूमि जीत ली। परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह विजय दीर्घकालिक हुई। छठी शती ईस्वी

---

१. J. B. O. R. S., मार्च-जून, १९३३, पृ० ६७।

२. अजंता में अनेक वाकाटक अभिलेख पाए गए हैं जिनसे इन दरीगृहों की तिथि निश्चित करने में सुविधा हुई है। देखिए, विन्सेंट स्मिथ : J. R. A. S., १९१४, पृ० ३१७-३८ (बरार के वाकाटकों के संबंध में); गोविंद पाई, Genealogy and Chronology of the Vakatakas, Jour. Ind. Hist. १४, (१९३५), पृ० १-२६, १६५-२०४।

के द्वितीय चरण के लगभग दक्षिण में कलचुरियों के उदय से वाकाटकों की शक्ति सर्वतः क्षीण हो गई।

प्रकरण ३

हूण और यशोधर्मन्

हूण-संक्रमण

ह्युंग-नू अथवा संस्कृत साहित्य तथा अभिलेखों के हूण पहले पहल प्रायः १६५ ई० पू० इतिहास के स्पष्ट आलोक में आए। उन्होंने उत्तर-पश्चिमी चीन के निवासी यूह्-ची जाति को परास्त कर उसे स्वदेश छोड़ने को बाध्य किया। कालांतर में स्वयं हूण भी नयी चरागाहों और आहार की खोज में पश्चिम की ओर चल पड़े। उनकी एक शाखा वक्षुनद की घाटी की ओर बढ़ी और ये-थ-इ-ली अथवा एफ़्थलाइट (रोमन लेखकों के श्वेत हूण) नाम से विख्यात हुई। दूसरी शाखा धीरे-धीरे यूरोप पहुँची जहाँ की जनता की स्मृति में उनके हृदय-विदारक क्रूरकर्म चिरकाल तक बने रहे। दक्षिण-पूर्वी यूरोप को उन्होंने रक्त से लाल और अग्नि से काला कर दिया। पाँचवी सदी ईस्वी के प्रायः दूसरे दशक में वे वक्षुनद से दक्षिण की ओर बढ़े और अफगानिस्तान तथा उत्तर-पश्चिमी दर्रों को लांघकर अन्त में भारत पहुँचे। जैसा पिछले अध्याय में बताया गया है, गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर उन्होंने ४५८ ई० के पूर्व आक्रमण किया परंतु स्कंदगुप्त की समर-दक्षता तथा विक्रम से अभिभूत होकर उन्हें लौटना पड़ा। भितरी के स्तंभ लेख में खुदा है कि "जब समर की घनता में वह हूणों से जा टकराया तब उसने भुजाओं से पृथ्वी हिला दी···।"[1] इसके पश्चात् कुछ काल तक भारत हूणों के भय से मुक्त रहा। उधर फारस के सस्सानी नृपतियों से उनका संघर्ष चलता रहा। ४८४ ई० में उन्होंने फिरोज को परास्त कर मार डाला और इस फारसी अवरोध के टूट जाने पर फिर एक बार भारत के क्षितिज पर मेघ उमड़ने लगे। अनंत संख्या में टिड्डी-दल की नाईं हूणों की धाराएँ भारत पर टूट पड़ीं और उन्होंने गुप्त-साम्राज्य की रीढ़ तोड़ दी। इन नए हूण आक्रमणों का नेता संभवतः राजतरंगिणी, अभिलेखों तथा सिक्कों में उल्लिखित तोरमाण है। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि उसने गुप्त साम्राज्य के बड़े-बड़े प्रांत छीन लिए और अंत में मध्य भारत तक अपनी प्रभुता स्थापित की। इस प्रदेश की विजय गुप्त संवत् १६५=४८४-८५ ई० के बाद ही कभी हुई होगी जब महाराज मातृविष्णु बुध-

गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण

तोरमाण

1. C. I. I., ३, पृ० ५४-५५।

गुप्त[1] के सामंत की हैसियत से राज्य कर रहा था। परंतु यह विजय उसी पीढ़ी में सम्पन्न हो चुकी होगी क्योंकि उसी सामंत-राज का भ्राता धन्यविष्णु शीघ्र तोरमाण का सामंत हो गया। धन्यविष्णु द्वारा प्रतिष्ठित वराह-विष्णु की मूर्ति की प्रतिष्ठा तोरमाण के प्रथम शासन-वर्ष में हुई थी जिससे उसकी हूणराज की अधीनता प्रमाणित है।[2] जिस 'अतिप्रसिद्ध रण' में भानुगुप्त के सेनानी गोपराज ने गुप्त संवत् १९१=५१० ई०[3] के एरण लेखानुसार अपने प्राण खोए, वस्तुतः वह युद्ध इसी हूणराज के साथ हुआ था। मालवा की क्षति गुप्त शक्ति पर वज्रपात सिद्ध हुई क्योंकि वह मगध तथा उत्तर बंगाल तक ही अब सीमित रह सका।

मिहिरकुल

तोरमाण के पश्चात् उसका पुत्र मिहिरकुल (गुल) हूणों का राजा हुआ। अनुश्रुतियों से वह अत्यंत क्रूर जान पड़ता है। नृशंसता उसके लिए मनोरंजन का साधन थी। युवान-च्वांग लिखता है कि उसने (मो—हि—लो—कि—लो) शांतिप्रिय बौद्धों पर अत्याचार किए और उनके स्तूपों तथा विहारों को लूटकर उन्हें नष्ट कर दिया। उसने बालादित्य पर आक्रमण किया परंतु बालादित्य ने उसे परास्त कर बंदी कर लिया किंतु फिर मुक्त कर दिया। मिहिरकुल ने तब कश्मीर में आश्रय लिया जहाँ के राजा ने उसकी बड़ी आवभगत की परंतु उस कृतघ्न ने अपने आतिथ्य तथा आश्रयदाता की उदारता का दुरुपयोग किया और अवसर पाते ही कश्मीर की गद्दी स्वायत्त कर ली। मिहिरकुल अपनी दुर्जित शक्ति दीर्घकाल तक न भोग सका। वर्ष भर के भीतर ही दैवी प्रकोप से उसका निधन हो गया। चीनी यात्री के इस लौकिक वक्तव्य की किम्वदंतियों से सत्य को पृथक् करना कठिन है। बालादित्य कौन था इसका भी सत्यतः पता नहीं। उसके संबंध में केवल इतना अवश्य है कि वह नरसिंह बालादित्य नहीं है। नरसिंह बालादित्य ने ४७३ ई० (१५४ गुप्त संवत्), जो उसके उत्तराधिकारी कुमारगुप्त द्वितीय की तिथि है, के पूर्व राज्य किया था। उस काल वस्तुतः बालादित्य प्रचलित विरुद था और जीवितगुप्त द्वितीय के देव-बरणार्क-अभिलेख[4] तथा प्रकटादित्य के सारनाथ-लेख[5] में बालादित्य-विरुदधारी अनेक राजाओं का उल्लेख है। राखालदास बनर्जी ने युवान-च्वांग के इस बालादित्य को इन्हीं में से एक माना है[6] जो सही हो सकता है। बालादित्य के अन्य कृत्यों का हमें ज्ञान नहीं परंतु यह निस्संदेह है कि उसने मिहिरकुल के आक्रमण को व्यर्थ कर दिया और उसे परास्त कर लौटा दिया।

---

१. वही, नं० १९, पृ० ८८-९०।
२. वही, नं० ३६, पृ० १५८-६१।
३. वही, नं० २०, पृ० ९१-९३ ई०।
४. वही, ३. नं० ४६, पृ० २१३-१८।
५. वही, नं० ७९, पृ० २८४-८६।
६. Prehistoric, Ancient and Hindu India, पृ० १९४।

यशोधर्मन्

अब हम यहाँ पश्चिमी मालवा के मन्दसोर-स्तंभ-लेख द्वारा प्रस्तुत सामग्री पर विचार करेंगे। इसमें जनेन्द्र यशोधर्मन् का यशोगान है। उसमें लिखा है कि उस नृपति ने अपने राज्य की सीमाओं को लाँघ कर उन देशों की विजय की जिन्हें गुप्तों तक ने न भोगा था:···और उसने ऐसे देशों पर भी आक्रमण किए जिनमें हूण तक प्रवेश न कर सके थे !"[1] लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से महेन्द्र पर्वत तथा हिमालय से पश्चिमी सागर तक के सारे राजा उसकी अर्चना करते थे। इससे भी महत्वपूर्ण वक्तव्य यह है कि प्रसिद्ध हूणपति मिहिरकुल ने "उसके चरणों का मस्तक से स्पर्श कर"[2] उसकी अभ्यर्थना की। हूणपति का पराभव ५३२-३३ ई० के शीघ्र ही बाद हुआ होगा क्योंकि विक्रम संवत् ५४९ के मन्दसोर के उसके एक अन्य प्रशस्ति-लेख[3] में मिहिरकुल के संबंध में कोई उल्लेख नहीं। अब प्रश्न यह है कि इस अभिलेख की सामग्री तथा युवान-च्वांग के वक्तव्य में सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाए ? विन्सेन्ट स्मिथ का यह मत कि यशोधर्मन् और बालादित्य ने हूणराज के मुकाबले के लिए संघ बनाया, मौलिक सूझ हो सकता है पर नितांत निराधार है और उस पर निर्भर नहीं किया जा सकता। उससे सुन्दर सुझाव यह है कि मिहिरकुल दो बार परास्त हुआ, एक बार तो मगध की ओर बालादित्य द्वारा, दूसरी बार मध्य भारत में यशोधर्मन् द्वारा। मिहिरकुल की शक्ति वस्तुतः इसी यशोधर्मन् ने नष्ट की। निस्संदेह युवान्-च्वांग ने इच्छापूर्वक तथ्य को विकृत नहीं किया है। या तो उसको सूचना गलत मिली थी या अपने धर्मबंधु बालादित्य का यश-विस्तार करने के अर्थ उसने ऐसा लिखा।

मिहिरकुल की मृत्यु

मिहिरकुल की मृत्यु की ठीक तिथि निश्चित नहीं है परंतु यदि वह अलेग्जेन्ड्रिया के भिक्षु कास्मस इंडिकोप्ल्युस्टेस द्वारा ५४७ ई० में लिखे 'भारत का स्वामी' गोल्लस् ही है तो कुछ आश्चर्य नहीं कि उस तिथि तक उसका अधिकार अल्पसीम भूभाग पर बना रहा हो। मिहिरकुल के पश्चात् हूणों में कोई शक्तिमान् नृपति नहीं हुआ। परंतु अभिलेखों तथा साहित्यिक संदर्भों से यह पूर्णतः प्रमाणित है कि सदियों बाद तक हूण उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थिति में एक शक्ति बने रहे। धीरे-धीरे हिंदू राहु ने उन्हें ग्रस लिया।

---

१. यशोधर्मन् का मंदसोर-लेख, C. I. I., ३, नं० ३३, पृ० १४६, १४८ :—
ये भुक्ता गुप्तनाथैर्न सकलवसुधाक्रांतिदृष्टप्रतापै-
र्नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपतिमुकुटाध्यासिनी यान्प्रविष्टा।

२. वही। चूडापुष्पोपहारैर्मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्।

३. C. I. I., ३, नं० ३५, पृ० १५०-५८।

प्रकरण ४

वलभी के राजा[1]

राजकुल की प्रतिष्ठा

यद्यपि स्कंदगुप्त ने हूणों को आरंभ में परास्त कर दिया परंतु उनके आक्रमणों ने अंत में उन परिस्थितियों को प्रस्तुत कर ही दिया जो भारत में साम्राज्य-केन्द्र के दुर्बल अथवा शिथिल हो जाने पर सर्वदा साम्राज्य को नष्ट करती रही हैं। केन्द्रीय शक्ति के शिथिल हो जाने पर सौराष्ट्र का प्रांत गुप्त-साम्राज्य से पृथक् हो कर सबसे पहले स्वतंत्र हुआ। वहाँ सेनापति भट्टारक ने वलभी (भावनगर के समीप वाला) में पाँचवीं सदी के अंतिम चरण में नया राजकुल स्थापित किया।

मूल

सेनापति भट्टारक के मूल पूर्वजों के संबंध में विद्वानों का मत निश्चित नहीं। परंतु यह चाहे मैत्रक जाति (आधुनिक मेर अथवा मेहेर) का रहा हो अथवा मैत्रक उसके कुल-शत्रु[2] रहे हों, यह निश्चित है कि भट्टारक सर्वथा भारतीय था, विन्सेंट स्मिथ के मतानुसार ईरानी नहीं।[3]

शक्ति का विकास

इस राजकुल के अनेक अभिलेख मिले हैं और इन सब में गुप्त अथवा गुप्त-वलभी संवत् में तिथियाँ दी हुई है। परंतु इनमे केवल नामों की एक शृंखला प्राप्त होती है, ऐतिहासिक और राजनीतिक सामग्री नहीं। जान पड़ता है कि इस कुल के प्रारम्भिक नृपति पूर्णतः स्वतंत्र न थे[4], क्योंकि इस राजकुल का प्रतिष्ठाता और उसका उत्तराधिकारी धरसेन प्रथम दोनों केवल 'सेनापति' कहे गए हैं, और भट्टारक के तीन पुत्र द्रोणसिंह, ध्रुवसेन प्रथम और धरपट्ट, जो क्रमशः शासन करते हैं, महाराज मात्र का विरुद धारण करते हैं। परंतु यह स्पष्ट नहीं है कि उन्होंने किसका आधिपत्य अंगीकार किया था। क्या उन्होंने कुछ काल तक गुप्त परम्परा ही जीवित रखी? अथवा वे उन हूणों के अधीन रहे जो धीरे-धीरे पश्चिमी और मध्य एशिया के स्वामी बन गये थे? इस राजकुल की शक्ति शनैः-शनैः बढ़ी और ध्रुवसेन द्वितीय तक उसकी प्रभुता अपने पड़ोस में सर्वत्र फैल गई। यह काल ध्रुवसेन द्वितीय का था। इसके शासन-काल में युवान-च्वांग वलभी आया और उसके सम्बन्ध में उसका वक्तव्य इस प्रकार है: "राजा जन्म से क्षत्रिय था और मो-ला-पो (मालवा) के पूर्ववर्ती राजा शीलादित्य का भतीजा तथा कान्यकुब्ज के शीलादित्य का जामाता था; उसका नाम तु-लो-पो-पो-ता (ध्रुवभट) था; उसके विचारों में न गहराई थी और न दूरदर्शिता

ध्रुवसेन द्वितीय

१. देखिए, एन० रे: The Maitrakas of Valabhi, Ind. Hist. Quart., खण्ड ४ (१९२८) पृ० ४५३-७४।

२. संस्कृत समस्तपदों के विश्लेषण की कठिनता से मतान्तर हुए हैं।

३. Ox. Hist. Ind., पृ० १६४; आश्चर्यजनक बात तो यह है कि मैत्रक हूणों के साथ ही साथ सहसा विख्यात हो उठते हैं। उनका उनसे जातीय संबंध तो न था?

४. उदाहरणतः मलिय ताम्रपत्र में लिखा है कि महाराज द्रोणसिंह "स्वयं अधिपति स्वामी द्वारा" अभिषिक्त हुआ था (C. I. I., ३, नं० ३८, पृ० १६५, १६८)।

परंतु बौद्ध धर्म में उसकी आस्था गहरी थी[१]।" यदि इस वक्तव्य का शीलादित्य वलभी का शीलादित्य धर्मादित्य(लगभग ५९५-६१२ ई०)है, जैसा प्रायः निश्चित जान पड़ता है, तब यह निष्कर्ष युक्तिसंगत होगा कि मालवा अथवा उसका पश्चिमी भाग इस के शासन काल में वलभी की अधीनता स्वीकार कर चुका था। यह भी विदित है कि कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने ध्रुवसेन द्वितीय अथवा ध्रुवभट पर आक्रमण किया था, और ध्रुवभट आरम्भ में हार कर भागा और उसने भँड़ोच के दद्दा द्वितीय के यहाँ शरण ली। परन्तु अन्त में उसने अपनी शक्ति और गद्दी दद्दा की सहायता से फिर प्राप्त कर ली। कम से कम यह निश्चित है कि युवान-च्वांग के समय में वही वलभी की गद्दी पर था। अपने शत्रु हर्ष की कन्या का पाणि-ग्रहण करके बाद में ध्रुवभट राजनैतिक मित्र तथा जामाता की हैसियत से उसके प्रयाग के उत्सव में शामिल हुआ।[२] वलभी का दूसरा राजा ध्रुवसेन द्वितीय का

धरसेन चतुर्थ

पुत्र धरसेन चतुर्थ हुआ जो शक्तिमान नृपति ज्ञात होता है। उसने परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर और चक्रवर्तिन् आदि विरुद धारण किये। उसका एक दान गुप्त संवत् ३३०=६४९ ईस्वी में भरुकच्छ अथवा भँड़ोच के विजयस्कंधावार से दिया गया है, जिससे प्रकट होता है कि उसने अपने राज्य का विस्तार गुर्जरों के प्रांत जीत कर किया और उसका अधिपति बन बैठा[3]। संभवतः इसी काल कवि भट्टि ने अपना प्रसिद्ध

पश्चात्कालीन इतिहास

काव्य[४] लिखा। यह राजकुल धरसेन चतुर्थ के एक सदी बाद तक शासन करता रहा। इसके अंतिम राजा शीलादित्य सप्तम की आखिरी जानी हुई तिथि गुप्त संवत् ४४७=७६६ई० है। परंतु इन पश्चात्कालीन राजाओं के संबंध में हमारा ज्ञान प्रायः कुछ नहीं है। वलभी का महत्व फिर भी सर्वथा लुप्त न हुआ और सातवीं सदी के चतुर्थ चरण में ईत्-सिंग ने नालन्दा की भाँति पश्चिमी भारत में इसे भी विद्या का विशाल केन्द्र पाया। अपने उत्कर्ष-काल में भी इस राज्य की सीमायें सौराष्ट्र तथा मालवा के कुछ भागों के बाहर न जा सकीं। और प्रायः तीन सदियों तक जीवित रह कर यह राष्ट्र सिंध की ओर से अरब हमलों का शिकार हो गया।

प्रकरण ५

मगध के उत्तरकालीन गुप्त

आदित्यसेन के अफसाड (गया जिला) लेख[५] और जीवितगुप्त द्वितीय के देव-बरणार्क (शाहाबाद जिला) लेख[६] से गुप्त राजाओं के एक नए राजकुल का

---

१. वाटर्स, २, पृ० २४६; बील, २, पृ० २६७, Life, पृ० १४६।
२. देखिए पीछे, यथा स्थान।
३. खेडा (खैरा) दानपत्र—Ind. Ant., १५ (१८८६), पृ० ३३५-४०।
४. काव्यं रचितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
५. C. I. I., ३, नं० ४२, पृ० २००-२०८।
६. वही, नं० ४६, पृ० २१३-१८।

पता चलता है जिन्हें आधुनिक इतिहासकार उत्तरकालीन-गुप्त कहते हैं। इस राजकुल का प्रतिष्ठाता कृष्णगुप्त था परन्तु अभाग्यवश सम्राट्-गुप्त कुल से उसका संबंध कहीं उल्लिखित नहीं है। उसके दोनों उत्तराधिकारियों, हर्षगुप्त और जीवितगुप्त प्रथम, ने मगध में भानुगुप्त की मृत्यु और ६११ (मालव सम्वत्)=५५४ईसवी के बीच कुमारगुप्त तृतीय के समय में ही राज्य किया होगा। यह तिथि हमें ईशानवर्मन् मौखरी के हरहा लेख[१] से मिलती है। यह राजा अफसाड लेख में कुमारगुप्त तृतीय द्वारा पराजित कहा गया है। इस विजय के बाद कुमारगुप्त ने अपनी राज्य सीमा सम्भवतः प्रयाग तक बढ़ा ली क्योंकि, जान पड़ता है, उसका दाह-संस्कार उसी तीर्थ-स्थान में हुआ[२]। इस राजकुल का दूसरा राजा दामोदरगुप्त अपने समकालीन मौखरी द्वारा पराजित हुआ[३] और मगध अथवा उसके बड़े भाग को विजेता ने अपने राज्य में मिला लिया। हर्षचरित से ज्ञात होता है कि दामोदरगुप्त का पुत्र महासेनगुप्त पूर्वी मालवा चला गया, जो प्रदेश, जैसा कि परिव्राजक महाराजों के अभिलेखों से सिद्ध है, अभी तक गुप्तों के आधिपत्य में था[४]। वहाँ महासेनगुप्त ने अपनी शक्ति संगठित की और वह सुस्थितवर्मन् के विरुद्ध लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) तक जा पहुंचा[५]। उसके पुत्र देवगुप्त ने बंगाल के शशांक के साथ मैत्री करके कन्नौज के गृहवर्मन् मौखरी पर आक्रमण किया और उसे मार डाला। इस हत्या का बदला राज्यवर्धन ने शीघ्र ले लिया और उसने भी देवगुप्त को परास्त कर सम्भवतः मार डाला। इस कुल का एक वंशज माधवगुप्त बाद में हर्षवर्धन द्वारा मगध में प्रतिनिधि शासक नियुक्त हुआ जिससे वह शशांक के आक्रमण का प्रतिरोध कर सके। माधवगुप्त का पुत्र आदित्यसेन, जो जैसा शाहपुर प्रस्तर-मूर्ति के अभिलेख[६] से जान पड़ता है हर्ष संवत् ६६=६७२ ई० में जीवित था, प्रबल सिद्ध हुआ और हर्ष की मृत्यु के बाद उसने अपने राजकुल को उत्कर्ष की चोटी तक पहुंचाया। पूर्णतः स्वतन्त्र होकर उसने सम्राटों के विरुद्ध धारण किए और अश्वमेध का अनुष्ठान किया। उसने अपनी प्रशस्ति में गर्वपूर्वक अपने को "आसमुद्र-क्षितीश" कहा

१. Ep. Ind., १४, पृ० ११०-२०।

२. C. I. I., नं० ३ पृ० २०६,। निःसंदेह इस तर्क में बहुत बल नहीं है।

३. अफ़साड लेख से विदित होता है कि दामोदरगुप्त "मौखरी की बढ़ती हुई शक्तिमान गजों की दृप्त पंक्ति को तोड़कर स्वयं संज्ञाहीन हो गया (और युद्ध भूमि में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ)" (C. I. I., ३, पृ० २०३, २०६, पंक्ति ८)। इसमें संदेह नहीं कि दामोदरगुप्त की विजय का यह उल्लेख केवल पारस्परिक प्रशस्तिवाचक है। वास्तव में इस युद्ध का परिणाम उसके विरुद्ध था और वह स्वयं उस युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुआ था।

४. महाराज संक्षोभ के गुप्त संवत् २०९ वाला खोह-पत्रलेख (C. I. I., ३ नं० २५, पृ० ११२-१६), उच्छकल्प महाराज सर्वनाथ के गुप्त संवत् २१४ वाला खोह-पत्र-लेख (वही, नं० ३१, पृ० १३५-३९; Ep. Ind., १५, पृ० १२५)।

५. C. I. I., ३, नं० ४२, पृ० २०३-२०६, पंक्तियाँ १०-११।

६. C. I. I., ३, नं० ४३, पृ० २०९-१०।

है। उसके बाद इस कुल के राजा दुर्बल हुए[१] और अन्तिम नृपति जीवितगुप्त द्वितीय की मृत्यु के बाद मगध की शक्ति कुछ काल के लिए लुप्त हो गई।

प्रकरण ६

मौखरी[२]

प्राचीनता

मौखरिकुल गुप्त सम्राटों की शक्ति के ह्रास के बाद प्रसिद्ध हुआ। परन्तु इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि इस राजकुल का "ज्ञान सम्भवत: पाणिनि और पतञ्जलि तक को था"। मौखरियों की प्राचीनता एक मिट्टी की मोहर से भी प्रमाणित है, जिस पर मौर्य ब्राह्मी में "मौखलीएं" अर्थात् मौखलियों (मौखरियों) का" लिखा है।[३]

मूल

मौखरियों का मूल अनिश्चित है। हर्षचरित इस शब्द की व्युत्पत्ति मुखर[४] शब्द के आधार पर करता है। परंतु हरहा लेख के अनुसार वे "उन सौ पुत्रों के वंशज थे जिन्हें राजा अश्वपति ने वैवस्वत (मनु) से पाया था"[५]। उनका आदि जनक चाहे जो भी रहा हो हरहा लेख और उनके नामों के अन्त्य "वर्मन्" से इतना निश्चित जान पड़ता है कि वे क्षत्रिय थे[६]।

उनकी शाखाएं

उत्तर भारत की राजनीति में दीर्घ काल तक मौखरियों का दबदबा बना रहा। कोटा रियासत[७] से प्राप्त तीन छोटे लेखों से प्रकट है कि मौखरियों की एक सामन्त शाखा महासेनापति नाम से वहाँ राज्य करती रही। उनकी तिथि कृत (मालव् ?) संवत् २९४=२३८ ईस्वी (?) दी हुई है। बराबर तथा नागार्जुनी पहाड़ी अभिलेखों[८] म तीन मौखरी, सभवत: गुप्तों के, अधीनस्थ सामंतों के नाम मिलते हैं ये लेख पाँचवीं शती की लिपि में खुदे हैं। परन्तु मौखरियों की प्रबलतम शाखा कन्नौज की थी। इस शाखा के प्रथम तीन राजाओं का उत्तरकालीन गुप्तों

१. इन राजाओं में से महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्री-विष्णुगुप्त का एक लेख अभी हाल मंगरांव (बक्सर, शाहाबाद जिला) में पाया गया है। यह उस राजा के शासन काल के १७वें वर्ष का है। इसे डा० अल्तेकर ने संम्पादित किया है।

२. देखिये, मेरी History of Kanouj, अध्याय २, पृ० २०-६०।

३. Arch. Surv. Ind. Rep., १५, पृ० १६६।

४. हर्षचरित, कावेल और थामस का अनुवाद, पृ० १२८।

५. Ep. Ind., १४, पृ० ११९, श्लोक ३।

६. यदि गया जिले के मौखरी, जो वैश्य हैं, मौखरियों के आधुनिक प्रतिनिधि हैं, जैसा जायसवाल का मत है (देखिए, The Kaveri, the Maukharis and the Sangam Age, पृ० ८०, नं० १) तो निश्चित है कि वे सम्भवत: अपने राज्य के लोप अथवा वृत्ति के परिवर्तन के कारण समाज में निम्नवर्णीय हो गये थे।

७. Ep. Ind., २३, नं० ७, पृ० ४२-५२।

८. C. I. I., नं० ४८-५०, पृ० २२१-२८।

के साथ विवाहसम्बन्ध था और संभवतः वे उनके अधीन भी थे। ईशानवर्मन् और सर्ववर्मन् के शासनकाल में मौखरियों और उत्तरकालीन गुप्तों के बीच शक्ति-संघर्ष होता रहा था जिसका परिणाम ऊपर बताया जा चुका है। ईशानवर्मन् ने पहले-पहल इस राजकुल के गौरव की प्रतिष्ठा की। उसने "आन्ध्रों को जीता...... शूलिकों (इनकी ठीक पहचान नहीं हो सकी) को परास्त किया .....; और गौड़ों को अपनी सीमा के भीतर रहने को बाध्य किया"[1]। उसके पुत्र सर्ववर्मन् ने उत्तर-पश्चिम के हूणों तथा दामोदरगुप्त[2] को पराजित किया। अवन्तिवर्मन् के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। उसका पुत्र तथा उत्तराधिकारी ग्रहवर्मन्, जिसने थानेश्वर के प्रभाकरवर्धन की कन्या राज्यश्री को व्याहा था, मालवा के देवगुप्त द्वारा मारा गया। इस प्रकार कन्नौज के इस राजकुल का अन्त हो गया। परंतु मौखरी सर्वथा लुप्त न हो सके क्योंकि आदित्यसेन के समय के भोगवर्मन् को "वीर मौखरि जाति का चूड़ामणि" कहा गया है[3]।

कन्नौज के मौखरी कट्टर ब्राह्मणधर्मावलम्बी थे। और राजशक्ति के इस नये केन्द्र का उत्कर्ष उनकी तेजस्विता और विजयों का परिणाम था। उन्होंने सम्पूर्ण आधुनिक उत्तर प्रदेश (संयुक्तप्रांत) तथा मगध के एक बड़े भाग के योग से अपने शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण किया था।

मौखरि तिथि शृंखला में हरहा[4] लेख में उल्लिखित ६११ (? मालव-विक्रम संवत्)=५५४ ई० तथा ग्रहवर्मन् की हत्या की तिथि ६०६ ई० निश्चित कड़ियाँ हैं।

---

१. Ep. Ind., १४, पृ० ११७, १२०, श्लोक—१३
जित्वान्ध्राधिपतिं सहस्रगणितत्रेधाक्षरद्वारणं व्यावल्गन्नियुतातिसंख्यतुरगान्भङ्क्त्वा रणे शूलिकान्। कृत्वा चायतिमोचितस्थलभुवो गौडान्समुद्राश्रयानध्यासिष्ट नतक्षितीशचरणः सिंहासनं यो जिती ॥

२. C. I. I., ३, नं० ४२, पृ० २०३, २०६, पंक्तियाँ ८-९।

३. Ind. Ant., ९, पृ० १७१, १८१, श्लोक १३।

४. Ep. Ind., १४, पृ० ११८, १२०, श्लोक २१।

अध्याय १४

थानेश्वर और कन्नौज का हर्षवर्धन[1]

सामग्री का बाहुल्य

सातवीं सदी के आरम्भ में भारतीय रंगमंच पर एक विशाल व्यक्ति का प्रवेश हुआ। यद्यपि हर्षवर्धन में न तो अशोक का ऊँचा आदर्शवाद था न चन्द्रगुप्त मौर्य का युद्ध-कौशल ही तथापि इतिहासकार को इन्हीं दोनों नृपतियों की भाँति आकर्षित करने में वह भी सफल हुआ है। इसका कारण बाण के हर्षचरित और युवान-च्वांग के यात्रा-वृत्तान्त "सी-यू-की" हैं। और इनकी पुष्टि और पूर्ति भी अभिलेखों[2] तथा हुइ-ली द्वारा रचित युवान-च्वांग के जीवन-चरित से हुई है।

हर्ष के पूर्वज

हर्षचरित के अनुसार, हर्ष के सारे पूर्वज श्रीकण्ठ (थानेश्वर) के राजा थे। इसमें प्राचीन पूर्वज शिवभक्त पुष्पभूति तक की वंशतालिका दी हुई है परन्तु हर्ष के अभिलेख उसके केवल चार पूर्वजों का उल्लेख करते हैं। इस राज्य का अधिष्ठाता नरवर्धन पाँचवीं सदी के अन्त अथवा छठी सदी के आरंभ के लगभग हूण संघर्ष-काल में हुआ था। उसका पौत्र आदित्यवर्धन विशेषकर उत्तरकालीन गुप्त राजा महासेनगुप्त की संभावित भगिनी महासेनगुप्ता के साथ विवाह के कारण प्रसिद्ध है। प्रभाकरवर्धन के समय में शक्ति और सीमा दोनों में इस राज्य का विस्तार हुआ और फलतः इस कुल के अभिलेखों में इस नृपति के विरुद महाराजाधिराज तथा परमभट्टारक मिलते हैं। हर्षचरित में उसे "हूणहरिणकेसरी, सिन्धुराजज्वर, गुर्जरों का प्रजागर (गुजरात अथवा गुर्जरों की निद्रा भंग करनेवाला) गंधारराजरूपी गज का रोग, लाटों को लूटने वाला तथा मालवलक्ष्मीलता का उच्छेदक परशु"[3] कहा गया है। परतु इससे हमें झट यह नहीं मान लेना चाहिए कि ऊपर के वक्तव्य में

---

१. देखिए, त्रिपाठी : Hist. of Kanouj. (बनारस, १९३७), पृ० ६१-१८७।

२. देखिए, बांसखेड़ा ताम्रपत्र (Ep. Ind., ४, पृ० २०८-११); मधुवन ताम्रपत्र (वही १, पृ० ६७-७५); सोनपत-ताम्र-मुद्रा (C. I. I., ३, नं० ५२, पृ० २३१-३२) नालन्दा मुद्रा (Ep. Ind., २१, अप्रेल १९३१, पृ० ७४-७६), और ऐहोल-मेगुटी : पुलकेशिन् द्वितीय का लेख (Ep. Ind., ६, पृ० १-१२)।

३. हर्षचरित, कावेल और थामस द्वारा अनूदित पृ० १०१—हूणहरिणकेसरी सिन्धुराजज्वरो गुर्जरप्रजागरः गन्धाराधिपगन्धद्विपकूटपाकलः लाटपाटवपाटच्चरः मालवलक्ष्मीलतापरशुः (हर्ष-रित, कलकत्ता सं०, पृ० २४३-४४)।

परिगणित राज्यों को प्रभाकरवर्धन ने जीत कर सचमुच अपने राज्य में मिला लिया था। हमारी समझ में वह समकालीन राजाओं की अपेक्षा शक्ति तथा गौरव में प्रभाकरवर्धन की केवल आलंकारिक प्रशस्ति-घोषणा है। युवान-च्वांग के अनुसार, थानेश्वर के राज्य की परिधि ७००० ली अर्थात् १२०० मील से अधिक न थी। उत्तर-पश्चिम में पंजाब के हूण प्रदेशों द्वारा इसकी सीमा परिमित थी और उत्तर में पहाड़ों द्वारा। पूर्व में इसकी सीमायें कन्नौज के मौखरि राज्य की सीमा से लगी थीं और पश्चिम तथा दक्षिण में इसका अधिकार पंजाब के कुछ भागों तथा राजपूताना के मरु-प्रदेश पर था। हर्ष ने न केवल अपने पैतृक राज्य को पूर्णतः प्राप्त किया प्रत्युत उन दारुण परिस्थितियों के परिणामस्वरूप उसे कन्नौज की मौखरी गद्दी भी मिली जिनका नीचे अब वर्णन करेंगे।

प्रारम्भिक परिस्थिति

६०५ ई० में प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के बाद थानेश्वर का राजमुकुट राज्यवर्धन को मिला जो अपने पिता की आज्ञा से हूणों के विरुद्ध लड़ रहा था। पिता की मृत्यु का संवाद सुनकर राज्यवर्धन शीघ्र राजधानी को लौटा परंतु पिता की मृत्यु की चोट से उपरत होने के पूर्व ही उसे और उसके अनुज हर्ष को फिर वज्राहत होना पड़ा। उन्हें सूचना मिली कि मालवा के राजा देवगुप्त (जो मधुवन और बांसखेड़ा के ताम्रपत्रों का देवगुप्त ही है) ने उनके भगिनीपति ग्रहवर्मन् का वध कर दिया है और उनकी भगिनी राज्यश्री को कान्यकुब्ज के कारागार में डाल दिया है। संवादक ने इस सूचना के साथ ही साथ थानेश्वर के विरुद्ध मालवराज की दुष्ट योजनाओं की सूचना भी दी। यह सुनकर राज्यवर्धन अपनी सेना लेकर शीघ्र दुर्विनीत शत्रु के विरुद्ध प्रस्थित हुआ और हर्ष को राजधानी में ठहर कर पार्ष्णि की रक्षा करने की आज्ञा दी। परन्तु उनके अभाग्य का अभी अंत न हुआ था और शीघ्र हर्ष को तत्कालीन कठिन राजनीतिक परिस्थितियों के बवंडर में प्रवेश करना पड़ा। कुछ ही काल बाद उसने सुना कि यद्यपि राज्यवर्धन ने बड़ी सरलता से मालव सेना को परास्त कर दिया था, गौड़ के राजा[1] ने वंचकता से उसका वध कर डाला। यह गौड़ का राजा युवान-च्वांग के यात्रा-वृत्तांत का शे-संग-किआ (शशांक) था जो अपने मित्र देवगुप्त की सहायता को सुदूर पूर्व से आया था। इस प्रकार देवगुप्त की पराजय का प्रतिशोध लेकर शशांक ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया था और भण्डि द्वारा संचालित वर्धन सेना को अन्यमनस्क करने के लिए उसने विधवा मौखरि रानी राज्यश्री को

---

१. कहा जाता है कि शशांक ने राज्यवर्धन को अपनी कन्या "आत्मसमर्पण तथा मैत्री' के चिह्न स्वरूप अर्पित करने के बहाने असावधान कर दिया और जब वह "निरस्त्र, विश्वस्त तथा एकाकी" हो गया तब गौड़राज ने "अपने ही भवन में उसे मार डाला" (कावेल तथा थामस द्वारा अनूदित हर्षचरित, पृ० १७८)।—तस्मात् च हेलानिर्जितमालवानीकमपि गौडाधिपेन मिथ्योपचारोपचितविश्वासं मुक्तशस्त्रमेकाकिनं विश्रब्धं स्वभवन एव भ्रातरं व्यापादितमश्रौषीत् (हर्षचरित—कलकत्ता संस्करण, पृ० ४३६)।

कन्नौज के कारागार से मुक्त कर दिया। भाग्यचक्र के इस परिवर्तन के पश्चात् केवल हर्ष ही "पृथ्वी वहन के अर्थ शेष" रह गया था और इस कारण थानेश्वर की पैतृक गद्दी पर वह बैठा। उसका पहला कर्तव्य अपनी दुःखी भगिनी की रक्षा तथा शशांक से कन्नौज को मुक्त करके उसे अपने जघन्य कृत्य का दंड देना था। इसे सम्पन्न करने के अर्थ विशाल सेना लेकर हर्ष शत्रु की ओर बढ़ा और अपने प्रस्थान क्रम में आसाम के राजा भास्करवर्मन् के साथ उसके दूत हंसवेग के द्वारा उसने चिरकालिक सन्धि की। शीघ्र फिर हर्ष भण्डि से जा मिला जिससे उसको राज्यश्री की मुक्ति तथा विन्ध्य की ओर प्रस्थान की सूचना मिली। उसने अपनी भगिनी की खोज प्रारम्भ की और बड़ी कठिनाई के बाद वह उसे प्राप्त कर सका जब अपने जीवन से परेशान होकर वह अग्नि प्रवेश करने जा रही थी। तदनंतर हर्ष अपनी भगिनी को लेकर अपने शिविर को लौटा। यहाँ अभाग्यवश इस सम्बन्ध में हमारे ज्ञान का आलोक सहसा बन्द हो जाता है क्योंकि हर्षचरित इसके पश्चात् की घटनाओं का वर्णन नहीं करता। जान पड़ता है कि हर्ष की सेना को पास पहुँचते देखकर शशांक ने विक्रम व्यक्त करने से लौट जाना ही श्रेयस्कर समझा और वह कन्नौज से पीछे पूर्व की ओर हटने लगा क्योंकि थानेश्वर-कामरूप (आसाम) की सन्धि से उसके पृष्ठ भाग पर आसाम का खतरा उठ खड़ा हुआ था। भण्डि ने मालवसेना को परास्त कर और सभवतः देवगुप्त को मारकर, मालव-सहायता की संभावना भी नष्ट कर दी थी। इससे शशांक ने चुपचाप लौट आने में ही दूरदर्शिता तथा बुद्धिमत्ता समझी। इस प्रकार मौखरिराज की मृत्यु के बाद कन्नौज सर्वथा अराजकता के विप्लव में निमग्न हो गया। प्रश्न यह था कि क्या राज्यश्री को शासन की बागडोर हाथ में लेने की प्रार्थना की जाए? परतु अपनी दारुण विपत्तियों तथा बौद्ध उपदेशों के परिणामस्वरूप शासन का भार ग्रहण करने को वह प्रस्तुत न थी। मौखरि उत्तराधिकारी के अभाव में पोनी के नेतृत्व में कन्नौज के मंत्रियों और राजनीतिज्ञों ने हर्ष से उस राजकुल का मुकुट स्वीकार करने की प्रार्थना की।[1] परंतु संभवतः जनता के मत से पूर्णतः अवगत न होने के कारण हर्ष ने यह प्रार्थना स्वीकार करने में आपत्ति की। तत्पश्चात् उसने बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर से करणीय पूछा परंतु उसकी आज्ञा यह हुई कि न तो वह गद्दी पर बैठे और न महाराज की उपाधि धारण करे। इस आज्ञा के अनुकूल उसने शासन की बागडोर तो संभाली परन्तु केवल शीलादित्य का विरुद तथा 'कुमार' की उपाधि धारण की। यह साधारण विरुद प्रमाणित करता है कि यद्यपि बाण के अनुसार हर्ष थानेश्वर का राजा पूर्व ही हो चुका था, कन्नौज में उसने केवल शासन का कार्य सुचारु रूप से चलाने का उत्तरदायित्व लिया और वहाँ पर उसका पद अभिभावक के सिवाय राजा का न था। परन्तु जान पड़ता है कि कालान्तर में उसकी शक्ति वहीं प्रतिष्ठित हो गई और किसी प्रकार के विरोध का

१. बील, १, पृ० २१०-११; वाटर्स, पृ० ३४३।

जब भय न रहा तब उसने अपनी राजधानी थानेश्वर से हटाकर कन्नौज में स्थापित की और पूर्ण सम्राट् के विरुद्ध धारण कर वह इस नये राज्य का भी स्वामी बन गया। इस प्रकार इन दोनों राज्यों का एकीकरण हुआ जिससे हर्ष को उत्तर भारत के अनन्त कलहप्रिय राज्यों पर अपनी सत्ता प्रतिष्ठित करने में बड़ी सहायता मिली।

हर्ष की दिग्विजय

हर्ष की दिग्विजयों के विषय में हमें सविस्तर सामग्री उपलब्ध नहीं। युवान्-च्वांग के वृत्तान्त में अवश्य कुछ प्रशंसात्मक विजय-प्रसंग हैं; उदाहरणतः, "पूर्व की ओर बढ़कर उसने उन राज्यों पर आक्रमण किया जिन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार न की थी; छः वर्षों तक जब तक कि उसने 'पाँचों भारतों' के साथ पूर्णतः युद्ध न कर लिया, (अन्य पाठ के अनुसार उसने 'पाँचों भारतों' को अधीन न कर लिया)[1] वह निरन्तर लड़ता रहा।" इसी प्रकार वह लिखता है कि "शीघ्र उसने अपने भ्राता की मृत्यु का बदला ले लिया और वह 'भारत का स्वामी' बन गया।"[2] फिर वह लिखता है कि "शीलादित्य महाराज ने अब तक पूर्व से पश्चिम तक के देश जीत लिये थे और दूरस्थ प्रदेशों तक धावे मारे थे।"[3] परन्तु यात्री कहीं यह नहीं बताता कि हर्ष ने कब, कैसे, और कौन से राज्य जीते। यह निर्विवाद सिद्ध है कि वलभी के ध्रुवभट अथवा ध्रुवसेन द्वितीय को उसके आक्रमण का शिकार होना पड़ा था। हर्ष प्रारम्भ में विजयी भी हुआ और ध्रुवभट को भड़ोच के दद्दा द्वितीय की शरण लेनी पड़ी। दद्दा की सहायता से इस राजा ने अपना पैतृक राज्य पुनः प्राप्त कर लिया। यही ध्रुवभट युवान्-च्वांग का समकालीन था। इस युद्ध से पुलकेशिन् द्वितीय, जो अपने को 'सम्पूर्ण दक्षिणापथ का स्वामी' मानता था, उदासीन न रहा होगा। अतः दोनों नृपतियों में शक्ति का संतुलन अनिवार्य था। 'जीवन-वृत्तान्त' (हुइ-ली) से प्रकट है कि स्वयं हर्ष ने इस मो-हा-ल-च (महाराष्ट्र) के पु-लो-कि-श (पुलकेशिन् द्वितीय)[4] के विरुद्ध सैन्य-संचालन किया परन्तु परिणाम विरुद्ध हुआ और दक्षिणाधिप ने उसे बुरी तरह परास्त कर गहरी क्षति पहुँचाई। यह युद्ध ६३४ ई० के पूर्व ही कभी हुआ होगा क्योंकि उस वर्ष के ही ऐहोल-मेगुटी-अभिलेख में इस घटना का दृप्त वर्णन है।

बाण का हर्षचरित भी हर्ष की विजयों पर कुछ स्पष्ट प्रकाश नहीं डालता। उसने तो गौड़ नरेश के विरुद्ध हर्ष के उस यान का भी स्पष्ट वर्णन नहीं किया जो उसने राज्यारोहण के शीघ्र बाद किया था। इसमें सन्देह नहीं कि हर्ष शशांक का कुछ बिगाड़ न सका क्योंकि गन्जाम-लेख[5] से प्रमाणित है कि कम से कम गुप्त

---

१. वाटर्स, १, पृ० ३४३; बील, १, पृ० २१३।
२. Life, पृ० ८३।
३. वाटर्स, २, पृ० २३६; बील, २, पृ० २५६-५७।
४. Life, पृ० १४७।
५. Ep. Ind, ६, पृ० १४४, १४६।

संवत् ३००=६१९ ई० तक वह मर्यादा के साथ अपनी शक्ति में प्रतिष्ठित रहा। हर्षचरित से प्रकट होता है कि हर्ष ने 'सिन्धुराज को मथ कर उसकी सम्पत्ति स्वायत्त कर ली'[1] जिससे विदित होता है कि दोनों नरेशों में युद्ध हुआ जिसमें हर्ष न केवल विजयी हुआ प्रत्युत उसने शत्रु से युद्ध-कर भी वसूल किया।

हर्ष की दिग्विजय का तिथि-क्रम

युवान्-च्वांग का वक्तव्य कि "हर्ष, जब तक कि उसने 'पाँचों भारतों' पर अधिकार न कर लिया, छः वर्षों तक निरन्तर युद्ध करता रहा"[2] कुछ विद्वानों की राय में यह अर्थ रखता है कि राज्यारोहण के वर्ष ६०६ ई० और ६१२ ई० के बीच उसके सारे युद्ध समाप्त हो गए। परन्तु यह विचार कि युवान्-च्वांग के छः वर्ष हर्ष के राज्यारोहण की तिथि से ही आरंभ होते हैं सर्वथा अयुक्त है। इसके अतिरिक्त चूँकि शशांक ६१९ ई० तक पूर्ण प्रभुता से राज्य करता रहा था, हमें यह मानना पड़ेगा कि हर्ष ने पूर्व के प्रान्त इस तिथि के पश्चात् ही संभवतः ६२० और ६२५ ई० के बीच कभी जीते। फिर युवान्-च्वांग के प्रमाण से जान पड़ता है कि पुलकेशिन् द्वितीय के साथ युद्ध तब हुआ जब हर्ष "पूर्व से पश्चिम तक के देशों तक" धावा मार चुका था। इस प्रकार पूर्वतम तथा पश्चात्तम सीमाएँ लगभग ६२५ ई० और ६३४ ई० (ऐहोल-लेख की तिथि) के बीच खींची जा सकती हैं। और तब हम इस घटना को प्रायः ६३० ई० में रख सकते हैं।[3] इसी प्रसंग में युवान्-च्वांग के दूसरे वक्तव्य को समझना भी उचित होगा। वह इस प्रकार है—"हर्ष ने ३० वर्ष तक बिना अस्त्र उठाए शान्तिपूर्वक राज्य किया।"[4] यद्यपि बील ने इस वक्तव्य का अनुवाद इस प्रकार किया है: "तीस वर्ष बाद अन्त में उसने अपनी तलवार म्यान में की और सर्वत्र शान्तिपूर्वक शासन किया।"[5] तथापि ऊपर के अनुवाद को सही मानकर हम केवल इतना कह सकते हैं कि गुप्त-गौड आक्रमणों से प्रादुर्भूत अराजकता का अंत कर हर्ष ने आन्तरिक शान्ति स्थापित करके देश में शासन की सुव्यवस्था की। परन्तु अपनी पर-राष्ट्र-नीति में हर्ष सर्वथा साम्राज्यवादी बना रहा

---

१. कावेल थामस अनूदित हर्षचरित, पृ० ७६, "अत्र पुरुषोत्तमेन सिन्धुराजं प्रमथ्य लक्ष्मीः आत्मीकृता।"(हर्ष० कल० सं०, पृ० २१०-११; इसी प्रकार एक और वाक्य है—"अत्र परमेश्वरेण तुषारशैलभुवो दुर्गाया गृहीतः करः" हर्ष ने "किसी तुषारधवल पर्वतीय प्रदेश से कर ग्रहण किया"—संभवतः नैपाल अथवा कश्मीर से। परन्तु इसका अर्थ निम्न प्रकार भी किया जा सकता है—"यहाँ अधिपति ने हिमगिरि में उत्पन्न दुर्गा का पाणि-ग्रहण किया।" इससे हर्ष का किसी पहाड़ी राजकुल की कन्या से विवाह करना ध्वनित होगा २१०-११)।

२. वाटर्स, १, पृ० ३४३; बील, १, पृ० २१३।

३. देखिए, क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय—Proc. Ind. Hist. Cong., १९३९, तृतीय अधिवेशन, कलकत्ता, पृ० ५८६-६०४। वह हर्ष-पुलकेशिन्-युद्ध ६१० और ६१२ ई० के बीच रखते हैं।

४. वाटर्स, १, पृ० ३४३।

५. बील, १, पृ० २१३।

क्योंकि ६४३ ई० के कोंगोंदा (गन्जाम जिला) युद्ध से प्रमाणित है कि अपने घटना-बहुल शासन के अन्त तक उसे युद्ध करते रहना पड़ा था।

साम्राज्य की सीमाएं

"सकलोत्तरापथनाथ" पद से साधारणतया हर्ष का सम्पूर्ण उत्तरी भारत का राजा होना माना जाता है। परन्तु 'उत्तरापथ' की यह व्याख्या समुचित नहीं है क्योंकि इसका प्रयोग प्रायः अस्पष्ट रेखाओं को व्यक्त करता है और इसका तात्पर्य हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के बीच की भूमि से ही सर्वथा नहीं है[1]। युवान्-च्वांग के वृत्तांत का सतर्क विश्लेषण भी यही सिद्ध करता है कि हर्ष का राज्य-विस्तार इस परिमाण से कहीं अधिक सीमित था। युवान च्वांग ने अपने समकालीन स्वतत्र राष्ट्रों में उनके अधीनस्थ राज्यों का वर्णन किया है। ये निम्नलिखित थे:—कपिश, कश्मीर, जालंधर, बैराट, मथुरा, मतिपुर (विजनोर ज़िले में मन्दावर), सुवर्णगोत्र का देश, कपिलवस्तु, नैपाल, कामरूप (आसाम), महाराष्ट्र, भड़ोच, वलभी, गुर्जर देश, उज्जैन, बुन्देलखण्ड, महेश्वरपुर (ग्वालियर प्रदेश), और सिंध। प्रमाणतः ये स्थान हर्ष के शासनाधिकार से बाहर थे। इसके विरुद्ध युवान्-च्वांग उत्तर भारत के निम्नलिखित प्रदेशों के शासन के संबंध में मूक है:—कुल्लु, शतद्रु देश (सरहिंद), थानेश्वर, स्रुघ्न (सुघ), ब्रह्मपुत्र (गढ़वाल और कुमाऊँ), गोविसन (काशीपुर, रामपुर तथा पीलीभीत के वर्तमान जिले), अहिच्छत्र (पूर्वी रुहेलखंड), बिल्सड (एटा ज़िला), कपित्थ (संकिस्स), अ-यु-ते (अयोध्या अथवा फतहपुर ज़िले में अफ़ुई), हयमुख (रायबरेली और प्रतापगढ़ के जिले), प्रयाग, कोसम्बी, विषोक (?), श्रावस्ती, रामग्राम, कुशीनगर, वाराणसी (बनारस), गाजीपुर जिला, वैशाली, वृज्जि-देश, मगध, मुंगेर, भागलपुर, राजमहल, पौण्ड्रवर्धन, समतट, ताम्रलिप्ति, कर्णसुवर्ण, वर्तमान गन्जाम के साथ उड़ीसा।[2]

इन प्रदेशों की राजनीतिक स्थिति के संबंध में युवान्-च्वांग की चुप्पी सिद्ध करती है कि ये सम्भवतः हर्ष के साम्राज्य में सम्मिलित थे। इनमें से कुछ तो निश्चय इस साम्राज्य में थे यह स्वतंत्र प्रमाण से भी सिद्ध किया जा सकता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि हर्ष का पतृक राज्य थानेश्वर, सरस्वती की घाटी और पूर्वी राजपूताना के कुल भाग थे जिसमें कन्नौज के मौखरि प्रदेश जुड़ जाने से उत्तरप्रदेश तथा मगध के भी कुछ भाग शामिल हो गए। मगध के ऊपर उसका अधिकार उसके विरुद 'मगध का राजा' से भी प्रमाणित है जो उसके दौत्यसंबंधी चीनी कागजात में दर्ज मिलता है। बाँसखेड़ा और मधुवन के भूमि संबंधी दानपत्रों से प्रमाणित है कि

१. चालुक्य विनयादित्य के अभिलेखों (Ind. Ant., ७, पृ० १०७, १११, वही, ९, पृ० १२९) में भी एक 'सकलोत्तरापथनाथ' का उल्लेख है, और यदि यह नरेश उत्तरकालीन गुप्त-कुल के आदित्यसेन के उत्तराधिकारियों में से कोई है तो यह 'सकलोत्तरापथनाथ' किसी प्रकार सम्पूर्ण उत्तरी भारत का नृपति नहीं हो सकता।

२. स्थानाभाव से हमने इनके चीनी नाम छोड़ दिए हैं। युवान्-च्वांग के प्रमाण का इस

अहिच्छत्र और श्रावस्ती उसके साम्राज्य की 'भुक्ति' थे। उड़ीसा के ऊपर उसका स्वत्व जीवन वृत्तान्त (हुइ-ली) से सिद्ध है।[1] पूर्व में दौरे के समय हर्ष ने कजंगल (राजमहल-जिला) में दरबार किया था जिससे उस प्रदेश का भी उसके शासन में होना जाहिर है। अतः युवान्-च्वांग के वृत्तान्त, अभिलेखों तथा साहित्यिक सामग्री के आधार पर हम कह सकते हैं कि हर्ष के राज्य में आधुनिक भौगोलिक अभिव्यक्ति के अनुसार उत्तर प्रदेश (मथुरा और मतिपुर को छोड़ कर), बिहार, बंगाल तथा कोंगोद अथवा गंजाम प्रदेश के साथ उड़ीसा शामिल थे।[2] यही युवान्-च्वांग के वक्तव्य, 'पाँचों भारतों का स्वामी', का भी अभिप्राय जान पड़ता है। इन पाँचों प्रदेशों के अन्तर्गत स्वराष्ट्र अथवा पंजाब (इस प्रसंग में पंजाब का पूर्वी भाग), कान्यकुब्ज, मिथिला, अथवा बिहार, गौड़ अथवा बंगाल, और उत्कल अथवा उड़ीसा थे। इस प्रकार सारी उपलब्ध सामग्री से ऊपर बताई सीमाएँ हर्ष का राज्यविस्तार स्थापित करती हैं। कश्मीर, और सिन्ध, सौराष्ट्र और सुदूर दक्षिण, तथा कामरूप (आसाम) और नैपाल को भी हर्ष के राज्यान्तर्गत मानना ऊपर के प्रमाणों के सामने सर्वथा अनुचित होगा। इस मत का प्रतिकार स्वयं युवान्-च्वांग का स्पष्ट प्रमाण करता है। प्रस्तुत साम्राज्य की सीमाएँ पर्याप्त विस्तृत थीं और यह साम्राज्य इस रूप में तत्कालीन उत्तरभारत के सारे राज्यों से बड़ा था। इसी कारण विद्वान् यात्री की स्मृति पर हर्ष की शक्ति का गहरा प्रभाव भी पड़ सका।[3]

शासन प्रणाली

ऊपर के विवरण से सिद्ध है कि हर्ष के साम्राज्य का विस्तार विशेषतः पूर्व की ओर था। उस काल गंगा व्यापार का विशिष्ट जलमार्ग था। और उसी के जरिये बंगाल तथा 'मध्यदेश' जुड़े हुए थे, इसलिए व्यापार तथा समृद्धि के अर्थ कन्नौज का इस विस्तृत गंगा-काँठे पर अधिकार आवश्यक था। हर्ष प्रायः इस सारे भूप्रदेश को अपने अधिकार में लाने में सफल हुआ, और इस विस्तृत साम्राज्य की शासन-व्यवस्था भी परिणामतः कठिन हो गई। हर्ष ने पहले अपनी सैन्य-शक्ति बढ़ाई। अनधिकृत राज्यों को संत्रस्त रखने तथा आभ्यंतर संभाव्य विप्लवों और बाहरी हमलों के विरुद्ध अपने शक्ति-संगठन के अर्थ यह नितांत आवश्यक था।

सैन्य-शक्ति

प्रसंग में अपना सिद्धान्त स्पष्ट करने के अर्थ हमने पूर्णतया विश्लेषण किया है।

१. Life, पृ० १५४, शीलादित्यराज द्वारा जयसेन नामक प्रख्यात बौद्ध विद्वान् को उड़ीसा के अस्सी बड़े नगरों की आय देना इसमें लिखा है।

२. कन्नौज के समान ही इन छोटे राज्यों का अस्तित्व इस कारण रह गया था कि राज्यारोहण के समय हर्ष के क्रोध से रक्षा के लिए इन्होंने उससे सन्धि कर ली थी और हर्ष ने जिसे तब मित्रों की बड़ी आवश्यकता थी, बाद में भी इनकी स्वतंत्रता बनी रहने दी। उसके दक्षिण मार्ग पर अवस्थित राज्यशक्तियों ने अपनी स्वतंत्रता या तो उसे मार्ग देकर खरीदी, अथवा, यदि वे विजित हो गई थीं तो पुलकेशिन् द्वितीय के साथ हर्ष की पराजय के समय वे फिर स्वतंत्र हो गईं।

३. देखिए, त्रिपाठी : History of Kanauj, पृ० ७८-११६।

युवान्-च्वांग लिखता है : "तब अपने राज्य की सीमाएँ बढ़ाकर उसने अपनी सेना की संख्या-वृद्धि की; गज-सेना की संख्या बढ़ाकर ६०,००० और अश्व-सेना की १००,००० कर दी।"[1] इसी विशाल सैन्य-शक्ति पर साम्राज्य की रक्षा निर्भर थी।

मैत्री

परन्तु वस्तुतः सेना नीति का एक स्कंध मात्र है। हर्ष ने अन्य साधनों द्वारा भी अपनी शक्ति संगठित की। अपने प्रथम यान के समय ही उसने आसाम के राजा भास्करवर्मन् के साथ 'चिर-सन्धि' की। फिर उसने युद्ध में शक्ति-संतुलन के पश्चात् वलभी के ध्रुवसेन द्वितीय अथवा ध्रुवभट को अपनी कन्या प्रदान की। इस प्रकार उसने न केवल उसे अपना मित्र बनाया वरन् उसके राज्य के बीच से दक्षिण का मार्ग भी स्वायत्त कर लिया। इसके अतिरिक्त उसने ६४१ ई० में चीन के तांगकुलीय सम्राट् तइ-त्सुंग के पास एक ब्राह्मण दूत भी भेजा। इसके उत्तर में चीन से हर्ष के समीप भी राजदूत आया।[2] उसके प्रबल शत्रु पुलकेशिन् द्वितीय ने जैसा अरब इतिहासकार तबरी[3] ने लिखा है, फारस के राजा के साथ मैत्री स्थापित की थी, हर्ष ने संभवतः उसी के उत्तर में चीनी सम्राट् को अपना मित्र बनाया।

पूर्वी निरंकुश शासन में राजा के केन्द्र होने के कारण उसी के उदाराचरण और श्रम पर अधिकतर शासन की सुव्यवस्था और सफलता निर्भर करती है। इसी

हर्ष का व्यक्तिगत शासन-श्रम

कारण हर्ष अपने विस्तृत साम्राज्य की आवश्यकता के ज्ञानार्थ स्वयं दत्तचित्त हुआ। दिन को उसने राज-कार्य और धर्माचरण के लिए अनेक भागों में विभक्त कर लिया। "वह अथक परिश्रमी था और दिन का विस्तार उसके कार्य के लिए सर्वथा स्वल्प था।"[4] विभवपूरित राजप्रासाद से ही शासन कर उसकी अभितृप्ति न होती और वह सर्वत्र "दण्डनीयों को दण्डित करने तथा भलों को पुरस्कृत करने के अर्थ" स्थान-स्थान की यात्रा किया करता था। अपनी इस 'परिवेक्षण-यात्राओं' में वह देश और प्रजा के निकट संपर्क में आता था और तब उसकी प्रजा को अपनी असुविधाओं को प्रस्तुत करने के पर्याप्त अवसर मिलते होंगे।

अभाग्यवश तत्कालीन शासन-विधान-संबंधी उपलब्ध सामग्री अत्यन्त अल्प है। संभवतः उसके शासन-कार्य में एक मंत्रिपरिषद् उसकी सहायता करती थी।

गृह शासन

युवान्-च्वांग के लेखानुसार पोनी के नेतृत्व में कन्नौज के मन्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों ने हर्ष को कन्नौज का राजमुकुट प्रदान किया था।[5] इससे यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा

---

१. वाटर्स, १, पृ० ३४३; बील, १, २१३।

२. E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० ३६६।

३. J. R. A. S., N. S., ११ (१८७६), १६५-६६।

४. वाटर्स, १, ३४४; बील, १, पृ० २१५।

५. बील, १, पृ० २१०-११; वाटर्स, १, पृ० ३४३।

सकता है कि हर्ष के शक्त्युत्कर्ष के दिनों में भी उनका किसी न किसी रूप में अंकुश बना रहा। युवान्-च्वांग ने तो यहाँ तक लिखा है कि "देश का स्वामित्व अधिकारियों के हाथ में था।"[1] फिर साम्राज्य के विस्तार और आवागमन की सुविधाओं के अभाव में विविध प्रांतों पर अंकुश रखने के अर्थ अनेक शासन-केन्द्रों का रखना आवश्यक था। इसी कारण दूरस्थ प्रांत वाइसरायों (राजस्थानीय ?) अथवा प्रांतीय शासकों (लोकपाल अथवा उपरिक महाराज), सामन्तों अथवा महासामन्तों के शासन में थे। मगध का माधवगुप्त इसी प्रकार का शासक-सामन्त था। इसके अतिरिक्त हर्ष-चरित तथा अभिलेखों से विदित होता है कि पदाधिकारियों की क्रमिक व्यवस्था की गई थी। इनमें से कुछ, गृह तथा सैन्य विभाग के, अधिकारी निम्नलिखित थे :— महासान्धिविग्रहाधिकृत (युद्ध और शान्ति-सचिव); महाबलाधिकृत (सर्वोपरिसेना-ध्यक्ष); सेनापति; बृहदश्ववार (अश्वसेनाध्यक्ष); कटुक (गजसेनाध्यक्ष); जाटभट (नियत और अनियत अथवा वैतनिक तथा अवैतनिक सैनिक); दूत; राजस्थानीय (परराष्ट्र मंत्री अथवा वाइसराय); उपरिक महाराज (प्रांतीय शासक); आयुक्तक (साधारण अधिकारी); मीमांसक (न्यायाधीश); महाप्रतीहार (कंचुकी अथवा राज-प्रासाद का रक्षक); भोगिक अथवा भोगपति (उपज का राजकीय भाग ग्रहण करने वाला); दीर्घाध्वग (तीव्रगामी संवादक); अक्षपटलिक (रेकर्ड क्लर्क); अध्यक्ष (विविध विभागों के अध्यक्ष); लेखक; करणिक (क्लर्क); सेवक, आदि।

प्रादेशिक विभाग और प्रान्तीय शासन

हर्ष के अभिलेखों से विदित होता है कि पुराने शासन के प्रदेशीय विभाग इस काल भी चलते थे। प्रान्त 'भुक्ति' कहलाते थे। भुक्तियाँ विषयों (जिलों) में विभक्त थीं। 'पथक' वर्तमान तहसील अथवा तालुक की भाँति एक छोटा भू-भाग था; और 'ग्राम' पूर्ववत् ही शासन का निम्नतम आधार था।

युवान्-च्वांग ने हर्ष की शासन-व्यवस्था की प्रशंसा की है। हर्ष का दण्ड-विधान नम्र था। कुलों की रजिस्ट्री नहीं होती थी और बेगार भी नहीं ली जाती थी। अंतिशासन की दुर्व्यवस्था न होने के कारण लोग स्वतंत्र रूप से विचरते थे। उनका नैतिक विकास किसी प्रकार अवरुद्ध न था। लगान हल्का था, पैदावार का छठा भाग। आय के आधार थे—खेत की उपज, व्यापारियों की विक्रय की वस्तुओं पर चुंगी और घाटों तथा प्रादेशिक सीमाओं पर लगनेवाले कर।[2] हर्ष के शासन का

शासन के अन्य रूप

उदार रूप इससे भी प्रकट है कि उसने धार्मिक सम्प्रदायों के लिए दान तथा विद्वानों के लिए प्रभूत पुरस्कार की व्यवस्था की थी।[3]

शासन के सुसंगठन के कारण जनता में परस्पर सद्भाव था और लड़ाई-

१. बील, १, पृ० २१०।
२. वाटर्स, १, पृ० १७६।
३. वही।

झगड़े अथवा मारपीट के अपराध अत्यंत न्यून होते थे।[1] परन्तु राजपथ और जल-मार्ग सुरक्षित न थे। लुटेरों का भय प्रायः बना रहता था। स्वयं युवान्-च्वांग अनेक बार उनसे लुट गया था। एक बार तो उसकी बलि तक दी जाने लगी थी। अपराधों का कानून बड़ा कड़ा था। कानून के विरुद्धाचरण तथा राजद्रोह का साधारण दण्ड आमरण कैद थी। और यद्यपि अभियुक्त शारीरिक यन्त्रणा नहीं पाते थे परन्तु उन्हें समाज का अंग नहीं समझा जाता था।[2] हर्षचरित में त्यौहारों पर कैदियों के छोड़े जाने का उल्लेख है। अन्य दण्ड गुप्तकाल की अपेक्षा कहीं अधिक कठोर थे। "सामाजिक आचार के विरुद्ध अपराध तथा अविश्वसनीय आचरण और व्यभिचार का दण्ड नाक, कान, हाथ, पैर काट लेना अथवा अपराधी को देश-निष्कासन या वनवास था।"[3] साधारण अपराधों का दण्ड शुल्क(जुरमाना) था। अग्नि, जल, तौल, विष आदि के प्रयोग से अभियुक्त की निर्दोषता आँकी जाती थी। दण्ड की कठोरता के कारण भी अपराधों की संख्या में बहुलता न थी यद्यपि इसका कारण भारतीयों का उच्चाचरण भी हो सकता है। उनको पावन तथा सदाचारी'[4] कहा गया है।

दण्ड-विधान

कन्नौज का गौरव

कन्नौज की महत्ता और समृद्धि जो मौखरियों के समय में बढ़ी थी हर्ष के शासन-काल में आकाश चूमने लगी। अब उत्तर भारत का प्रमुख नगर कन्नौज था और वह उस पाटलिपुत्र के गौरव और शक्ति में स्थानापन्न हो गया था जिससे होकर बुद्ध के ही समय से राजनीतिक जीवन का स्रोत बहा करता था। विदेशी की दृष्टि में निश्चय यह विशाल नगर जान पड़ा होगा जिसके निवासी बौद्ध तथा अन्य धर्म के मानने वाले लोग होंगे। उस नगर के सौ विहारों में दोनों 'यानों' के अनुयायी भिक्षु १०,००० से अधिक की संख्या में रहते थे। 'देव-मन्दिर' प्रायः दो सौ थे। बौद्धेतर साम्प्रदायिक कई हजार थे। नगर (जो बीस ली अथवा प्रायः पाँच मील लम्बा और पाँच ली अर्थात् सवा मील चौड़ा था) प्रकृति तथा मानवकला दोनों के योग से सुरक्षित था। उसके निर्माण की योजना सुन्दर थी। इसमें सुन्दर उद्यान तथा स्वच्छ जलपूरित सरोवर थे। साधारणतया गृहस्थों के घर सादे, स्वच्छ और आरामदेह अथवा युवान्-च्वांग के शब्दों में "भीतर सुखकर और बाहर सादे थे।" नागरिक सुसंस्कृत थे और श्रीमान् "सुचिक्कण काषायवस्त्र धारण करते थे।" कन्नौज के नागरिकों की प्रशंसा में युवान्-च्वांग लिखता है—"भाषा वे

१. वही, पृ० १७१।
२. वही, पृ० १७२।
३. वही, बील, १, पृ० ८३-८४।
४. युवान्-च्वांग:—"वे किसी वस्तु को अनधिकारपूर्वक नहीं ग्रहण करेंगे और औचित्य से कहीं अधिक उनमें उदारता है। परलोक में पाप के परिणाम से वे डरते हैं और इस जन्म के कर्मफल को महत्व नहीं देते। वे धोखा नहीं देते और शपथपूर्वक की हुई प्रतिज्ञा को निवाहते हैं।" (वाटर्स, १, पृ० १७१; बील, १, पृ० ८३)।

सर्वथा स्पष्ट और शुद्ध बोलते हैं। देवों की भाँति उनके भावांकन अविरोधी और शिष्ट हैं। और उनके स्पष्ट सही उच्चारण देश में आदर्श माने जाते हैं।"[१]

कन्नौज की सभा

हर्ष शासक और विजेता के रूप में महान् था परन्तु शान्ति के निर्माता के रूप में महत्तर था। "शान्ति की उसकी विजय युद्ध की विजयों से कहीं अधिक व्यापक थी" शान्ति काल के उसके कृत्यों में एक महत्त्वपूर्ण समारोह कन्नौज का अधिवेशन था जिसे उसने महायान के सिद्धान्तों के प्रचारार्थ बुलाया था। हर्ष अपने शिविर से बड़ी तड़क-भड़क के साथ कन्नौज की ओर चला। गंगा के दक्षिण तट पर चलता हुआ युवान्-च्वांग और कामरूप के राजा भास्करवर्मन् के साथ ९० दिनों में वह कन्नौज पहुंचा। वहाँ १८ देशों के नरेशों और पाँचों भारतों[२] के नृपतियों तथा विभिन्न सम्प्रदायों के हजारों पुरोहितों ने उसका स्वागत किया। ये लोग हर्ष के निमंत्रण से अधिवेशन में भाग लेने के लिए आए हुए थे। हर्ष ने फूस के दो बड़े हाल बनाने की पहले ही आज्ञा दे रखी थी जो अब निर्मित खड़े थे। इनमें से प्रत्येक में १००० व्यक्ति बैठ सकते थे। बीच में एक ऊँचा बुर्ज था जिसके नीचे "राजा के आकार की" बुद्ध की स्वर्ण प्रतिमा स्थापित की गई थी। एक जलूस के बाद अधिवेशन का कार्य आरम्भ हुआ। यहाँ आकर्षण की एक विशेष वस्तु बुद्ध की तीन फिट ऊँची स्वर्ण प्रतिमा थी जो सुन्दरता से सजे गज के ऊपर प्रतिष्ठित थी। हर्ष और भास्करवर्मन् क्रमशः शक्र और ब्रह्मा के रूप में उसकी सेवा में संलग्न थे। उनके पीछे ऊँचे गजों पर राजा, पुरोहित और राज्य के उच्च कर्मचारी चले। जलूस के अन्त में हर्ष ने मूर्ति की पूजा की और एक बड़ा भोज दिया। इसके बाद अधिवेशन आरंभ हुआ और युवान्-च्वांग उस "कथोपकथन का प्रधान" बना। उसने महायान के गुणों का विस्तृत विवेचन कर उपस्थित जनों को अपना प्रतिवाद करने की चुनौती दी। परन्तु किसी ने उसके तर्क का उत्तर न दिया और वह पाँच दिनों तक उस क्षेत्र का निर्विवाद स्वामी बना रहा। परन्तु अब उसके धार्मिक प्रतिस्पर्धियों ने उसके जीवन के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा। उसकी गन्ध पाकर हर्ष ने तत्काल घोषणा की कि यदि किसी ने उसके विख्यात अतिथि को तनिक भी क्षति पहुँचाई तो वह उसे प्राण-दण्ड देगा[३]। घोषणा का अपेक्षित परिणाम हुआ और १८ दिनों तक किसी ने युवान्-च्वांग के विचारों का विरोध न किया। इस प्रकार 'जीवन-वृत्तांत' के अनुसार अधिवेशन का कार्य सफलता-पूर्वक सम्पन्न हुआ। बौद्धविरोधी सर्वथा पराजित हुए जिससे महायानियों को परम आह्लाद हुआ। सी-यू-की का वृत्तान्त इससे भिन्न है और उससे विदित होता है कि अधिवेशन का असाधारण घटनाओं द्वारा अंत हुआ।

---

१. वाटर्स, १, पृ० १५३; बील, पृ० ७७।

२. Life, पृ० १७७, सी-यू-की के अनुसार वहाँ २० देशों के राजा उपस्थित थे (बील १, पृ० २१८)। हर्ष की सभाओं का वृत्तांत विशेषकर Life, और सी-यू-की के आधार पर प्रस्तुत है।

३. Life, पृ० १८०

ऊँचे बुर्ज में एकाएक आग लग गयी[1] और 'विद्यार्थियों' के प्रति हर्ष की उदासीनता के फलस्वरूप उसके प्राण लेने का भी प्रयत्न किया गया। तब उसने पाँच सौ ब्राह्मणों को बन्दी कर उन्हें देश से बाहर कर दिया। शेष को उसने क्षमा कर दिया।[2]

इन वृत्तान्तों में से चाहे जो सही हो इतना निश्चित है कि उस अधिवेशन में युवान्-च्वांग के दिये भाषण से हर्ष के ऊपर उसका प्रभाव और गहरा हो गया। हर्ष ने उसका बड़ा आदर किया और अनेक बहुमूल्य रत्न उसे प्रदान किये परन्तु यात्री ने त्याग की भावना से उन्हें लेने से इन्कार किया।

प्रयाग के पंचवर्षीय वितरण[3]

कन्नौज के अधिवेशन की परिसमाप्ति के पश्चात् हर्ष ने प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम पर अपना छठा पचवर्षीय दान-वितरण (महा-मोक्षपरिषद्) देखने के लिये युवान्-च्वाग को निमन्त्रित किया। यात्री चीन लौटने के लिए विशेष उत्कंठित हो रहा था परन्तु प्रयाग का यह असाधारण अधिवेशन देखने के लिए उसने अपनी गृह-यात्रा स्थगित कर दी। इसी परिषद् में 'दक्षिण भारत का राजा' ध्रुवभट, और आसाम का कुमारराज (भास्करवर्मन्) भी शामिल हुए थे। इनके अतिरिक्त प्रायः पाँच लाख का एक बृहत् जन-संभार वहाँ उपस्थित हुआ जिसमें श्रमण, ब्राह्मण, नास्तिक, निर्ग्रन्थ, दरिद्र, अनाथ और पाँचों भारतों के रंक हर्ष के आमन्त्रण से आये हुए थे। दान-वितरण का 'प्रशस्त प्रांगण' नदियों के बीच का खुला रेतीला मैदान था। और अधिवेशन ७५ दिनों तक चलता रहा। इसका आरम्भ भी जलूस के साथ हुआ। धार्मिक पूजा एक विशेष मनोनीत ढंग से हुई जो हिन्दू समाज तथा अर्चना का विशिष्ट अंग है। पहले दिन बुद्ध की प्रतिमा सिकता भूमि पर निर्मित चैत्य में स्थापित की गयी और महार्ह वस्तुओं तथा बहुमूल्य रत्नों से उसकी पूजा कर बहुत धन बाँटा गया। दूसरे दिन आदित्यदेव की पूजा हुई और तीसरे दिन ईश्वर-देव (शिव) की परन्तु सारे अन्य दिवसों पर दिया गया दान प्रथम दिन के दान का आधा होता था। चौथे दिन बौद्ध भिक्षुओं को बहुत दान दिया गया। बाद २० दिनों तक हर्ष ने ब्राह्मणों पर धन बरसाया। तदनन्तर दस दिनों तक 'विरोधियों' अर्थात् जैनों तथा अन्य मतावलम्बियों को दान मिले। इसी प्रकार कितने ही दिन याचकों को दान दिया गया और महीना भर दरिद्रों और अनाथों को दान मिलता रहा। अब तक धन का विस्तृत कोष समाप्त हो चुका था और हर्ष ने अपने व्यक्तिगत 'रत्न तथा वस्तुएं' भी दान में दे डालीं।[4] इस प्रकार उसने व्यक्तिगत उदारता का वह आदर्श रखा जो इतिहास में अपूर्व था।

---

१. बील, १, पृ० २१६।
२. वही, पृ० २२१।
३. Life, पृ० १८३-८७।
४. परन्तु इस प्रकार के दान-वितरण का प्रभाव राज्य-कोष पर बहुत बुरा पड़ा होगा। क्या हर्ष की मृत्यु के बाद राज्य के आकस्मिक पतन का यही तो कारण नहीं था?

युवान्-च्वांग का प्रस्थान

प्रयाग के अधिवेशन के बाद युवान्-च्वांग ने हर्ष से बिदा ली। हर्ष ने स्वयं उसे दूर तक पहुँचाया और "उधित नाम के उत्तर भारत के एक राजा को मार्ग में उसकी रक्षा करने तथा घोड़ों पर पुस्तकें तथा मूर्तियाँ पहुँचाने को नियुक्त किया। पश्चात् हर्ष एक बार यात्री से मिला और चीन की स्थल-यात्रा के व्यय के अर्थ कुछ द्रव्य भेजा[1]।

हर्ष का धर्म

अब हम हर्ष के धर्म के सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे जिसके कारण अपने राजसुख को छोड़कर अपनी प्रजा के भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के अर्थ वह अथक परिश्रम करता था। पहले तो यह जान लेना आवश्यक है कि बौद्ध धर्म हर्ष का पैत्रिक धर्म न था और उसके तीनों पूर्वज सूर्य (आदित्य) के पुजारी थे। बांसखेड़ा (शाहजहाँपुर जिला) और मधुवन (आजमगढ जिला) के अभिलेखों के अनुसार स्वयं हर्ष कम से कम अपने शासन के २५ वें वर्ष अथवा ६३१ ई० तक 'परममाहेश्वर' था। अपने बाद के दिनों में वह बौद्ध धर्म की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता गया और अत में सम्भवतः युवान्-च्वांग के असाधारण सिद्धान्त-निरूपण तथा अपनी बौद्ध भगिनी राज्यश्री से प्रभावित होकर प्रायः बौद्ध हो गया। कन्नौज के अधिवेशन में उसने कथोपकथन तथा विचार-विनिमय को शृंखलित करके महायान के प्रति पक्ष-पात भी किया था। और शक्र, ब्रह्मा को बुद्ध का पार्षद भी बनाया था। परन्तु हर्ष को बौद्ध धर्म का सक्रिय प्रचारक किसी भांति भी नहीं माना जा सकता। इसके विरुद्ध उसकी पूजा का रूप सर्वथा धर्म-चयन था, और प्रयाग की महामोक्षपरिषद् में तो उसने ब्राह्मण देवता आदित्य और शिव की स्पष्ट पूजा की थी। उसने ब्राह्मणों को भोजन कराया और उनको प्रभूत दान दिये थे[2]। इसमें सन्देह नहीं कि हर्ष के कुछ कार्य बौद्ध धर्म के सर्वथा पक्ष में थे। कश्मीर से उसने बुद्ध का दाँत 'बलपूर्वक स्वायत्त कर' उसे कन्नौज के संघाराम में सुरक्षित किया था[3]। इसी प्रकार उसका प्रतिवर्ष कथोपकथन आदि के लिए बौद्ध भिक्षुओं का आमन्त्रण, बौद्ध विहार तथा स्तूपनिर्माण[4], पशुवध तथा मांस-भक्षण के विरुद्ध कठोर दण्ड-विधान[5] आदि उसकी बौद्ध मति को प्रकट करते हैं। गरीबों और रोगियों के लिए निःशुल्क भोजन तथा औषधियों के वितरण के अर्थ पुण्यशालाओं का निर्माण भी बौद्ध आदर्शों से ही

---

१. फाह्यान दक्षिण के जलमार्ग से जावा और सुमात्रा होते हुए चीन लौटा था।
२. वाटर्स, १, पृ० ३४४; बील, १, पृ० २१५।
३. Life, पृ० १८१, १८३।
४. वाटर्स, १, पृ० ३४४।
५. वही, बील, १, पृ० २१४।

अनुप्राणित था[1]। इस प्रकार हर्ष की संरक्षकता में बौद्ध-धर्म कन्नौज में फूला-फला यद्यपि अन्य प्रदेशों में उसका काफी ह्रास हो गया था।

देश की धार्मिक स्थिति

युवान्-च्वांग के वृत्तान्त और हर्षचरित से स्पष्ट है कि हर्ष के साम्राज्य में बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन धर्मों का विशेष प्रचार था। इनमें से अन्तिम का वैशाली पौंड्रवर्धन और समतट को छोड़ कर देश के अन्य भागों में प्राय: अभाव हो चला था। इन स्थानों में अवश्य दिगम्बरों की बहुलता थी। इस धर्म की दूसरी शाखा श्वेताम्बरों की थी। युवान्-च्वांग को बौद्ध धर्म का प्रसार अत्यन्त विस्तृत जान पड़ा, पर वस्तुतः कौशांबी, श्रावस्ती और वैशाली आदि स्थानों में उसका अत्यन्त ह्रास हो चला था। बौद्ध धर्म और उसकी सक्रियता के केन्द्र मठ और विहार थे जिनका अस्तित्व गृही लोगों के दान पर अवलम्बित था। बौद्ध धर्म के मुख्य सम्प्रदाय महायान और हीनयान थे, जिनमें से प्रथम का विशेष प्रचार हुआ था। यात्री ने उसकी १८ शाखाओं का भी वर्णन किया है जो अपने क्रिया-अनुष्ठानों में एक-दूसरे से भिन्न थीं और जिनमें से प्रत्येक अनुयायी अपनी बौद्धिक महत्ता की घोषणा करता था[2]। इस प्रकार के संघर्ष बौद्ध धर्म के ह्रास के कारण हुए और उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया से ब्राह्मण धर्म को बल मिला जो गुप्तकाल से ही पुनरुज्जीवित हो चला था। ब्राह्मण धर्म के मुख्य केन्द्र हर्ष के साम्राज्य में प्रयाग और वाराणसी थे। जैन और बौद्ध धर्मों की भाँति ही ब्राह्मण धर्म भी स्पष्टतः मूर्ति-पूजक था। महायान में तो बुद्ध और बोधिसत्त्वों की पूजा सर्वमान्य ही थी। लोकप्रिय ब्राह्मण देवता आदित्य, शिव तथा विष्णु थे और उनकी मूर्तियाँ मन्दिरों में प्रतिष्ठापित की जाती थीं जहाँ उनकी सविस्तर पूजा होती थी[3]। ब्राह्मण यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करते, गाय का आदर करते तथा सौभाग्य और समृद्धि के अर्थ अनेक क्रियाओं के अनुष्ठान करते थे[4]। ब्राह्मण धर्म की एक विशेषता उसकी दार्शनिक शाखाओं तथा साधुवर्गों की अनेकता में थी। बाण ने कपिल और कणाद के अनुयायियों, वेदान्तियों, आस्तिकों (ऐश्वरकरणिकों), लोकायतिकों (निरीश्वरवादियों) का उल्लेख किया है[5]। इसी प्रकार साधुओं के अनेक वर्गों का भी उसने उल्लेख किया है। इनमें से मुख्य निम्नलिखित थे—केशलुञ्चक (सिर के बाल उखाड़ने वाले), पाशुपत, पञ्चरात्रिक, भागवत आदि।[6] 'जीवनवृत्तान्त' में भी भूतों, कापालिकों, जुतिकों, सांख्यों, वैशेषिकों आदि

---

१. वही।
२. वाटर्स, १, पृ० १६२।
३. हर्षचरित, कावेल-थामस अनूदित, पृ० ४४।
४. वही, पृ० ४४-४५, और देखिए, पृ० ७१, ६०, १३०।
५. हर्षचरित, कावेल-थामस अनूदित पृ० २३६।
६. वही, पृ० ३३, ४६, २३६।

का वर्णन है[१]। इन विविध वर्गों के परिधान, विश्वास तथा क्रियानुष्ठान भिन्न-भिन्न थे। ये भिक्षाटन करते थे और विना व्यक्तिगत आवश्यकताओं की परवाह किए अपने दृष्टिकोण से सत्य की खोज में लगे रहते थे[२]।

विद्या का संरक्षक हर्ष

हर्ष के यश का एक आधार विद्या के प्रति उसकी उदार नीति है। युवान्-च्वांग लिखता है कि हर्ष राजकीय क्षेत्रों का चतुर्थांश प्रख्यात मेधावियों को पुरस्कृत करने में व्यय करता था[३]। "जीवन-वृत्तान्त" के अनुसार उसने उदारतापूर्वक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान जयसेन को "उड़ीसा के अस्सी बड़े नगरों की आय" दान कर दी, यद्यपि उस त्यागी मनीषी ने उसे स्वीकार न किया[४]। हर्ष ने बौद्ध दर्शन के प्रसिद्ध पीठ नालन्दा को भी अनन्त दान दिये। उसकी ऊँची अट्टालिकायें, वहाँ का असाधारण व्याख्यान-चिन्तन द्वारा ज्ञान-वितरण, उसकी सुविस्तृत पाठ्य-पद्धति, दूर और समीप के उसके विद्यार्थियों की जमघट और इनसे बढ़कर इसके आचार्यों तथा छात्रों के उन्नत आचार तथा गम्भीर विद्वत्ता तत्कालीन बौद्ध जगत के गर्व की वस्तु थे। राजा इस महान् संस्था को समर्थ, शक्तिमान् तथा जिज्ञासा-प्राण बनाने में अपनी उदार दान-वृत्ति से परस्पर स्पर्धा करते थे[६]। साहित्य में हर्ष की अनुरक्ति बाणभट्ट के से ग्रन्थकारों की संरक्षकता से प्रमाणित है। बाण ने कादम्बरी का पूर्व भाग एव चण्डीशतक आदि कई ग्रन्थ लिखे। हर्ष की राजसभा में सूर्यशतक का प्रणेता मयूर तथा विचक्षण चारण मातंग दिवाकर भी थे।

हर्ष की रचनाएँ

हर्ष विद्वानों का रक्षक मात्र न था प्रत्युत वह स्वयं भी लेखनी के प्रयोग में उतना ही दक्ष था जितना तलवार चलाने में। विद्वान् प्रायः उसे तीन नाटकों, प्रियदर्शिका, रत्नावली, और नागानन्द का रचयिता मानते हैं। बाण उसे सुन्दर काव्य-रचना में दक्ष कहता है।[७] इसके अतिरिक्त सोड्ढल (ग्यारहवीं)[८] और जयदेव (बारहवीं सदी)[९] के से प्राचीन ग्रन्थकार अन्य साहित्यिक राजाओं तथा भास, कालिदास आदि तक की पंक्ति में रखते हैं। फिर भी इन नाटिकाओं के रचयिता के सम्बन्ध में काफी प्राचीन काल से सन्देह किया गया है। ग्यारहवीं सदी का कश्मीरी

१. Life, पृ० १६१-६२।
२. वाटर्स, १, पृ० १६०-६१।
३. वही, पृ० १७६; बील, १, पृ० ८७।
४. Life, पृ० १५४।
५. एक वृत्तान्त के अनुसार नालन्दा में १०००० विद्यार्थी थे (Life पृ० ११२)।
६. देखिये, संकालिया The University of Nalanda, मद्रास, १९३४)।
७. कावेल-थामस अनूदित हर्षचरित, पृ० ५८, ६५।
८. उदयसुन्दरीकथा, पृ० २, दलाल और कृष्णमाचारी का संस्करण, गायकवाड़ प्राच्य-माला, नं० ११—बड़ोदा, १९२०)
९. परांजपे और पेन्से, प्रसन्नराघव, अंक १, श्लोक, २२, पृ १० (पूना, १८९४)।

ग्रन्थकार मम्मट और सत्रहवीं सदी के अनेक विद्वानों[1] ने उनका रचयिता धावक को माना है। उनका विश्वास है कि उस नाटककार ने इनको प्रस्तुत कर कुछ द्रव्यलोभ के बदले हर्षदेव को प्रदान कर दिया। इन परस्परविरोधी अनुश्रुतियों के समक्ष कुछ निश्चित करना कठिन है; परन्तु भारतीय इतिहास में राजसाहित्यिकों का प्रादुर्भाव कभी असाधारण न रहने के कारण हर्ष को भी साहित्यिक प्रणेता मानना कुछ आश्चर्य नहीं। फिर भी इसकी संभावना है कि हर्ष के किसी संरक्षित कवि ने अपने संरक्षक के नाटकों को संशुद्ध कर दिया हो। कहावत प्रसिद्ध है कि "राज-प्रणेता केवल अर्ध-प्रणेता ही होते हैं।"

हर्ष की मृत्यु और उसका परिणाम

प्रायः ४० वर्षों के घटनापूर्ण शासन के पश्चात् ६४७ अथवा ६४८ ई०[2] में हर्ष का निधन हुआ। उसके शक्तिमान् व्यक्तित्व के हट जाने से राज्य में सर्वथा अराजकता फैल गयी और उसके मन्त्री, ओ-ल-न-शुन (अर्थात् अरुणाश्व या अर्जुन), ने उसकी गद्दी भी स्वायत्त कर ली। इस नए राजा ने उस चीनी दूतमंडल का विरोध किया जो चीन से शे-लो-ये-तो अथवा शीलादित्य की मृत्यु के पूर्व ही भेजा गया था और उसके अल्पसंख्यक रक्षक दल का नृशंसतापूर्वक उसने वध करा दिया। परन्तु दूतों का प्रधान, वांग-हुयेन-तो, भाग्यवश निकल भागा और तिब्बत के राजा स्रांग-त्सन-गम्पो तथा एक नैपाली सेना की सहायता से उसने प्रतिशोध लिया। दो युद्धों के बाद अर्जुन अथवा अरुणाश्व बन्दी करके पराजित शत्रु के रूप में चीनी सम्राट के समीप भेज दिया गया। इस प्रकार अर्जुन के नाश के बाद हर्ष की शेष शक्ति का रूप भी सर्वथा लुप्त हो गया[3]।

पश्चात् साम्राज्य के पंजर के लिए राजाओं में होड़ लग गयी। आसाम के भास्करवर्मन् ने हर्ष के प्रान्त कर्णसुवर्ण तथा समीपस्थ भूमि पर अधिकार कर लिया और वहाँ से एक ब्राह्मण को भूमिदान कर लेखपत्र निकाला[4]। मगध में हर्ष के सामन्त माधवगुप्त के पुत्र आदित्यसेन ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और सम्राटों के विरुद धारण कर अश्वमेध का अनुष्ठान किया।[5] पश्चिम और उत्तर-पश्चिम में जिन शक्तियों पर हर्ष का आतंक छाया रहता था वे अब स्वतन्त्र हो गयीं। इनमें राजपूताना के गुर्जर (बाद में अवन्ति के) और कश्मीर के करकोटक मुख्य थे, जिन्होंने अगली सदी में उत्तरी भारत की राजनीति में अपना डंका बजाया।

---

१. उदाहरणतः काव्य प्रदीपोद्योत में नागोजी तथा परमानन्द।

२. 'जीवन-वृत्तान्त' के अनुसार (पृ० १५६), शीलादित्य युंग-ह्वेई काल (अर्थात् प्रायः ६५४-५५ ई० में) के अन्त में मरा।

३. देखिये J. A. S. B., ६, (१८-३७), पृ० ६९-७०; J. R. A. S., १८६९-७० (N. S. O), पृ० ८५-८६; Asiatic Journal and Monthly Register for British and Foreign India and China, Australia, पृ २२०-२१ आदि।

४. Ep. Ind., १२, पृ० ६६।

५. C. I. I., ३, पृ० २१२-१३।

अध्याय १५

हर्षोत्तर और मुस्लिम-पूर्व का उत्तर भारत

(६४७ ई० से लगभग १२०० तक)

प्रकरण १

कन्नौज का राज्य

१—यशोवर्मन्[1]

अर्जुन के पतन के बाद कन्नौज के जिस पूर्वतम राजा के विषय में हम कुछ जानते हैं वह यशोवर्मन् है। अभाग्यवश उसके राजकुल का ठीक पता नहीं चलता। उसका सम्बन्ध कुछ जैन ग्रंथों के आधार पर मौर्यों से बताया जाता है परन्तु इसके लिए पुष्ट प्रमाण का अभाव है। यह मत भी, कि उसके नाम में वर्मन् जुड़ा हुआ है इससे वह मौखरी वंश का जान पड़ता है, विशेष महत्व नहीं रखता। यशोवर्मन् ने संभवतः लगभग ७२५ ई० से ७५२ ई० तक राज्य किया। वह कश्मीर के ललितादित्य मुक्तापीड़ का समकालीन था, और वह सच ही "मध्य भारत का राजा" ई-च-फोन-मो, जिसने अपने मन्त्री सेंग-पो-त को ७३१ ई० में चीन भेजा था, माना गया है। समसामयिक ग्रंथ "गौडवहो" यशोवर्मन् को दक्षिण तक की विस्तृत विजयों का श्रेय देता है, परन्तु, यद्यपि उसके इन युद्धों के सम्बन्ध में सन्देह किया जा सकता है, "मगहनाथ" (मगधनाथ) के साथ युद्ध सत्य पर अवलम्बित है। यह मगधनाथ संभवतः जीवितगुप्त द्वितीय था जिसे यशोवर्मन् ने दारुण युद्ध के बाद परास्त किया। पश्चात् स्वयं यशोवर्मन् कश्मीर के ललितादित्य द्वारा पराजित हुआ। उसका शासन-काल दो महान् कवियों से स्मरणीय है। इनमें से एक है मालतीमाधव, महावीर-चरित्र तथा उत्तररामचरित का रचयिता भवभूति तथा दूसरा प्राकृत काव्य, 'गौडवहो' का प्रणेता वाक्पति। यशोवर्मन् के तीनों उत्तराधिकारी नाम मात्र के राजा थे और उनका नाम अन्धकार में विलुप्त हो गया।

२—आयुध-राजकुल

इस कुल में केवल तीन राजा हुए जिनका शासन अल्पकालिक था। इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि उनकी शक्ति किस प्रकार बढ़ी और उनका वंश कौन सा था। इनमें से प्रथम वज्रायुध का नामोल्लेख कर्पूरमञ्जरी[2] में हुआ है।

---

१. देखिए, त्रिपाठी : Hist. of Kanauj, पृ०१९२,२१२।

२. १, ५२, पृ० ७४, २६६ (कोनो और लानमान का संस्करण)।

उसका राज्यारोहण ७७० ई० के लगभग रखा जा सकता है। संभवतः वह कश्मीर के जयापीड विनयादित्य (७७९-८१० ई०) द्वारा पराजित हुआ। परन्तु यदि जयापीड ने अपनी विजयों का आरंभ अपने शासन के पश्चात्काल में किया हो तो कन्नौज का पराभूत नृपति वज्रायुध न होकर उसका उत्तराधिकारी इन्द्रायुध रहा होगा, जो जैन हरिवंश[1] के आधार के अनुसार शक संवत् ७०५ = ७८३-८४ ई० में राज्य कर रहा था। उसी के राज्य-काल में कन्नौज नरेशों, पालों तथा राष्ट्रकूटों के तीनरुखा संघर्ष का आरंभ हुआ। ध्रुव राष्ट्रकूट(लगभग ७७९-९४ ई० ने गंगा-यमुना के द्वाब पर आक्रमण किया और अपनी इस विजय के उपलक्ष में, कहा जाता है, उसने "साम्राज्य-लक्षणों (परिच्छदों) में गंगा और यमुना के आकृति-चिह्न भी जोड़ लिए।" पश्चात्, बंगाल के धर्मपाल ने इन्द्रायुध को परास्त कर सिंहासन से उतार दिया और उसके स्थान में अपने संरक्ष्य चक्रायुध को प्रतिष्ठित किया। इस राजनैतिक परिवर्तन और नव-व्यवस्था को तत्कालीन सारी राजशक्तियों ने अंगीकार किया परन्तु भारत में पालों की इस प्रभुता को राष्ट्रकूट स्वीकार न कर सके और फलतः शक्ति-संतुलन के लिए दोनों राजकुलों में संघर्ष शुरू हो जाना अनिवार्य था। इस कशमकश का परिणाम अमोघवर्ष के सन्जन पत्र-लेखों में सुरक्षित है। इनमें लिखा है कि ध्रुव के पुत्र और उत्तराधिकारी गोविन्द तृतीय (लगभग ७९४-८१४ ई०) के प्रति दोनों "धर्म तथा चक्रायुध ने स्वतः आत्म-समर्पण कर दिया।"[2] इस जद्दोजहद और सामरिक टक्करों से द्वाब में पूरी अराजकता फैल गई। नागभट द्वितीय प्रतीहार इस लोग-विप्लविनी परिस्थिति से लाभ उठाकर तत्काल मोर्चे पर पहुँचा और उस चक्रायुध को, "जिसका नीच आचरण उसके अन्यावलंबन से प्रमाणित था,"[3] परास्त कर दिया। अपनी इस विजय के पश्चात् नागभट ने कन्नौज को अपने राज्य में मिला लिया और वहाँ प्रतीहारों का नया राजकुल प्रतिष्ठित किया।

वज्रायुध

इन्द्रायुध

चक्रायुध

३—प्रतीहार सम्राट

मूल

प्रतीहारों के जिस कुल में नागभट द्वितीय हुआ था, वह विदेशी जान पड़ता

१. Bomb. Gaz., १८९६, खंड १, भाग २, पृ० १९७, नोट २; Ind. Ant., १५, पृ० १४१-४२।

२. Ep. Ind., १८, पृ० २४५, २५३, श्लोक २३।

३. वही, पृ० १०८, ११२, श्लोक ९।

है। राजोर (अलवर) लेख[1] के 'गुर्जर-प्रतीहारान्वयः' (अर्थात् गुर्जरों की प्रतीहार जाति) पद से विदित होता है कि वे प्रसिद्ध गुर्जरों की एक शाखा थे और ये मध्य एशिया की उन जातियों में से एक थे जो गुप्त-साम्राज्य के पतन के पश्चात् हूणों के साथ अथवा उनसे कुछ बाद पश्चिमोत्तर मार्ग से भारत में धारासार प्रविष्ट हुए थे। प्रतीहारों का गुर्जरों की शाखा होना राष्ट्रकूट अभिलेखों तथा अबू जैद और अल् मसऊदी ऐसे अरब लेखकों के इतिवृत्तों से भी प्रमाणित है। अरब लेखकों ने उत्तर के गुर्जरों अथवा जुर्जों के साथ अपने युद्धों का हवाला दिया है। इसके अतिरिक्त यह भी महत्व का है कि कन्नड कवि पम्प महीपाल को 'घूर्जरराज' कहता है। परंतु स्वयं प्रतीहारों के अभिलेख, इसके विरुद्ध, अपना मूल पुरुष लक्ष्मण को मानते हैं जिसने अपने भ्राता राम के द्वार पर का कार्य किया था। उनके इस विश्वास की पुष्टि राजशेखर भी करता है जो अपने संरक्षक महीपाल को 'रघुकुलतिलक' अथवा 'रघुग्रामणी' (रघुकुल का नेता) लिखता है। परन्तु इन आनुश्रुतिक कथानकों पर हम विश्वास नहीं कर सकते क्योंकि इस प्रकार के सम्बन्ध कुल की प्राचीनता तथा उत्तमता घोषित करने के लिए पुरा काल में प्रायः दर्शाए गए है।

मूल-स्थान

प्रतीहारों का पूर्वतम ज्ञात निवास स्थान मध्य-राजपूताना में मन्दोर (जोधपुर) था। वहाँ हरिचन्द्र का कुल राज्य करता था। तदनन्तर एक शाखा दक्षिण की ओर बढ़ी और उसने उज्जैन में अपनी शक्ति प्रतिष्ठित की। उज्जैन गुर्जरों का एक केन्द्र था, यह अमोघवर्ष प्रथम के पत्र-लेखों से प्रमाणित है जिसमें राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग द्वारा वहाँ के गुर्जरराज[3] की पराजय का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त जैन हरिवंश भी वत्सराज को स्पष्टतः अवन्ति का राजा कहता है।[4] यह निर्विवाद है कि यह वत्सराज नागभट द्वितीय का पिता था। इससे हम यह प्रामाणिक निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अपनी उत्तरी विजयों के पहले कन्नौज के प्रतीहार अवन्ति के स्वामी थे।

शक्ति का आरंभ

कुल की प्रतिष्ठा नागावलोक अथवा नागभट प्रथम के समय बढ़ी जिसने "शक्तिमान् म्लेच्छराज की सेनाओं को" परास्त कर दिया और भड़ोच तक धावे

---

१. Ep. Ind., पृ० २६३-६७; इस अभिलेख में विक्रम संवत् १०१६=६५६ ई० का उल्लेख है और इसका विषय प० म० प० विजयपालदेव के सामन्त मथनदेव का एक दान है।

२. वही, १८, पृ० ६५, ६७, श्लोक ४; ग्वालियर अभिलेख (वही; पृ० १०७, ११०, श्लोक ३) के अनुसार लक्ष्मण का प्रतीहार नाम इस कारण पड़ा कि उसने मेघनादादि अपने शत्रुओं के विरुद्ध शक्ति-प्रदर्शन (प्रतिहरणविधेः) किया था।

३. वही, १८, पृ० २४३, २५२ श्लोक ६।

४. Bom Gaz, १८९६, खण्ड १, भाग २, पृ० १९७, नोट २; देखिए Ep. Ind., ६, पृ० १९५-९६; Jour. Dept. Lett., (कलकत्ता विश्वविद्यालय), खण्ड १०, पृ०२३-२५।

मारे ।[1] निस्सन्देह म्लेच्छों से तात्पर्य यहाँ पश्चिमी भारत के अरबी लुटेरों से है। इसके बाद के दोनों राजा सर्वथा दुर्बल तथा नाम मात्र थे। चौथा, वत्सराज, अपनी विजयों के कारण पर्याप्त कीर्तिमान् हुआ। उसने भण्डी जाति (मध्य राजपूताना के संभवतः भट्टी) को परास्त कर उस पर अपनी प्रभुता स्थापित की। वानी-दिन्दोरी[2] तथा राधनपुर[3] के दानलेखानुसार उसने गौडनरेश धर्मपाल को भी परास्त किया। परन्तु अन्त में वत्सराज ध्रुव द्वारा स्वयं परास्त होकर 'मरु के मध्य' (रेगिस्तान) में आश्रय ढूँढ़ने को वाध्य हुआ।

नागभट द्वितीय (लगभग ८०५-३३ ई०)

वत्सराज के बाद उसका पुत्र नागभट (द्वितीय) ८०५ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा। आरम्भ में उसने अपने कुल की विचलित राज्यलक्ष्मी को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहा। परन्तु भाग्य उसके विरुद्ध था, और गोविन्द तृतीय के हाथों वह बुरी तरह पराजित हुआ। नागभट द्वितीय के प्रारम्भिक प्रयत्न जब इस प्रकार असफल हो गये तब उसने अपना रुख कन्नौज की ओर किया और उसका परिणाम वह हुआ जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ८१४ ई० के आरम्भ में गोविन्द तृतीय की मृत्यु के बाद होनेवाले राष्ट्रकूटों के आन्तरिक कलह के कारण नागभट द्वितीय को उनके खतरे से फुरसत मिली। परन्तु बगाल का धर्मपाल जो अपने संरक्षित राजा को गद्दी से उतार कर कन्नौज छीन लेने के कारण उससे असन्तुष्ट था, अब उसकी ओर बढ़ा। मुद्गिरि (मुंगेर) के समीप दोनों सेनायें मिलीं और घोर सघर्ष के बाद प्रतीहार राजा ने धर्मपाल को बुरी तरह पराजित किया। परिणामतः वह इतना शक्तिमान हो गया कि अन्ध्र, सिन्धु, विदर्भ तथा कलिंग के राजाओं ने उससे सहायता तथा मैत्री की प्रार्थना की। ग्वालियर अभिलेख से पता चलता है कि नागभट द्वितीय ने निम्नलिखित प्रदेशों की भी विजय की—आनर्त्त (उत्तरी काठियावाड़), मालव अथवा मध्यभारत, मत्स्यों का देश (पूर्वी राजपूताना), किरातों का देश (हिमालय के प्रदेश), तुरुष्कों के प्रान्त (पश्चिमी भारत के सिन्ध आदि भाग), और वत्सों का राज्य (कौशाम्बी का प्रदेश)[4]।

मिहिरभोज (लगभग ८३६-८५ ई०)

अपने शासन के आरम्भ में ही मिहिरभोज ने प्रतीहार-शक्ति का संगठन आरम्भ किया जो उसके पिता रामभद्र के जन्मकाल में दुर्बल पड़ गयी थी। पहले तो उसने अपने राज्यारोहण के शीघ्र ही बाद बुन्देलखंड में अपने कुल की सत्ता फिर से स्थापित की और नागभट द्वितीय के एक दान का नवीकरण किया जो रामभद्र

---

१. हन्सोत दानलेख, Ep. Ind., १२, पृ० २०३, २०४, पंक्ति ३४।
२. Ind. Ant., ११ पृ० १५७, १६१ पंक्ति १२।
३. Ep. Ind., ६, पृ० २४३, २४८, श्लोक ८।
४. Ep. Ind. १८, पृ० १०८, ११२, श्लोक ११।

के समय में व्यर्थ हो गया था।[१] इसी प्रकार वत्सराज द्वारा प्रदत्त और नागभट द्वारा नवीकृत गुर्जरात्रा-भूमि (मारवाड़) के एक दान का ८४३ ई० में उसने पुनरुद्धार किया[२]। उत्तर में उसकी सत्ता, जैसा कि गोरखपुर जिले में कलचुरि गुणाम्बोधिदेव को दिये क्षेत्रदान से प्रमाणित[३] है, हिमालय के चरण तक मानी जाती थी। इस प्रकार मध्यदेश में अपनी शक्ति स्थापित कर मिहिरभोज बगाल के पालों की ओर मुड़ा जो राजा देवपाल (लगभग ८१५-५५ ई०) के सशक्त शासन में एक बार फिर साम्राज्य निर्माण मे संलग्न हो चले थे। देवपाल शक्तिमान् होने के कारण उसका उचित शत्रु था और कहा जाता है कि उसने "गुर्जरनाथ के दर्प को खर्व कर दिया।"[४] पूर्वाभिमुख प्रसार इस प्रकार अवरुद्ध हो जाने पर भोज दक्षिण की ओर बढ़ा जहाँ से निकलकर राष्ट्रकूट बहुधा कन्नौज पर टूट पड़ते थे। दक्षिण राजपूताना और नर्मदा तक के उज्जयिनी के समीपवर्ती प्रदेशों को उसने रौंद डाला। इससे उसके कुल शत्रु राष्ट्रकूटों से उसकी टक्कर अवश्यम्भावी थी और उनसे ८६७ ई० के पूर्व कभी टक्कर हो गयी। परन्तु इस युद्ध में राष्ट्रकूटों के गुजराती राजकुलीय ध्रुवद्वितीय धारावर्ष ने उसे परास्त कर दिया[५]। तदनन्तर मिहिरभोज का राष्ट्रकूटों की मूल शाखा के कृष्ण द्वितीय (८७५-९११ ई०) से संघर्ष हुआ। परन्तु इन युद्धों का परिणाम स्पष्ट नहीं। इस बात के प्रमाण हैं कि भोज पेहोआ (करनाली जिला)[६] और उसके पश्चिम के देशों तक[७] तथा दक्षिण-पश्चिम में सौराष्ट्र तक जा पहुँचा।

अरब यात्री सुलेमान ने ८९१ ई० में लिखते हुए भोज के शासन-प्रबन्ध की उत्तमता तथा उसकी सैन्य-शक्ति, विशेषकर उसकी अश्व-सेना की सराहना की है। मिहिरभोज "अरबों का अमित्र था" और "इस्लाम का सबसे बड़ा शत्रु" समझा जाता था। देश समृद्ध, खनिज पदार्थों में सुखी तथा डाकुओं से सुरक्षित था[९]।

महेन्द्रपाल प्रथम (लगभग ८८५-९१० ई०)

मिहिरभोज का उत्तराधिकारी उसका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम अथवा निर्भय-

---

१. वही, १९, पृ० १५-१९ (बरह ताम्रपत्र)।

२. वही, ५, पृ० २०८-१३ (दौलतपुर, मध्यप्रदेश)।

३. वही, ७, पृ० ८५-९३ (कहला पत्र लेख)।

४. वही पृ०, १६३,१६५, श्लोक १३—खर्वीकृतद्रविडगुर्जरनाथदर्पम्—

५. Ind. Ant., १२, पृ० १८४, १८९, श्लोक ३८।

६. पेहोआ अभिलेख में स्थानीय मेले में कुछ अश्व-विक्रेताओं के सम्बन्ध में "भोजदेव के विजयी शासन" का उल्लेख है (Ep. Ind., १, पृ० १८४—१९०)।

७. देखिए, नीचे यथास्थान।

८. Ind. Hist. Quart., ५, (१९२९), पृ० १२९-१३३,

९. इलियट, Hist. of India, खंड, १, पृ० ४।

राज[1] था जो ८८५ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा। अभिलेखों से प्रमाणित है कि उसके शासन की प्रमुख घटना राज्यारम्भ में ही मगध और उत्तर बंगाल पर उसकी विजय थी। उना (जूनागढ़ रियासत) के दो लेखों से विदित होता है कि ८९३ और ८९९ ई० में उसकी सत्ता सौराष्ट्र तक मानी जाती थी जहाँ उसके अधीनस्थ सामंत बलवर्मन् तथा अवनिवर्मन् द्वितीय योग राज्य करते थे[2]। परन्तु जान पड़ता है कि इस नृपति की शक्ति उत्तर-पश्चिम की ओर लुप्त हो गयी। राजतरंगिणी से सूचित है कि उधर के प्रदेश जिन पर 'अधिराज' भोज ने अधिकार कर लिया था शंकर-वर्मन् की दिग्विजय के समय थक्किय कुल को बाद में लौटा दिए गए[3]। संभवतः महेन्द्रपाल प्रथम के पूर्व में व्यस्त होने के कारण कश्मीर-राज (८८३-९०२ ई०) को अपनी उद्देश्यपूर्ति का अवसर मिल गया। पंजाब में महेन्द्रपाल ने चाहे जितने प्रदेश खोये हों पेहोआ के एक अभिलेख से निश्चित है कि करनाल का जिला उसके पूर्व-वर्ती शासक की भांति ही उसके शासन में ही बना रहा।[4]

महेन्द्रपाल साहित्यिकों का उदार संरक्षक था। उसकी राजसभा का सबसे देदीप्यमान साहित्यिक नक्षत्र राजशेखर था जिसके अनेक सुन्दर ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं। इनमें से विख्यात हैं—कर्पूरमञ्जरी, बालरामायण, बालभारत, काव्यमीमांसा।

महीपाल (लगभग ९१२-९४४ ई०)

९१० ई० के लगभग महेन्द्रपाल प्रथम की मृत्यु के पश्चात् राज्य में कलह शुरू हुआ। पहले तो उसका पुत्र भोज द्वितीय कोकल्लचेदि[5] की सहायता से गद्दी पर बैठा परन्तु उसके विमातापुत्र महीपाल ने हर्षदेव चन्देल की सहायता से शीघ्र उससे राज्य छीन लिया[6]। महीपाल के नाम क्षितिपाल, विनायकपाल और हेरम्बपाल भी थे। शासन-काल के आरम्भ में ही उसे राष्ट्रकूटों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। गोविन्द चतुर्थ के खंभात के पत्रलेखों से विदित होता है कि इंद्र तृतीय ने महोदय (कन्नौज)[7] ऐसे शत्रुनगर को "पूर्णतः नष्ट कर दिया।" अपने सामन्त नरसिंह चालुक्य को साथ लेकर पूर्व में प्रयाग तक उसने लूटा। लगभग ९१६-१७ ई० के इस आक्रमण से लाभ उठाकर पालों ने अपने खोये हुए पैतृक प्रदेशों को शोणनद के पूर्वी तट तक स्वायत्त कर लिया। इस प्रकार यद्यपि महीपाल को अपने राज्य के कुछ दूरस्थ प्रदेश खोने पड़े परन्तु शीघ्र अपनी कठिनाइयों को जीतकर अपने पिता की विजय-भावनाओं को चरितार्थ करने के लिए वह कटिबद्ध हुआ। "प्रचंड-

---

१. उसके दूसरे नाम महेन्द्रायुध, महिषपालदेव, निर्भयनरेन्द्र आदि थे।
२. Ep. Ind., ९, पृ० १-१०।
३. खंड १, भाग ५, श्लोक १५१ (स्टाइन, पृ० २०६)।
४. Ep. Ind., १, पृ० २४२-२५० (पेहोआ प्रशस्ति)।
५. वही, १, पृ० २५६,२६४, श्लोक १७; वही २, पृ० ३०६, श्लोक ७।
६. वही, १, पृ० १२२, पंक्ति १०।
७. वही, ७, पृ० ३८, ४३ श्लोक १९।

पाण्डव"[1] की भूमिका के एक प्रशस्तिवाचक श्लोक से विदित होता है कि उसका प्रभुत्व मुरल (नर्मदाप्रदेश के निवासी), मेखल (अमरकंटक के निवासी), कलिंग, केरल, कुलूत, कुंतल तथा रमठ (पृथूदक के पीछे बसने वाले) तक मानते थे। परन्तु जान पड़ता है कि महीपाल के शासन-काल के अन्तिम वर्ष कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट के उत्तरी आक्रमणों द्वारा अशान्त हो उठे[2]। अलमसऊदी, जिसने सिन्धु की घाटी का हिजरी ३०३-३०४=९१५-१६ ई० में भ्रमण किया और अपने यात्रा वृत्तान्त हिजरी ३३२=९४३-४४ ई० में लिखे, बऊरा की सैन्य-शक्ति की बड़ी सराहना करता है। बऊर प्रतीहार अथवा पड़िहार शब्द का अपभ्रंश जान पड़ता है। यह अरबी इतिहासकार तत्कालीन राष्ट्रकूट-प्रतीहार शत्रुता का भी उल्लेख करता है[3]।

महीपाल के उत्तराधिकारी (९४४-१०३६ ई० ?)

विनायकपाल (महीपाल) के पुत्र और उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल द्वितीय ने प्रतीहारसत्ता पूर्ववत् बनाये रखी, परन्तु देवपाल (जो ९४८ ई० के शीघ्र पूर्व गद्दी पर बैठा) के शासन-काल में चंदेल शक्तिमान हो चले[4]। इससे स्पष्ट था कि प्रतीहार साम्राज्य की समृद्धि के दिन अब समाप्त हो गये और उसकी चूलें हिल गयीं। विजयपाल के समय तक पहुंचते-पहुंचते यह साम्राज्य निम्नलिखित सात शक्तियों में बँट गया :—(१) अन्हिलवाड़ के चालुक्य, (२) जेजाकभुक्ति के चंदेल, (३) ग्वालियर के कच्छपघात, (४) डाहल के चेदि, (५) मालवा के परमार, (६) दक्षिणी राजपूताना के गुहिल, और (७) शाकम्भरी के चाहमान। इस प्रकार राज्यपाल के दसवीं सदी के अंतिम दशक के लगभग राज्यारोहण के समय प्रतीहार-कुल की महत्ता और शक्ति नष्ट हो चुकी थी। उसके शासन-काल में उत्तर-पश्चिम के मुसलमानों ने भारत के हरे-भरे मैदानों पर अपनी काक-दृष्टि डालनी शुरू की। उनके विरुद्ध उद्भांडपुर (पश्चात् भटिंडा) के शाहियों ने स्वदेश की रक्षा के लिए समकालीन हिन्दू राजाओं

---

१. पंक्ति ७। कार्ल केपल्लर का संस्करण (१८८५), पृ० २.

नमितमुरलमौलिः पाकलो मेकलानां
रणकलितकलिङ्गः केलितः केरलेन्दोः।
अजनिजितकुलूतः कुन्तलानां कुठारः
हठहृतरमठश्रीः श्रीमहीपालदेवः॥

२. History of Kanauj, पृ० २६७-६८।

३. इलियट, History of India, खंड, १, पृ० २१-२३।

४. खजुराहो का लेख, Ep. Ind., १, पृ० १२६-२८, १३२-१३३, श्लोक २३ और ३१। इसमें यशोवर्मन् चन्देल को "गुर्जरों को जलानेवाला", तथा "कालंजर दुर्ग का विजेता" कहा गया है।

का जो संघ संगठित किया उसमें राज्यपाल भी सम्मिलित था।[1] पहले तो उसने सुलतान सबुक्तिगिन के विरुद्ध जयपाल की सहायता के लिए ९९१ ई० में एक सेना भेजी और दूसरी हिजरी ३३९=१००८ ई० में जब जयपाल के पुत्र और उत्तराधिकारी आनंदपाल के विरुद्ध महमूद ने युद्ध यात्रा की। दोनों अवसरों पर हिन्दू संघ की सेनाएँ पराजित हुई। अन्त में १०१८ ई० के दिसम्बर में राज्यपाल की बारी आई। परन्तु महमूद से टक्कर लेने का साहस न कर सकने के कारण वह गंगापार बरी को भाग गया। प्रतीहारराज के इस दुर्बलता-प्रदर्शन से चन्देलराज गण्ड अत्यंत कुपित हो उठा और उसने अपने युवराज विद्याधर के नेतृत्व में उसे दंडित करने के लिए सेना भेजी। विद्याधरदेव ने राज्यपाल को मारकर उसकी गद्दी उसके पुत्र त्रिलोचनपाल को दे दी।[2] जब महमूद को इसकी सूचना मिली तब हिजरी ४१०=१०१९ ई० के पतझड़ में वह दलबल सहित कन्नौज की ओर बढ़ा और युद्ध में त्रिलोचनपाल को पूर्णतः परास्त किया। परन्तु त्रिलोचनपाल मृत्यु के मुख से बच गया और उसका १०२७ ई० तक जीवित रहना प्रमाणित है। इस कुल का अन्तिम राजा यशःपाल था जिसका उल्लेख १०३६ ई० के एक अभिलेख[3] में मिलता है।

४—गाहड़वाल

अराजक परिस्थिति

प्रतीहार-साम्राज्य के पतन के पश्चात् गंगा-यमुना के द्वाब में बहुधा आक्रमण होने लगे। हिजरी ४२४=१०३३ ई० में पंजाब के शासक अहमद नियाल्तिगिन ने गंगा अथवा गांगेयदेव चेदि के राज्य में काशी तक धावा मारा[4]। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि गांगेयदेव तथा उसके पुत्र कर्ण (लगभग १०४१-७२ ई०) दोनों ने उत्तर की ओर बढ़कर कुछ देश जीते। बसही पत्रलेख[5] के एक महत्वपूर्ण श्लोक से प्रमाणित है कि भोजपरमार (लगभग १०००-१०५० ई०) ने कन्नौज के प्रान्त पर हमले किये। इस प्रकार जब पृथ्वी नाशकारी आक्रमणों से आक्रान्त हो उठी

---

१. ब्रिग्स, फिरिश्ता (History of the Rise of the Mohammedan power) खंड १, पृ० १८,४६।

२. History of Kanauj, पृ० २८५-८७।

३. कन्नौज के प्रतीहारकुल के पतन के पश्चात् प्रतीहार सर्वथा विलुप्त नहीं हुए। विभिन्न प्रान्तों में शासन करने वाले अनेक प्रतीहार राजाओं के नाम हमें ज्ञात हैं। उदाहरणतः मलयवर्मन् का कुरेट्ठ (ग्वालियर रियासत) पत्रलेख जो विक्रम सम्वत् १२०७ का है, उसके भ्राता नृवर्मन् का विक्रम सम्वत् १३०४ का लेख (Prog. Rep. A. S. W. C., १९१५-१६, पृ० ५९ भंडारकर की सूची, नं० ४७५ और ५४१)। पटना विश्वविद्यालय के डा० अल्तेकर को भी कोटा रियासत में मलयवर्मन् का एक खण्डित लेख मिला है। उन्होंने Epigraphia Indica में इसका सम्पादन किया है।

४. इलियट, History of India खंड, २, पृ० १२३-२४।

५. Ind. Ant., १४, पृ० १०३, पंक्ति ३।

तब चन्द्रदेव नामक एक गाहड़वालकुलीय व्यक्ति ने उठकर अपने विक्रम द्वारा "प्रजा के दुख" का अन्त किया।[1]

मूल

इतिहास में गाहड़वालों का प्रादुर्भाव इतना आकस्मिक है कि उनके मूल के सम्बन्ध में कुछ ठीक-ठीक निश्चित करना कठिन है। कुछ विद्वानों का मत है कि वे प्रसिद्ध राष्ट्रकूटों अथवा राठौरों की एक शाखा थी। परन्तु यह महत्व की बात है कि गाहड़वालों के बहुसंख्यक अभिलेखों में से किसी में उनका सम्बन्ध प्रख्यात सूर्य अथवा चन्द्रवंश से नहीं जोड़ा गया है और उनकी अनुश्रुतियां ययाति के किसी सुदूर वंशज से उनका सम्बन्ध स्थापित करती हैं। किसी प्राचीन पौराणिक व्यक्ति के साथ उनका सम्पर्क नहीं माना गया है। इससे क्या यह संभव है कि आरम्भ में वे इस देश की कोई नगण्य जाति के रहे हों जो राजनैतिक शक्ति स्वायत्त कर और ब्राह्मण धर्म को संरक्षित कर क्षत्रिय विख्यात हुए।

चन्द्रदेव

जान पड़ता है कि चन्द्रदेव ने गोपाल नामक किसी राजा को परास्त कर[2] कभी १०८० और १०८५ के बीच कान्यकुब्ज में गाहड़वाल राजकुल की प्रतिष्ठा की। अपने अभिलेखों में चन्द्रदेव ने परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर के सम्राट् परक विरुद धारण किये और अपने को काशी (बनारस), उत्तर कोशल (फैज़ाबाद ज़िला), कुशिक (कन्नौज), और इन्द्रस्थान (दिल्ली) के 'तीर्थ स्थानों का त्राता"[3] कहा। इस प्रकार उसका राज्य-विस्तार पूरे संयुक्त प्रान्त पर था। यह तर्कसिद्ध है कि उसने बंगाल के विजयसेन के आक्रमणों का भी सफल प्रतिरोध किया। उसकी अन्तिम ज्ञात तिथि १०९९ होने के कारण चन्द्रदेव ११०० ई० के लगभग मरा होगा।

गोविन्दचन्द्र

चन्द्रदेव के पुत्र तथा उत्तराधिकारी मदनपाल के सम्बन्ध में कोई ज्ञातव्य ज्ञात नहीं। १११४ ई० के शीघ्र-पूर्व उसका पुत्र गोविन्दचन्द्र[4] गद्दी पर बैठा। पिता के जीवन-काल में ही इसने शासन में विशेष भाग लिया था। युवराज की हैसियत से ११०९ ई० में उसने गजनी के बादशाह मसऊद तृतीय (१०९८-१११५ ई०) के सेनापति हजीब-तुगातिगिन के मुस्लिम आक्रमण का सफल प्रतिरोध किया।

यह प्रमाणित है कि गोविन्दचन्द्र ने अवसानोन्मुख पाल-साम्राज्य पर भी

---

१. वही, १८, पृ० १६, १८, पंक्ति ४।

२. "गाधिपुराधिप" गोपाल का सहेट-महेठ-लेख (Ind. Ant., १७, पृ० ६१-६४; वही, २४, पृ० १७६; J. A. S. B., ६१, अतिरिक्त संख्या १ पृ० ६०)।

३. Ind. Ant., १५, पृ० ७, ८, श्लोक ५; १८, पृ० १६, १८, पंक्ति ४।

४. History of Kanauj, पृ० ३०७-१६।

धावे किये और मगध के भाग जीतकर अपने राज्य में मिला लिए। यह उसके दो दानों से सिद्ध है। इनमें से एक ११२६ ई०[1] में पटने जिले के एक गाँव का था और दूसरा ११४६ ई० में[2] मुंगेर जिले (मुद्रागिरि) के एक अन्य गाँव का। स्पष्ट है कि दोनों स्थान गोविन्दचन्द्र के शासन में थे। उसने दशार्ण अथवा पूर्वी मालवा की भी विजय की[3]। संक्षेप में वह अत्यन्त शक्तिमान हो गया और उसका यश दूर-दूर के देशों में फैल गया। उसकी मैत्री कश्मीर के जयसिंह (११२८-४९ ई०) तथा गुजरात के सिद्धराज जयसिंह (लगभग १०९५-११४३ ई०) और सम्भवतः दक्षिण के चोलों से भी थी। गोविन्दचन्द्र के शासन-काल में उसके मेधावी सान्धि-विग्रहिक लक्ष्मीधर ने अपना कृत्यकल्पतरु (कल्पद्रुम) रचा जो व्यवहार (कानूनों) का एक अमूल्य ग्रन्थ माना जाता है।

विजयचन्द्र

गोविन्दचन्द्र के पश्चात् उसका पुत्र विजयचन्द्र ११५४ ई० के शीघ्र बाद गद्दी पर बैठा। पृथ्वीराज-रासो में उसकी विस्तृत विजयों का वर्णन है। परन्तु इन चारण-कथाओं पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। पिता की ही भाँति विजयचन्द्र भी मुसलमानों के विरुद्ध फौलादी दीवार सिद्ध हुआ[4]। उसने अमीर खुसरो अथवा उसके पुत्र खुसरोमलिक (जिसने अलाउद्दीन गौरी द्वारा गजनी से निकाले जाने पर लाहौर पर अधिकार कर लिया था) को परास्त कर लौटा दिया। पूर्व में भी विजयचन्द्र ने दक्षिण बिहार पर गाहड़वाल सत्ता कायम रखी। परन्तु एक अभिलेख से विदित होता है कि पश्चिम में उसकी टक्कर विग्रहराज बीसलदेव से हुई जिसने दिल्ली उससे छीन ली[5]।

जयचन्द्र

विजयचन्द्र का पुत्र और उत्तराधिकारी जयचन्द्र ११७० ई० की २१ जून रविवार को गद्दी पर बैठा। कहा जाता है कि उसने देवगिरि के यादव राजा पर आक्रमण किया, अन्हिलवाड़ के सिद्धराज को दो बार परास्त किया, आठ सामन्त राजाओं को बन्दी किया और यवनराज सिहाबुद्दीन को कई बार पराजित किया। ये चारण-अनुश्रुतियाँ साहित्यिक अथवा अभिलेखसम्बन्धी प्रमाणों से समर्थित न होने के कारण सर्वथा त्याज्य हैं। जयचन्द्र की राज्य-सीमाएँ अपेक्षाकृत परिमित

---

१. J. B. O. R. S., खंड २, भाग ४, (१९१६), पृ० ४४१-४७।

२. Ep. Ind., ७, पृ० ९८-९९।

३. रम्भामञ्जरी, बम्बई संस्करण (१८९९), पृ० ४।

४. Ind. Ant. १५, पृ० ७, ६, श्लोक ६—भुवनदलनहेलाहर्म्यंहम्मीरनारीनयनजलदधाराधौतभूलोकताप:।

५. J. A. S. B., १८८६ (खंड ५५, भाग १), पृ० ४२, श्लोक २२। इस प्रकार यह विश्वास कि दिल्ली पृथ्वीराज तृतीय के समय ही चाहमानों के अधिकार में आई निराधार है। कहानियों में अनङ्गपाल तोमर को धिल्लिक अथवा दिल्ली का निर्माता कहा गया है। ये तोमर संभवत: कन्नौज के राजाओं के सामन्त थे।

रही होंगी जैसा चौहानों और चन्देलों आदि के राज्यों के अस्तित्व से प्रमाणित है। पूर्व में निःसन्देह, जैसा एक अभिलेख[1] से सिद्ध है, उसका प्रभुत्व गया प्रान्त पर बना रहा और बनारस भी गाहड़वालों की द्वितीय राजधानी बनी रही। जयचन्द्र ने अपनी कन्या संयोगिता का स्वयम्वर किया परन्तु उसके बीच ही पृथ्वीराज ने उसे हर लिया।

जयचन्द्र के शासन-काल की सबसे बड़ी घटना सिहाबुद्दीन गोरी का हमला था। ११९१ ई० में उस यवनराज को पृथ्वीराज ने तलावड़ी के मैदान में परास्त किया और यह पराजय सुलतान के मन में इस कदर खटकती रही कि जब तक दूसरे वर्ष लौटकर उसने चौहानराज को परास्त कर मार न डाला तब तक उसे चैन न मिला। जयचन्द्र इस युद्ध से पृथक् रहा, सम्भवतः यह विचार कर कि प्रबल प्रतिस्पर्धी पृथ्वीराज के नाश से उत्तर भारत में उसकी सत्ता निःशंक[2] हो जाएगी।

हरिश्चन्द्र

उसे ज्ञात न था कि उसका अन्त भी उपस्थित है। हिजरी ५९०=११९४ ई० में सिहाबुद्दीन गोरी ने कन्नौज की ओर प्रस्थान किया और चन्दावर तथा इटावे के बीच जयचन्द्र से जा भिड़ा। युद्ध में जयचन्द्र मारा गया परन्तु उसका राज्य सिहाबुद्दीन ने उसके पुत्र हरिश्चन्द्र को लौटा दिया। ज्ञात नहीं हरिश्चन्द्र का अन्त कब और कैसे हुआ। परन्तु यह निश्चित है कि हिजरी ६२३=१२२६ ई० तक गंगा-जमुना का द्वाब मुसलमानों के हाथ में जा चुका था।

इस प्रकरण का अन्त करने के पूर्व यह बता देना उचित होगा कि संस्कृत साहित्य में जयचन्द्र का नाम उसकी विद्या की संरक्षकता के कारण स्मरणीय है।

श्रीहर्ष

उसके राजकवि तथा संस्कृत के विख्यात महाकवि श्रीहर्ष ने इसी काल में काव्य-रचना की। नैषधचरित और खण्डन-खण्ड-खाद्य उसके ग्रन्थों में मुख्य हैं।

प्रकरण २

नैपाल[3]

विस्तार

नैपाल का वर्तमान राज्य हिमालय की दक्षिण भूमि पर दूर तक फैला हुआ

---

१. Ind. Hist. Quart., खंड ५ (१९२९), पृ० १४-३०; Proc. As. Soc. Beng., १८८०, पृ० ७६-८०।

२. साधारण जन विश्वास, कि जयचन्द्र ने सिहाबुद्दीन गोरी को भारत पर आक्रमण करने के हेतु आमन्त्रित किया, सर्वथा भ्रमपूर्ण और नितान्त निराधार है।

३. देखिए, सिलवाँ लेवी : Le Nepal (पेरिस १९०५); पर्सिवल लैन्डन : Nepal (लन्दन, १९२८); डी० राइट : History of Nepal. (केम्ब्रिज, १८७७): Ind. Ant., ९, १४, आदि; Dy. Hist. North. Ind.; १; ४; पृ० १८५-२३४।

है। इसका विस्तार पश्चिम में अलमोड़ा जिले से पूर्व में दार्जिलिंग की पहाड़ियों तक प्रायः ५०० मील लम्बा है। परन्तु प्राचीन काल में वह गन्डक और कोसी नदियों के बीच केवल २० मील लम्बा और १५ मील चौड़ा था। इस छोटे दायरे के अन्दर जहाँ काठमान्डू और अन्य नगर अवस्थित थे वहाँ के निवासी अपना संसार से पृथक् जीवन व्यतीत करते थे। और यदि उनका बाह्य

बाह्य सम्पर्क

जगत् से कोई सम्पर्क था भी तो वह अधिकतर तिब्बत और चीन से। बहुत कम अवसरों पर ही नैपाल का भारत से सम्बन्ध हुआ था। तृतीय शती ई० पू० के मध्य में अशोक ने उस घाटी के ऊपर अधिकार रखा होगा। क्योंकि, कहा जाता है कि अपनी कन्या चारुमती तथा जामाता देवपाल खत्तिय (क्षत्रिय) के साथ वह वहाँ गया और उसने अनेक स्तूप तथा विहार बनवाये। ललितपाटन का नगर भी उसी का बनवाया हुआ कहा जाता है। तदनन्तर चतुर्थ शती ई० के बीच, जैसे —प्रयाग-स्तम्भ-लेख से विदित होता है, नैपाल प्रत्यन्त का स्वतन्त्र देश था जो औरों के साथ समुद्रगुप्त को कर प्रदान करता था।[1] अशोक और समुद्रगुप्त के बीच काल के इतिहास के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प है। 'वंशावलियों' तथा स्थानीय आनुश्रुतिक

अंशुवर्मन्

इतिहासों में आभीरों, किरातों, सोमवंशियों तथा सूर्यवंशियों के राज्य का वर्णन मिलता है परन्तु उनका तिथिक्रम अत्यन्त अग्राह्य है। परन्तु छठी सदी ईसवी के अन्त तथा सातवीं के पहले ४० वर्षों तक पहुँचने पर हम अपेक्षाकृत प्रकाश में आ जाते हैं। यह काल उस ठाकुरी अंशुवर्मन्[2] का है जिसकी एकता युवान-च्वांग के वृत्तान्त अंग—शू—फ़—न के साथ स्थापित की गई है। वह लिच्छवि राजा शिवदेव का पहले मन्त्री था और कुछ काल बाद धीरे-धीरे सारी राज्यशक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर उस घाटी का सच्चा स्वामी बन बैठा। उसने कम से कम ४५ वर्ष राज्य किया और सभवतः ५९५ ई० में आरम्भ होने वाला एक संवत् चलाया।

कुछ विद्वानों का मत है कि नैपाल पर हर्षवर्धन का आधिपत्य स्थापित हो गया था परन्तु प्रस्तुत सामग्री की छानबीन से यह मत सत्य नहीं जान पड़ता।[3] इसके विरुद्ध यह विदित होता है कि नैपाल के ऊपर तिब्बत का प्रभाव अत्यधिक था और अंशुवर्मन् ने अपनी कन्या का विवाह शक्तिमान तिब्बती नृपति स्राग-वसन-गम्पो (लगभग ६२९—५० ई०) के साथ किया था।

---

१. देखिए पीछे, यथास्थान।

२. परन्तु 'वंशावलियों' में अंशुवर्मन् की तिथि प्रायः ७०० वर्ष पहले दी हुई है। (Ind. Ant., १३, पृ० ४१३)।

३. देखिए, History of Kanauj, पृ० ९२-९९—अत्र परमेश्वरेण तुषारशैलभुवो दुर्गाया गृहीतः करः (हर्षचरित, कलकत्ता सं०, पृ० २१०-११)।

अगली दो सदियों में नैपाल का इतिहास अन्धकार में खो जाता है। इस बीच केवल इतना ही अपेक्षाकृत स्पष्ट है कि लिच्छवि शासन की संभवतः पुनः प्रतिष्ठा हुई और नैपाल के ऊपर तिब्बत का आधिपत्य पूर्ववत् बना रहा। ८७९-८० ई० में एक नया संवत् संभवतः विदेशी आधिपत्य से स्वतन्त्र होने के उपलक्ष में चलाया गया। उसके बाद प्रायः सवा सौ वर्ष का नैपाली इतिहास एक बार फिर अन्धकार में खो जाता है परन्तु ११वीं सदी के आरम्भ से हमारा ज्ञान नये आधार पर प्रस्तुत होता है। दरबार-पुस्तकालय और अन्य स्थानों में सुरक्षित बहुसंख्यक हस्त-लिपियों में क्रमिक राजाओं की लम्बी शृंखलाएँ लिखी हुई मिल जाती हैं। परन्तु इन राजाओं में से कोई विशेष कीर्तिमान् नहीं है। भारत, तिब्बत और चीन के साथ नैपाल का व्यापार खूब चलता था और वहाँ के निवासी समृद्ध और सम्पत्तिवान् हो गये थे। इसके अतिरिक्त यह भी पता चलता है कि तिरहुत के कर्णाटक राजा नान्यदेव ने १२ वी सदी के पूर्वार्ध में कभी अपना आधिपत्य नैपाल पर स्थापित किया। गुरखों द्वारा १७६८ ई० में नैपाल की विजय के शीघ्र पूर्व का इतिहास साधारण इतिहास-पाठक के आकर्षण का विषय नहीं।

बौद्ध धर्म

नैपाल में बौद्ध धर्म का प्रचार संभवतः अशोक के आगमन के साथ हुआ। परन्तु उसके विकास की मजिलों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बहुत थोड़ा है। हम यह भी नहीं जानते कि तान्त्रिक महायान वहाँ किस प्रकार फैल गया। कालान्तर में बौद्ध धर्म का तीव्रता से ह्रास हो चला और नियमों के प्रति उच्छृंखलता इस मात्रा में बढ़ी कि प्रव्रजित भिक्षु का विवाह करना तथा अन्य पार्थिव वृत्तियो का आश्रय अनुचित न समझा जाने लगा। आज नैपाल का बौद्ध धर्म हमारे सामने ही हिन्दुत्व के पाश से निरन्तर जकड़ता जा रहा है और यह निश्चित है कि वह हिन्दुत्व के चक्कर में सर्वथा खो जाएगा। नैपाल का प्रमुख हिन्दू देवता पशुपति (शिव) है।

प्रकरण ३

शाकम्भरी के चाहमान

मूल

हम्मीर-महाकाव्य और पृथ्वीराज-विजय के अनुसार चाहमान (चौहान) सूर्य के पुत्र चाहमान नाम के अपने पूर्वज के वंशज थे। चारण-अनुश्रुतियाँ उन्हें चार 'अग्निकुलों' में से एक मानती हैं। इससे तात्पर्य सम्भवतः यह हुआ कि वे भी

विदेशी राजकुलों में से एक थे जिन्होंने अग्निसंस्कार द्वारा हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में अपनी जगह ऊँची बना ली[1]।

इस कुल के प्रधान राजा

भारतीय राजनीति के क्षेत्र में सदियों तक चाहमानों का दबदबा बना रहा। इस जाति की अनेक शाखाओं में प्रमुख शाखा शाकम्भरी अथवा सांभर की थी। विक्रम संवत् १०३०=९७३ ई० का हर्ष-प्रस्तर-लेख (जो इस कुल का पहला लेख[2] है) नागभट द्वितीय प्रतीहार के समकालीन गूवक प्रथम तक चाहमान इतिहास को ले जाता है, यद्यपि साहित्यिक ग्रन्थों में इस कुल की वंशतालिका और पूर्व वासुदेव तक लिखी मिलती है। १२ वीं सदी के आरम्भ के लगभग अजयराज ने अजयमेरु अथवा अजमेर नगर बसाया और उसे महलों तथा मन्दिरों से अलंकृत किया। इस कुल का दूसरा प्रसिद्ध राजा विग्रहराज चतुर्थ वीसलदेव (११५३-६४ ई०) हुआ। कहा जाता है कि उसने हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच की सारी भूमि पर अधिकार कर लिया[3]। इसमें सन्देह नहीं कि इस वक्तव्य में प्रशस्ति-वाचक अतिरंजन है, परन्तु बिजोलिया (मेवाड़) में मिले एक लेख से उसका दिल्ली जीतना प्रमाणित है[4] जिसे, हमारे विचार में, उसने विजयचन्द्र गाहड़वाल से छीना होगा[5]। सफल सैन्य-संचालक होने के अतिरिक्त विग्रहराज वीसलदेव प्रतिभाशाली कवि तथा साहित्यिकों का संरक्षक था। ढाई-दिन-का-झोपड़ा[6] नामक मस्जिद की दीवार में लगे पत्थर पर खुदे हरकेलि-नाटक के कुछ भाग कुछ दिन हुए मिले थे। यह नाटक विग्रहराज का रचा हुआ माना जाता है। इसी रूप में अन्यत्र उपलब्ध 'ललित-विग्रहराज' की रचना महाकवि सोमदेव ने वीसलदेव के चरित के बखान में की थी। इस राजकुल का सबसे बड़ा राजा मुस्लिम इतिहासकारों का राय पिथौरा अथवा पृथ्वीराज तृतीय (११७९-९२ई०) था। इस राजा के व्यक्तित्व पर एक अद्भुत प्रभामंडल है जिसने रोमांचक जनश्रुतियों और गानों का उसे नायक बना दिया है। कन्नौज के जयचन्द्र के साथ उसका सद्भाव न था, और अनुश्रुतियों से विदित होता है कि जयचन्द्र जब अपनी कन्या संयोगिता का स्वयंवर कर रहा था तब पृथ्वीराज एकाएक वहाँ जा पहुँचा और उसकी कन्या को बलपूर्वक ले

अजयराज

विग्रहराज चतुर्थ वीसलदेव

पृथ्वीराज तृतीय

---

१. अग्निकुल से यह निष्कर्ष कुछ विद्वान् नहीं मानते। वे अग्नि संस्कार द्वारा विदेशी कुल का हिन्दू होना स्वीकार नहीं करते।

२. Ep. Ind., २, पृ० ११६-३०।

३. Ind. Ant., १९, पृ० २१९।

४. J. A. S. B., ५५, भाग १ (१८८६), पृ० ४२, श्लोक २२।

५. देखिए ऊपर।

६. यह मस्जिद उसी राजा द्वारा बनवाया हुआ पहले का एक कालेज कहा जाता है।

भागा। पृथ्वीराज ने चन्देलराय परमादि अथवा परमल (११६५=१२०३ ई०) पर भी आक्रमण किया और महोबा तथा बुन्देलखंड के अन्य दुर्ग छीन लिए। गुजरात के समकालीन राजा भीम द्वितीय चालुक्य (लगभग ११७९-१२४० ई०) के साथ भी संभवतः पृथ्वीराज का युद्ध हुआ। पश्चात् सांभर तथा दिल्ली का स्वामी होने के नाते उसे सिहाबुद्दीन गौरी के हमलों का सामना करना पड़ा। गौरी धीरे-धीरे हिन्द के हरे-भरे मैदानों की ओर बढ़ता आ रहा था। तलावड़ी के पहले युद्ध (हिजरी ५८७=११९१ ई०) में विजय पृथ्वीराज के हाथ रही और मुस्लिम सेना इस बुरी तरह पराजित हुई कि वह स्वयं सिहाबुद्दीन को चौहानों के विकट आक्रमण से बड़ी कठिनाई से बचाकर ले जा सकी[1]। यह पराजय सुलतान के मन में दिन रात खटकती रही और इसके निराकरण के लिए अगले ही साल हिजरी ५८८=११९२ ई० में सेना संगठित कर वह फिर हिन्दुस्तान लौटा। पृथ्वीराज ने पड़ोसी राजाओं को सहायता के लिए आमन्त्रित किया और उन्होंने उत्साहपूर्वक उसे अपना सहयोग दिया भी[2]। परन्तु जयचन्द्र इस खतरे के विरुद्ध उपचार से सर्वथा पृथक् रहा, यद्यपि उससे शीघ्र सम्भूत विपत्तियों से वह स्वयं अपनी रक्षा न कर सका। युद्ध में मुसलमानों ने हिन्दुओं का 'वध का सर्वनाश' उपस्थित कर दिया और सूर्यास्त होते-होते हिन्दू सेना पूर्णतः अव्यवस्थित हो गयी। पृथ्वीराज जीवन की रक्षा के लिए रण-क्षेत्र से भागा परन्तु सरसुती (सरस्वती) के तट पर पकड़ कर मार डाला गया। विजेता ने अजमेर और तुरन्त बाद दिल्ली पर भी अधिकार कर लिया। परन्तु चौहान राजकुल का अभी अन्त न हुआ और दूरदर्शी सिहाबुद्दीन ने अजमेर का प्रदेश पृथ्वीराज के एक पुत्र को "अनुवर्षीय कर देने की प्रतिज्ञा करने पर" दे दिया[3]। परन्तु अपने चाचा हरिराज के विरोधाचरण से वाध्य होकर उसे रणथम्भोर चला जाना पड़ा जहाँ चाहमानों की एक शाखा प्रतिष्ठित हुई। उसका अन्त अलाउद्दीन खिलजी ने १३०१ ई० में किया। कुतुबुद्दीन ने हरिराज को कुछ काल बाद परास्त कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया।

प्रकरण ४

सिन्ध

विस्तार

मुलतान से समुद्र तक सिन्धु के निचले काँठे का प्रदेश सिन्ध कहलाता था।

---

१. ब्रिग्स, फिरिश्त (History of the rise of the Mohammedan Power, खंड १, पृ० १७२)।

२. ब्रिग्स, फिरिश्ता, खंड १, पृ० १७५।

३. वही, पृ० १७७-७८; देखिए, ताज-उल-मआसिर: इलियट, History of India. २, पृ० २१४-१५, २१९. पृथ्वीराज के इस पुत्र का नाम गोल अथवा कोल लिखा है।

पश्चिम में उसका विस्तार बलूचिस्तान के एक बड़े भाग पर था और पूर्व में यह भारतीय मरु से सीमित था। इसके प्राचीन इतिहास के संबंध में हमारा ज्ञान अत्यन्त स्वल्प है। सामग्री प्रायः अरब लेखकों के वृत्तान्तों तक ही परिमित है। अरब आक्रमणों के समय सिन्ध उस राजकुल के शासन में था जिसे ब्राह्मण छछ ने प्रतिष्ठित किया। इस कुल के पहले इस राज्य पर राय राजकुल का अधिकार था।

सामग्री की स्वल्पता

राय कुल में कुल पाँच राजा हुए जिनके शासन-काल का योग—१३७ वर्ष है। इस कुल की राजधानी अलोर (वर्तमान रोहरी के समीप) थी। जब चीनी यात्री युवान्-च्वांग भारत में भ्रमण कर रहा था (६२९—४५ ई०) तब सिन्ध का राजा एक बौद्ध शूद्र (शु-तो-लो)[1] था, और यदि यह राजा सिहरसराय ही था, जिसकी अत्यधिक संभावना है, तब इस रायकुल के मूल के संबंध में निश्चय हमारे पास पर्याप्त सामग्री है। संभवतः इसी नृपति का हर्ष से युद्ध हुआ।[2] इस कुल के अन्तिम राजा, साहसी, की मृत्यु के पश्चात् उसके ब्राह्मण मन्त्री, छछ ने उसकी विधवा से विवाह कर लिया और साथ ही उससे गद्दी भी स्वायत्त कर ली। ४० वर्ष के उसके दीर्घ शासन में उसका राज्य प्रसार तथा सत्ता में बढ़ा, और लिखा है कि उसकी सीमाएँ कश्मीर की सीमा तक पहुँच गईं। उसका पुत्र अपने चचा (छछ के भ्राता) चन्दर अथवा चन्द्र के बाद सिन्ध के सिंहासन पर बैठा। उसे एक प्रबल अरबी हमले का सामना करना पड़ा। सिंहल से ईरान के शासक हज्जाज के पास भेजे रत्नादि भेंटों से भरे जहाज को देबुल के निवासियों ने पकड़ लिया था। उन्हें दण्ड न देने के परिणामस्वरूप यह आक्रमण हुआ था। इस आक्रमण का नेता मुहम्मद इब्न कासिम था। हिजरी ९३ =७१२ ई० में उसने देबुल पर हमला किया और बहमनाबाद पर अधिकार कर लिया। ७२३ ई० में मुल्तान जीत कर उसने सिन्ध की विजय पूरी की। खलीफा उमर के शासन-काल में हिजरी १५—६३६-३७ ई० में ही इन लूट के हमलों का आरम्भ हुआ था जो अब समाप्त हुआ। सिन्ध पर अधिकार कर चुकने के बाद अरबों ने प्रसार की प्रबल नीति अपनाई और जुनैद, जो खलीफा हिशाम (७२४-४३ ई०) के समय वहाँ का शासक था, उस क्षेत्र में विशेष सयत्न हुआ। उसने अल बैलमान् (भिनमल ?) जीता और शीघ्र जुर्ज (पश्चिमी भारत का गुर्जर राज्य) तथा अन्य प्रदेशों पर अधिकार कर लिया, परन्तु उज्जैन पर उसका आक्रमण धावा मात्र

राय कुल

छछ का राजकुल

मुस्लिम आक्रमण

---

१. वाटर्स, २, पृ० २५२।

२. कावेल-थामस : हर्षचरित, पृ० ७६—अत्र पुरुषोत्तमेन सिन्धुराजं प्रमथ्य लक्ष्मीः आत्मीकृता (हर्ष०, कलकत्ता सं०, पृ० २१०-११)।

सिद्ध हुआ। इस ओर संभवतः नागभट प्रथम ने उसे पीछे हटा दिया। इस काल के बाद प्रतीहार नरेश मुसलमानों और उनके धर्म के सबसे बड़े शत्रु समझे जाने लगे। इससे बाध्य होकर उनको बल्हरों (बल्लभाज) अर्थात् मान्यखेट के राष्ट्रकूटों से मैत्री करनी पड़ी। यदि प्रतीहारों ने सजग होकर उनकी राह न रोक दी होती तो निश्चय भारत के अन्तरंग प्रान्तों पर भी अरब अधिकार कर लेते। सिन्ध में विजेताओं ने सहिष्णुता की दूरदर्शी नीति अपनाई।[1] इसमें संदेह नहीं कि इस्लाम का प्रचार हुआ परंतु हिन्दुओं के मन्दिर "ईसाइयों के गिरजाघरों, यहूदियों के सिना-गागों, तथा मगों की वेदिकाओं की भाँति पावन" समझे गए। ब्राह्मणों को मन्दिरों के निर्माण तथा जीर्णोद्धार कराने की अनुमति थी। यद्यपि स्थान-स्थान पर अरब सेनाएँ नियत थीं परन्तु देश का भीतरी शासन अधिकतर स्थानीय हिन्दुओं के हाथ में ही था और ये खिराज (भूमिकर) तथा जजिया (जन-कर) देते थे। भारतीय परिस्थितियों ने भी धीरे-धीरे अरबों के ऊपर अपना रंग चढ़ाया। उदाहरणतः उन्होंने हिन्दुओं से ज्योतिष और गणित सीखा और चरक के ग्रंथ तथा पञ्चतन्त्र की कथाओं के अरबी अनुवाद किए।[2]

इस संपर्क का परिणाम

उत्तरकालीन इतिहास

सिन्ध का उत्तरकालीन इतिहास अधिकतर स्थानीय महत्व का है। अब हम सिन्ध के भीतरी गृह-कलह का संवाद सुनते हैं। मुल्तान और मन्सूर के अरबी प्रदेश परस्पर संघर्ष करते हैं, उठते-गिरते हैं। ग्यारहवीं सदी में गजनवीं सुल्तानों ने सिन्ध का शासन प्रायः अरबों से छीन लिया। परन्तु महमूद की विजय जितनी विस्तृत उपरले सिन्ध में हुई उतनी निचले सिन्ध में न हो सकी। फलतः उसकी मृत्यु के शीघ्र बाद हिन्दू सुम्रों के नेतृत्व में निचला सिन्ध प्रायः स्वतन्त्र हो गया। इन्होंने प्रायः तीन सदियों तक राज्य किया; फिर चौदहवीं सदी के मध्य में राज्य की बाग-डोर सम्मों के हाथ में चली गई।

प्रकरण ५

काबुल और पंजाब के शाही

तुर्की शाही

अपने साम्राज्य के पतन के पश्चात् कुषाणों का सर्वथा लोप नहीं हो गया

---

१. अरबी आक्रमणों ने प्रमाणतः यह नीति जनता को तुष्ट करने तथा देश पर अपनी सत्ता प्रौढ़ करने के हेतु अपनाई। इसके अतिरिक्त रक्त के मिश्रण से उनके दृष्टिकोण में अंतर आ जाना स्वाभाविक ही था, विशेषकर जब विजेता अपने साथ स्त्रियाँ नहीं लाये।

२. Dy. Hist. North. India, १, पृ० २०-२४। मैंने दोनों भागों का उपयोग किया है। यह ग्रन्थ मध्यकालीन हिन्दू राजवंशों के इतिहास के लिए उपादेय सामग्री का भण्डार है।

था। समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भलेख के "दैवपुत्र-शाही-शाहानुशाही" से सत्य ही कुषाण जाति के उन राजाओं से तात्पर्य लिया गया है जो चतुर्थ शती ईस्वी के मध्य तक पंजाब और काबुल में बच रहे थे। महान् मुस्लिम विद्वान् अल्बेरूनी[1] इस सम्बन्ध में कुछ सामग्री प्रस्तुत करता है। उसका कहना है कि बर्हतकीन् के वंशजों ने, जिनमें से एक कनिक (कनिष्क) था (और जिन्हें वह हिन्दू तुर्क कहता है), शाहीय (प्रमाणतः संस्कृत 'शाही' अथवा कुषाण 'शाह' का एक रूपान्तर) उपनाम से काबुल पर साठ पीढ़ियों तक राज्य किया। अल्बेरूनी का यह वक्तव्य कि थे सभी राजा एक ही कुल के थे सही या गलत हो सकता है, उनकी संख्या (साठ) के संबंध में भी उसे भ्रम हो सकता है, परन्तु यह संभव जान पड़ता है कि उनकी जाति कुषाण थी और उन्होंने अपना उपनाम शाहीय (शाही) रखा। विद्वानों का विश्वास है कि उनमें से एक युवान्-च्वांग द्वारा उल्लिखित कि-आ-पि-शी (कपिशा) का बौद्ध-क्षत्रिय राजा था। चीनी-यात्री द्वारा उल्लिखित इस राजा के क्षत्रिय वर्ण के इस ऐतिहासिक मत का वस्तुतः कोई विरोध नहीं है। इससे केवल यह सिद्ध होता है कि उसके भारत-भ्रमण काल तक विदेशी कुषाण हिन्दू समाज में सर्वथा विलीन हो गये थे। यहाँ हम उस प्रवृत्ति की ओर संकेत कर सकते हैं जिससे प्रेरित होकर कुषाणों ने हिन्दू देवता और नाम अपना लिये थे। तुर्की शाहियों के सम्बन्ध में सिवाय इसके प्रायः कुछ ज्ञात नहीं कि अरबी आक्रमणों के साथ सातवीं सदी से नवीं के मध्य तक निरन्तर उनके युद्ध होते रहे[2]। इस कुल का अन्तिम राजा, लगतूर्मान्, अपने ब्राह्मण मन्त्री कल्लर द्वारा गद्दी से उतार दिया गया।[3]

हिन्दू शाही

सिंहासन स्वायत्त कर कल्लर ने एक नए राजकुल की नींव डाली जिसे अल्बेरूनी ने 'हिन्दूशाहीय' कहा है। उसके पश्चात् क्रमशः सामन्द (सामन्त), कमलू, भीम, जयपाल, आनन्दपाल, तरोजनपाल (त्रिलोचनपाल), और भीमपाल हुए।[4] सिक्कों से अल्बेरूनी की इस सूची की पक्षतः पुष्टि हो जाती है परन्तु कल्हण शाही और कश्मीरी राजाओं के युद्धों के सम्बन्ध में कुछ और नामों का उल्लेख करता है। इस प्रकार उसका लल्लिय, जिसने शंकरवर्मन् (८८३-९०२) के गुर्जर-शत्रु को सहायता दी थी, संभवतः ऊपर की सूची का कल्लर था। यह भी पता चलता है कि

१. Alberuni's India, सचाउ का अनुवाद, २, पृ० १०-११. अल्बेरूनी का पूरा नाम अबू-रिहान मुहम्मद था। संस्कृत का वह पण्डित था। उसके ग्रन्थ में साहित्य तथा विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दुओं की विशेषताओं का अद्भुत वृत्तांत सुरक्षित है। उसका जीवनकाल ९७३ ई० से १०४८ ई० तक है।

२. अरबी इतिहासकार इन राजाओं को रत्बिल कहते हैं। इस शब्द का ठीक अर्थ ज्ञात नहीं (Dy. Hist. North. Ind., १, पृ० ७१)।

३. Alberuni's India, सचाउ का अनुवाद, २, पृ० १३।

४. वही।

गोपालवर्मन् (लगभग ६०२-६०४ ई०) के मन्त्री प्रभाकरदेव ने जिस अज्ञातनामा 'विद्रोहीशाही' को बुरी तरह परास्त किया था वह सामन्द अथवा सामन्त ही था। उसे 'उद्भाण्डपुर का शाही' कहा गया है क्योंकि हिजरी २५६=८७०-७१ ई० में सफ़ारिद याकूब इब्न लेथ द्वारा काबुल-विजय के बाद राजधानी वहाँ हट आई थी। सामन्त के सिक्के बड़ी संख्या में अफ़गानिस्तान और पंजाब में मिले हैं; वे वृषभ और अश्वारोही-प्रकार के हैं और उन पर सामने की ओर "श्री-सामन्तदेव" लिखा है[1]। राजतरंगिणी का वक्तव्य है कि अपनी विजय के बाद कश्मीरी मन्त्री ने शाही राज्य तोरमाण को दे दिया जो संभवतः अल्बेरूनी का कमलू था। इस कुल का दूसरा राजा कश्मीर की रानी दिद्दा का नाना था जिसने क्षेमगुप्त (६५०-५८ ई०) के राज्यकाल में कश्मीर में भीमकेश्वर का मन्दिर बनवाया। भीम का ज्ञान उसके सिक्कों से भी होता है।

जयपाल के समय से मुसलमानों ने शाहियों के ऊपर आक्रमण करने शुरू किए। उनका दवाव इतना भारी पड़ा कि शाहियों के हाथ से अफ़गानिस्तान निकल गया और उन्हें बाध्य होकर अपनी राजधानी भटिंडा (पटियाला स्टेट में) हटानी पड़ी।

जयपाल

जब जयपाल सबुक्तगीन के अनवरत आक्रमणों और लूट से तंग आ गया तब उसने शत्रु के राज्य के विरुद्ध भी प्रत्याक्रमणों का संगठन किया परन्तु हिन्दू सेनाओं को हारकर लौटना पड़ा और जयपाल को एक नितान्त अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी[2]। राजधानी की सुरक्षा में पहुंचकर उसने फिर भी सन्धि रद्द कर दी और सुलतान के भेजे हुए दूतों को उसने बन्दी तक कर लिया। सबुक्तगीन की क्रोधाग्नि का इस पर भड़क उठना स्वाभाविक ही था और वह जयपाल के विरुद्ध बढ़ा। जयपाल ने दिल्ली, अजमेर, कालंजर, कन्नौज आदि के राजाओं से इस समान शत्रु के विरुद्ध सेना और धन की सहायता माँगी और उन्होंने मुक्तहस्त से सहायता दी भी, परन्तु लमग़ान (जलालाबाद जिला) की सीमा पर उसे फिर मुँह की खानी पड़ी[3]। दूसरा हमला महमूद ने हिजरी ३६२=१००१ ई० में किया और परिणामों फिर शाही राजा के विरुद्ध हुआ। इन बार-बार की पराजय से जयपाल को इतनी ग्लानि और लज्जा हुई कि वह अपने पुत्र आनन्दपाल को राज्य देकर स्वयं अग्नि में प्रविष्ट

आनन्दपाल

---

१. इस प्रकार के सिक्के बाद की कई सदियों तक निरन्तर ढाले जाते रहे।

२. इलियट, History of India, २, पृ० २१; ब्रिग्स, फिरिश्ता, १, पृ० १७।

३. रैवर्टी का मत है कि युद्ध कुरंम की घाटी में हुआ था (Notes on Afghanistan, पृ ३२१) फिरिश्ता ने हिंदू राज्यों के इस संघ का उल्लेख किया है (ब्रिग्स, १, पृ० १८), परन्तु अल उत्वी अपनी तारीख़-ए-यमीनी (इलियट, २, पृ० २३) में इसका कोई वृत्तांत नहीं लिखता।

हो गया[1]। महमूद अत्यंत महत्वाकांक्षी था और उसकी महत्वाकांक्षा ने नये राजा को भी चैन न लेने दिया। संघर्ष फिर शुरू हुआ और हिजरी ३९९=१००८ ई० में दोनों एक दूसरे के मुकाबले में खड़े हुए। आनंदपाल ने भी पिता की ही भाँति हिन्दू राजाओं से सहायता ली थी, परंतु उसका संघ फिर महमूद की चोट से छिन्न-भिन्न हो गया। ६ वर्ष बाद आनंदपाल का उत्तराधिकारी त्रिलोचनपाल शाही गद्दी पर बैठा। परंतु उसकी भी वही गति हुई जो उसके पिता और पितामह की हुई थी। परंतु कहते हैं कि वह हम्मीर (महमूद) से अपने कश्मीरी मित्र की गलत रण-नीति के कारण हारा। अंत में हिजरी ४१२=१०२१ ई० में त्रिलोचनपाल युद्ध में मारा गया। परंतु उसका पुत्र और उत्तराधिकारी भीमपाल भी परिस्थिति न सँभाल सका, और ५ वर्ष बाद १०२६ ई० में लड़ता हुआ मारा गया। इस प्रकार भारतीय सीमा-प्राचीर के सिंहद्वार की रक्षा करते, विकट शत्रुओं की मार सहते और स्वयं उन पर गहरी चोटें करते हुए शाही दीर्घकाल तक देश के संतरी बने रहे और अंत में गज़नी के आक्रमणों से थक गये। धीरे-धीरे वे शून्य में विलीन हो गये और शीघ्र भारतीयों के स्मृति-पटल से मिट गये।

प्रकरण ६

कश्मीर

भौगोलिक विस्तार

आज का कश्मीर बड़ा लम्बा-चौड़ा देश है। दक्षिण में पंजाब से उत्तर में पामीर तक इसका विस्तार है, और पूर्व में तिब्बत की सरहद से पश्चिम में यारखुन नदी तक। परंतु प्राचीन कश्मीर इससे कहीं छोटा था। वास्तव में यह केवल वितस्ता (झेलम) की ऊपरी घाटी तथा उसकी सहायक नदियों की भूमि तक ही सीमित था, यद्यपि राजाओं की हार-जीत से यह विस्तार समय-समय पर छोटा-बड़ा होता रहता था। विशाल पर्वतश्रेणी से घिरे होने के कारण कश्मीर बाहरी दुनिया से अलग था और भारतीय इतिहास की घटनाएँ उसे प्रभावित न कर सकीं। इस प्रकार उसकी संस्कृति और संस्थाओं का स्वतन्त्र विकास हुआ।

पूर्वकालीन इतिहास

कश्मीर की घाटी के वृत्तान्त कल्हण की 'राजतरंगिणी'[2] तथा अन्य पूरक

---

१. फिरिश्ता इस सम्बन्ध में हिन्दुओं की एक प्रथा का उल्लेख करता है कि जो राजा विदेशियों द्वारा परास्त हो जाता था उसका राज्याधिकार छिन जाता था (ब्रिग्स, १, पृ० ३८)। अलउत्बी ने इससे कुछ भिन्न व्याख्या दी है (इलियट, २, पृ० २७)।

२. राजतरंगिणी, दुर्गाप्रसाद का सं०; बम्बई १८९२; स्टाइन का अनुवाद, लन्दन, १९००। विस्तृत निर्देशों के लिए यह ग्रन्थ दर्शनीय है। और देखिए, Dy. Hist. North. Ind., १, ३, पृ० १०७-८।

ऐतिहासिक वृत्तान्तों[1] पर अवलम्बित हैं। परन्तु कल्हण भी, जिसने अपना महान् ग्रन्थ ११५० ई० में पूरा किया, सातवीं सदी से पूर्व का इतिहास समझने में कुछ सहायता नहीं कर पाता। यह निश्चित है कि अशोक के समय में कश्मीर मौर्य-साम्राज्य का एक भाग था क्योंकि उस सम्राट् ने इस घाटी में श्रीनगर बसाया था और अनेक स्तूपों का निर्माण कराया था। वस्तुतः, युआन्-च्वाँग तो यहाँ तक कहता है कि अशोक ने सारा कश्मीर बौद्ध-संघ को दान कर दिया[2]। अशोक की मृत्यु के बाद उसके पुत्र जालौक के शासन में संभवतः कश्मीर स्वतन्त्र हो गया। कई शताब्दियों के बाद इस देश पर कुषाण राजाओं कनिष्क और हुविष्क, ने राज्य किया, परन्तु कश्मीर गुप्तों के साम्राज्य से बाहर था। फिर मिहिरकुल ने भारत से निकाले जाने पर वहाँ अपना राज्य कायम किया।

कर्कोटक राजकुल

दुर्लभवर्धन

कश्मीर का धारावाहिक इतिहास सातवीं सदी के आरम्भ में गोनन्द के पौराणिक कुल के अन्त के बाद दुर्लभवर्धन के राज्यारोहण के साथ आरम्भ होता है। यह राजा अपने को नाग कर्कोटक का वंशज मानता है और इसी कारण इस वंश को कर्कोटक राजकुल कहते हैं। दुर्लभवर्धन ने ३६ वर्ष राज्य किया। उसने बुद्ध का दाँत कन्नौज में रखे जाने के लिए हर्षवर्धन को देकर उसकी मैत्री प्राप्त की। और यदि वह युआन-च्वांग द्वारा लिखित वही राजा है जिसके दरबार में यात्री ने अपने दो सुखी साल (६३१ से ६३३ ई०) गुजारे थे, तो निश्चय कश्मीर उस काल तक प्रबल हो चुका था और सिंहपुर (कटास), उरशा (हजारा), पुंच और राजपुर (राजोरी) के राज्य उसके आधिपत्य में थे।

ललितादित्य मुक्तापीड़

इस राजकुल का सबसे शक्तिमान् राजा दुर्लभक का तीसरा पुत्र ललितादित्य मुक्तापीड़ (लगभग ७२४-७६० ई०) था। ललितादित्य की दिग्विजय अतिरंजित हो सकती है, परन्तु निस्संदेह कन्नौज के यशोवर्मन् की ७३३ ई० में उसके द्वारा पराजय,[3] पंजाब के एक भाग की उसकी विजय और तुखारिस्तान (वक्षु की उपरली घाटी) और दरददेश (कश्मीर के उत्तर में दरदिस्तान) के उसके धावे इतिहास की सच्ची घटनायें हैं। ललितादित्य का किसी अज्ञातनामा गौड़ नरेश को हराना और भौट्टों (तिब्बतियों) के विरुद्ध आक्रमण करना लिखा है। ललितादित्य मुक्ता-

---

१. उदाहरणतः देखिए, जोनराज : 'द्वितीय राजतरंगिणी', पीटर्सन सं० (बम्बई, १८९६)।
२. बील पृ० १५१; वाटर्स १, पृ० २६७।
३. History of Kanauj, पृ० २०४-५

पीड़ अथवा चीनी इतिहासकारों के मु-तो-पी ने सम्राट् ह्युएन-त्सुंग (७१३-५५ ई०) के पास अपने दूत भी भेजे थे। यह महत्व की बात है कि चीन का प्रभाव कश्मीर के ऊपर इस काल बहुत था क्योंकि तांग कुल के ऐतिहासिक वृत्तान्तों के अनुसार त्चेन-तो-लो-पी-ली अथवा चन्द्रापीड़ (मुक्तापीड़ का दूसरा उत्तराधिकारी) ने ७२० ई० में चीन के सम्राट् से अपने अभिषेक की अनुमति ली। ललितादित्य ने हुष्कपुर और अन्य स्थानों में बौद्ध विहार बनवाये और भूतेश (शिव) और परिहास केशव (विष्णु) आदि ब्राह्मण देवताओं के मन्दिर बनवाये। उसकी सबसे बड़ी निर्माण-कीर्ति मार्त्तण्ड-मन्दिर है जिसके भग्नावशेषों से उसकी विशालता प्रकट होती है।

जयापीड़ विनयादित्य

ललितादित्य का पौत्र, जयापीड़ विनयादित्य (७७९—८१० ई०), इस कुल का दूसरा गौरवशाली नृपति था। उसने कन्नौज के राजा वज्रायुध अथवा इन्द्रायुध को परास्त कर उसको गद्दी से उतार दिया। परन्तु कल्हण के वृत्तान्त में इस कश्मीरी राजा के नैपाल तथा पौंड्रवर्धन् (उत्तर बंगाल) के अज्ञात राजा जयन्त के विरुद्ध आक्रमण काल्पनिक जान पड़ते हैं। जयापीड़ साहित्यिकों का संरक्षक था और उसकी राजसभा में उद्भट, वामन, और दामोदरगुप्त (कुट्टनीमत का लेखक) ने आश्रय पाया था। अपने अन्तिम दिनों में जयपीड़ संभवतः युद्धों के कारण रिक्त कोष हो जाने से अर्थलोलुप और अत्याचारी हो गया था। उसके बाद कश्मीर की गद्दी पर दुर्बल राजा बैठते रहे जिससे कर्कोटक राजकुल का अधोधः पतन होता गया और नवीं सदी के मध्य में उत्पलों ने कश्मीर की गद्दी इनसे छीन ली।

उत्पल राजकुल

अवन्तिवर्मन्

उत्पल राजकुल का (८५५ ई० में) प्रतिष्ठाता अवन्तिवर्मन् इस दशा में नहीं था कि वह दिग्विजय के लिए प्रस्थान कर सके। क्योंकि पश्चात्कालीन कर्कोटकों के समय में देश आर्थिक और राजनीतिक विप्लवों का शिकार हो चुका था। इस कारण अवन्तिवर्मन् शासन में व्यवस्था, आन्तरिक सुरक्षा तथा आर्थिक सुव्यवस्था प्रतिष्ठित करने में दत्तचित्त हुआ। पहले तो उसने डामरों की शक्ति तोड़ दी जो अभिजातवर्गीय लुटेरे थे और जिनकी लूटमार से देश अव्यवस्थित हो गया था। फिर उसके मन्त्री सुय्य ने, जिसका नाम वर्तमान नगर सोपुर (सुय्यपुर) में सुरक्षित है, अनेक निर्माण कार्य किये। उसने सिंचाई के लिए नहरें निकालीं और (झेलम) की धारा तक बदल दी जिससे सैलाब से बच जाने के कारण दलदल की भूमि सुन्दर खेत बनाई जा सकी। इस प्रकार की लाभकर सक्रियता से भूमि की उपज बढ़ी जिससे अब एक 'खारी' चावल ३६ दीनारों में खरीदा जा सकने लगा जो पहले कभी २०० दीनारों में मिलता था।

अवन्तिवर्मन् ने अनेक मन्दिर बनवाये तथा उनके व्यय का प्रबंध किया और ब्राह्मणों को प्रभूत दान दिये। वह भी विद्वानों का आदर करता था। ध्वन्यालोक का प्रख्यात रचयिता आनन्दवर्धन् उसका आश्रित था। अवन्तिवर्मन् का नाम वंतपोर अथवा अवन्तिपुर के वर्तमान नगर में सुरक्षित है।

शंकरवर्मन्

८८३ ई० में अवन्तिवर्मन् की मृत्यु के बाद कश्मीर में जो दारुण गृह-कलह चला उसका अन्त उसके पुत्र शंकरवर्मन् के पक्ष में हुआ। शंकरवर्मन् ने अपने पिता की शान्तिप्रिय नीति के स्थान पर युद्धप्रिय नीति बरती और फिर एक बार कश्मीर में आक्रमणों की परम्परा जगी। उसने दर्वाभिसार (वितस्ता और चन्द्रभागा के बीच का प्रदेश) पर आक्रमण किया तथा त्रिगर्त (कांगड़ा) में अपना प्रभाव प्रतिष्ठित किया और गुर्जरराज अलखान को पराजित किया जिसकी सहायता लल्लियशाही ने की थी। शंकरवर्मन् ने मिहिर भोज द्वारा जीते हुए कुछ प्रदेशों को महेन्द्रपाल प्रथम प्रतीहार से छीनकर थक्किय राजा को दे दिये। वह ९०२ में हजारा प्रदेश (उरशा) से होकर आक्रमण से लौटते हुए राह में मरा।

शंकरवर्मन् की समर नीति से राजकोष रिक्त हो गया और उसे फिर से भरने के लिए उसने शोषण नीति अपनायी। उसने मंदिरों को लूटा और धार्मिक अनुष्ठानों तक पर शुल्क लगाये। इस शोषक कर-नीति से प्रजा दरिद्र हो गयी। संरक्षकता के अभाव में विद्या के क्षेत्र में भी काफी ह्रास हुआ।

उत्तरकालीन उत्पल

शंकरवर्मन् के पुत्र गोपालवर्मन् का शासन काल उसके मंत्री प्रभाकरदेव के विजयी आक्रमण के कारण विशेष उल्लेखनीय है। प्रभाकरदेव ने शाही राजा (अल्बेरुनी के) सामन्द (सामंतदेव) को परास्त किया था। लिखा है कि अपने शत्रु को गद्दी से उतार कर विजेता ने उस पर तोरमाण कमलुक (कमलू) को बैठाया। ९०४ ई० में गोपालवर्मन् की मृत्यु और ९३६ ई० में उत्पल राजकुल के पतन के बीच का काल अधिकतर तंत्रियों के खून खराबे से भरा है। तंत्रिन् पैदल सैनिकों का एक संगठित शक्तिमान दल था जिसकी देश की सैनिक-पुलिस एकांगों से कशमकश होती रहती थी। अन्त में तन्त्रिन् विजयी हुए और उनकी शक्ति इतनी बढ़ी कि राजा उनके हाथ की कठपुतली बन गये। राजाओं को गद्दी पर बैठाना और उतार देना उनके लिए नित्य के खेल हो गये। राजनीति की यह परिस्थिति राजाओं की अपनी दुर्बलता के कारण ही अधिकतः थी। उदाहरणतः बाल राजा पार्थ के राज्य-काल में ९१७—१८ ई० में जब कश्मीर में दारुण दुर्भिक्ष पड़ा तो राज्य ने प्रजा की कोई सहायता न की। कल्हण लिखता है कि इधर तो असंख्य प्रजा भूख से मर रही थी, उधर राजकुल अपने ऐश्वर्य से अभिभूत था और मंत्री तथा तंत्रिन् चुपचाप

"चावल अधिकाधिक मूल्य पर बेचकर धन इकट्ठा कर रहे थे"। इस कुल का राजा उन्मत्तावन्ति (९३७—३९ ई०) अत्यन्त दुष्ट था। उसने अपने पिता पार्थ की जयेन्द्र विहार में हत्या कर डाली और अपने सारे सौतेले भाइयों (विमाता-पुत्रों) को भूखों मार डाला। उन्मत्तावन्ति को क्रूर घटनाओं से अत्यंत आह्लाद होता था और वह गर्भवती नारियों के गर्भच्छेद में विशेष आनन्द अनुभव करता था। भाग्यवशात् वह शीघ्र ही मर गया और उसके पुत्र शूरवर्मन् द्वितीय के अल्पकालिक शासन के साथ उत्पल राजकुल का भी ९३९ ई० में अन्त हो गया।

पर्वगुप्त का कुल

शूरवर्मन् द्वितीय के बाद ब्राह्मणों ने गोपालवर्मन् के मंत्री प्रभाकरदेव के पुत्र को अपना राजा चुना। ९ साल(९३९=४८ ई०)के उसके सुशासन में देश में शान्ति लौटी, समृद्धि बढ़ी। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी संग्राम को उसके मंत्री पर्वगुप्त ने ९४९ ई० में मार कर कश्मीर की गद्दी छीन ली। इस राजकुल की सबसे प्रसिद्ध और शक्तिमती रानी दिद्दा थी। यह भीम शाही की नतिनी और लोहर (पुंच राज्य में) राजा सिंहराज की कन्या थी। वह अत्यन्त महत्वाकांक्षिणी और ओजस्विनी नारी थी और प्रायः आधी सदी तक—पहले क्षेमगुप्त ९५०—९५८ ई०) की रानी की हैसियत से, फिर राज्य का अभिभावक बनकर और अन्त में स्वतंत्र शासक (९८०-१००३ ई०)के अधिकार से—वह कश्मीर की राजनीति में सबसे प्रभावशाली व्यक्ति बनी रही। इस काल निरंतर राज-षड्यन्त्र होते रहे परन्तु डामरों (देश के अभिजात-कुलीय भूस्वामी) और ब्राह्मणों के विरोध के बावजूद भी उसने नीच कुलीय तुंग नामक एक खस की सहायता से अपनी शक्ति कायम रखी। तुंग के प्रति उसका असाधारण प्रेम था।

लोहर राजकुल

१००३ ई० में अपनी मृत्यु के पहले ही दिद्दा ने अपने भाई लोहर राजा विग्रहराज के पुत्र अपने भतीजे संग्रामराज को कश्मीर का राज्य दे दिया। संग्रामराज (१००३—२८ ई०) दुर्बल सिद्ध हुआ और उसके शासन-काल के पूर्व भाग में राज्य की वास्तविक शक्ति तुंग के हाथ में केंद्रित रही। तुंग १००४ ई० में महमूद के विरुद्ध त्रिलोचनपाल शाही की सहायता को गया परंतु उसे भी औरों के साथ हारना पड़ा। सुल्तान ने हिजरी ४१२=१०२१ ई० में कश्मीर जीतने का प्रयत्न किया। पर्वतों के चरण तक वह बढ़ा भी परन्तु लोहकोट का दुर्ग न ले सकने के कारण वह लाहौर लौट गया। जब-तब सुशासन को छोड़कर कश्मीर का राज्य-वृत्तान्त लोलुपता, लूट, अत्याचार, शासन-दुर्व्यवस्था और आर्थिक शोषण का इतिहास है। इतना सुन्दर देश अपने पूर्वकालीन राजाओं की अभिप्राप्ति में कितना अभागा था। उनमें से हर्ष (१०८९—११०१ ई०) नाम का एक राजा जिसने सुशासन, सुसैन्य-संचालन, तथा

साहित्य और संगीत के सुपोषण से अपना राज्य आरम्भ किया था; बाद में अति स्त्रीगामी, क्रूर, तथा अधार्मिक हो गया। उसके अपव्यय और असीम व्यभिचार से देश अभिभूत हो गया। उसने सेना में 'तुरुष्क' (मुस्लिम) सेनापति नियुक्त किये और मंदिरों को लूटने तथा मूर्तियों को अपावन करने की एक व्यवस्थित नीति अपनायी। अन्त में शक्तिमान् डामरों ने विद्रोह का झंडा उठाया और राज्य में सर्वत्र अराजकता फैल गयी। फलतः उच्छल ने कश्मीर के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। फिर भी राजदंड तीव्रता से एक हाथ से दूसरे हाथ में फिरता रहा और प्रजा दुःशासन, गृह-कलह तथा अभिजातवर्गीयों की लूट-मार से दुःखित रही। इस प्रकार किसी तरह यह हिन्दू राज्य १३३९ ई० तक चलता रहा जब शाह मीर नाम के एक मुस्लिम विजेता ने इसका अन्त करके श्री सम्सदीन अथवा शम्सुद्दीन के नाम से अपना नया राजकुल प्रतिष्ठित किया। यह महत्व की बात है कि इन आरम्भिक मुस्लिम राजाओं के शासन-काल में ब्राह्मणों ने अपना राजनीतिक प्रभाव बनाये रखा और देश की प्रधान भाषा संस्कृत ही बनी रही।

———

अध्याय १६

उत्तरभारत के मध्यकालीन हिन्दू राजकुल (क्रमागत)

प्रकरण १

आसाम[1]

कामरूप का विस्तार

आजकल कामरूप शब्द का प्रयोग आसाम के मध्य प्रदेश—गोआलपाड़ा से गौहाटी तक—के अर्थ में होता है। प्राचीन काल में इससे पूरे आसाम प्रान्त और उत्तरी-पूर्वी बंगाल तथा भूटान के विशेष भागों का बोध होता था। इस राज्य की राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर थी जो संभवतः वर्तमान गौहाटी से अधिक दूर न थी।

पौराणिक राज्य

अभिलेखों और साहित्य से इस बात की पूरी पुष्टि होती है कि कामरूप के राजा उस पौराणिक नरक के वंशज थे जिसका पुत्र भगदत्त महाभारत के युद्ध में कौरवों की ओर से लड़ा था। इन अनुश्रुतियों का चाहे जो भी मूल्य हो, इसमें सन्देह नहीं कि जनता अपने राजकुल को अत्यन्त प्राचीन मानती थी। सातवीं सदी के मध्य में युआन्-च्वाँग भी लिखता है कि आसाम के उसके समसामयिक राजा तथा उस राजकुल के प्रतिष्ठाता, पूर्वज में प्रायः एक सहस्र पीढ़ियों का अंतर था[2]।

प्राचीन अभिलेखों की सामग्री

कामरूप का प्राचीनतम ऐतिहासिक उल्लेख प्रयाग-स्तम्भ-लेख में हुआ है जिसमें उसे समुद्रगुप्त का प्रत्यंत करदायी राज्य कहा गया है। अफसाड अभिलेख से विदित होता है कि उत्तरकालीन गुप्त नृपति महासेनगुप्त ने लोहित्य अथवा लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) के तट तक धावे मारे थे और सुस्थितवर्मन् को परास्त किया था।[3] सुस्थितवर्मन् निधानपुर ताम्रलेख[4] में उल्लिखित कामरूप का इसी नाम का राजा था।

---

१. सर एडवर्ड गेट : History of Assam, द्वितीय सं०, (कलकत्ता, १९२६); के. एल. बरुआ : History of Assam; Dy. Hist. North. Ind., १, ५, पृ० २३५-७०।

२. यह वक्तव्य स्पष्टतः सन्दिग्ध है।

३. C. I. I., ३, पृ० २०३, २०६, श्लोक १३-१४।

४. Ep. Ind., १२, पृ० ७४, ७७. निधानपुर-पत्रलेखों के अनुसार इस राजकुल का प्रतिष्ठाता पुष्यवर्मन् था (वही, पृ० ७३, ७६)।

भास्करवर्मन्

सुस्थितवर्मन् के पुत्र भास्करवर्मन् का शासन-काल ६४३ ई० में युआन्-च्वांग के कामरूप में आगमन के कारण विशेष स्मरणीय हो गया है। भास्करवर्मन् कर्णसुवर्ण के प्रबल राजा शशांक से निरन्तर संत्रस्त रहता था, इस कारण उसने हर्ष के साथ उसके शासन के आरम्भ में ही 'चिरकालिक संधि' की। भास्करवर्मन् (अथवा कुमारराज) अपने शक्तिमान् मित्र की कन्नौज तथा प्रयाग की दोनों परिषदों में शामिल हुआ। इससे और युआन्-च्वांग के आदर से जान पड़ता है कि वह कितना उदार था। स्वयं वह ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था और सम्भवतः ब्राह्मणकुलीय भी था। कुछ विद्वानों का मत है कि युवान्-च्वांग के वक्तव्य से कामरूप के राजा का धर्म मात्र प्रमाणित होता है, कुल नहीं। कहा जाता है कि उसने वांग-ह्युएन-त्से के चीनी दूतमण्डल (जिसके विरुद्ध ओ-ल-न-शुन अथवा अर्जुन, हर्ष का मंत्री और बाद में राजा, ६४८ ई० में लड़ा था) की सहायता भी की थी। निधानपुर पत्र-लेखों में भास्करवर्मन् को 'सैंकड़ों राजाओं' का विजेता कहा गया है और उनमें कर्णसुवर्ण[1] की राजधानी से उसके दिए हुए एक भूदान का भी उल्लेख है। जान पड़ता है कि भास्करवर्मन् ने हर्ष की मृत्यु के बाद उसका यह प्रान्त स्वायत्त कर लिया था। इस प्रकार उसने सातवीं सदी के प्रायः आरम्भ से मध्य तक राज्य किया।

उत्तरकालीन इतिहास

भास्करवर्मन् के उत्तराधिकारियों के सम्वन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं। जान पड़ता है कि कुछ ही दिनों बाद सालस्तम्भ नामक किसी स्थानीय सामरिक ने उसके कुल का अन्त कर अपने नए राजवंश की प्रतिष्ठा की; इस कुल का भी नवीं सदी के आरम्भ में अन्त हो गया। एक या दो को छोड़कर ये सारे राजा आसाम की सीमा के भीतर ही राज्य करते रहे। बाहर उनका कोई प्रभाव न था। आठवीं सदी के मध्य में इसके एक राजा श्रीहर्ष (नैपाली जयदेव का श्वसुर) द्वारा गौड, ओड्र (उड़ीसा), कलिंग, कोशल, आदि की विजय लिखी है।[2] इसी प्रकार ग्यारहवीं सदी के पूर्वार्ध में ब्रह्मपाल के पुत्र रत्नपाल का उस देश में पर्याप्त प्रभाव रहा। उसकी प्रशस्ति में लिखा है कि उसने गुर्जरनरेश, गौड (पाल) राज, दाक्षिणात्य नृपति (अर्थात् विक्रमादित्य षष्ठ चालुक्य, जिसने अपने पिता सोमेश्वर प्रथम के शासन-काल में कामरूप पर आक्रमण किया था,) केरलेश (सम्भवतः राजेंद्र प्रथम चोल?),[3]

---

१. वही, पृ० ६५-६६ भी देखिए।
२. Ind. Ant., ९, पृ० १७९, पंक्ति १५।
३. देखिए नीचे।

वाहीकों, तथा तायिकों (ताजिकों?)[1] को संत्रस्त कर दिया था।

पाल आक्रमण

कामरूप पाल नृपतियों की महत्वाकांक्षा का भी शिकार हुआ। भागलपुर के लेख[2] के अनुसार, देवपाल (लगभग ८१५-५५ ई०) ने अपने चचेरे भाई जयपाल की अध्यक्षता में एक सेना भेजी और जयपाल प्राग्ज्योतिषनरेश के विरुद्ध कुछ परिमाण में सफल भी हुआ (श्लोक ६)। प्रभूत ऐतिहासिक सामग्री से प्रमाणित है कि बारहवीं सदी के तृतीय दशक में आसाम ने कुमारपाल का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और वहां उसके मंत्री वैद्यदेव ने पर्याप्त शक्ति का भोग किया।

विदेशी आक्रमण

एक महत्व की बात यह है कि मुसलमानों के अनवरत प्रयत्नों और आक्रमणों के बावजूद भी आसाम उनके अधिकार में कभी न आया। इन आक्रमणों का आरंभ मुहम्मद इब्न बख्त्यार ने हिजरी ६०२=१२०५ ई० में और अंत औरंगजेब के प्रसिद्ध सेनापति मीर जुमला ने १६६२ ई० में किया। मुहम्मद तिब्वत की विजय करने जा रहा था परंतु आसामियों ने एक पुल तोड़कर उसकी सारी सेना नष्ट कर दी। तेरहवीं सदी के आरंभ में शान जाति की एक शाखा अहोमों ने आसाम पर अधिकार कर लिया। १८२५ई० तक वे उसके स्वामी बने रहे। उस साल अंग्रेजों ने उस पर कब्जा कर लिया। आसाम शब्द संभवतः इन्हीं आहोमों के नाम से बना है।

धर्म

आसाम बौद्ध तथा हिन्दू तांत्रिक पूजा का केंद्र है और जन-विश्वास उसे जादू का देश मानता है। गौहाटी के समीप कामाख्या में शक्ति का मंदिर है जिसमें शक्ति हिंदू कामाख्या-देवी की तांत्रिक विधियों से पूजा करते हैं। इस देश के धार्मिक विश्वासों से प्रकट होता है कि किस प्रकार धीरे-धीरे हिन्दू धर्म यहाँ के आदिनिवासियों और मंगोल जातियों में फैल गया।

प्रकरण २

पाल राजकुल[3]

बंगाल का पूर्व-वृत्तान्त

प्राचीन काल में बंगाल का भाग्य मगध के साथ शृंखलित था। जिन्हें प्रसि-

१. J. A. S. B., १८९८, पृ० ११५-१८. क्या इन तायिकों से उन मुसलमानों का तात्पर्य है जिन्होंने महमूद गजनी और मसऊद के नेतृत्व में उत्तरभारत पर आक्रमण किए थे ? परंतु ये बनारस से पूर्व न बढ़ सके थे।

२. Ind. Ant., १५, पृ० ३०५, ३०८, श्लोक ६. डा० राय हरजर अथवा उनके पुत्र वनमाल को जयपाल का समसामयिक आसामी मानते हैं (Dy. Hist. of North. Ind., १, पृ० २४८)।

३. स्मिथ, "Pala Dynasty of Bengal"; Ind. Ant., ३८, (१९०९), पृ० २३३-४८; आर० डी० बैनर्जी, "The Palas of Bengal," Mem. As. Soc. Beng., खंड ५, नं० ३; आर० सी० मजूमदार, Early History of Bengal, (ढाका, १९२४); एच० सी० राय, Dy. Hist. North. Ind., १, अध्याय ६, पृ० २७१-३९०।

आई और गंगरिदाई जातियों का राजा कहा गया है, उन नंदों और मौर्यों ने भी गंगा की इस निचली घाटी पर अपना स्वत्व बनाए रखा। कुषाणों के समय में बंगाल निश्चय उनके शासन से बाहर रहा परंतु गुप्तों ने उस पर अपना अधिकार फिर स्थापित किया। गुप्त-साम्राज्य के पतन के पश्चात् बंगाल में छोटे-छोटे अनेक राज्य उठ खड़े हुए और ईशानवर्मन् मौखरी के हरहा अभिलेख में तो छठी सदी ईस्वी के मध्य में 'समुद्रतटवर्ती गौड़ों' की सामरिक सक्रियता का भी उल्लेख है।[1] सातवीं सदी के आरंभ में बंगाल पर शशांक का अधिकार हुआ। उसने थानेश्वर के राज्य-वर्धन को मारकर कुछ काल के लिए मौखरियों की राजधानी कन्नौज पर अधिकार कर लिया। युआन्-च्वांग ने शशांक को कर्णसुवर्ण का राजा कहा है परंतु गुप्त संवत् ३००=६१९ ई० के एक लेख से प्रमाणित है कि गंजाम प्रदेश के शैलोद्भव उसका आधिपत्य मानते थे।[2] महाराजाधिराज शशांक इस प्रकार सुविस्तृत भूखण्ड का अधिपति था। वह शैव था और उसने बौद्धों पर अत्याचार किए। उसकी शक्ति के ह्रास अथवा मृत्यु के बाद बंगाल के भूभाग पौंड्रवर्धन, समतट, ताम्रलिप्ति (तामलुक) और कर्णसुवर्ण हर्ष के अधिकार में चले गए। ६४७ ई० में उसकी मृत्यु के पश्चात् भारत में अराजकता फैली और विदेशी आक्रमण हुए। भास्कर-वर्मन् ने कर्णसुवर्ण पर अधिकार कर लिया। आठवीं सदी के दूसरे चरण में कन्नौज के यशोवर्मन् ने मगध और गौड़ के राजा को परास्त किया। इसके बाद कश्मीर के ललितादित्य, कामरूप के श्रीहर्ष तथा अन्य राजाओं ने भी उसे रौंदा। जब अराज-कता बंगाल में इस प्रकार ज्यादा हो गई तब जनता ने एकत्र होकर गोपाल को अपना राजा चुना।

पाल कौन थे ?

यह महत्व का विषय है कि पाल नरेश किसी पौराणिक वीर को अपना पूर्वज नहीं मानते। खलिमपुर में मिले एक लेख से विदित होता है कि पाल राज-कुल का प्रारंभ वप्यट के पिता दयितविष्णु ने किया। इससे जान पड़ता है कि यह कुल संभवतः निम्नावस्था से धीरे-धीरे उठा और इसी कारण इसके पूर्वज प्रख्यात-नामा न थे। बाद में इसे समुद्र अथवा सूर्य के साथ शृंखलित करने के प्रयत्न किए गए। इसके राजाओं के पाल-नामान्त के कारण ही राजकुल का यह नाम पड़ा।

गोपाल

यद्यपि गोपाल का चरित-वृत्तान्त हमें उपलब्ध नहीं परन्तु इतने में संदेह नहीं कि उसने राज्य में शांति स्थापित की और अपने कुल की शालीनता की नींव डाली।

---

१. देखिए, पीछे यथास्थान।

२. Ep. Ind., ६, पृ० १४१ और आगे। इस अभिलेख का ठीक प्राप्ति-स्थान ज्ञात नहीं परन्तु कुछ काल तक यह गंजाम के कलक्टर के दफ्तर में पड़ा रहा।

तिब्बती लामा तारानाथ के अनुसार गोपाल ने ओदन्तपुर (बिहार का वर्तमान नगर, पटना जिले में, राजगिर और नालन्दा के समीप) के विख्यात विहार का निर्माण कराया और ४५ वर्ष राज्य किया। हम एलेन के मत से सहमत हैं: "यह काल उसकी पूरी प्रभुता का नहीं है। उसकी तिथियाँ संभवतः लगभग ७६५-७० (?) ई० हैं।"[१]

धर्मपाल

गोपाल का पुत्र और उत्तराधिकारी धर्मपाल अत्यन्त कर्मठ और शक्तिमान् राजा हुआ। पिता ने ही देश की आन्तरिक अराजकता नष्ट कर दी थी, इससे धर्मपाल दिग्विजय के लिए कटिबद्ध हुआ। उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य इन्द्रराज (इन्द्रायुध) की पराजय थी। उसे कन्नौज की गद्दी से उतार कर उसने चक्रायुध को बिठाया। उसका यह आचरण तत्कालीन उत्तर भारत की सारी समसामयिक राजशक्तियों (भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गन्धार तथा कार[२]) ने अंगीकार किया। परन्तु अन्य समकालीन राजाओं से उसके युद्ध उसे मंहगे पड़े। अभिलेखों से प्रमाणित है कि वत्सराज प्रतीहार और ध्रुव राष्ट्रकूट (लगभग, ७७९-९४ई०) में से कोई भी उसकी शक्ति को सहन न कर सका और दोनों ने बारी-बारी से उसे परास्त किया। ध्रुव के साथ उसका युद्ध संभवतः गंगा के द्वाब में हुआ क्योंकि लिखा है कि "गंगा-यमुना के बीच भागते हुए"[३] गौड़नरेश को उसने परास्त किया। संजन पत्र-लेख से भी प्रमाणित है कि "धर्म (धर्मपाल) तथा चक्रायुध ने" गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूट (लगभग ४९४-८१४ ई०) को "स्वयमेव आत्म-समर्पण कर दिया।" शीघ्र फिर नागभट ने द्वितीय प्रतीहार चक्रायुध से कन्नौज छीनकर धर्मपाल के उत्तर-भारतीय साम्राज्य का स्वप्न भंग कर दिया। धर्मपाल अपने संरक्षित चक्रायुध की अवमानना सुन कर प्रतिशोध के लिए पश्चिम की ओर बढ़ा परन्तु नागभट उससे मुद्गगिरि (मुंगेर) में ही आ टकराया। समर भयानक हुआ और प्रतीहार नरेश ने गौड़ाधिपति को पूर्णतया परास्त कर दिया।[४]

धर्मपाल बौद्ध था और उसने विक्रमशिला (भागलपुर जिले में पाथरघाट) का प्रसिद्ध विहार बनवाया। वहाँ के मन्दिर और विहार उसकी और अन्य दाताओं की दान-शक्ति को प्रमाणित करते हैं।

देवपाल

दीर्घ काल तक राज्य कर चुकने के बाद[५] धर्मपाल का निधन हुआ और

---

१. Cam. Sh. Hist. Ind., पृ० १४२।

२. Ep. Ind., ४, पृ० २४८, २५२।

३. वही, १८, पृ० २४४-५२, पंक्ति १४।

४. वही, पृ० १०८, ११२, श्लोक १०।

५. खलिमपुर पत्रलेख के अनुसार उसका राज्य ३२ वर्ष रहा। परन्तु तारानाथ उसका ६४ वर्ष शासन करना लिखता है। इससे हम अनुमानतः ४५ वर्ष मोटे तौर से उसे मान सकते हैं जो संभवतः सही है।

उसका पराक्रमी पुत्र देवपाल गौड़ की गद्दी पर बैठा। अभिलेखों में उसकी विस्तृत विजयों का हवाला मिलता है। लिखा है कि उसने हिमालय (गौरीगुरु) और विन्ध्याचल (रेवा के पिता) के बीच की सारी भूमि विजय कर ली और दक्षिण में सेतुबन्ध रामेश्वर तक अपना अधिकार स्थापित किया।[1] निःसंदेह यह असाधारण अत्युक्ति है परन्तु बादल-स्तम्भ-लेख[2] में लिखा है कि अपने मन्त्रियों दर्भपाणि तथा केदारमिश्र की नीतियुक्त मंत्रणा से प्रेरित होकर देवपाल ने "उत्कल जाति को मिटा दिया, हूण का दर्प खर्व कर दिया, और द्रविड़ तथा गुर्जर के राजाओं का गर्व चूर्ण कर दिया" जो संभवतः सही है। भागलपुर लेख (श्लोक ६)[3] से विदित होता है कि देवपाल के चचेरे भाई जयपाल ने उत्कल (उड़ीसा) और प्राग्ज्योतिष (आसाम) जीता। देवपाल का गुर्जर शत्रु संभवतः मिहिरभोज (८३६-८५ ई०) था जिसने पूर्व की ओर अपनी शक्ति बढ़ानी चाही थी। आरंभ में तो उसे अवश्य कुछ सफलता मिली परंतु गौडराज ने शीघ्र पूर्व की ओर उसकी गति सर्वथा रोक दी। नालंदा में मिले एक ताम्रपत्र-लेख से विदित होता है कि सुवर्णद्वीप और यव-भूमि के राजा बालपुत्रदेव द्वारा निर्मित बौद्ध विहार के व्यय, 'धर्मरत्नों' के लेखन, और भिक्षुओं के 'विभिन्न सुखों' के लिए देवपाल ने चार गाँव राजगृह विषय (जिला) और पाँचवाँ गया विषय में दान किए। यदि इस लेख के सुवर्णद्वीप और यव-भूमि सुमात्रा और जावा ही हैं, जैसा कुछ विद्वानों का मत है, तो सिद्ध है कि पाल राज्य इन पूर्वी द्वीपों के संपर्क में था।[4]।

देवपाल महान् विजेता तो था ही बौद्ध धर्म का संरक्षक भी था और मगध में उसने मंदिर और विहार बनवाए। कला और वास्तु को प्रोत्साहन मिला और नालंदा विश्वभारती, बौद्ध-विद्या का केन्द्र, फूलती-फलती रही। देवपाल का शासन-काल लगभग ८१५ और ८५५ के बीच रखा जा सकता है।

नारायणपाल

इस कुल का दूसरा शक्तिमान् राजा नारायणपाल था जिसने कम से कम ५४ वर्ष (लगभग ८५८-९१२ई०) राज्य किया। उसकी माता हैहय (चेदि) कुल की लज्जा नाम की राजकुमारी थी। भागलपुर के लेख[5] में लिखा है कि अपने शासन के सत्रहवें वर्ष में उसने मुद्गगिरि (मुंगेर) से शिव मंदिर को तीरभुक्ति (तिरहुत) का एक गाँव दान में दिया और शिव के एक हजार मंदिर बनवाए। उसके शासन के आरंभ काल में मगध पालों के अधिकार में रहा परन्तु महेन्द्रपाल प्रथम के शासन-

---

१. मुंगेर-दान का श्लोक १५, Ep. Ind., १८, पृ० ३०४-७।
२. वही, २, पृ० १६०-६७।
३. नारायणपाल : भागलपुर का दान, Ind. Ant., १५, पृ० ३०४-१०।
४. Ep. Ind., १७, पृ० ३१०-२७ (देखिए, देवपाल : नालन्दा ताम्रपत्र)।
५. Ind. Ant., १५, पृ० ३०४-१०।

काल के अनेक अभिलेखों से प्रमाणित है कि मगध और उत्तर बंगाल दोनों प्रतीहारों के अधिकार में चले गए।[1] इन प्रदेशों पर प्रतीहारों का अधिकार महेंद्रपाल प्रथम के राज्यारोहण के शीघ्र ही बाद हुआ होगा क्योंकि उसके पूर्ववर्ती मिहिरभोज की प्रशस्तियों और उसके अभिलेखों के प्राप्ति-स्थानों से प्रमाणित है कि पूर्व में उसे कोई प्रशंस्य सफलता न मिली। इस प्रकार मगध और उत्तर बंगाल पर प्रतीहारों तथा पूर्वी बंगाल पर चन्द्रों का अधिकार हो जाने से पालों का राज्य पश्चिमी और दक्षिणी बंगाल मात्र तक इस काल सीमित रह गया। परन्तु अपने शासन के प्रायः अन्त में भोज द्वितीय और महीपाल के गृह-कलह से लाभ उठा कर नारायणपाल ने उद्दण्डपुर (वर्तमान बिहार नगर, राजगिर के पास) पर फिर अधिकार कर लिया। जब प्रतीहारों को ९१६-१७ ई० में राष्ट्रकूट इंद्र तृतीय के आक्रमण से फिर धक्का लगा, राज्यपाल (लगभग ९१२—९३६ ई०) ने तब संभवतः शोण के पूर्वी तट तक की अपनी पैतृक भूमि पुनः प्राप्त कर ली।

महीपाल प्रथम

विग्रहपाल द्वितीय का पुत्र महीपाल भी इस कुल का एक प्रख्यात नृपति था। उसके अभिलेखों के वितरण से सिद्ध होता है कि पाल-शक्ति एक बार फिर जी उठी थी और उसके राज्य में परस्पर दूरस्थ प्रदेश—दिनाजपुर, मुजफ्फरपुर, पटना, गया टिपरा—शामिल थे। महीपाल प्रथम ने उत्तर बंगाल कम्बोजकुलीय गौड़नरेश (अर्थात् मंगोल जाति का) से छीन लिया। इसने संभवतः गोपाल द्वितीय के शासन काल के अन्त में उससे बंगाल पहले 'छीना' था। इस अज्ञातनामा कम्बोज-विजेता ने बंगद (दिनाजपुर जिला) में एक शिवमंदिर बनवाया था। महीपाल के अभिलेख में दिए गए विक्रम संवत् १०८३=१०२६ ई० पालों की तिथि-शृंखला की एक निश्चित कड़ी है।[2] परन्तु उसके प्राप्ति-स्थान सारनाथ से यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि यह प्रदेश भी उसके अधिकार में था। इसमें केवल यह लिखा है कि उसने गंधकुटी का निर्माण कराया और अपने भाइयों, स्थिरपाल तथा वसन्तपाल, द्वारा धर्मराजिक स्तूप और धर्मचक्र का जीर्णोद्धार कराया। ये कृत्य सर्वथा धार्मिक थे और इनसे किसी प्रकार का राजनैतिक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। साहित्यिक ग्रंथों में कर्णाटों के साथ उसके युद्ध और तीरभुक्ति (तिरहुत) के छिन जाने का उल्लेख है। वहाँ विक्रम संवत् १०७६=१०१९ ई० में गांगेयदेव (=गांगदेव कलचुरी) राज्य करता था[3]। परन्तु महीपाल के शासन-काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना १०२१ और १०२५ ई० के बीच[4] कभी राजेन्द्र प्रथम चोल का उत्तरी आक्रमण

---

१. History of Kanauj, पृ० २४८-५०।

२. सारनाथ-प्रस्तर-लेख, Ind. Ant., १४ (१८८५), पृ० १३९-१४०; और देखिए J. A. S. B., १९०६, ४४५-४७; गौड लेखमाला, पृ० १०४-१०९।

३. Dy. Hist. North. Ind., १, पृ० ३१७।

४. वही, पृ० ३१८-२४।

था। उड़ीसा, दक्षिण कोशल, दण्डभुक्ति (बालासोर और मिदनापुर जिले) को रौंदते हुए उसने तक्कन-लाडम् (दक्षिण राढ, हावड़ा और हुगली जिले) के राजा रणशेर और बंगाल-देश (पूर्व बंगाल) के गोविन्दचंद्र को जीत लिया। तब आक्रामक उत्तर की ओर मुड़ा और महीपाल से जा टकराया। महीपाल परास्त हो गया। परंतु पालनरेश ने उसे गंगा पार न बढ़ने दिया। यदि, जैसा कि तिरुमलै (उत्तर अरकाट जिला) शिलालेख से प्रमाणित है, पूर्वी, और पश्चिमी बंगाल में दो भिन्न स्वतंत्र राज्य थे, तो महीपाल की राज्यसीमाएँ उसके शासन-काल के उत्तरार्ध में निश्चय संकुचित हो गई थीं।

नयपाल

महीपाल के बाद उसका पुत्र नयपाल राजा हुआ। उसके शासन के पंद्रहवें वर्ष में उसके गया के शासक ने वहाँ गदाधर का प्रसिद्ध मंदिर और अनेक छोटे-मोटे मंदिर बनवाए।[1]

नयपाल के उत्तराधिकारी

तिब्बती प्रमाणों से पता चलता है कि नयपाल का कभी लक्ष्मीकर्ण (लगभग १०४१-७२ ई०) के साथ युद्ध हुआ। इस संघर्ष में विजय-लक्ष्मी कभी इधर कभी उधर होती रही, परन्तु जब 'पश्चिम के कर्ण्य' की सेनाओं का संहार होने लगा तब महाबोधि विहार के प्रख्यात बौद्ध दार्शनिक दीपंकर श्रीज्ञान अथवा अतीश ने बीच-बचाव किया और व्यक्तिगत खतरों की परवाह न करके दोनों पक्षों में संधि कराई यद्यपि जय किसी पक्ष की न हुई। यह आश्चर्यजनक है कि चेदि लेखों में गौड़ नरेश द्वारा कर्ण के आत्म-समर्पण की प्रशस्ति गाई गई। बल्कि प्रमाण इस बात का है कि कर्ण को नयपाल के पुत्र विग्रहपाल तृतीय से हार कर अपनी कन्या यौवन-श्री संभवतः युद्धांतर में उसे ब्याह देनी पड़ी। परंतु पालराज्य पर एक और विपत्ति आ पड़ी। सोमेश्वर प्रथम चालुक्य लगभग (१०४२-६८ई०) के पुत्र विक्रमादित्य ने अपने उत्तरी आक्रमण के समय गौड़ तथा कामरूप के राजाओं को परास्त कर दिया।[2] विग्रहपाल तृतीय की मृत्यु के पश्चात् उसके तीन पुत्रों के बीच गृह-कलह के परिणामस्वरूप बंगाल को बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। तीनों की आँख सिंहासन पर थी और वस्तुतः तीनों ने क्रमशः शासन किया। जब वे परस्पर लड़ रहे थे, पूर्व बंगाल में वर्मन् उठ खड़े हुए और पालराज्य, जो सिकुड़कर उत्तर बंगाल तथा बिहार के कुछ भागों तक ही सीमित रह गया था, अब और संकुचित हो गया। वारेंद्र में आदिवासी कैवर्त जाति का दिव्य अथवा दिव्वोक नामक राजा विद्रोही हो उठा और महीपाल ने उसको दबाने में अपने प्राण खोए। इस प्रकार विद्रोही उत्तर-बंगाल में स्वतंत्र राज्य स्थापित करने में सफल हुआ।

---

१. Mem. As. Soc. Beng., ५, नं० ३, पृ० ७८-७९।
२. देखिए, नीचे।

रामपाल

अपने दूसरे भाई शूरपाल द्वितीय के बाद जब रामपाल गद्दी पर बैठा, तब उसकी स्थिति डाँवाडोल थी। कैवर्त्त-विपत्ति के साथ ही साथ उसे अपने दुर्द्धर्ष सामंतों का भी सामना करना पड़ा जिन्होंने पालों की दुर्बलता से पर्याप्त लाभ उठाया था। सन्ध्याकर नन्दी[1] के रामचरित के अनुसार रामपाल स्वयं उन सामन्तों से जा-जा कर मिला और अपनी व्यक्तिगत उदारता से उसने उनको जीता। इन सामन्तों और अपने मामा राष्ट्रकूट मथन की सहायता से वह कैवर्तों के विरुद्ध बढ़ा। पहले उसने अपने सेनापति शिवराज को शत्रु की गतिविधि देखने के लिए आगे भेजा, फिर पालसेना गंगा के पार उतर गयी और उसने दिव्वोक के पुत्र कैवर्तराज भीम को परास्त कर बन्दी कर लिया। अन्त में बन्दी को प्राणदंड दे दिया गया और इस प्रकार रामपाल उत्तर बंगाल के पैतृक प्रदेशों को प्राप्त कर सका। इस विजय से उसकी महत्वाकांक्षा बढ़ी और उसने कलिंग और कामरूप को रौंद डाला। पूर्व बंगाल के राजा यादववर्मन् तक ने उससे संरक्षण के लिए प्रार्थना की। परंतु पालों का यह पुनरुज्जीवन केवल क्षणिक सिद्ध हुआ। रामपाल प्रायः ४५ वर्ष राज्य कर मर गया और उसके साथ ही इस राजकुल की शक्ति भी लुप्त हो गयी।

पाल राजकुल का अंत

उसके पुत्र कुमारपाल के समय में कामरूप में विद्रोह हुआ और यद्यपि इसे उसके मंत्री वैद्यदेव ने कुचल डाला परंतु वैद्यदेव स्वयं वहाँ स्वतंत्र हो गया। कुमारपाल के उत्तराधिकारी उसी की भाँति दुर्बल थे और जाती हुई कुल की प्रतिष्ठा को वे बचा न सके। सामंतों ने धीरे-धीरे सिर उठाया और विजयसेन के उदय से मदनपाल को उत्तर बंगाल छोड़ देना पड़ा। पालों का अधिकार बिहार के एक भाग तक ही अब सीमित रह गया था जहाँ पूर्व में सेनों और पश्चिम में गाहड़वालों से घिरे हुए उन्होंने कुछ दिनों और अपनी जीवनलीला किसी प्रकार बनाये रखी। पाल शासन की अन्तिम झाँकी हमें विक्रम संवत् १२३२=११७५ ई० के एक अभिलेख से मिलती है जो गोविन्दपाल के शासन के १४वें वर्ष का है। इस राजा के सम्बन्ध में और कुछ ज्ञात नहीं[2]।

पालों के कार्य

इस प्रकार उत्कर्षापकर्ष के साथ बिहार और बंगाल पर प्रायः ४ सदियों तक राज्य करने के बाद इतिहास के रंगमंच से पाल लुप्त हो गये। विद्वान् निश्चित रूप से उनकी राजधानी का पता न लगा सके। परन्तु यह राजधानी शायद मुद्गगिरि (मुंगेर) थी, जहाँ से पाल राजाओं ने अपने अनेक दानपत्र निकाले। इस राजकुल के सबसे शक्तिमान् राजा धर्मपाल और देवपाल थे। उनके प्रभाव और सक्रियता का दायरा

१. म० म० हरप्रसाद शास्त्री, Mem. A. S. Beng., ३, संख्या १।
२. J. B. O. R. S., दिसम्बर १९२८, पृ० ५३४।

उनके राज्य-विस्तार की सीमाओं से कहीं बड़ा था। पाल राज्य का ह्रास विशेषकर अन्तःकलह, विद्रोहों और नयी शक्तियों के उदय के कारण हुआ। पाल राजा कला और साहित्य के बड़े संरक्षक थे। विन्सेन्ट स्मिथ ने धीमान् और उसके पुत्र वित्तपाल नामक दो कलावंतों का उल्लेख किया है जिन्होंने "चित्रकला, मूर्तिकला और धातुओं के ढालने में अपनी दक्षता के कारण बहुत यश प्राप्त कर लिया था"[1]। अभाग्यवश उस काल की कोई इमारत बची न रह सकी परन्तु सरों और नहरों की एक बृहत् संख्या आज भी सुरक्षित है जिससे पाल राजाओं की निर्माण-सक्रियता का पता चलता है। वे बौद्धधर्म के बड़े अनुयायी थे, और इस धर्म का तान्त्रिक रूप बहुत कुछ उन्हीं के तत्त्वावधान में निखरा तथा बौद्ध धर्म को नवजीवन मिला। उन्होंने विहारों को उदारतापूर्वक दान दिये। साहित्य तथा धर्म के प्रसार में सक्रिय भाग लिया। ११वीं सदी के मध्य में अतीश नामक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु दौत्य के लिये तिब्बत गया। परन्तु पाल राजा हिन्दू धर्म के विरोध में कभी न थे। उन्होंने ब्राह्मणों को खुल कर दान दिया और हिन्दू देवताओं के अनेक मन्दिर बनवाये :

प्रकरण ३

सेन राजकुल[2]

मूल

जिन सेनों ने बंगाल में पाल शक्ति का लोप कर दिया वे संभवतः मूल में दक्षिण के निवासी थे। कहा गया है कि उन्होंने राढ़ (पश्चिम बंगाल) में सोमेश्वर प्रथम (लगभग १०४२-६८ ई०)[3] के पुत्र विक्रमादित्य चालुक्य के उत्तरपूर्वी आक्रमण से प्रजनित अराजकता के समय एक छोटा राज्य स्थापित किया। इसका प्रतिष्ठाता सामंतसेन 'चंद्रवंश' में उत्पन्न और 'कर्णाट-क्षत्रियों' के मस्तक-माल वीरसेन का वंशज कहा गया है। कर्णाट क्षत्रियों को ब्रह्म-क्षत्रिय भी कहा गया है जिससे जान पड़ता है कि सेन पहले ब्राह्मण थे परन्तु युद्ध की वृत्ति स्वीकार कर लेने के बाद वे क्षत्रिय हो गये।

विजयसेन

सामंतसेन के पौत्र विजयसेन ने अपने ६२ वर्ष (लगभग १०९५-११५८ ई०) के लम्बे राज्यकाल में इस कुल को विशेष प्रतिष्ठा दी। उसने युद्ध में अनेक प्रदेश जीते। कहा जाता है कि उसने गौड़ नरेश को शक्तिपूर्वक आक्रान्त कर लिया। यह

१. E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० ४१७।

२. जी० एम० सरकार, Early History of Bengal" (Sena period) Journ. Dept., Lett., १६, (१९२७), पृ० १-८२।

३. Dy. Hist. North. Ind., १, पृ० ३३१, ३५६।

गौड़ नरेश मदनपाल था। विजयसेन द्वारा उत्तर बंगाल से पालों को भगाया जाना राजशाही जिले के देवपाड़ा[1] के एक अभिलेख तथा पौंड्रवर्धन-भुक्ति के एक ग्राम-दान (जिसका उल्लेख बैरकपुर[2] से अभिप्राप्त एक पत्र लेख में हुआ है) से प्रमाणित है। इनमें से दूसरा अभिलेख राजा के ६२वें वर्ष में विक्रमपुर में लिखा गया, जिससे सिद्ध है कि विजयसेन ने अपने शासन के अंत में पूर्वी बंगाल के ऊपर भी अपनी प्रभुता स्थापित कर दी। यह भी जानी हुई बात है कि एक बार उसका जहाजी बेड़ा "खेल में ही गंगा की धार में पश्चिमी प्रदेश जीतता चला गया[3]।" और विजयसेन ने अपने अनेक समसामयिकों को, जिनमें से मुख्य तिरहुत के नान्य-देव और कामरूप तथा कलिंग के राजा थे, जीता।[4] इनमें से अंतिम सम्भवतः कामार्णव (लगभग ११४७-५६ ई०) अथवा राघव (लगभग ११५६-७० ई०) था क्योंकि इस बात का कुछ प्रमाण मिलता है कि उनके पिता अनंतवर्मन् चोड़गंग (लगभग १०७७-११४७ ई०) का विजयसेन से सद्भाव था। विजयसेन शिव का परम उपासक और श्रोत्रियों का उदार संरक्षक था। उसने एक कृत्रिम झील खुद-वायी और देवपाड़ा में प्रद्युम्नेश्वर शिव का सुंदर मंदिर बनवाया।

बल्लाल सेन

विजयसेन के बाद पश्चिमी बंगाल के शूर कुल की राजकुमारी विलासदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र बल्लालसेन गद्दी पर बैठा। उसने कोई विशेष विजय तो नहीं की परन्तु अपने पैतृक राज्य की सीमायें संकुचित न होने दीं। अनुश्रुतियों से प्रमाणित है कि उसने बंगाल में 'कुलीन' प्रथा प्रचलित की और वर्ण धर्म को फिर से संगठित किया। परन्तु इन सामाजिक सुधारों की पुष्टि में अभिलेखों का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं। अपने पिता की भाँति बल्लालसेन भी शैव था। और कहा जाता है कि अपने गुरु की सहायता से उसने 'दानसागर' और 'अद्भुत सागर' नाम के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ रचे।

लक्ष्मण सेन

लक्ष्मणसेन अथवा राय लखमनिया सेन राजकुल का अन्तिम समर्थ राजा था। उसे विस्तृत प्रदेशों का विजेता कहा गया है। संभव है कि उसने अपने शासन के आरम्भ काल में कामरूप तथा कलिंग के पड़ोसी राज्यों पर विजय पाई हो, परंतु उसकी अन्य विजय तथा काशी और प्रयाग में[5] उसके "विजय-स्तम्भ" खड़े करने

---

१. Ep. १, Ind., पृ० ३०५-१५।

२. वही, १५, पृ० २७८-८६।

३. वही, १, पृ० ३०९-१०, ३१४।

४. वही (देवपाड़ा प्रस्तर-लेख)।

५. केशवसेन : वाकरगंज-अभिलख, J.A.S.B.N.S., १०, (१९१४), पृ० ९७-१०४; मधियानगर दान, वही N. S., ५ (१९०९), पृ० ४७३, ४७६, श्लोकें ११।

की बात सर्वथा निराधार है। इन दोनों नगरों के स्वामी पराक्रमी गाहड़वाल थे और यह संभव नहीं था कि जयचन्द्र के से शक्तिमान् नृपति से, जिसकी सीमा गया जिले तक थी, लक्ष्मणसेन उनको छीन सका होगा। इसके अतिरिक्त यदि हम मुस्लिम इतिहासकारों पर विश्वास करें, तो सिद्ध होगा कि लक्ष्मणसेन अत्यन्त कायर था। उन्होंने लिखा है कि मुहम्मद-इब्न बख्त्यार खिलजी ने जब संभवतः ११९७ ई० में बिहार को जीता और मुंडित ब्राह्मणों (बौद्ध भिक्षुओं) का वध करता हुआ ११९९ ई० के अंत में जब स्वल्प संख्यक सेना के साथ वह नदिया पहुँचा तब बिना किसी विरोध के लक्ष्मणसेन चुपचाप राजप्रासाद के पिछले द्वार से निकल भागा। लक्ष्मण सेन की शासन-व्यवस्था प्रमाणतः अत्यन्त दुर्बल थी वरना बख्त्यार का केवल १८ घुड़सवारों के साथ[1] राजधानी तक बढ़ आना और उसे जीत लेना संभव न था। तदनंतर सेनराज गंगा पार कर पूर्व बंगाल पहुँचा और वहाँ लगभग १२०६ ई० तक राज्य करता रहा। मिनहाजुद्दीन लिखता है कि उसने ८० वर्ष राज्य किया। परंतु निःसन्देह यह गणना दोषपूर्ण है। लक्ष्मणसेन के लगभग ११८० ई०[2] में राज्यारोहण के पक्ष में प्रबल प्रमाण उपलब्ध है। उसकी मृत्यु के बाद सेनों का प्रभुत्व प्रायः आधी सदी तक पूर्व बंगाल ('बंग') पर बना रहा।

अनेक प्राचीन राजाओं की भांति लक्ष्मणसेन ने भी साहित्यिकों के प्रति उदारता से साहित्य का अभिपोषण किया। उसकी राजसभा के अनेक रत्नों में 'पवन-दूत' का रचयिता धोयिक और 'गीत-गोविन्द' का प्रख्यातनामा प्रणेता जयदेव थे। लक्ष्मण सेन स्वयं कवि था और उसने अपने पिता द्वारा आरम्भ किये गए 'अद्भुत सागर' को समाप्त किया।

प्रकरण ४

कलिंग और ओड्र[3]

विस्तार

कलिंग की सीमाएँ समय-समय पर घटती-बढ़ती रही हैं। साधारणतः इसका विस्तार समुद्र तट पर गोदावरी और महानदी के बीच था। ओड्र इससे भिन्न अवश्य था परंतु जान पड़ता है कि कलिंग से उसके उत्कर्ष काल में सम्पूर्ण उड़ीसा का बोध होता था।

---

१. संभव है बख्तयार ने केवल १८ घुड़सवारों के साथ बिहार और बंगाल की विजय न की हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसकी सेना अत्यंत छोटी थी।

२. लक्ष्मणसेन ने १११९ ई० के उस संवत् का आरम्भ किया जो उसके नाम से सम्बद्ध है। देखिए, 'On Laksmana Sena Era', Sir Asutosh Mookerjee Silver Jubilee Volume, खंड ३, Orientalia, पृ० १-५।

३. आर० डी० बैनर्जी, History of Orissa; बी० सी० मजूमदार, Orissa in the Making; हन्टर, Orissa. (लन्दन, १८७२); राय, Dy Hist. North. Ind. १, अ० ७, पृ० ३९१-५०३।

सामग्री की स्वल्पता

इस भूभाग का एतत्कालीय भारतीय इतिहास अत्यन्त अंधकार में है। इसका कारण किसी विशाल शक्ति का अभाव तथा तिथिक्रम का अनिश्चित होना है। जिन राजकुलों ने अपनी विभिन्न परिस्थितियों में कलिंग और ओड्र पर समान काल में शासन किया उनमें से प्रमुख भुवनेश्वर के केशरी[1] और कलिंगनगर (कलिंगपटम अथवा गंजाम जिले में मुखलिंगम ?) के पूर्वीय गंग थे। अभाग्यवश केशरियों के सम्बन्ध में हमें राजनीतिक सामग्री उपलब्ध नहीं। वे परम शैव थे और उन्होंने भुवनेश्वर के अद्भुत मंदिर बनवाये और उन्हें 'मानव, पशु तथा वनस्पति की आकृतियों से अलंकृत किया'। लिंगराज का आश्चर्यजनक मंदिर (लगभग ११वीं सदी), जो आज भी उनके सुंदरतम निर्माणों में से एक माना जाता है, अपने भास्कर्य के अलंकारों से संसार की अद्भुत तथा अमर कृतियों में से एक है।[2] इसके उच्च और नोकीले शिखर के सामने खड़े हैं जो केवल चोटी पर पतले हो गए हैं और इसके उसारे की कोणीय छत पूर्वकालिक मंदिरों से अधिक ऊँची है यद्यपि उसके स्तंभों का अब भी अभाव है। यहाँ पर इस बात का उल्लेख कर देना असंगत न होगा कि उड़ीसा की वास्तुकला की विशेषता इस बात में है कि इसके मन्दिर के तीन भाग होते हैं—विमान (ऊँचा शिखर), जगमोहन (दर्शक-शाला), नटमंडप (रंगमंच) और भोगमंडप। अन्त के दोनों भाग सम्भवतः इसमें 'कुछ काल बाद जोड़े गये'। उड़ीसा के मन्दिरों की विशेषता उनके ऊँचे शिखर तथा प्रभूत अलंकरण और मूर्ति उत्खचन में है।

केशरियों के कलात्मक-निर्माण-कार्य

पूर्वीय गंग[3]

पूर्वीय गंगों ने ८वीं सदी ई० के आरम्भ में कलिंग में अपनी प्रतिष्ठा की। मूल में वे कोलाहल (कोलार) के निवासी थे, और इस प्रकार उनको मैसूर के गंगों की एक शाखा कहना चाहिए। इन पूर्वीय गंगों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान नहीं के बराबर है। इनके समय में कलिंग को अनेक विदेशी आक्रमण सहने पड़े। उदाहरणतः ८वीं सदी के मध्य आसाम के श्रीहर्ष ने सम्भवतः कलिंग और ओड्र को जीता और ९वीं सदी में पूर्वी चालुक्य राजा विक्रमादित्य (८४४-८८८ ई०) ने इसे रौंदा। ११वीं सदी के अन्तिम चरण में गंग कुल अनन्तवर्मन् चोड़गंग के समय में अपनी शक्ति की पराकाष्ठा को पहुँच गया। अनन्तवर्मन् का यह नाम इसलिए पड़ा कि वह राजा गंग की चोड़ पत्नी, राजेन्द्र चोड़ की कन्या, राजसुन्दरी का पुत्र था।

---

१. उनका लक्षण सिंह था।

२. मित्र, The Antiquities of Orissa; गांगुली, Orissa and her Remains.

३. चक्रवर्ती, "Chronology of the Eastern Ganga Kings of Orissa," J. A. S. B., १९०३, पृ० ९७-१४७।

चोड़गंग ने ७० वर्ष से अधिक राज्य किया और उसके शासन की सीमाएँ शक संवत् ९९९ तथा १०६९=१०७७—११४७ ई० हैं। अनुश्रुतियों का वक्तव्य है कि पुरी का प्रसिद्ध मन्दिर उसी ने बनवाया और अपने राज्य की सीमायें भी बढ़ाईं। उसने उत्कल के राजा को परास्त किया, और 'गोदावरी तथा गंगा के बीच के देश से कर ग्रहण किया'। अनन्तवर्मन् का वेंगी के राजा से भी युद्ध हुआ परन्तु अपने समकालीन सेन राजा विजयसेन[1] के साथ उसका सद्भाव रहा। परन्तु इससे उसके पुत्रों कामार्णव अथवा राघव के काल में आक्रमण करने में विजयसेन को किसी प्रकार की आपत्ति न हुई। पश्चात् लक्ष्मणसेन ने भी इस राज्य को लूटा। १३वीं सदी के आरम्भ में मुसलमानों ने पूर्वीय गंगों पर आक्रमण किए और जब तक १६वीं सदी में 'जाजनगर' अथवा उड़ीसा सर्वथा उनके हाथ से न चला गया वे बराबर उस पर हमले करते रहे।

प्रकरण ५

त्रिपुरी के कलचुरी

उनका वंश

कलचुरी अथवा कटचुरी कार्तवीर्य अर्जुन के वंशज कहे जाते हैं। इस प्रकार वे उस हैहय जाति की शाखा थे जो रामायण-महाभारत और पुराणों के अनुवृत्तों में विशेष प्रख्यात है और जिन्होंने नर्मदा की घाटी में अपनी राजधानी माहिष्मती अथवा मान्धाता के केन्द्र से राज्य किया था।

कोकल्ल प्रथम

कलचुरी[2] कोकल्ल प्रथम के शासन काल में विख्यात हुए। उसने त्रिपुरी (वर्तमान तेवर) को अपनी राजधानी बनाया। त्रिपुरी डहाल अर्थात् जबलपुर के प्रदेश में अवस्थित थी। कोकल्ल ने ९वीं सदी के अन्त और १०वीं सदी के आरम्भ में शासन किया। उसके वैवाहिक सम्बन्धों तथा राजनैतिक क्रियाशीलता से इस कुल की बहुत शक्ति बढ़ी। उसने नट्टा देवी नाम की एक चन्देल राजकुमारी से विवाह किया और स्वयं अपनी कन्या कृष्ण द्वितीय(लगभग ८७५-९११ई०) को प्रदान

---

१. यदि रामपाल के उत्कल तथा कलिंग सम्बन्धी दर्पयुक्त विवरण में कोई तथ्य है, तो निःसंदेह चोड़गंग को उसकी तलवार के सामने झुकना पड़ा था।

२. चेदिदेश पर अधिकार के कारण उन्हें चेदवंशीय कहते हैं। उनके इतिहास के लिए देखिए, हीरालाल : 'The Kalacuris of Tripuri', A.B.R.I., १९२७, पृ० २८०-९५; बैनर्जी, 'The Haihayas of Tripuri and their Monuments,' Mem. Arch. Surv. Ind., २३ (१९३१); राजेन्द्रसिंह, त्रिपुरी का इतिहास; राय, Dy. Hist. North. Ind., २, १२, पृ० ७३८-८२०।

की। अभिलेखों[1] से ज्ञात होता है कि कोकल्ल प्रथम ने अपने राष्ट्रकूट जामाता को वेंगी के[2] विनयादित्य तृतीय (पूर्व चालुक्य राज) के विरुद्ध आश्रय तथा सहायता दी। इसी प्रकार उसने प्रतिहारों के गृह-युद्ध के समय भोज (भोज द्वितीय) की भी उसके भाई महीपाल के विरुद्ध सहायता की[3]। कोकल्ल प्रथम को 'सारी पृथ्वी का विजेता' तथा अपने समकालीन राजाओं का कोषहर्ता कहा गया है। परन्तु निःसन्देह इन प्रशस्ति-वाचक वक्तव्यों पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता।

गांगेयदेव

कोकल्लदेव के उत्तराधिकारियों के विषय में हम प्रायः कुछ नहीं जानते परन्तु गांगेयदेव, जिसकी तिथियाँ १०१६ और १०४१ ई० के बीच हैं, निश्चय प्रबल नृपति था। उसने विक्रमादित्य का विरुद धारण किया और वह महोबा से प्राप्त एक चंदेल अभिलेख में "संसार का विजेता"[4] कहा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह कथन अतिरंजित है। परन्तु यह प्रमाणित है कि उसने कीर देश अथवा कांगड़ा घाटी तक उत्तर भारत में धावे किए और प्रयाग तथा वाराणसी (बनारस) के जिलों पर प्रतीहारों के पतन के बाद अधिकार कर लिया। अल्बेहाकी के तारीख-उस-सुबुक्तगीन से प्रमाणित है कि बनारस मसऊद प्रथम (लगभग १०३१-४० ई०) के पंजाब के शासक अहमद नियल्तिगिन के हिजरी ४२४=१०३३ ई० लगभग के हमले के समय गंग (गांगेय) के अधिकार में था।[5] इसके अतिरिक्त रामायण की एक नैपाली संस्कृत हस्तलिखित प्रति के परिचय लेख से स्पष्ट है कि गांगेय ने विक्रम सम्वत् १०७६=१०१६ ई०[6] के कुछ पूर्व तीरभुक्ति (तिरहुत) पर अधिकार कर लिया। एक अभिलेख में उसके उत्कल (उड़ीसा) और कुन्तल (कन्नड़ प्रदेश) के राजाओं को हराने का भी उल्लेख मिलता है।[7] भोज परमार ने अन्त में उसे परास्त कर उसकी शक्ति क्षीण कर दी।

लक्ष्मीकर्ण

लक्ष्मीकर्ण अथवा कर्ण जो गांगेयदेव का पुत्र और उत्तराधिकारी था, कलचुरी राजाओं में सबसे शक्तिमान् हुआ। अपने लम्बे शासन (१०४१-१०७२) के बड़े भाग में उसने उत्तर भारत पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव रखा और अपनी राज्य

---

१. बिलहरी लेख, Ep. Ind., १, पृ० २५६, २६४, श्लोक १७; बनारस ताम्रपत्र लेख, वही, २, पृ० ३००, ३०६, श्लोक ७।

२. Mem. Arch. Surv. Ind., सं० २३ (१६२६), पृ० ५।

३. History of Kanauj, पृ० २५५-५६।

४. Ep. Ind., १, पृ० २१६, २२२, पंक्ति १४।

५. इलियट, History of India, २, पृ० १२३-२४।

६. Dy. Hist. North. Ind. २, पृ० ७७४।

७. गोहरवा-पत्र लेख, Ep. Ind., ११, पृ० १४३, श्लोक १७।

की सीमाओं का बहुत विस्तार किया। बनारस तक, जहाँ उसने कर्ण मेरु नाम के शिवमंदिर का निर्माण कराया,[1] उसकी प्रभुता स्थापित हुई। इसी प्रकार उत्तर-पश्चिम में कीरों (काँगड़ा) के देश पर उसका आक्रमण भी प्रमाणित है[2]। कर्ण ने भी अपने पिता की ही भाँति उत्तर में धावे किये और प्रतीहारों के प्रनष्ट कन्नौज राज्य पर अपना प्रभाव जमाया। यह सार्थक है कि बसही पत्रलेख में गाहड़वालों के उदय के पूर्व 'पृथ्वी के विपत्ति-काल' में उसका नाम भोज के साथ ही लिया गया है[3]। कर्ण ने अपने समकालीन चन्देल नृपति विजयपाल अथवा देववर्मन् को भी परास्त किया। पूर्व में इस कलचुरी राजा का संघर्ष नयपाल और उसके पुत्र विग्रहपाल तृतीय के साथ भी हुआ जिसमें संभवतः विग्रहपाल प्रबल सिद्ध हुआ। तदनन्तर कर्ण ने गुजरात के चालुक्य राजा भीम प्रथम (लगभग १०२०-६४ ई०) की सहायता से धारा के भोज परमार को बुरी तरह हराया। कर्ण की शक्ति का प्रभाव चोड, कलिंग और पांड्य राजाओं तक पर पड़ा परन्तु अपने शासन के अन्त में कर्ण की अनेक बार पराजय हुई। सन्धि तोड़कर भीम प्रथम ने उसे हराया और उदयादित्य का मालवा भी उससे स्वतन्त्र हो गया। इसी प्रकार कर्ण को चालुक्य सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (लगभग १०४२-६८ ई०) तथा कीर्तिवर्मन् चन्देल द्वारा भी परास्त होना पड़ा।

कर्ण के उत्तराधिकारी

अपने अन्त के दिनों में शासन का भार वहन न कर सकने के कारण लक्ष्मी-कर्ण ने गद्दी हूणकुलीय रानी आवल्लदेवी से उत्पन्न अपने पुत्र यशःकर्ण को संभवतः दे दी। एक अभिलेख का वक्तव्य है कि यशःकर्ण (लगभग १०७३-११२० ई०) ने चम्पारण्य प्रदेश (चम्पारन जिला) को रौंद डाला और उस आंध्रराजा को "आसानी ने उन्मूलित कर दिया" जिसकी एकता पूर्वी चालुक्य वेंगी के विजयादित्य सप्तम (लगभग १०६०-७६ ई०) के साथ सही सही स्थापित कर दी गई है। परन्तु यशःकर्ण अपने कुल का ह्रास न रोक सका। लक्ष्मदेव परमार ने त्रिपुरी को लूट कर कलचुरियों से पुराना बदला लिया। गाहड़वालों ने उत्तर में कान्यकुब्ज और काशी में अपनी शक्ति प्रतिष्ठित की और चेदियों के ह्रास से उसे बढ़ाया। इसी प्रकार यशःकर्ण के शासन-काल में चन्देल मदनवर्मन् (ल. ११२८—६४ ई०) ने उसे हराया और रत्नपुर की कलचुरी शाखा दक्षिण कोशल में स्वतंत्र हो गई।[4]

---

१. Ep. Ind., २, पृ० ४, ६, श्लोक १३। कर्ण ने त्रिपुरी के समीप एक नयी राजधानी कर्णवती (वर्तमान करनबेल) भी बसाई।

२. Ind. Ant., १८, पृ० २१७, पंक्ति ११।

३. Ind. Ant., १४, पृ० १०३, पंक्ति ३।

४. Dy. Hist. North. Ind., २, पृ० ७६१-६२।

गया-कर्ण के उत्तराधिकारियों के शासन काल में कलचुरियों की शक्ति सर्वथा विनष्ट हो गई।

प्रकरण ६

जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) के चन्देल[1]

उनका आरंभ

चंदेलों का आरम्भ अंधकार में है। एक जनश्रुति में उनकी उत्पत्ति चंद्रमा और एक ब्राह्मण कन्या के संयोग से बताई जाती है: यह अंधविश्वास कितना विश्वसनीय है यह कहने की आवश्यकता नहीं। स्मिथ का मत है कि चंदेल भरों अथवा गोंडों की जाति के भारतीय आदि-वासी हैं और उनका मूल स्थान छतरपुर रियासत में केन नदी के तट पर मनियागढ़ था[2]।

शक्ति का आरम्भ

नवीं सदी के आरम्भ में दक्षिण बुन्देलखण्ड में नन्नुक के नेतृत्व में चन्देल प्रसिद्ध हुए। नन्नुक का पौत्र जेजा अथवा जयशक्ति था जिसके नाम पर चन्देलों के राज्य का नाम जेजाकभुक्ति पड़ा। अनुवृत्तों और अभिलेखों के प्रमाण से विदित होता है कि इस राजकुल के प्रारम्भिक राजा कन्नौज के प्रतीहार सम्राटों के सामन्त थे। परन्तु हर्षदेव चन्देल ने प्रतीहारों के गृह-कलह के समय भोज द्वितीय के विरुद्ध उसके सौतेले भाई महीपाल (क्षितिपाल) की सहायता की और फलतः उसे गद्दी देकर अपने कुल की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ाई। यशोवर्मन् के राज्य-काल में चन्देलों ने पर्याप्त मात्रा में स्वतंत्रता प्राप्त कर ली और चेदियों, मालवों, कोशलों आदि के पड़ोसी प्रदेशों को जीतकर अपनी अभिवृद्धि की। खजुराहो से प्राप्त एक अभिलेख के अनुसार यशोवर्मन्, 'गुर्जरों के लिए अग्नि सदृश था' और उसने 'कालंजर का दुर्ग सरलता से जीत लिया'।[3] कालंजर प्रतीहारों के अभेद्य दुर्गों में से एक था। उसने देवपाल प्रतीहार को बैकुंठ की विष्णुमूर्ति देने को बाध्य किया जिसे उसने स्वयं खजुराहो में एक विशाल मन्दिर बनवाकर प्रतिष्ठित किया।[4]

धंग

आश्चर्य है कि चन्देल शक्ति इतनी बढ़ जाने पर भी यशोवर्मन् का पुत्र और उत्तराधिकारी धंग (लगभग ९५०-१००२ ई०) विक्रम संवत् १०११=९५४ ई०

---

१. स्मिथ, "Contributions to the History of Bundelkhand"—J. A. S. B., १८८१ खण्ड, १, भाग १, पृ० १–५३, "The History and Coinage of the Candel (Candella) Dynasty of Bundelkhand," Ind. Ant. ३७ (१९०८), पृ० ११४-४८; राय, Dy. Hist. North. Ind., २,११, पृ० ६६५-७३७।

२. Ind. Ant., ३७ (१९०८), पृ० १३६-३७।

३. Ep. Ind., पृ० १३२, श्लोक २३; पृ० १३३, श्लोक ३१।

४. वही, पृ० १३४, श्लोक ४३।

में प्रतीहार राजा विनायकपाल द्वितीय को अपना अधिपति मानता है[1]। जान पड़ता है कि दक्कन् के निजाम और अवध के नवाब जिस प्रकार दिल्ली के मुगलों के अधीनस्थ होते हुए भी वास्तव में स्वतंत्र थे उसी प्रकार संभवतः इस चन्देल राजा ने भी कन्नौज के सम्राटों से अपना सम्बन्ध सर्वथा न तोड़ा था और कुछ काल तक नाम-मात्र को उनका आधिपत्य मानता रहा था। पश्चात् जेजाकभुक्ति के राज्य का उत्कर्ष इसी धंग के नेतृत्व में हुआ जैसा कि मऊ के एक अभिलेख से जान पड़ता है कि उसने "कान्यकुब्ज के राजा को परास्त कर अपना आधिपत्य" स्थापित किया।[2] चन्देलों की यह सफलता खजुराहो के लेख से भी समर्थित है जिससे विदित होता है कि धंग ने उस पृथ्वी को भले प्रकार भोगा जिसको उसने "खेल-खेल में ही अपनी विशाल और शक्तिमान भुजाओं से कालंजर तथा मालव नद के तट पर अवस्थित (भास्वत् (?) तक जीत लिया था; यहाँ से कालिन्दी नदी के तट तक और चेदि देश की सीमा तक और फिर गोपाद्रि तक जो चमत्कारों का पर्वत है[3]। ग्वालियर का हाथ से निकल जाना प्रतीहारों की शक्ति का प्रबल ह्रास समझा जाना चाहिए क्योंकि उसके जरिये चंदेलों ने एक मोर्चे का स्थान स्वायत्त कर लिया जिसे वे अपने आक्रमणों का आधार बना सकते थे। धंग ने अपने शासन के अन्त में काशी तक धावे किये और वहाँ उसने विक्रम संवत् १०५५=६६८ ई० में एक ब्राह्मण को एक गाँव दान दिया[4]। ६८६ अथवा ६६० में जब शाही राजा जयपाल ने सबुक्तगीन के विरुद्ध हिन्दू राजाओं से सहायता मांगी तब अन्य राजाओं के साथ धंग ने भी सेना और संपत्ति से उसकी सहायता की और हिन्दू संघ की इस पराजय में उसने भी अपना भाग पाया।

गंड

इसी प्रकार धंग का पुत्र गंड भी १००८ ई० में महमूद के आक्रमण को रोकने के लिए आनंदपाल शाही द्वारा निर्मित संघ में शामिल हुआ। परन्तु हिन्दुओं की रक्षा फिर भी न हो सकी और सुलतान ने उसकी सेना को पूर्णतः परास्त कर दिया। तदनन्तर गंड ने अपने युवराज विद्याधर को सेना देकर १०१८ ई० के अन्त में महमूद के प्रति आत्मसमर्पण के कारण कन्नौज के राज्यपाल को दंड देने के लिए भेजा। विद्याधर ने प्रतीहार नरेश को मार डाला परतु जब गजनी के सुलतान को इसकी सूचना मिली तब वह कुपित होकर नंद (गंड)[5] को उसकी धृष्टता का दण्ड

---

१. वही, १, पृ० १३५।

२. वही, पृ० १६७, २०२, श्लोक ३।

३. वही, पृ० १२४, १३४, श्लोक ४५। धंग की राज्य सीमा निर्धारित करने के लिए यह वक्तव्य महत्वपूर्ण है।

४. Ind. Ant., १६, पृ० २०२-२०४।

५. इसके विरुद्ध राय का कहना है कि नन्द वास्तव में बीद (विद्याधर) है, गंड नहीं (Dy. Hist. North. Ind., १, पृ० ६०६)।

देने चला। हिजरी ४१०=१०१६ ई० में दोनों सेनाएँ मुकाबिले में खड़ी हुईं, परंतु मुसलमानों की शक्ति और निर्भीकता से चंदेल राजा एकाएक इतना भयभीत हो उठा कि रात के सन्नाटे में "वह अपने सरोसामान के साथ भाग गया"[1]। हिजरी ४१३=१०२२ ई० में महमूद ने चंदेलों पर दुबारा आक्रमण किया। १०२३ ई० में ग्वालियर लेकर उसने कालंजर पर घेरा डाला। नंद अथवा गंड ने कायरतावश महमूद के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया। आक्रामक ने उसको उसके जीते हुए दुर्ग लौटा दिये और स्वयं लूट का बहुत धन लेकर लौट गया।

कीर्तिवर्मन्

इस कुल का दूसरा शक्तिमान् राजा कीर्तिवर्मन् था। उसने चंदेलों की खोई हुई शक्ति लौटा ली। गांगेयदेव और लक्ष्मीकर्ण के से कलचूरी राजाओं ने चंदेलों की प्रभुता अपनी शक्ति से दबा रखी थी और कीर्तिवर्मन् स्वयं अपने शासन के आरंभ में लक्ष्मीकर्ण द्वारा पराजित हो गया था। परंतु अभिलेखों तथा कृष्णमिश्र के 'प्रबोधचंद्रोदय' नामक वेदांत तथा वैष्णव नाटक की भूमिका से विदित होता है कि चंदेलराज ने अन्त में शक्तिमान् चेदि प्रतिस्पर्धी को परास्त कर अपनी पराजय का बदला ले लिया।

मदनवर्मन्

इस कुल का दूसरा समर्थ राजा मदनवर्मन् हुआ जिसकी जानी हुई तिथियाँ ११२६ और ११६३ ई० हैं। उसको 'गुर्जरराज' को परास्त करने वाला कहा जाता है। यह गुर्जरराज गुजरात का सिद्धराज-जयसिंह (लगभग १०६५-११४३ ई०) है। मऊ (झाँसी जिला) के एक अभिलेख से यह भी प्रमाणित है कि मदनवर्मन् ने चेदि-राज (संभवतः गया-कर्ण) को परास्त किया; मालवों अर्थात् परमार समकालीन राजाओं को उन्मूलित किया और 'काशिराज' (संभवतः विजयचंद्र गाहड़वाल) को "मित्राचरण में काल व्यतीत करने को" बाध्य किया[2]।

परमार्दि

जनश्रुतियों का परमल अथवा परमार्दि चंदेल कुल का अंतिम विख्यात राजा था। उसने लगभग ११६५ई० से १२०३ तक राज्य किया। मदनपुर के लेख[3] और चंदवरदायी के 'रासो' से विदित होता है कि ११८२-८३ ई० में पृथ्वीराज चौहान के हाथों वह पराजित हुआ और चौहान नरेश बुंदेलखण्ड के महोबा तथा अन्य दुर्ग उनसे छीन लिए। परंतु इस पराभव से परमार्दि उन्मूलित न हो सका और उसने कुछ हद तक बाद में अपनी हार का निराकरण भी कर लिया। हिजरी ५६६=१२०३ ई० में उसने कालिंजर के घेरे के समय कुतुबुद्दीन ऐबक का जोर-

---

१. इलियट, History of India, खंड २, पृ० ४६४।
२. Ep. Ind., पृ० १६८, २०४।
३. Prog. Rep. Arch. Surv. Ind., १६०३-१६०४, पृ० ५५।

दार मुकाबिला किया। परंतु अंत में भाग्य और परिस्थितियों को अपने विरुद्ध पाकर उसने आत्मसमर्पण कर दिया, यद्यपि सुलह की शर्तों को पूरा करने के पहले ही उसका देहान्त हो गया। उसके मंत्री अजदेव ने अब आक्रमण के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण किया परंतु उसको भी बाध्य होकर शीघ्र आत्मसमर्पण करना पड़ा। कुतुबुद्दीन ने तदनंतर महोबा पर अधिकार कर अधिकृत प्रदेश एक मुसलमान शासक के सुपुर्द कर दिया। इस प्रकार चंदेलों का अंत हो गया यद्यपि छोटे सामंतों के रूप में वे १६वीं सदी तक जीवित रहे।

चन्देल नगर और झील

चंदेल राज्य के मुख्य नगर खजुराहो, कालंजर और महोबा थे। विन्सेंट स्मिथ लिखते हैं:—"इनमें से पहला नगर अपने सुंदर और विशाल मंदिरों के साथ इस राज्य की धार्मिक, दूसरा अपने दुर्ग के साथ इसकी सैनिक, और तीसरा राजप्रासाद के साथ इसकी नागरिक राजधानी थी"।[1] चंदेलों ने बुंदेलखंड को मंदिरों तथा पक्की झीलों से प्रभूत सुंदर कर दिया। महोबा का दर्शनीय मदनसागर मदनवर्मन् की कीर्ति का प्रमाण है।

प्रकरण ७

मालवा के परमार[2]

परमार कौन थे ?

अनुश्रुतियों का वक्तव्य है कि परमार (परमर अथवा पवार) परमार के वशज थे जिसे वसिष्ठ ने अपनी गाय नंदिनी की विश्वामित्र से रक्षा के लिए माउन्ट आबू के अग्निकुंड से अभिसृष्ट किया था। इस अनुश्रुति से तात्पर्य यह है कि अग्निकुलीय होने के कारण प्रतीहार और अन्य राजपूत कुलों की भाँति ही ये भी संभवतः विदेशी थे जो अग्नि-संस्कार के पश्चात हिंदू वर्ण व्यवस्था में प्रविष्ट हो सके। परंतु हरसोला (अहमदाबाद जिला)[3] से प्राप्त अभिलेख के एक वक्तव्य के आधार पर यह कहा गया है कि "परमार राष्ट्रकूट जाति के थे" और वे मूल में दक्कन के निवासी थे जो "कभी राष्ट्रकूट सम्राटों का मूल आवास रह चुका था"[4]

उनकी शक्ति का आरम्भ

अन्यत्र बताया जा चुका है कि कान्यकुब्ज की विजय के पूर्व प्रतीहारों की

१. Ind. Ant., ३७ (१९०८) पृ० १३२।

२. देखिए, सी० ई० लूआर्ड और के० के० लेले : Paramaras of Dhar and Malwa (बम्बई, १९०८); डी० सी० गांगुली : History of the Paramara Dynasty (ढाका, १९३३); एच० सी० राय : Dy. Hist. North. Ind., २, १४, पृ० ८३७-९३२।

३. Ep. Ind., १९, पृ० २३६-४४।

४. गांगुली : History of the Paramara Dynasty (ढाका, १९३३), पृ० ९।

शक्ति का केंद्र उज्जैन था। यह प्रदेश दीर्घ काल तक उनके और उनके दुर्धर्ष शत्रु मान्य-खेट(मालखेड) के राष्ट्रकूटों के बीच संघर्ष का कारण रह चुका था। राष्ट्रकूटों ने ध्रुव निरुपम, गोविन्द तृतीय, और कृष्ण तृतीय के उत्तरी आक्रमणों के समय इसे जीता भी था परंतु इनमें कोई उज्जैन पर चिरकालिक अधिकार न कर सका क्योंकि इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि प्रतीहार राजा नागभट द्वितीय, मिहिर-भोज, महेन्द्रपाल प्रथम, महीपाल और महेन्द्रपाल द्वितीय ने बारी-बारी से इस पर अपना अधिकार रखा। प्रतापगढ़ के अभिलेख से स्पष्ट विदित होता है कि विक्रम संवत्[1] १००३=९४६ ई० में महेन्द्रपाल द्वितीय ने माधव नामक अपने "प्रबल सामंत को उज्जयिनी का शासक" बनाया और श्रीशर्मन् नामक एक अन्य अधिकारी को मंडपिका (मांडू) का कार्यभार दे रखा था। इस प्रकार परमार राजकुल का प्रतिष्ठाता उपेन्द्र अथवा कृष्णराज और उसके निकट-उत्तराधिकारी प्रतीहारों अथवा राष्ट्रकूटों के सामंत रहे होंगे, और उनकी यह अधीनता मालवा पर प्रतीहार और राष्ट्रकूटों के अधिकार के अनुकूल बदलती रही होगी। परमार राजकुल का पहला शक्तिमान् राजा सीयक हर्ष था जिसके राज्यकाल की तिथियाँ विक्रम संवत् १००५=९४९ ई० और विक्रम संवत् १०२९=९७२ ई० अभिलेखों द्वारा ज्ञात हैं। यह काल प्रतिहार राज्य के ह्रास का था और इसलिये परमार राज्य को इससे अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिला परंतु सीयक-हर्ष का उत्कर्ष निश्चय राष्ट्रकूटों की उदासीनता का कभी भी कारण न हो सकता था और इसलिए दोनों में संघर्ष होना अनिवार्य था। उदयपुर के अभिलेख के अनुसार सीयक-हर्ष ने "युद्ध में खोट्टिग की लक्ष्मी छीन ली"।[2] खोट्टिग इसी नाम का राष्ट्रकूट राजा (लगभग ९६५-७०) माना गया है जो कृष्ण तृतीय (लगभग९४०-५५ ई०)के बाद गद्दी पर बैठा था। डा० ब्यूलर ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मान्यखेट का ध्वंस धनपाल के "पाइय-लच्छी" नामक एक प्राकृत काव्य के प्रमाण से भी समर्थित है[3]। सीयक-हर्ष की दूसरी महत्वपूर्ण विजय हूण जाति के किसी राजा पर हुई।

वाक्पति-मुञ्ज

सीयक-हर्ष के बाद उसका यशस्वी पुत्र मुञ्ज उपनामा वाक्पति परमारों की गद्दी पर बैठा। उसके अन्य नाम उत्पलराज, श्रीवल्लभ और अमोघवर्ष थे, जिनमें से अन्तिम दोनों नाम राष्ट्रकूट राजाओं के प्रायः सामान्य उपनाम थे। वाक्पति की पूर्ववत् ज्ञात तिथि विक्रम संवत् १०३१=९७४ ई० है। अतः यह मानना युक्ति-संगत होगा कि वह लगभग वर्षभर पहले गद्दी पर बैठा। वह विक्रान्त योद्धा था और उसने त्रिपुरी के कलचुरी राजा युवराज द्वितीय को पूर्णतः परास्त कर दिया। इसके अतिरिक्त उदयपुर के अभिलेख से विदित होता है कि वाक्पति मुञ्ज ने लाटों,

१. Ep. Ind., १४, पृ० १७६-८६।
२. वही, १, पृ० २३५, २३७, श्लोक १२।
३. वही, पृ० २३६।

कर्णाटों, चोलों और केरलों[1] को भी अपने शस्त्र से विवश कर दिया। अन्य राजकुलों से भी उसका संघर्ष हुआ परन्तु उसकी सबसे उत्कृष्ट विजय चालुक्य तैलप द्वितीय के विरुद्ध हुई जिसको उसने कम से कम छः बार परास्त किया। मेरुतुंग से विदित होता है कि सातवीं बार जब मन्त्रियों की मन्त्रणा की अवमानना करके वाक्पति मुञ्ज गोदावरी पार कर चालुक्य प्रदेशों में जा घुसा तब उसे विपत्ति का सामना करना पड़ा। वह बन्दी कर के मार डाला गया। डा० राय का कहना है, जो चालुक्य अभिलेखों से प्रमाणित भी हो चुका है, कि यह विपत्ति विक्रम संवत् १०५०=९९३—९४ ई० (जो वाक्पति मुञ्ज की अन्तिम उल्लिखित तिथि है) और शक संवत् ९१९=९९७-९८ ई० (जब तैलप द्वितीय मरा) के बीच कभी पड़ी होगी[2]। वाक्पति मुञ्ज योद्धा तो था ही, साथ ही वह कला और साहित्य का संरक्षक भी था। उसने धार (धारा) में अनेक सरोवर खुदवाये जिनमें से मुञ्ज सागर अब भी उसका नाम ध्वनित करता है। उसने अपने राज्य के मुख्य नगरों तथा मंदिरों का भी निर्माण कराया। वह स्वयं प्रतिभा-सम्पन्न कवि था और विद्वानों को उदारतापूर्वक पुरस्कृत करता था। उसकी राज्यसभा के साहित्यिक रत्न पद्मगुप्त, 'दशरूप' के रचयिता धनञ्जय, 'दशरूपावलोक' के प्रणेता धनिक, भट्ट हलायुध[3] और अन्य प्रख्यातनामा साहित्यिक थे।

सिन्धुराज

मेरुतुंग की 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' के-से कुछ जैन ग्रन्थों का वक्तव्य है कि वाक्पति मुञ्ज का उत्तराधिकारी भोज हुआ। परन्तु अभिलेखों की प्रामाणिक सामग्री से सिद्ध होता है कि उसके बाद परमारों का राजा वास्तव में उसका अनुज सिन्धुल अर्थात् सिन्धुराज अथवा नवसाहसांक हुआ। उसके यशस्वी कृत्यों का परिगणन पद्मगुप्त ने अपने 'नवसाहसांकचरित' में किया है जिससे सिद्ध होता है कि सिन्धुराज ने एक हूण राजा, कोशल अथवा दक्षिण-कोशल (अर्थात् तम्मान के कलचुरी), लाट के चालुक्यों तथा अन्य पड़ोसी शक्तियों को परास्त किया।

भोज[4]

सिन्धुराज के अल्पकालिक शासन के बाद उसका पुत्र भोज परमारों की गद्दी पर बैठा। इस राजकुल का वह सर्वशक्तिमान् और यशस्वी नृपति था। उसकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का निःसीम बखान जनश्रुतियों में सुरक्षित है। उसने अपनी राजधानी धारा की ख्याति दूर-दूर तक प्रतिष्ठित की और अपनी सामरिक कुशलता तथा राजनीतिक दक्षता के सम्मिलित योग से भारत के सुदूर प्रदेशों पर

---

१. वही, श्लोक १४।

२. Dy. Hist. North. Ind., २, पृ० ८५७-५८।

३. अभिधानरत्नमाला और मृतसंजीवनी का रचयिता।

४. देखिए, प्रो० पी० टी० एस० अयंगर : Bhoja rāja (मद्रास, १९३१); विश्वेश्वरनाथ रेऊ : राजा भोज (प्रयाग, १९३२)।

भी अपना प्रभाव स्थापित किया। एक अभिलेख में उसे सार्वभौम की संज्ञा दी गई है और उदयपुर के प्रशस्ति-लेख में उसे कैलाश से मलयपर्वत तक की "पृथ्वी का अधिकारी" कहा गया है।[1] इसमें सन्देह नहीं कि यह वक्तव्य अनिरंजित है परन्तु इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि भोज ने सुविस्तृत प्रदेश विजय किये और अपनी महत्वाकांक्षा के कारण उसे अपने समकालिक राज्यों के साथ निरंतर युद्ध करने पड़े। पहला संघर्ष कर्णाटों अथवा कल्याणी के चालुक्यों के विरुद्ध हुआ। इसका उद्देश्य वाक्पति मुञ्ज के वध का प्रतिशोध था। भोज ने अपने दक्षिणी शत्रु विक्रमादित्य पंचम (राज्यारोहण, १००८ ई०) को सरलता से परास्त कर मार डाला[2]। परंतु दक्कन के ऊपर प्रभुत्व स्थापित करने का भोज का प्रयत्न शक संवत् ९४१=१०१९ ई० के शीघ्र पूर्व व्यर्थ हो गया; जब चालुक्य जयसिंह द्वितीय (लगभग १०१६-४२ ई०) ने उसे परास्त कर "मालव का संघ" तोड़ दिया (अथवा "भगा दिया)[3]"। तदनंतर भोज युद्ध के लिए फिर कटिबद्ध हुआ। उसने चेदिराज अर्थात् त्रिपुरी के गांगेयदेव को तथा इद्ररथ और तोग्गल (जिनकी पहचान अनिश्चित है) इन दो अन्य राजाओं को परास्त किया। वसही पत्र-लेख से विदित होता है कि भोज ने उत्तर की ओर भी कुछ धावे किये और कान्यकुब्ज पर कुछ काल तक अधिकार कर लिया। तुरुष्कों (उत्तर भारत के मुसलमान आक्रामकों) के विरुद्ध भी उसकी एक विजय हुई परन्तु ग्वालियर के कच्छपघातकुलीय कीर्तिराज के साथ संघर्ष उसके लिए फलदायक सिद्ध न हुआ। अंत में भोज ने लाट (दक्षिण गुजरात) के स्वामी एक एक अन्य कीर्तिराज[4] और गुजरात के भीम प्रथम (लगभग १०२२-६४ ई०) को भी परास्त किया। इन विजयों के होते हुए भी भोज का अंत गौरवपूर्ण न हो सका। उसका कोष निरंतर के युद्धों से रिक्त हो गया और चालुक्य सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (लगभग १०४२-६८ ई०) ने उसे परास्त[5] भी कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने भोज को भगाकर मालवा और उसकी राजधानी को खुलकर लूटा भी। भोज फिर भी भागकर चुप बैठा रहने वाला व्यक्ति न था और उसने शीघ्र लौट कर अपनी शक्ति फिर से अर्जित कर ली। शीघ्र ही सेनापति कुलचंद्र ने मुसलमानों के साथ में व्यस्त भीम प्रथम की अनुपस्थिति में अन्हिलवाड को लूटा। उसके इस आचरण से बाध्य होकर भीम प्रथम ने कलचुरी राजा लक्ष्मीकर्ण के साथ संघ बनाकर दो ओर से परमार राज्य पर प्रबल आक्रमण किया। युद्ध अभी चल ही रहा था कि भोज का निधन हो गया। मेरुतुंग के अनुसार भोज ने "५५ वर्ष, सात मास और तीन दिन"

---

१. Ep. Ind., १, पृ० २३७-३८।

२. सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर उसको विक्रमादित्य प्रथम मानते हैं (Early History of the Dekkan (१९२८), पृ० १४०, नोट १५)। इसके विरुद्ध कुछ विद्वानों का मत है कि भोज ने चालुक्य प्रदेशों पर जयसिंह द्वितीय के समय में आक्रमण किया था (History of the Paramara Dynasty, पृ० ९०-९१।

३. Ind. Ant., ५, पृ० १७।

४. वही, १४, पृ० २०३, पंक्तियाँ ३-४।

५. यह कीर्तिराज गोग्गिराज चालुक्य का पुत्र था।

राज्य किया। उसकी मृत्यु से आक्रामकों की समस्या सरलता से सुलझ गयी और उन्होंने परमार राजधानी धारा को खूब लूटा और मालवा को रौंद डाला।

भोज जिस प्रकार असाधारण योद्धा था उसी प्रकार वह असामान्य साहित्यिक भी था : एक अभिलेख में उसे 'कविराज' कहा गया है। उसे कम से कम दो दर्जन ग्रंथों का रचयिता माना जाता है और इनके विषयों की परिधि बड़ी है। चिकित्सा, ज्योतिष, धर्म, व्याकरण, वास्तु, अलंकार, कोष, कला, आदि सभी उसके ग्रन्थों के विषय हैं। उनमें से कुछ के नाम निम्नलिखित हैं :—आयुर्वेदसर्वस्व, राजमृगांक, व्यवहारसमुच्चय, शब्दानुशासन, समराङ्गणसूत्रधार, सरस्वतीकण्ठाभरण, नाममालिका, युक्तिकल्पतरु, आदि। परंतु यह संदिग्ध है कि गहरी राजनीति और अनवरत युद्धों में व्यस्त रहने पर भी भोज ने इतने ग्रंथ लिखें। कुछ आश्चर्य नहीं यदि इनमें से कुछ उसकी राजसभा के संरक्षित विद्वानों द्वारा प्रस्तुत हुए हों। भोज विद्या का महान् प्रोत्साहक और संरक्षक था। उसने धारा में संस्कृत का एक महाविद्यालय बनवाया जहाँ दूर-दूर के विद्यार्थी अपनी बौद्धिक पिपासा शांत करते थे। इसकी दीवारों से बहुमूल्य रचनाओं से अभिलिखित अनेक प्रस्तर खण्ड उपलब्ध हुए हैं। इस विद्यालय की इमारत को अब भी भोजशाला कहते हैं। मालवा के नवाबों ने इसके स्थान पर मस्जिद बनवा दी।

भोज उत्कट शिवभक्त और महान् निर्माता था। उदयपुर के अभिलेख से विदित होता है कि उसने राज्य में अनेक सुंदर और विशाल मंदिरों का निर्माण कराया[1]। उसने धारा नगरी का आकार बढ़ाया और वर्तमान भोपाल के दक्षिण में भोजपुर नगर बसाया। उसके पास ही उसने एक विस्तृत झील खुदवाई। पन्द्रहवीं सदी के आरम्भ में मांडू के शाह हुसेन ने इसके तल के उपयोगार्थ बाँधों को नष्ट कर दिया।

इस राजकुल का उत्तरकाल

भीम प्रथम और लक्ष्मीकर्ण की मैत्री देर तक न निभ सकी। विजय के बँटवारे में उनमें विवाद उठ खड़ा हुआ। जयसिंह ने यह अवसर उचित जानकर अपने कुलशत्रु सोमेश्वर प्रथम चालुक्य से सहायता की प्रार्थना की। राजनैतिक समशक्तिता स्थापित करने के विचार से सोमेश्वर ने शत्रु-सेनाओं से मालवा को खाली कर दिया और परमारों की गद्दी पर जयसिंह को बिठा दिया। इस राजा का शासन अल्पकालिक था। उसके शासन काल की ज्ञात तिथियाँ विक्रम संवत् १११२ =१०५५ ई० और विक्रम संवत् १११६=१०५९ ई० हैं। उसने कोई यशस्वी कार्य न किया परन्तु अपनी अदूरदर्शिता से कर्णाटों तथा गुजरात के चालुक्यों से दारुण संघर्ष अवश्य मोल ले लिया। उसका उत्तराधिकारी उदयादित्य (लगभग १०५९-१०८८ ई०) भोज का 'बन्धु'[2] कहा गया है। उसने परमार राजकुल की विपन्ना-

१. Ep. Ind., १, पृ० २३८, श्लोक २०।

२. जान पड़ता है कि उदयादित्य परमारों की किसी कनिष्ठ शाखा का था। उदयपुर (Ep. Ind., १, पृ० २३२-३८) और नागपुर (वही, २, पृ० १८०-९५) के अभिलेखों के अनुसार वह भोज के ही बाद गद्दी पर बैठा।

वस्था को सम्हालने की चेष्टा की। उसने कर्ण, संभवतः कलचुरी लक्ष्मीकर्ण, को परास्त किया। यह कर्ण, डा० गांगुली के अनुसार,[1] भीम प्रथम का कर्ण (ल० १०६४-६४ ई०) नामक पुत्र भी हो सकता है। बारहवीं सदी में उस कुल की दशा निरन्तर बिगड़ती गई और उसके दुर्बल राजाओं के स्थानीय युद्ध-कलह साधारण पाठक की अनुरक्ति के विषय नहीं। मालवा में आक्रामक राजाओं के धावे निरतर होते रहे और अन्त में १३०५ ई० में अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति ऐन-उल् मुल्क ने बची-खुची हिंदू सत्ता का भी नाश कर डाला जब अपने आक्रमण के समय उसने मांडू, उज्जैन, धारा और अन्य नगरों को पूर्णतया रौंद डाला।

प्रकरण ८

अन्हिलवाड का चालुक्य राजकुल[2]

प्रतिष्ठाता का कुल

अन्हिलवाड अथवा अन्हिल-पाटक (गुजरात में वर्तमान पत्तन) का चालुक्य राजकुल मूलराज सोलंकी द्वारा प्रतिष्ठित हुआ। अभाग्यवश प्रस्तुत सामग्री के आधार पर इस कुल का दक्कन के प्राचीनतर चालुक्य-कुल से सम्बन्ध स्थापित करना कठिन है। गुप्त-वलभी सम्वत् ५७४=८९३ ई० और विक्रम सम्वत् ९५६=८९९ ई० के ऊना के अभिलेखों में उल्लिखित महेन्द्रपाल प्रतीहार के सामन्त सौराष्ट्र (काठियावाड़) के चालुक्य राजाओं का[3] उसे वंशज मानना भी प्रामाणिक नहीं। गुजरात के अनुवृत्त से विदित होता है कि मूलराज का पिता कन्नौज में कल्याण-कटक[4] का राजपुत्र राजी था और उसकी माता चावड़ा अथवा चापोटक राजकुल की कन्या थी। इस कुल ने चालुक्यों से पहले गुजरात के एक भाग पर राज्य किया था। इन अनुवृत्तों का अधिक ऐतिहासिक उपयोग न हो परन्तु इतना इनसे स्पष्ट है कि मूलराज अभिजातकुलीय था, सामान्यकुलीय नहीं। यह निष्कर्ष उन अभिलेखों से भी प्रमाणित है जिनमें उसके पिता को महाराजाधिराज लिखा है। जान पड़ता है कि उसने अपने मामा को मार कर चापोटक की गद्दी स्वायत्त कर ली। यह घटना विक्रम सम्वत् ९९८=९४१ ई० के आसपास घटी होगी। यह तिथि सांभर के अभिलेख में दी हुई है[5] और मूलराज की पूर्वतम ज्ञात-तिथि है। कुछ विद्वान्

---

१. History of the Paramara, पृ० १२७-३२।

२. Bombay Gazetteer, १८९६, खण्ड १, भाग १, २. टाड : Annals and Antiquities of Rajasthan (क्रुक सम्पादित); बेली : History of Gujarat (लन्दन, १८८६); Cam. His. of Ind., ३; राय : Dy. Hist North. Ind., २, १५, पृ० ९३३-१०५१।

३. Ep. Ind., ९, पृ० १-१०।

४. कल्याणकटक की पहचान सर्वथा सन्देहरहित नहीं है।

५. Ind. Ant., १९२९, पृ० २३५, २३६ श्लोक, ८।

वसुनन्दनिधौ वर्षे व्यतीते विक्रमार्कतः

मूलदेवनरेशस्तु चूडामणिरभूद्भुवि।

मेरुतुंग की 'विचारश्रेणी'[१] के आधार पर इस घटना की तिथि ९६१ ई० मानते हैं जो युक्तिसंगत नहीं है। "अपनी भुजाओं के विक्रम से सारस्वत-मण्डल अर्जित कर"[२] मूलराज ने अपनी विजयों का आरम्भ किया। उसने कच्छ के लाखा (लक्षराज) को परास्त कर मार डाला और सौराष्ट्र में वामनस्थली (वर्तमान वन्थली) के चूडासम नृपति ग्रहरिपु को बन्दी कर लिया। मूलराज ने लाट (दक्षिण गुजरात) के राजा बारप्प, शाकम्भरी के विग्रहराज चाहमान तथा अनेक अन्य राजाओं से भी युद्ध किया। अपने शासन की सन्ध्या में इस उत्कट शिवभक्त ने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। विद्वानों का आदर उसका व्यसन बन गया। एक ताम्र-दान-पत्र में उसकी अन्तिम तिथि विक्रम संवत् १०५१=९९४-९५ ई० दी हुई है। यह मानना उचित ही है कि मूलराज इस तिथि से एकाध वर्ष बाद मरा होगा।

भीम प्रथम

इस कुल का अन्य शक्तिमान् नृपति मूलराज के पौत्र दुर्लभराज का भतीजा भीम प्रथम हुआ। भीम ने ल० १०२१ ई० से १०६३ ई० तक प्रायः ४२ वर्ष राज्य किया। हिजरी ४१६=१०२५ ई० में ग़ज़नी के महमूद का लोभ सोमनाथ के शिव-मंदिर की सम्पत्ति की कथा सुनकर जाग उठा और वह मरुप्रदेश को लाँघकर आ धमका। आक्रामक पहले अन्हिलवाड पहुँचा और भीम प्रथम भयाक्रान्त होकर नगर छोड़कर अपनी रक्षा के लिए भागा। तदनन्तर महमूद सोमनाथ पहुँचा और उसने उस नगर को घेर लिया। दिन भर के कठिन युद्ध के पश्चात् नगर ने आत्मसमर्पण कर दिया और उसके रक्षकों ने अन्यत्र शरण ली। बड़ी संख्या में हिंदुओं का वध हुआ; मन्दिर गिरा दिया गया, मूर्ति चूर्ण कर दी गई और विजेता युगों का एकत्रित धन लेकर ग़ज़नी लौटा। वहाँ उसने खण्डित मूर्ति जामे-मस्जिद की सीढ़ियों में जुड़वा दी।

सुलतान के लौटने के बाद भीम प्रथम भी लौटा और उसने राजधानी पर अधिकार कर चालुक्य-शक्ति की पुनःप्रतिष्ठा की। उसने आबू के परमार नरेश को परास्त किया परन्तु उपरले सिन्ध के मुस्लिम राजा के विरुद्ध जब वह लड़ रहा था तब भोज परमार के सेनापति कुलचन्द्र ने उसकी अनुपस्थिति में उसकी राजधानी अन्हिलवाड लूट ली। भोज के इस आचरण से भीम इतना क्षुब्ध हुआ कि उसने कलचुरी लक्ष्मीकर्ण से सन्धि कर मालवा पर चढ़ाई की। दोनों की सम्मिलित सेनाओं ने मालवा को रौंद डाला। इस युद्ध के बीच ही भोज का निधन हो गया और भीम तथा लक्ष्मीकर्ण का संघ भी शीघ्र टूट गया। दोनों में युद्ध भी छिड़ गया जिसमें भीम विजयी हुआ। परमार इस पारस्परिक युद्ध से लाभ उठाकर स्वतंत्र हो गए और मालवा को उन्होंने विदेशी अधिकार से मुक्त कर लिया।

कर्ण

भीम प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र कर्ण अन्हिलवाड की गद्दी पर बैठा

---

१. Bom. Gaz., खण्ड १, भाग १, पृ० १५६.

२. Ind. Ant., ६, पृ० १९१, पंक्तियाँ ६-७.

परन्तु अपने प्रायः ३० वर्ष (ल० १०६३-९३ ई०) के दीर्घकालिक राज्य में भी वह कोई यशस्वी कार्य न कर सका। इस युग में परमारों की शक्ति का फिर एक बार उत्कर्ष हुआ। उदयादित्य ने इस चालुक्य कर्ण के ऊपर विजय पाई।[1] कर्ण ने अनेक निर्माण-कार्य किए—अनेक मंदिर बनवाए, तालाब खुदवाए और एक नगर का वहाँ निर्माण कराया जहाँ आज अहमदाबाद खड़ा है।

जयसिंह सिद्धराज

मियणल्लदेवी से उत्पन्न कर्ण का पुत्र जयसिंह सिद्धराज उसका उत्तराधिकारी हुआ। अन्हिलवाड के नृपतियों मे वह असाधारण था। उसने लगभग १०९३ से ११४३ ई० तक प्रायः ५० वर्ष राज्य किया। आरम्भ में, राजा की कुमारावस्था में राजमाता ने राज-कार्य सम्भाला और उसे अत्यन्त सुचारु रूप से सम्पन्न किया। जयसिंह जब बालिग हुआ तब उसने पड़ोस के प्रदेश जीतने के प्रयत्न किए। उसने नादोल (जोधपुर रियासत) के चौहानों को परास्त किया और सौराष्ट्र के चूड़ासमराज को जीत कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। इसके बाद परमार नरेशों, नरवर्मन् और यशोवर्मन्, के साथ उसका दीर्घकालिक संघर्ष शुरू हुआ। अन्त में धारा पर अधिकार कर उसने मालवा की विजय के उपलक्ष में 'अवन्तिनाथ' का विरुद धारण किया। परन्तु बुन्देलखण्ड के मदनवर्मन् के विरुद्ध उसकी युद्ध-यात्रा निष्फल रही। वस्तुतः इस युद्ध का परिणाम चन्देल नृपति के पक्ष में हुआ। प्रबन्ध-चिंतामणि के अनुसार जयसिंह की 'डाहल के राजा' (त्रिपुरी का कलचुरी नृपति) और 'काशिराज' (सम्भवतः गोविंदचन्द्र) के साथ मैत्री थी।

अपने पूर्वगामी की ही भाँति जयसिंह ने भी राज्य में अनेक मन्दिर बनवाए। इसके अतिरिक्त वह विद्या का संरक्षक था और सहिष्णुता और सद्भाव के उद्देश्य से विभिन्न मतावलम्बियों में धार्मिक कथोपकथन कराया करता था। स्वयं वह सम्भवतः शैव था परन्तु अन्य मतावलम्बी विद्वानों का भी वह आदर करता था। जैनाचार्य हेमचन्द्र का संरक्षण और सम्मान उसके इसी स्वभाव का उदाहरण था।

कुमारपाल[2]

जयसिंह के पुत्र के अभाव में उसके दूर के सम्बन्धी कुमारपाल ने उसके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। वह असाधारण क्षमता वाला व्यक्ति था और शीघ्र राज्य के स्व-विरोधी उपद्रवों का दमन कर वह दिग्विजय में कटिबद्ध हुआ। उसने शाकम्भरी के चाहमान-नरेश अर्णोराज पर आक्रमण किया और उसकी सेना को सर्वथा परास्त कर दिया। उसने आबू के परमारराज का विद्रोह दमन किया और मालवा में फिर चालुक्य-शक्ति प्रतिष्ठित की जो उसकी प्रारम्भिक कठिनाइयों के समय क्षीण हो गई थी। सौराष्ट्र के राजा को भी उसने परास्त किया, परन्तु वस्तुतः उसकी सबसे महत्वपूर्ण विजय कोंकण के मल्लिकार्जुन के विरुद्ध थी।

---

१. कुछ लोग इसे भीम का उत्तराधिकारी कर्ण न मानकर कलचुरी लक्ष्मीकर्ण मानते हैं।

२. देखिये, जयसिंह रचित 'कुमारपालचरित', क्षान्ति-विजय गणि सम्पादित (बम्बई, १९२६)।

कुमारपाल ने सोमनाथ के मंदिर का पुनर्निर्माण कराया और यद्यपि अभिलेख उसे शैव कहते हैं, जैन ग्रंथों में लिखा है कि हेमचन्द्र के सशक्त धर्मनिरूपण से प्रभावित होकर उसने जैन मत ग्रहण कर लिया। सम्भवतः यह जैन प्रभाव का ही परिणाम था कि उसने अपने राज्य में पशु-वध का पूर्णतया निषेध कर दिया।[1] उसका शासन-काल हेमचन्द्र की धार्मिक और अन्यविषयक अनेक कृतियों से स्मरणीय है। कुमारपाल विक्रम सम्वत् १२२६=११७३ ई० से शीघ्र पूर्व मरा। यह उसके उत्तराधिकारी अजयपाल के शासन की पूर्वतम ज्ञात तिथि है।

गुजरात का उत्तरकालीन इतिहास

पश्चात्कालीन गुजराती राजाओं के सम्बन्ध में हमें विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं। युद्ध और गृह-कलह होते रहे परन्तु उनका कोई दीर्घकालिक प्रभाव नहीं पड़ा। भीम द्वितीय (भोला भीम)—जिसने प्रायः साठ वर्ष राज्य किया—के राज्यारोहण के शीघ्र बाद ११७८ ई० में गुजरात को गोरी सुल्तान का आक्रमण झेलना पड़ा। परन्तु भोला भीम ने कठिन युद्ध के बाद उसे रणविमुख कर दिया और उसे वापस लौटना पड़ा। हिजरी ५९३=११९७ ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने गुजरात जीतने का दूसरा प्रयत्न किया और अन्हिलवाड पर कब्जा कर लिया परन्तु बाद की घटनाओं से प्रमाणित है कि यह कब्जा टिकाऊ न हो सका। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि गुजरात को इन हमलों ने कठिनाइयों में डाल दिया। मुसलमानी हमलों के अतिरिक्त इस काल गुजरात पर मालवा के नृपति तथा देवगिरि के यादवराजा के भी आक्रमण हुए। जब गुजरात इस प्रकार विपत्तियों से घिरा था और उसकी शक्ति नितान्त क्षीण हो चली थी कुमारपाल की भगिनी के वंशज बघेलों ने इस अवसर से लाभ उठाया। भोला भीम का सामन्त-मंत्री लवणप्रसाद बघेल था। वह दक्षिण गुजरात में प्रायः स्वतन्त्र हो गया और उसने इस प्रकार चालुक्य-शक्ति उत्तर गुजरात में ही सीमित कर दी। धीरे-धीरे बघेलों ने अन्हिलवाड पर अधिकार कर सारे गुजरात पर अपना स्वत्व जमा लिया।[2] १२९७ ई० मे अलाउद्दीन खिलजी ने उलूग खाँ और नसरत खाँ की अध्यक्षता में वहाँ एक प्रबल सेना भेजी। इस सेना को देखते ही कर्ण (अथवा कर्णदेव बघेल) शीघ्र राजधानी छोड़ भागा। आक्रामकों ने राजधानी खूब लूटी। शीघ्र ही उन्होंने अन्य प्रमुख स्थानों पर भी अधिकार कर लिया और गुजरात से हिंदू स्वत्व सर्वथा लुप्त हो गया।

---

१. देखिए, सोमप्रभाचार्य : कुमारपाल-प्रतिबोध (गायकवाड ओरियन्टल सीरिज़, संख्या १४); और यशःपाल : मोहराज-पराजय (G. O. S., सं० ९)।

२. वस्तुपाल और तेजःपाल (दोनों भाई थे) द्वारा बघेल काल में निर्मित दिलवारा (माउन्ट आबू के समीप) और शत्रुञ्जय के सगमर्मर के मन्दिर और अद्भुत उत्खचन और डिजाइनों की अनन्त अनेकता के लिए प्रसिद्ध हैं। स्मिथ का कहना है कि इस प्रकार के मन्दिरों की विशेषता उनके अनेकधा उत्कीर्ण स्तम्भों, ब्रैकटों की खड़ी कोराई और छत की विविध लटकनों तथा सुन्दर कटाव में होती है। (A History of Fine Art in India and Ceylon, पृ० ११३

खंड ४

अध्याय १७

दक्षिणापथ के राजकुल

प्रकरण १

वातापी (बादामी) के चालुक्य

'दक्षिणापथ' की व्याख्या

दक्षिणापथ अथवा दक्षिण का वर्तमान नाम दक्कन है, परन्तु इसके मूल संस्कृत पर्याय का भौगोलिक विस्तार सर्वदा समान नहीं रहा। प्राचीन काल में बहुधा इसका प्रयोग नर्मदा के दक्षिण के प्रायः सारे भारतीय प्रायद्वीप के अर्थ में हुआ है, ठीक उसी प्रकार जैसे विन्ध्य और हिमालय के बीच की सारी भूमि की संज्ञा उत्तरापथ रही है। परन्तु साधारणतया दक्कन से अभिप्राय नर्मदा और कृष्णा नदियों के बीच का पठार है जिसके अन्तर्गत पश्चिम में महाराष्ट्र और पूर्व में तेलुगु भूमि भी है।

पूर्वेतिहास

विन्ध्य शृंखला और महाकांतार के प्रायः अलंघ्य प्रतिरोधों के कारण दक्षिण भारत वैदिक आर्यों को अज्ञात रहा। ब्राह्मण-युग में[1] उन्होंने विजय अथवा द्रविड़ों में अपनी संस्कृति का शांतिपूर्वक प्रचार करने के अर्थ इन प्राकृतिक अवरोधों को पार कर लिया। इस प्रकार दक्षिण का इतिहास आर्यों के उस ओर संक्रमण-काल से प्रारम्भ होता है, यद्यपि द्रविड़ सभ्यता की अपनी जड़ें उस देश में सुदूर अतीत में ही लग चुकी थीं। अभाग्यवश हमें इसके क्रमिक आर्यीकरण की मंजिलें उपलब्ध नहीं। काव्यानुवृत्त से ज्ञात होता है कि अगस्त्य मुनि ने पहले पहल विंध्य पर्वत को लाँघ कर उस देश में आर्य भाषा, धर्म और संस्थाओं के प्रचारार्थ अपना आधार बनाया। तदनन्तर धीरे-धीरे आर्य विजेताओं, औपनिवेशिकों तथा प्रचारक ऋषियों की अटूट धारा पूर्वी तथा अवन्ति दोनों मार्गों से चली और निरन्तर चलती रही जब तक कि कलिंग, विदर्भ (बरार), दण्डकारण्य (महाराष्ट्र), प्रायः सारा दक्षिण, उनसे सर्वथा अभिभूत न हो गया। इस परिणाम की प्रजनक शताब्दियों की घटनाएँ अस्पष्ट होने के कारण नितान्त अनिश्चित हैं परन्तु इतना सही है कि जहाँ पाणिनि (लग-

१. यह महत्व की बात है कि ऐतरेय-ब्राह्मण (७,१८; E. H. D., १६०८), पृ० १०) की एक कथा में आन्ध्रों, पुण्ड्रों, शबरों; पुलिन्दों और मुतिबों का उल्लेख वैदिक ऋषि विश्वामित्र के पुत्रों के वंशजों के रूप में हुआ है।

भग ७०० ई० पू०—डा० भण्डारकर[१]) का भौगोलिक ज्ञान कलिंग तक ही सीमित है और प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ सुत्त-निपात को गोदावरी के दक्षिण केवल एक बावारिन के आश्रम का ज्ञान है, वहाँ अष्टाध्यायी का भाष्यकार कात्यायन (सम्भवतः चतुर्थ शती ई० पू० का) माहिष्मत और नासिक्य (नासिक) के अतिरिक्त चोलों और पांड्यों का भी उल्लेख करता है। फिर अशोक के अभिलेखों से प्रमाणित है कि ई० पू० तृतीय शती के मध्य में उसका स्वत्व मैसूर के चीतलद्रुग जिले तक माना जाता था, और सुदूर दक्षिण के चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र, और केरलपुत्र के राज्यों तथा ताम्रपर्णी (सिंघल) तक से उत्तर वाले अनभिज्ञ न थे। अब तक बीच के अवरोध लाँघ लिए गए थे और उत्तर तथा दक्षिण में राजनैतिक तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान बहुत मात्रा में होने लगे थे। विदित नहीं मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् विन्ध्य पर्वत के दक्षिण के प्रान्तों का क्या हुआ परन्तु बाद में जब फिर पर्दा उठता है तब हम सातवाहनों का स्वत्व दक्कन और समीपस्थ प्रदेशों पर प्रतिष्ठित पाते हैं[२]। महाराष्ट्र और पश्चिमी मालवा में कुछ काल के लिए शकों के उत्कर्ष से उनका तेज कुछ मलिन पड़ जाता है परन्तु गौतमीपुत्र फिर उनकी प्रभुता पुनः प्रतिष्ठित करने में सफल होता है। तदनन्तर तृतीय शती ईस्वी के मध्य ईश्वरसेन नामक आभीर नृपति उत्तर महाराष्ट्र सातवाहनों से छीन लेता है। फिर वाकाटक नृपति मध्य-भारत तथा दक्कन के एक बड़े भाग पर शासन करते हैं।[३] सातवाहनों के पूर्वी प्रांतों पर ऐक्ष्वाकुओं और पल्लवों का आधिपत्य होता है। इनके अतिरिक्त उस भूभाग पर अनेक छोटे राजकुलों, उदाहरणतः, कुदूर के बृहत्फलायन, वेंगीपुर के सालङ्कायन और लेंडुलुर के विष्णुकुण्डिनों(वेंगी के समीप देन्डुलुरु)[४] की भी प्रतिष्ठा होती है, परन्तु इनका ज्ञान सर्वथा विशेषज्ञों का विषय है।

इस प्रकार दक्कन के प्राचीन इतिहास का संक्षिप्त विवरण दे चुकने के बाद अब हम चालुक्यों का वृत्तांत कहेंगे।

चालुक्य कौन थे ?

चालुक्यों[५] का मूल तमावृत है। एक अनुश्रुति के अनुसार उनके पूर्व पुरुष का जन्म हरीति द्वारा अर्घ्य-दान के समय उसके जलपात्र से हुआ। बिल्हण के विक्रमाङ्कदेवचरित में एक दूसरी ही कथा दी हुई है। उनके अनुसार इस राजकुल का आरम्भ उस तेजस्वी शूर द्वारा हुआ जिसे पृथ्वी का अधर्म नष्ट करने के लिए

---

१. E. H. D., तृतीय संस्करण (१९२८), पृ० १६।

२. देखिये, पीछे, अध्याय १०, प्रकरण ३ में।

३. वही, अध्याय १३, प्रकरण २।

४. सुब्रह्मण्यन् : Buddhist Remains in Āndhra and the History of Āndhra between 225 and 610 A. D., अध्याय ७—१०।

५. अन्य पाठ हैं—चालिक्य, चल्क्य और सोलंकी।

ब्रह्मा ने अपनी हथेली से उत्पन्न किया। यह भी कहा जाता है कि यह वंश मूलतः अयोध्या का था जहाँ से वह दक्षिण चला गया। काल्पनिक आवरणों को पृथक् करने पर ऐतिह्य-तथ्य बस इतना उपलब्ध होता है कि चालुक्य उत्तर के क्षत्रिय थे[1] और उनका मूल पूर्वज हरीति था। विन्सेन्ट स्मिथ यह निष्कर्ष नहीं स्वीकार करते। उनका मत है कि "चालुक्य अथवा सोलंकी चापों से सम्बन्धित होने के कारण विदेशी गुर्जर जाति (जिसकी एक शाखा चाप थे) के थे और संभवतः वे राजपूताना से दक्कन गये थे"[2] परन्तु इस मत के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं।

उनका उत्कर्ष

जयसिंह और उनके पुत्र रणराग के नेतृत्व में यह राजकुल धीरे-धीरे उठा। रणराग का उत्तराधिकारी पुलकेशिन् प्रथम[3], जो छठी शती ईसवी[4] के मध्य में राजा हुआ, निश्चय शक्तिमान् था। उसने वातापी (वर्तमान बादामी, बीजापुर जिला) को अपनी राजधानी बनाया और अश्वमेध का अनुष्ठान कर सम्राट् पद की भी अभ्यर्थना की। उसके बाद कीर्तिवर्मन् राजा हुआ। उसने उत्तर कोंकण के मौर्य तथा वनवासी (उत्तर कनारा) के कदम्बों को परास्त किया। नलों को भी उसने हराया परन्तु इनका देश स्पष्टतया निश्चित नहीं।[5] कुछ अभिलेखों के अनुसार तो उसने उत्तर में मगध (बिहार) और बंग (बंगाल) तक और दक्षिण में चोल तथा पांड्य राज्यों तक धावे मारे परन्तु इनकी अन्य प्रमाणों से पुष्टि न होने के कारण इन विजयों पर विश्वास करना कठिन है। जब कीर्तिवर्मन् मरा[6] तब उसके अनुज ने उसके नाबालिग बच्चों को अलग हटा कर राज्य स्वयं हड़प लिया। इस मंगलराज अथवा मंगलेश के संबंध में लिखा है कि इसने पश्चिम और पूर्व सागरों की मध्यवर्ती भूमि जीत ली तथा रेवती द्वीप (वर्तमान रेडी, रत्नगिरि जिला) और कलचुरियों के उत्तर दक्खन प्रदेश पर अधिकार कर लिया।[7] इसी के शासन-काल में बादामी

---

१. देखिए युआन्-च्वांग के Records (वाटर्स, २, पृ० २३६), जिसमें पुलकेशिन् द्वितीय को जन्मतः क्षत्रिय कहा गया है।

२. E. H. I., चतुर्थ संस्करण पृ० ४४०।

३. सत्याश्रय श्रीवल्लभ भी कहलाता है।

४. बादामी के पार्वत्य दुर्ग से हाल में उपलब्ध अभिलेख में पुलकेशिन् प्रथम के लिए शक संवत् ४६५=५४३ ई० दिया हुआ है। उसमें उसे वल्लभेश्वर कहा गया है। इससे उसके अश्वमेध अनुष्ठाता होने का भी प्रमाण मिलता है ('The Leader, जून १६, १६४१)।

५. फ्लीट का मत है कि नल नलवाड़ी (वर्तमान बेलारी और करनूल जिले) में राज्य करते थे। परन्तु अब उन्हें दक्षिण कोशल और बस्तर राज्य (J. N. S. I., १. पृ० २६) का निवासी माना जाता है।

६. सर रामकृष्ण भण्डारकर के अनुसार कीर्तिवर्मन् ५६७ ई० में गद्दी पर बैठा और उसने प्रायः २५ वर्ष राज्य किया (E. H. D., पृ० ८५-८७)।

७. इस राजकुल के दो समर्थ राजा शंकरगण और बुद्धराज थे।

में विष्णु का अद्भुत दरी-मन्दिर निर्मित हुआ। मंगलराज के शासन के अन्त में दरबारी षड्यंत्रों ने प्रबल रूप धारण किया और गृह-कलह की अग्नि धधक उठी। अंत में वह अपने पुत्र को राज्य देने में सफल न हो सका और अपने सतत जागरूक भतीजे के विरुद्ध संघर्ष करता हुआ मारा गया।

पुलकेशिन् द्वितीय

अपने चाचा को मार कर पुलकेशिन् द्वितीय चालुक्य सिंहासन पर बैठ तो गया परंतु उसकी मुश्किलें कुछ आसान न हो सकीं। इस गृह-कलह से राज्य में इतनी अराजकता फैली कि जिन शक्तियों का उसके पूर्वगामियों ने दमन किया था उन्होंने अब फिर सिर उठाया। परंतु परमेश्वर-श्री-पृथ्वी-वल्लभ-सत्याश्रय (पुलकेशिन् द्वितीय के अभिलेखों में विरुद) ने इन विद्रोहों और आक्रमणों का धैर्य, साहस, दृढ़ता तथा सफलता से सामना किया जिससे अपने राजकुल के अग्रणी राजाओं में उसकी गणना हुई। पहले तो उसने आप्पायिक और गोविंद[1] के आक्रमणों को निष्फल कर उन्हें भीमरथी (भामा) के पार भगा दिया, फिर कदम्बों की राजधानी वनवासी (उत्तर कनाड़ा में) पर अधिकार कर गंगवाडी (वर्तमान मैसूर के कुछ भाग) के गंगों[2] तथा मालाबार (?) अलूपों को संत्रस्त किया। इसी प्रकार उसने "पश्चिम सागर के गौरव" पुरी पर अधिकार कर उत्तर कोंकण के मौर्यों को पराभूत किया। इसके बाद उल्लिखित है कि दक्षिण गुजरात के लाटों, मालवों, और (भृगुकच्छ के ?) गुर्जरों ने उसे आत्मसमर्पण किया। परन्तु उसकी सर्वप्रमुख विजय कन्नौज के हर्षवर्धन[3] के विरुद्ध हुई। स्वयं 'सकलोत्तरापथनाथ' हर्ष ने अपनी सेना का संचालन किया था परंतु 'दक्षिणापथनाथ' की रणदक्षता उससे कहीं कुशल प्रमाणित हुई। शकसंवत् ५५६=६३४ ई० को उसकी प्रख्यात ऐहोल-मेगुटी की प्रशस्ति में लिखा है कि इन विजयों के फलस्वरूप पुलकेशिन् द्वितीय ६६ ग्रामों वाले तीनों महाराष्ट्रों का प्रश्नातीत स्वामी हो गया। तदनन्तर कोशल (महाकोशल) तथा कलिंग के नरेश उसकी सेना से भयातुर हो गए और पिष्टपुर (वर्तमान पिठापुरम्)

---

१. इनकी पहचान सन्दिग्ध है। क्या गोविन्द नाम में राष्ट्रकूट-कुल ध्वनित है ?

२. गंगराज सम्भवतः वह दुर्विनीत नामक राजा था जिसने प्रोफेसर दुब्रुए के मतानुसार लगभग ६०५ से ६५० ई० तक राज्य किया (Anc. Hist. Dek., पृ० १९)। परन्तु कृष्णराव दुर्विनीत का शासन लगभग ५५० और ६०० ई० के बीच रखते हैं (The Gangas of Talkad, पृ० ३४)।

३. जिसके पादारविन्द अपरिमित विभूति वाले सामन्तों की सेना के मुकुटमणियों की किरणों से आक्रान्त रहते थे वही हर्ष अब उस(पुलकेशिन्) के द्वारा भयातुर होकर हर्षरहित हो गया, रण में मारी गई अपनी गजेन्द्र सेना को देखकर श्रीहत हो गया—

अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेनामुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः।
युधिपतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः॥
(Ep. Ind., ६. पृ० ६ और १०, श्लोक २३)

के दुर्ग ने बिना युद्ध के आत्मसमर्पण कर दिया। इन विजयों से पुलकेशिन् के राज्य की सीमायें इतनी विस्तृत हो गयीं कि उसे लगभग ६१५ ई० में पूर्वी प्रान्तों का शासन अपने अनुज कुब्ज-विष्णुवर्धन विषमसिद्धि के सुपुर्द करना पड़ा। इस अनुज ने भी उधर के प्रान्तों का अनेक विजयों से विस्तार किया। परन्तु फिर भी उसने साम्राज्य-केन्द्र वातापीपुर से अपना सम्बन्ध बनाए रखा। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी जयसिंह प्रथम ने अवसर मिलने पर मूल से संभवतः अपना सबंघ विच्छेद कर लिया और वह प्रायः स्वतंत्र हो गया[1]। दक्षिण की ओर पुलकेशिन् द्वितीय ने पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन् प्रथम पर आक्रमण किया और उसकी राजधानी काञ्चीपुर (काञ्जीवरम्) तक जा पहुँचा। जब चालुक्यराज कावेरी के पार जा उतरा, तब घबड़ाकर चोलों, पांड्यों और केरलों ने पुलकेशिन् द्वितीय से सन्धि कर ली।

राजनीतिक दौत्य

पुलकेशिन् द्वितीय युद्ध नीति में तो निपुण था ही, राजनीति में भी वह पूर्णतः दक्ष था। उसने राजनीतिक दौत्य द्वारा अपनी शक्ति और बढ़ायी। अरब लेखक तबारी[2] के अनुसार उसने ईरान अथवा फारस के राजा खुसरू द्वितीय के साथ मैत्री स्थापित की और उसके पास ६२५ ई० में उसने पत्र और भेंट देकर अपने दूत भेजे। इसके उत्तर में ईरानी सम्राट् ने भी चालुक्य नरेश के पास अपने दूत भेजे और विद्वानों का विश्वास है कि यह ईरानी दौत्य अजंता के एक चित्र में अंकित है। स्टेन कोनों ने इस मत का विरोध किया है[3]।

१. चालुक्यों की इस शाखा को वेंगी के पूर्वी चालुक्य कहते हैं। अनेक उत्कर्षों और अपकर्षों के साथ इन्होंने प्रायः ५ सदियों तक आन्ध्र देश तथा कलिंग के एक भाग पर अपना स्वत्व रखा। इस उर्वर और महत्वपूर्ण प्रदेश पर अधिकार मात्र इस कुल को दक्षिण की राजनीति में गरिमा प्रदान करने के लिए पर्याप्त था। परन्तु इसके अतिरिक्त इस कुल के कुछ राजा रण में भी निपुण थे और विजयादित्य द्वितीय (लगभग ७९९-८४३ ई०) तथा विजयादित्य तृतीय (लगभग ८४४-८८ ई०) ने तो राष्ट्रकूटों, गंगों, और अन्य समसामयिक शक्तियों की विजय भी की। १०वीं सदी ई० के अन्तिम चरण में वेंगी की शक्ति क्षीण हो चली और राजराज प्रथम चोल ने उस राज्य को तहस नहस कर डाला। शक्तिवर्मन् (लगभग ९९९-१०११ ई०) ने कुल की गई हुई शक्ति कुछ सीमा तक लौटाई भी परन्तु उसका उत्तराधिकारी विमलादित्य (लगभग १०११-१८ ई०) और अन्य राजा तो स्पष्टतया तंजोर के चोलों के राजनीतिक प्रभाव में रहे। यह प्रभाव दोनों राजकुलों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण भी था। विमलादित्य ने चोल राजकुमारी कुन्दवा से ब्याह किया और उनके पुत्र राजराज विष्णुवर्धन ने राजेन्द्र प्रथम की कन्या ब्याही। इस सम्बन्ध का परिणाम राजेन्द्र चोल द्वितीय हुआ जो बाद में कुलोत्तुंग नाम से विख्यात हुआ। १०७० ई० में उसे दोनों राज्य प्राप्त हुए और अपने चाचा विजयादित्य सप्तम को वेंगी से भगाकर उसने अपने पुत्रों, राजराज-मुम्मांड-चोड और वीर-चोड, को उस प्रदेश का शासक बनाया। इस प्रकार पूर्वी-चालुक्यों और चोलों के राज्य मिलकर एक हो गए। इसने प्रायः २ सदियों तक समृद्ध शासन किया। अन्त में वारंगल के काकतियों, होयसलों और अन्य शक्तिमान पड़ोसियों के उत्कर्ष के कारण यह राजकुल नष्ट हो गया (देखिए, गांगुली : Eastern Calukyas, बनारस, १९३७)।

२. J. R. A. S, N. S., ११, (१८७९), पृ० १६५-६६।

३. Ind. Ant., फरवरी १९०८, पृ० २४।

युआन्-च्वांग का प्रमाण

पुलकेशिन् द्वितीय के शासन काल में संभवतः ६४१ ई० में चीन के प्रख्यात यात्री युआन् च्वांग ने महाराष्ट्र अथवा मो-ह-ल-चा (अथवा ता) का भ्रमण किया। उसने लिखा है कि "मिट्टी अच्छी और उपजाऊ है; यह बरावर जोती जाती है और इससे उपज भी बहुत अधिक होती है।"[१] इसके बाद वह और लिखता है कि "वहाँ के निवासी गर्वीले और युद्धप्रिय हैं, उपकार के प्रति कृतज्ञ और अपकार के प्रति प्रतिशोध वृत्तिवाले हैं, शरण में आये हुओं के प्रति आत्म-बलिदान करने को तत्पर रहते हैं और अपमान से रक्त-पिपासु हो जाते हैं, युद्ध में उनके नेता मद्य से मदमत्त होकर सैन्य का संचालन करते हैं और युद्ध के पहले उनके हाथियों को भी सुरा पिलाकर मदमत्त कर दिया जाता है।"[२] सैन्य शक्ति में प्रबल होने के कारण देश का राजा पु-लो-के-शे (पुलकेशिन्) जो जन्म से क्षत्रिय है, पड़ोस की राजशक्तियों को "घृणा से" देखता है। उसके उदार शासन का "विस्तार बड़ा है और उसके सामन्त सर्वथा आज्ञाकारी हैं।"[३]

कष्ट का अन्त

पुलकेशिन् के शासन को अंतिम काल कष्टमय हो गया। पल्लव नरसिंह वर्मन् प्रथम (लगभग ६२५—४५ ई०) के नेतृत्व में प्रबल हो उठे थे। नरसिंह वर्मन् ने पुराना बदला चुका दिया। उसने चालुक्य राजधानी वातापी पर ६४२ ई० में आक्रमण किया और पुलकेशिन् द्वितीय को संभवतः मार डाला। परन्तु चालुक्यों की शक्ति सर्वथा नष्ट न हो सकी और इस क्षणिक ग्रहण के बाद वे एक बार फिर शक्तिमान हो उठे।

पुलकेशिन् द्वितीय के उत्तराधिकारी

पुलकेशिन् द्वितीय के बाद उसका पुत्र विक्रमादित्य प्रथम सत्याश्रय गद्दी[४] पर बैठा। उसने प्रायः ६४५ ई० तक अपना राज्य पल्लवों से लौटा लिया। इतना ही नहीं उसने काञ्ची (कांजीवरम्) पर अधिकार तक कर लिया और कहते हैं कि तीन पल्लव राजाओं, नरसिंहवर्मन् प्रथम, महेन्द्रवर्मन् द्वितीय, और परमेश्वर वर्मन् को परास्त किया। परन्तु कुछ अभिलेखों में इस चालुक्यराज के ऊप· परमेश्वर वर्मन् की विजय का उल्लेख है। यदि इन घोषणाओं में कुछ तथ्य है तो जान पड़ता

---

१. बील, २, पृ० २५६।

२. वाटर्स, २, पृ० २३९।

३. वही।

४. जान पड़ता है कि अपने पिता का प्रिय 'तनय' होने के कारण गद्दी विक्रमादित्य प्रथम को मिली। विदित होता है कि उसके अग्रज चन्द्रादित्य को दूर के प्रदेशों का शासनाधिकार मिला। और विक्रमादित्य प्रथम ने अपने एक अन्य भ्राता जयसिंह को लाट अथवा दक्षिण गुजरात के शासन का भार सौंपा।

है कि दोनों शक्तियों में चिर-कालिक संघर्ष हुआ और भाग्य-लक्ष्मी कभी एक पक्ष की ओर और कभी दूसरे पक्ष की ओर आती-जाती रही। यह भी लिखा है कि विक्रमादित्य प्रथम का प्रयास पल्लव राजधानी की लूट तक ही सीमित न रह सका और उसने सुदूर दक्षिण तक धावे किये और उसकी शक्ति से चोल, पांड्य और केरल राज्य भी पराभूत हुए। इन युद्धों में उसके पुत्र विनयादित्य और पौत्र विजयादित्य दोनों का उसे सक्रिय सहकार मिला। इन दोनों ने बाद में राज्य भी किया, पहले ने लगभग ६८० से ६९६ ई० तक और दूसरे ने लगभग ६९६ से ७३३ ई० तक। एक अभिलेख के अनुसार विनयादित्य सत्याश्रय ने "सारे उत्तरापथ के राजाओं (सकलोत्तरापथनाथ) को कुचल कर साम्राज्य के लक्षण धारण किए"[1] इसमें संदेह नहीं कि वक्तव्य अतिरंजित है क्योंकि उत्तरापथ में इस काल में साम्राज्य-शक्ति प्रतिष्ठित न थी, यद्यपि जान पड़ता है कि विनयादित्य ने उत्तरकालीन गुप्त कुल के आदित्यसेन के एक उत्तराधिकारी को परास्त किया। विजयादित्य के पुत्र विक्रमादित्य द्वितीय(लगभग ७३३—४७ई०)के शासनकाल में पल्लवों के साथ पुराना वैर चलता रहा। नन्दिवर्मन् पराजित हुआ और चालुक्य सेना कांची में प्रवेश कर गयी। वहां के एक मंदिर से प्राप्त विजेता के अभिलेख से इस घटना की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त विक्रमादित्य द्वितीय ने अपने अन्य पैतृक शत्रुओं —चोलों, पांड्यों, केरलों और कलभ्रों—की भी विजय की। वह ब्राह्मणों को दान देने के लिए भी प्रसिद्ध था, और उसकी दोनों हैहय-कुलीन पत्नियों ने शिव के दो विशाल मंदिर बनवाये। शक संवत् ६६९=७४७—४८ ई० में विक्रमादित्य की गद्दी पर उसका पुत्र कीर्तिवर्मन् द्वितीय बैठा और उसने अपने पूर्वगामियों की ही भाँति पल्लवों से लोहा लिया। परतु संभवतः उसके अथवा उसके पिता के पल्लवों के साथ व्यस्त रहने के कारण राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग ने ८वीं सदी ईसवी के मध्य के लगभग महाराष्ट्र छीन लिया[2]। कीर्तिवर्मन् के बाद चालुक्य राजकुल की मूल शाखा लुप्त हो गयी यद्यपि उसका सर्वथा नाश न हुआ और उसके वंशजों ने बाद में फिर एक बार अपनी शक्ति प्रतिष्ठित की।

धर्म और कला का संरक्षण

वातापी के चालुक्य कट्टर ब्राह्मण धर्मी थे परंतु वे सहिष्णुता के समर्थक थे। उनके उत्कर्ष के दिनों में जैन धर्म दक्कन और उसके दक्षिणी भाग में फूला फला। एहोल अभिलेख के जैन रचयिता रविकीर्ति ने जिनेन्द्र का मन्दिर बनवाया और पुलकेशिन् द्वितीय का वह "सर्वमान्य कृपाभाजन" था। इसी प्रकार विजयादित्य

---

१. Ind. Ant., ९, पृ० १२९; ७ पृ० १०७, १११।

२. देखिए, शक सम्वत् ६६३=७४१—४२ ई० के दन्तिदुर्ग के एलोरा-पत्र-लेख (Ep. Ind., २५, पृ० २५-३१)

और विक्रमादित्य द्वितीय ने विख्यात जैन पंडितों को अनेक ग्राम दान किये। बौद्ध धर्म के प्रति चालुक्य राजाओं के व्यवहार के सम्बन्ध में हमें कोई प्रमाण नहीं मिलते। इस धर्म का संभवतः ह्रास हो रहा था जैसा कि युआन्-च्वांग के वक्तव्य से सिद्ध होता है : "बौद्ध विहार १०० से ऊपर थे और दोनों यानों के अनुयायी भिक्षु ५००० से ऊपर। राजधानी के भीतर और बाहर ५ अशोक स्तूप थे जहाँ पिछले चार बुद्ध कभी बैठे थे, और उन्होंने वायु-सेवन किया था ; और वहाँ पत्थर और ईंटों के अन्य अनेक स्तूप भी थे"[१]। ब्राह्मण धर्म उन्नति पर था, पौराणिक देवता विशेष आदरणीय हो गये थे और वातापी (बादामी) तथा पत्तदकल[२] (बीजापुर जिला) में त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु, और शिव—के विशाल मन्दिर बने थे। इन देवताओं के अनेक नाम प्रचलित थे। जब तब ठोस चट्टानों को काट कर भी मंदिरों का निर्माण किया जाता था; उदाहरणतः, मंगलेश ने इसी प्रकार के विष्णु-मन्दिर का निर्माण कर सुयश प्राप्त किया था[3]। विद्वानों का मत है कि अजन्ता के भित्ति-चित्र संभवतः इन्हीं पूर्वकालिक चालुक्यों के समकालीन हैं। उस काल यज्ञों का अनुष्ठान भी भले प्रकार होता था और पुलकेशिन् प्रथम ने अकेले ही अश्वमेध वाज-पेय, पौंडरीक आदि अनेक यज्ञों का अनुष्ठान किया था।

प्रकरण २

मान्यखेट (मालखेड) के राष्ट्रकूट।

राष्ट्रकूटों का कुल

दक्कन के राष्ट्रकूटों का कुल निश्चित करना कठिन समस्या है। इस राजकुल के उत्तरकालीन अभिलेखों के अनुसार उनकी उत्पत्ति यदु से थी और उनके पूर्वज का नाम रट्ट था जिसके पुत्र राष्ट्रकूट ने इस कुल को अपना नाम दिया। सर रामकृष्ण भंडारकर[४] इनको "काल्पनिक व्यक्ति" मानते हैं, और संभवतः इन अनुश्रुतियों पर उनका सन्देह करना अनुचित नहीं। इसी प्रकार फ्लीट का सुझाव[५] कि दक्कन के राष्ट्रकूट उत्तर के राठौर (राष्ट्रकूटों) के वंशज थे समीक्षा के प्रकाश में न ठहर

१. वाटर्स २, पृ० २३६।

२. पत्तदकल के मंदिर, विशेषकर उनके विमान, पल्लव वास्तुकला के अनुकूल बने थे।

३. देखिए, एच. कजिन्स : The Calukyan Architecture Arch. Surv. Ind., खंड ४२, कलकत्ता, १९२६)। चालुक्य मंदिर सुन्दर अलंकृत आधार अथवा चबूतरे पर खड़ा है। इसके अनेक कोण हैं और इसका नक्शा सितारानुमा है। इसका शिखर "कलशमंडित कोणात्मक स्तम्भ" से अलंकृत है।

४. E. H. D., (तृतीय सं०, १९२८), पृ० १०६।

५. Bomb. Gaz., खंड १. भाग २, पृ० ३८४।

सकेगा। बरनेल[1] का विश्वास कि वे आन्ध्र देश के द्राविड़ रेड्डियों से सम्बन्वित थे, भी निराधार है। सबसे उचित विचार इनके सम्बन्ध में यह जान पड़ता है कि मालखेड के राष्ट्रकूट रष्टिकों अथवा रठिकों के वंशज थे जो तृतीय शती ई० के मध्य पर्याप्त प्रभावशाली थे और उनका परिगणन भोजकों तथा अपरान्तों (पश्चिमी भारत के निवासी) के साथ अशोक ने अपने अभिलेखों में किया।

उनका मूलस्थान

जैसा डा० अल्तेकर ने दर्शाया है[2] अभिलेखों तथा सिक्कों से विदित होता है कि रठिक और महारठी कुल महाराष्ट्र तथा कर्णाटक के भागों पर सामन्तों के रूप में शासन करते थे। अब प्रश्न यह है कि मान्यखेट के राष्ट्रकूट कहाँ से आये। डा० अल्तेकर उनका मूल निवास कर्णाटक में बताते हैं और चूंकि वे कन्नड़ भाषा तथा लिपि का स्वयं प्रयोग करते थे, उनके मत से राष्ट्रकूटों की मातृभाषा भी कन्नड़ थी[3]। इसके अतिरिक्त अनेक अभिलेखों में उनको "लट्टलूरपुरवराधीश" अर्थात् "सुन्दर नगर लट्टलूर के स्वामी" लिखा हुआ है। लट्टलूर (लाट्टर) निजाम की रियासत में बीदर जिले में कन्नड़ भाषा-भाषी एक प्रदेश को व्यक्त करता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह तर्क सार्थक हैं और उन विद्वानों के मत के सबल विरोधी हैं जिनका कहना है कि मालखेड के राष्ट्रकूट महाराष्ट्र के निवासी थे।

राष्ट्रकूटों का उत्कर्ष

दन्तिवर्मन्, इन्द्र प्रथम पृच्छकराज, गोविन्द प्रथम, कर्क प्रथम और इन्द्रराज द्वितीय इस राजकुल के कुछ प्रारम्भिक राजा थे परन्तु इन्होंने किसी प्रकार की यश प्राप्ति न की। वास्तव में तो यहाँ तक पता नहीं कि उनका शासित प्रदेश कौन सा था। डा० अल्तेकर[4] का मत है कि उनका अधिकार "कहीं बरार में" था और यह राजकुल अपनी मूल-भूमि कर्णाटक से चला आया था। इस विद्वान् का यह भी मत है कि ये या तो राष्ट्रकूट नरेश नन्नराज युघासुर, जो सातवीं ई० के मध्य में बरार के एलिचपुर में राज्य कर रहा था, के सीधे अथवा किसी शाखा के वंशज थे"।[5] ये सुझाव माने जाएँ अथवा न माने जाएँ, यह निश्चित है कि मान्यखेट के राष्ट्रकूट[6]

---

१. South Indian Palaeography, पृ० १० (भूमिका)।
२. Rastrakutas and their times, पृ० १९-२१।
३. वही पृ० २१-२२।
४. वही, पृ० ११, २२ आदि।
५. वही, पृ० ११।
६. अमोघवर्ष प्रथम ने मान्यखेट में राष्ट्रकूट राजधानी प्रतिष्ठित की। इससे पहले की राजधानी ज्ञात नहीं यद्यपि मयूरखंडी (नासिक जिले में मोरखंड) और 'सूलूभंजुन' (एलोरा के पास) आदि नाम भी सुझाए गए हैं।

दन्तिदुर्ग के राज्य-काल में प्रबल हुए। यह राजा उस चालुक्य राजकुमारी भवनागा का पुत्र था जिसे इन्द्रराज विवाह अनुष्ठान के बीच ही शक्तिपूर्वक ले भागा था। दन्तिदुर्ग का सबसे महत्वपूर्ण कार्य महाराष्ट्र में, जैसा कि उसके एलोरा-पत्र-लेखों[1] से प्रमाणित है, ८ वीं सदी ई० के मध्य में चालुक्य शक्ति का विनाश था। इस राष्ट्रकूट नरेश ने जिन सम-सामयिक राजाओं को परास्त किया उनके नाम निम्नलिखित हैं; काञ्ची का पल्लवराज, कलिंग का नृपति, कोशल (दक्षिण कोशल) का नृपति, मालव (उज्जैन का गुर्जर-प्रतीहार-नरेश) लाट (दक्षिण गुजरात जहाँ का शासक कर्क द्वितीय हुआ) का राजा, तंक (इसकी पहचान अनिश्चित है) का स्वामी और श्री शैल (कर्नूल जिला) का अधिपति। दन्तिदुर्ग ने कोई पुत्र न छोड़ा, और कन्नर अथवा कृष्ण प्रथम नामक उसके चचा ने ७५८ई० के शीघ्र बाद गद्दी प्राप्त कर ली। कुछ विद्वानों का मत है कि दन्तिदुर्ग अत्याचारी होने के कारण गद्दी से उतार दिया गया और कुछ दानों में उसके नाम के अनुल्लेख से इस मत की पुष्टि भी होती है। परन्तु उसका नाम इस कारण नहीं मिलता कि अपने उत्तराधिकारी के समक्ष वह केवल शाखा का है। कृष्ण प्रथम ने कीर्तिवर्मन् द्वितीय चालुक्य का नाश कर दिया जिसका अधिकार, जैसा एक अभिलेख से प्रमाणित है, केवल कर्णाटक तथा समीपस्थ भूप्रदेशों पर ही कम से कम ७५७ ई० तक अब सीमित रह गया था। कृष्णराज[2] ने अपनी शक्ति संगठित कर ली और दृप्त राहप्प को कुचलकर राजाधिराज-परमेश्वर का सा सम्राटपरक विरुद धारण किया। इसमें सन्देह नहीं कि राहप्प प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था परन्तु उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री से उसकी पहचान करनी कठिन है। तदनन्तर कृष्ण प्रथम ने कोंकण जीता, गंगवाड़ी (गंगों का राज्य) पर धावा किया, और वेंगी के पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ को परास्त किया। इन विजयों के अतिरिक्त कृष्ण प्रथम का शासनकाल एलापुर (निजाम की रियासत में एलोरा) के प्रख्यात शिवमन्दिर के लिए स्मरणीय है। विन्सेंट स्मिथ ने सही कहा है कि ठोस चट्टान काटकर बनाया हुआ यह अद्भुत दरी-मंदिर "भारत के वास्तु आश्चर्यों में सर्वाधिक विस्मयजनक है[3]।"

राष्ट्रकूट साम्राज्य का विस्तार

(क) गोविन्द द्वितीय—कृष्ण प्रथम सम्भवतः ७७२ ई० के शीघ्र ही बाद मर गया और उसका उत्तराधिकारी पुत्र गोविन्द द्वितीय बहुत वर्ष गद्दी पर बैठा। युवराज की हैसियत से ही उसने वेंगी के विष्णुवर्धन चतुर्थ को परास्त किया था। परन्तु गद्दी पर बैठ जाने के बाद पारिजात की पराजय के अतिरिक्त उसने कोई

१. Ep. Ind., २५, पृ० २५-३१। शक संवत् ६६३=७४१-४२ ई० के एलोरा पत्रलेख मे हमें दन्तिदुर्ग की पूर्वतम तिथि प्राप्त होती है। स्पष्ट है कि इस काल उसने एलोरा प्रदेश पर राज्य किया था।

२. कृष्ण प्रथम शुभतुंग और अकालवर्ष भी कहलाता है।

३. E. H. I., चतुर्थ सं, पृ० ४४५।

स्मरणीय कार्य नहीं किया। इस राष्ट्रकूट नरेश ने असंयम और अमित व्यभिचार द्वारा अपनी शक्ति का ह्रास किया तथा शासन का भार भी अधिकतर उसके अनुज ध्रुव ने ही वहन किया। अवसर से लाभ उठाकर ध्रुव ने विद्रोह किया और ७७९ ई० के लगभग भाई की गद्दी पर अधिकार कर लिया।

(ख) ध्रुव निरुपम—ध्रुव निरुपम ने जिसके अन्य नाम धारावर्ष और कलि अथवा श्रीवल्लभ[1] भी थे, पहले अपने अग्रज के शत्रुओं पर आक्रमण किया। उसने गंगराज शिवमार मुट्टरस को परास्त कर बन्दी कर लिया और उसके राज्य पर अपना शासन स्थापित किया। इसी प्रकार काञ्ची के पल्लव नरेश को भी ध्रुव के समक्ष झुकना पड़ा। तदनन्तर ध्रुव ने उत्तर की ओर रुख किया। उसने उज्जैन के प्रतीहार नरेश वत्सराज को "मरु (रेगिस्तान) के बीच दुर्भाग्य का आश्रय कर शरण लेने को"[2] बाध्य किया। इस वक्तव्य का अभिप्राय संभवतः यह है कि ध्रुव ने अपने शत्रु को परास्त करके उसे राजपूताना के मरुस्थलों में भगाया। ध्रुव ने इन्द्रायुध के शासनकाल में गंगा के द्वाब पर भी आक्रमण किया और परिणामतः उसने "अपने साम्राज्य लाञ्छनों में गंगा और यमुना की आकृतियां भी जोड़ लीं"। संभवतः इसी आक्रमण के समय ध्रुव ने धर्मपाल को परास्त किया और "गंगा यमुना के बीच पलायित गौड़राज की लक्ष्मी के लीला कमल रूपी शुक्ल छत्रों को छीन लिया"[3]। ध्रुव के मध्यदेश पर आक्रमण का कोई दीर्घकालिक परिणाम न हुआ परन्तु इस घटना से सिद्ध है कि राष्ट्रकूट अब प्रसार के साम्राज्यवादी पथ पर आरूढ़ हो चुके थे।

(ग) गोविन्द तृतीय जगत्तुंग—ध्रुव ने गोविन्द तृतीय को अपना उत्तराधिकारी चुना था परन्तु अपने पिता के राज्य विसर्जन अथवा निधन के बाद ७९४ ई० के लगभग उसका राज्यारोहण सन्दिग्ध है। गोविन्द तृतीय के अग्रज और गंगवाडी के शासक स्तम्भ (खम्बैय्या) ने इस उत्तराधिकार पर आपत्ति की और अनेक विद्रोही सामन्तों ने उसका समर्थन किया। गृहीत और पुनर्मुक्त गंगराज शिवमार तक ने राष्ट्रकूट नरेश के विरुद्ध फिर सिर उठाया। परन्तु परिणाम कुछ नहीं हुआ और विद्रोही पूर्णतः कुचल डाले गये। गंगवाडी की फिर विजय हुई और गोविन्द तृतीय ने स्तंभ के प्रति उदारता का व्यवहार करके उसे वहाँ का शासक नियुक्त किया। तदनन्तर दन्तिग (अथवा दन्तिवर्मन्—काञ्ची का पल्लव नरेश) को परास्त कर गोविन्द तृतीय ने वेंगी के पूर्वी चालुक्य विजयादित्य द्वितीय (७९९-८४३ ई०) पर आक्रमण कर उसे परास्त किया। अपने पिता गोविन्द तृतीय की ही भांति उत्तरी शक्तियों पर भी उसने विजय प्राप्त की। उसने नागभट्ट द्वितीय को परास्त किया और उसके

---

१. यह विरुद जैन हरिवंश में मिलता है जिसमें ध्रुव के लिए शक तिथि ७०५=७८३-८४ भी दी हुई है।

२. Ind. Ant., ११, पृ० १६१; Ep. Ind., ६, पृ० २४३-२४८।

३. Ep. Ind, १८, पृ० २४४, २५२; और देखिए, History of Kanauj पृ० २१४।

उज्जैन के पैतृक राज्य[1] को ८०६ और ८०८ ई० के बीच[2] कभी पुनः प्राप्त करने के सारे प्रयत्न निष्फल कर दिये। फिर भी गोविन्द तृतीय अपने महत्वाकांक्षी प्रतीहार प्रतिद्वन्द्वी के प्रति सतर्क रहा और कर्कराज के बड़ोदा पत्रलेखों के अनुसार उसने "मानव की रक्षा के लिए........कर्कराज की भुजा को गुर्जरराज के देश के लिए अर्गला बनायी"।[3] तब गोविन्द तृतीय ने गंगा के द्वाब की ओर अपना मुख फेरा और संजन पत्रलेखों से विदित होता है कि कान्यकुब्ज के चक्रायुध और गौड़ के धर्मपाल दोनों ने उसके प्रति "स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया।"[4] परन्तु इन विजयों से उसे शान्ति न मिली। उत्तर की ओर उसके व्यस्त रहने से अवसर पाकर चोलों और पांड्यों ने काञ्ची, गंगवाडी और केरल के नरेशों के साथ उसके विरुद्ध अपना संघ संगठित किया। परन्तु गोविंद तृतीय फिर एक बार उनकी सम्मिलित शक्ति पर विजयी हुआ और उसने वाद का अपना जीवन राज्य के आन्तरिक शासन को सुव्यवस्थित करने में व्यतीत किया।

अमोघवर्ष प्रथम

८१४ ई० के आरम्भ में गोविन्द तृतीय की मृत्यु के पश्चात् राजमुकुट उसके पुत्र को मिला जो अमोघवर्ष[5] के विरुद से जाना जाता है। चूंकि अमोघवर्ष बालक था गोविन्द तृतीय ने अपने मरने से पूर्व गुजरात शाखा के कर्कराज-सुवर्णवर्ष को शासन-प्रबन्ध का कार्य सौंप दिया था। कुछ समय तक तो सुचारु रूप से शासन चलता रहा परन्तु विद्रोही शक्तियाँ देर तक चुप न बैठ सकीं। राजकुल के आन्तरिक विरोध अंतःपुर तक ही सीमित न रह सके और उन्होंने मन्त्रियों को कृतघ्न और सामन्त राजाओं को विद्रोही बना दिया। गंगवाडी का राजा स्वतन्त्र हो गया और वेंगी के विजयादित्य द्वितीय तक ने रट्टों (राष्ट्रकूटों) पर गोविन्द तृतीय का बदला लेने के लिए आक्रमण कर दिया। इस प्रकार सारे देश में अराजकता फैल गयी और अमोघवर्ष सिंहासनच्युत कर दिया गया। परन्तु सूरत के दानलेख[6] से विदित होता है कि ८२१ ई० के अप्रैल से पूर्व ही उसने फिर सिंहासन पर अधिकार कर लिया जिसमें संभवतः कर्कराज की सहायता थी।[7] अल्पायु होने के कारण अमोघ वर्ष प्रथम की स्थिति अभी कुछ काल तक डाँवाडोल रही और वह विजय के लिए

---

१. संजन पत्रलेख, Ep. Ind., १८, पृ० २४५, २५३, श्लोक २२; और देखिए, राधनपुर का दानपत्र, वही, पृ० २४४, २५०, श्लोक १५।

२. History of Kanauj, पृ० २३२।

३. वही; Ind. Ant., १२, पृ० १६०, १६४।

४. Ep. Ind., १८, पृ० २४५-२५३, श्लोक २३; वही, ६, पृ० १०२, १०५—स्वयमेवोपनतौ च यस्य महतस्तौ धर्मचक्रायुधौ।

५. सर रामकृष्ण भंडारकर के मत में उसका नाम सर्व था (EHD, पृ० १६०)।

६. Ep. Ind., २१, पृ० १३३-४७।

७. वही।

किसी ओर प्रस्थान न कर सका। हाँ, सिरुर (धारवाड़ जिला) अभिलेख[1] से (शक संवत् ७८८=८६६ ई०) और अन्य अभिलेखों से सिद्ध है कि वेंगी के चालुक्य राजा को उसके सामने नतमस्तक होना पड़ा। फिर भी ऐसा अमोघवर्ष के शासन के पिछले काल में ही हो सका होगा और अधिक संभव तो यह है कि उसका प्रतिद्वन्द्वी विजयादित्य तृतीय गुणग (लगभग ८४४-८८ ई०) था क्योंकि इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि विजयादित्य द्वितीय (लगभग ७९९-८४२ ई०) ने बजाय हार मानने के अपने शासन के अन्त में राष्ट्रकूटों की विजय भी की। तदनन्तर अमोघवर्ष प्रथम ने वंग, अंग और मगध के राजाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया, ऐसा कहा जाता है यद्यपि इसको मानने का कोई प्रामाणिक आधार नहीं। दक्षिण अथवा उत्तर में अमोघवर्ष की किसी प्रकार की विजय न हो सकी, उलटा उसके प्रतीहार समकालीन मिहिर भोज ने उज्जैनी के चतुर्दिक नर्मदा तक अथवा उससे आगे के प्रदेशों को रौंद डाला और उसके आक्रमण को रोकने का श्रेय अमोघवर्ष प्रथम को नहीं प्रत्युत उसके गुजराती वन्धु ध्रुव द्वितीय को है[2]। वस्तुतः अमोघवर्ष प्रथम तो इतना दुर्बल सिद्ध हुआ कि वह गंगराज तक का दमन न कर सका। अमोघवर्ष का यह सैनिक दौर्बल्य संभवतः उसके धार्मिक और साहित्यिक झुकाव के कारण था। उसके परम गुरु जिनसेन द्वारा निरूपित जैन धर्म के सिद्धान्तों ने उसके हृदय और बुद्धि को आक्रान्त कर लिया और यदि वीराचार्य के 'गणितसारसंग्रह' पर विश्वास किया जा सके तो अमोघवर्ष प्रथम वस्तुतः स्याद्वाद के सिद्धान्त का पूर्ण भक्त हो गया था। परन्तु उसने हिन्दु धर्म के प्रति अपनी उदारता न छोड़ी और संजन पत्र-लेखों[3] से स्पष्ट है कि वह देवी महालक्ष्मी का महान् पुजारी बना रहा। प्रख्यात विक्रमादित्य की उदारता और विद्वानों की संरक्षा से भी उसकी उदारता की तुलना की जाती है[4]। अमोघवर्ष प्रथम स्वयं 'कविराजमार्ग का' रचयिता था। यह ग्रन्थ कन्नड़ भाषा में काव्य सिद्धान्त पर लिखा गया है। इसके अतिरिक्त उसने 'प्रश्नोत्तरमालिका' नाम का एक नीति-ग्रन्थ भी लिखा जिसका रचयिता शंकराचार्य अथवा विमल को भी कोई मानते हैं।

अमोघवर्ष के जीवन के अन्तिम दिन विशेषतः धार्मिक कृत्यों में बीते। प्रायः

१. Ind. Ant., १२, पृ० २१६ और आगे।

२. वही, पृ० १८४, १८९। गुजरात शाखा का आरम्भ इन्द्र ने किया था जिसे उसके अग्रज गोविन्द तृतीय ने ९वीं सदी ईसवी के आरम्भ में दक्षिण गुजरात का शासक बनाया था। इस शाखा के विशिष्ट राजा निम्नलिखित थे :—कर्क-सुवर्णवर्ष, ध्रुव-धारावर्ष, अकालवर्ष शुभतुंग, ध्रुव द्वितीय। इनमें से पिछले तीन वल्लभ नाम के एक राजा से युद्ध करते रहे जिसे डा० अल्तेकर ने अमोघवर्ष प्रथम माना है। (Rastrākutas and their Times, पृ० ८४)। गुजरात की यह शाखा ९वीं सदी ई० के अन्त में लुप्त हो गई।

३. Ep. Ind., १८, पृ० २४८, २५५, श्लोक ४७। इस श्लोक में अमोघवर्ष को वीरनारायण कहा गया है।

४. वही, श्लोक ४८।

वह एकान्त में समाधिस्थ हो जाता और शासन के कार्य युवराज अथवा मन्त्रिपरिषद् के ऊपर छोड़ देता।

अमोघवर्ष प्रथम ने अपनी राजधानी मान्यखेट (निजाम रियासत में वर्तमान मालखेड) बनायी। हमें निश्चित रूप से ज्ञात नहीं कि वह इस नगर का निर्माता भी था अथवा उसने वहाँ राजधानी का परिवर्तन-मात्र किया। इतना अवश्य है कि उस नगर को ससम्पद और समृद्ध करने का श्रेय उसी को था।

अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी

अमोघवर्ष प्रथम की अन्तिम ज्ञात तिथि ८७८ ई०[1] है। इसलिये हम यह मान सकते हैं कि ६० वर्ष के लम्बे शासन के बाद वह इस वर्ष ही संभवतः मरा। उसके बाद उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय अकालवर्ष अथवा श्री-वल्लभ विरुद धारण कर गद्दी पर बैठा। उसने त्रिपुरी के कलचुरी कोकल्ल प्रथम की कन्या से विवाह किया और इस प्रकार अपने श्वसुर से बहुत सहायता पायी[2]। कृष्ण द्वितीय के शासन-काल में गुजराती राष्ट्रकूट शाखा की रही-सही शक्ति भी नष्ट हो गयी। वेंगी के पूर्वी चालुक्य राजाओं—विजयादित्य तृतीय गुणग (जो उसका कुछ वर्षों तक समकालीन था) और भीम प्रथम (लगभग ८८८-९१८ ई०)—के साथ उसने परम्परागत वैर निभाया परन्तु कुछ सफलता के बाद राष्ट्रकूट परास्त हो गए। जिस अन्य राजा के साथ कृष्ण द्वितीय का संघर्ष हुआ वह मिहिर भोज था, और यद्यपि वार्टन संग्रहालय के खंडित अभिलेख[3] का वक्तव्य है कि कृष्ण द्वितीय को शीघ्रतापूर्वक स्वदेश लौटा जाना पड़ा, बगुम्रा पत्र-लेखों[4] से स्पष्ट है कि प्रतीहारराज कम से कम उज्जयिनी की ओर राष्ट्रकूट नृपति के विरुद्ध किसी प्रकार की सफलता न प्राप्त कर सका। संभवतः इन युद्धों का किसी पक्ष में कोई विशेष परिणाम न हुआ।

९१४ ई० के लगभग कृष्ण द्वितीय का देहान्त हुआ और उसका पौत्र इन्द्र तृतीय नित्यवर्ष राष्ट्रकूट गद्दी पर बैठा। इन्द्र तृतीय जगत्तुंग का उसकी कलचुरी पत्नी लक्ष्मी से उत्पन्न पुत्र था। स्वयं जगत्तुंग अपने पिता के जीवनकाल में ही अकाल मृत्यु को प्राप्त हुआ था। इन्द्र तृतीय अद्भुत योद्धा सिद्ध हुआ। खम्भात के पत्र-लेखों[5] के अनुसार उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य "महोदय (कन्नौज) के शत्रुनगर

---

१. "फाल्गुन शुद्ध १०, शक.७९९ (अर्थात् मार्च ८७८ ई०) जब वीरसेन की 'जयधवल-टीका' समाप्त हुई"; देखिए Rastrakutas and their Times, पृ० ८७।

२. बिलहरी अभिलेख, Ep. Ind., १, पृ० २५६, २६४, श्लोक १७; बनारस दानपत्र, वही २, पृ० ३०६, श्लोक ७।

३. Ep. Ind., १९, पृ० १७४-७७।

४. Ind. Ant., १३, पृ० ६७-६९, श्लोक २३; Ep. Ind., ९, पृ० ३१, ३९, श्लोक १५।

५. Ep. Ind., ७, पृ० ३८, ४३, श्लोक १९—

का पूर्णतः विध्वंस" था। यह घटना ९१६ अथवा ९१७ ई० में घटी। वह अपने चालुक्य सामन्त नरसिंह[1] के साथ राष्ट्रकूटों तथा प्रतीहारों के विग्रह-केन्द्र उज्जैन को लाँघता हुआ यमुना की घाटी पार कर गया और उसने उस महीपाल को विपन्न कर दिया जिसने कुछ काल पूर्व हर्षदेव चन्देल की सहायता से भोज द्वितीय की गद्दी छीन ली थी[2]। जान पड़ता है कि आक्रामकों ने प्रयाग तक गंगा के द्वाव में धावे किये परन्तु वह आक्रमण सिवाय एक तीव्रगामी धावे के और कुछ न था और उत्तर में इसके परिणामस्वरूप कोई राष्ट्रकूट चिह्न स्थापित न रह सका।

अल्पकालिक शासन के बाद इन्द्र तृतीय संभवतः ९१८ ई०[3] के आरम्भ में मरा, और उसका उत्तराधिकारी अमोघवर्ष द्वितीय गद्दी पर वैठा तदनन्तर गोविन्द चतुर्थ राजा हुआ जिसने शासन-कार्य से विरक्त होकर काम-सुख की उपासना की और इस प्रकार "अपनी बुद्धि से नारियों के नयन-पाश से निरुद्ध हो जाने के कारण सब को विमुख कर दिया"[4]। वेंगी के चालुक्यराज (लगभग९३४-४५ ई०) ने उसके शासन काल के अन्त में उसको पराजित किया और कन्नड कवि पम्प[5] 'विक्रमार्जुनविजय' के अनुसार तो पुलिगिरि के अरिकेशरिन् द्वितीय के से सामन्तों तक ने गोविन्द को वड़ा कष्ट दिया। गोविन्द चतुर्थ के वाद उसका चाचा अमोघवर्ष तृतीय वद्दिग ९३६ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा। उसके विषय में इसके सिवाय और कुछ ज्ञात नहीं कि वह धार्मिक पुरुष था और उसने त्रिपुरी के कलचुरी केयूर-वर्ष युवराज प्रथम की कन्या से अपना विवाह किया और स्वयं अपनी कन्या गंग राजा बूटुग द्वितीय को दी। अमोघवर्ष तृतीय के शासन का अन्त ९४० ई० के आरम्भ के लगभग हुआ।

कृष्ण तृतीय

अमोघवर्ष तृतीय का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कृष्ण तृतीय हुआ जिसने युवराज के पदाधिकार से भी बहुत शक्ति का उपयोग किया। उसका प्रारम्भिक

यन्माद्यद्द्विपदन्तघातविषमं कालप्रियप्राङ्गणम्।
तीर्णा यत्तुरगैरगाधयमुना सिन्धुप्रतिस्पर्धिनी॥
येनेदं हि महोदयारिनगरं निर्मूलमुन्मीलितम्।
नाम्नाद्यापि जनैः कुशस्थलमिति ख्यातिं परां नीयते॥

खम्भात पत्तलेखों में उल्लिखित कालप्रिय का मन्दिर संभवतः उज्जयिनी का महाकाल मन्दिर है यद्यपि इसे कुछ लोगों ने कालपी का कालप्रिय मन्दिर माना है।

१. History of Kanauj, पृ० २६०।

२. वही, पृ० २५६-५७।

३. डा० अल्तेकर का कहना है कि यदि इन्द्र तृतीय ने और कुछ साल राज्य किया जैसा एक अभिलेख से विदित होता है तो यह तिथि असिद्ध हो जाएगी। अभी तक मैंने यह सामग्री नहीं देखी।

४. Ep. Ind., ४, पृ० २८३, २८८, श्लोक २०—सोप्यंगनानयनपाशनिरुद्धबुद्धि-रुन्मार्गसंगविमुखीकृतसर्वसत्त्वः।

५. वही, १३ पृ० ३२८-२९।

महत्वपूर्ण कृत्य पश्चिमी गंग राजा रायमल की विजय और उसके स्थान में बूटुग द्वितीय की प्रतिष्ठा थी। देवली पत्र-लेख से विदित होता है कि शक संवत् ८६२ = ९४० ई० के पू० कभी जब कृष्ण ने उत्तर भारत पर आक्रमण किया तब "गुर्जर के हृदय से कालंजर और चित्रकूट की आशा लुप्त हो गयी"[1]। यदि इस वक्तव्य का गुर्जर प्रतीहार नरेश महीपाल है तो हम कृष्ण तृतीय के इस आक्रमण में उसके परम्परागत शत्रुओं से संघर्ष की एक झलक पाते हैं। सुझाया तो यहाँ तक गया है कि राष्ट्रकूट आक्रामक ने अपने प्रतिद्वन्द्वी से कालंजर और चित्रकूट छीन लिए। यह सही हो सकता है यद्यपि इस वक्तव्य का तात्पर्य केवल इतना है कि कृष्ण की विजय-वाहिनी की प्रगति सुनकर गुर्जर नरेश इतना संत्रस्त हो गया कि उसने इन दुर्गों की रक्षा की आशा छोड़ दी। कृष्ण तृतीय ने उत्तर विजय की थी। यह मैहर रियासत (बघेलखंड) में एक प्रस्तर खंड पर खुदे कन्नड़ अभिलेख[2] से भी प्रमाणित है यद्यपि इसमें कोई तिथि नहीं दी हुई है। यह महत्व की बात है कि वह परम-भट्टारक, महाराजाधिराज, और परमेश्वर के से सम्राटों के विरुद धारण कर लेता है जिससे जान पड़ता है कि कृष्ण तृतीय ने राजदंड धारण करने के बाद मध्यभारत के कुछ प्रदेश भी जीते थे, जब प्रतीहार शक्ति अपने चन्देल सामन्तों के उत्कर्ष के कारण दुर्बल पड़ गई थी।

कृष्ण तृतीय के स्मरणीय विजय कृत्य दक्षिण में सम्पन्न हुए। उसने कच्ची (काञ्ची) पर अधिकार कर लिया और तञ्जोर की विजय के उपरान्त "तञ्जैयुम्कोंड[3]" का दृप्त विरुद धारण किया। परान्तक प्रथम के पुत्र चोल राजा राजादित्य को भी उसने ९४९ ई० में अपने बहनोई गंग राजा बूटुग द्वितीय[4] की सहायता से तक्कोलम (उत्तर अर्काट जिले में अरकोड़म के पास) के प्रसिद्ध युद्ध में परास्त किया। इस सहायता के बदले बूटुग द्वितीय को उसने बनवासी और अन्य प्रदेश प्रदान किये। इस प्रकार कृष्ण तृतीय तोडमण्डलम् का स्वामी हो गया, परन्तु फिर भी वह चोड देश का दक्षिणी भाग अपने शासन में सम्मिलित न कर सका। उसने पांड्यों और केरलों की आशाएँ भी कुचल दीं, और कहा जाता है कि सिंहल के राजा तक ने उसे कर दिया। कृष्ण तृतीय का अन्य महत्वपूर्ण कृत्य वेंगी की गद्दी से अम्म द्वितीय को हटाकर युद्धमल्ल के पुत्र और अपने मित्र बाडप को उस पर प्रतिष्ठित करना था।

राष्ट्रकूट राजकुल का पतन

कृष्ण तृतीय इस राजकुल का अंतिम महान् राजा था। और ९६८ ई० में

१. वही, ५, पृ० १९४, श्लोक २५—दक्षिणदिग्दुर्गविजयमाकर्ण्य गलिता गूर्जरहृदयात् चित्रकूटाशा।

२. वही, १९, पृ० २८७-९०।

३. मिलाइये, "कच्चियुम-तञ्जैयुम्कोंडा।

४. देखिए, शक ८७२=९४९-५० ई० का आतकूर का अभिलेख (Ep. Ind., ६, पृ० ५०-५०)। इस युद्ध के चोल दृष्टिकोण के लिए देखिए, तिरुवालङ्गाडु पत्रलेख (A. R. E., ५, पृ० २०) और लेडन दानलेख (A. S. S. I., ४, पृ० २०६-२०७)।

उसकी मृत्यु के पश्चात् इस कुल का गौरव नष्ट हो गया। उसके भ्राता खोट्टिग नित्यवर्ष के शासनकाल में राष्ट्रकूटों की शक्ति इतनी दुर्बल हो गयी कि मालव राजा परमार सीयक-हर्ष ने उसकी राजधानी मान्यखेट तक पर अधिकार कर लिया [1]। खोट्टिग का भतीजा और उत्तराधिकारी कर्क द्वितीय अथवा कक्कल निःसन्देह दुर्बल व्यक्ति था यद्यपि एक अभिलेख में अनेक शत्रुओं को हराने का श्रेय उसे दिया गया है। ९७३ ई० में पश्चिमी चालुक्य नरेश तैल द्वितीय अथवा तैलप के आक्रमण में वह विनष्ट हो गया और राष्ट्रकूटों का सूर्य प्रायः सवा-दो सदियों तक तप कर अस्त हो गया।

राष्ट्रकूट और अरब

राष्ट्रकूट राजाओं को, जिन्हें अरब पर्यटकों और इतिहासकारों ने बल्हर (प्रमाणतः संस्कृत वल्लभराज का अरबी रूपान्तर) कहा है, उन्होंने शक्तिमान नृपति माना है। उदाहरणतः ८५१ ई० लिखते हुए सुलेमान ने 'दीर्घ-जीवी बल्हर' अमोघवर्ष प्रथम को संसार के चार महान् बादशाहों में गिना है। उसके अतिरिक्त तीन बगदाद का खलीफा और कुस्तुनतुनिया तथा चीन के सम्राट् थे। राष्ट्रकूटों ने अरबों के साथ सद्भाव बनाये रखा और उनको व्यापार संबंधी अनेक सुविधायें प्रदान कीं। उनकी यह नीति निःसन्देह राजनैतिक परिस्थिति के फलस्वरूप बरती गयी क्योंकि 'बउउरा' अथवा कन्नौज के प्रतीहार राजा राष्ट्रकूटों तथा अरबों दोनों के प्रबल शत्रु थे। हिजरी ३३२=९४३-४४ में लिखता हुआ अलमसऊदी कहता है : "यह 'बउउरा' जो कन्नौज का राजा है भारत के राजा बल्हर का शत्रु है"। फिर उस परिस्थिति का खुलासा करते हुए कन्नौज की सेना के विषय में वह लिखता है : "उत्तर की सेना मुलतान के राजा और उसकी सीमाप्रान्तिनी मुसलमान प्रजा से युद्ध करती है। दक्षिण की सेना मनकिर (मान्यखेट) के राजा बल्हर के विरुद्ध लड़ती है।"[2] अरबों के साथ मैत्री राष्ट्रकूटों की जहाँ धार्मिक उदारता प्रमाणित करती है वहाँ उनकी राजनीतिक अदूरदर्शिता का भी प्रमाण है।

धार्मिक स्थिति

राष्ट्रकूटों के शासन-काल में पौराणिक हिन्दू धर्म (विशेषकर विष्णु और शिव की पूजा) दक्कन में लोकप्रिय हो गया था। राष्ट्रकूट ताम्रपत्र के दान इन देवताओं के नाम से आरम्भ होते हैं, और उनकी मुहर पर या तो विष्णु के वाहन गरुड़ की आकृति होती है अथवा योगी मुद्रा में बैठे शिव की। तब ब्राह्मणधर्मपरक यज्ञ

---

१. Ep. Ind., १, पृ० २३३, २३७, श्लोक १२—श्रीहर्षदेव इति खोट्टिगदेवलक्ष्मीं जग्राह यो युधि नगादसमप्रतापः। धनपाल भी अपने 'पाइलच्छी' (श्लोक २७६) में कहता है कि मैंने अपना ग्रन्थ तब लिखा "जब विक्रम संवत् के १०२९ वर्ष बीत चुके थे और जब मालवराज के आक्रमण के परिणामस्वरूप मन्नखेड अथवा मान्यखेट लूटा जा चुका था" (Ep. Ind., १, पृ० २२६)।

२. इलियट, History of India., १, पृ० २१-२३।

और तुलादान (शरीर की तौल के बराबर सुवर्णदान) होते थे। दन्तिदुर्ग ने उज्जयिनी में हिरण्यगर्भ नाम का यज्ञ किया था। मन्दिरों के अनवरत निर्माण होते थे और उनकी मूर्तियाँ विविध क्रियाओं से पूजी जाती थीं। अभाग्यवश कृष्ण प्रथम निर्मित एलोरा के आश्चर्यजनक शिव के दरी-मंदिर के अतिरिक्त उस काल की कोई इमारत आज उपलब्ध नहीं। हिन्दू धर्म के अलावा अन्य सम्प्रदाय भी फूले फले। अमोघवर्ष प्रथम, इन्द्र चतुर्थ, और कृष्ण द्वितीय और इन्द्र तृतीय तक ने जैन धर्म की संरक्षा और आदर किया। परन्तु बौद्ध सम्प्रदाय का निःसंदेह ह्रास हुआ और अमोघवर्ष प्रथम के कुछ अभिलेखों के अनुसार दक्कन में इस सम्प्रदाय का केन्द्र कन्हेरी था[1]।

प्रकरण ३

कल्याण के पश्चिमी चालुक्य[2]

तैलप का वंश

इस राजकुल के पश्चात्कालीन अभिलेखों के अनुसार तैलप कीर्तिवर्मन् द्वितीय के किसी अज्ञातनामा उस चचा का वंशज था जिसे राष्ट्रकूटों ने दक्कन के राज्य से निकाल दिया था। इस प्रकार तैलप की नसों में वातापी के चालुक्यों का रक्त था। सर रामकृष्ण भंडारकर उसके वंश सम्बन्ध में सन्देह करते हैं[3]। उनका विचार है कि तैलप एक "स्वतंत्र और साधारण शाखा" में उत्पन्न हुआ था क्योंकि वह और उसके उत्तराधिकारी प्रचीन चालुक्यों की भाँति हरीति को अपना पूर्वज मानते हैं अथवा अपने को मानव्य गोत्र का बताते हैं।

उसके कृत्य

अपने आकस्मिक उत्कर्ष के पूर्व तैलप संभवतः राष्ट्रकूटों का सामन्त था[4]।

---

१. Ind. Ant., १३, पृ० १३४-३७।

२. देखिए, E. H. D., तृतीय सं०, प्रकरण १२, पृ० १३६-५६; एस० एल० कतरे: The Chalukyas of Kalyani, Indian Culture, खंड ४, संख्या १, पृ० ४३-५२; Ind. Hist. Quart., १७, मार्च, १९४१, पृ० ११-३४; फ्लीट: Dynasties of the Kanarese Districts. काखंदकी से प्राप्त शक संवत् ९१५=९९३ ई० के एक अभिलेख में लिखा है कि तैलप ने मान्यखेट से शासन किया था जिससे विदित होता है कि यह नगरी पश्चिमी चालुक्यों की भी कुछ काल तक राजधानी बनी रही। (A. S. I. R., १९३०-३४, पृ० २४१)। सम्भवतः कल्याण का राजधानी के रूप में उल्लेख पहले पहल १०३३-३४ ई० के एक अभिलेख में हुआ है (A. S. I. R, १९२९-३०)।

३. E. H. D., पृ० १३६। डा० अल्तेकर ने प्रश्न अनुत्तरित छोड़ दिया है (Rastrakutas and their Times, पृ० १२८); और देखिए, फ्लीट : Dynasties of the Kanarese Districts, पृ० ४१।

४. डा० अल्तेकर का सुझाव है कि सामन्त की हैसियत से तैलप संभवतः "हैदराबाद रियासत के उत्तरी भाग में कहीं रहता था" (Rastrakutas and their Times, पृ०

परमार सेनाओं द्वारा मान्यखेट की लूट से लाभ उठाकर उसने कर्क द्वितीय पर आक्रमण किया। कर्क द्वितीय या तो इस युद्ध में मारा गया या उसे अपने राज्य के किसी सुरक्षित कोने में आश्रय लेना पड़ा। इससे तैलप की शक्ति और प्रभाव बढ़ा। परन्तु इन्द्र चतुर्थ और राष्ट्रकूट सिंहासन के अन्य अधिकारियों के पराभव के पहले वास्तव में स्थिति स्पष्ट न हो सकी। फिर भी कुछ वर्षों के अन्दर ही उनकी भी पराजय हुई और चालुक्य शक्ति स्पष्टतः पुनरुज्जीवित हो उठी। तैलप ने तदनन्तर लाट (दक्षिण गुजरात) को जीता और वारप्प को वहाँ का शासक नियुक्त किया परन्तु उस पर अधिकार दीर्घकालिक न हो सका क्योंकि अन्हिलवाड के मूलराज चालुक्य ने उसे वहाँ से मार भगाया। तैलप ने कुंतल अथवा कन्नड़ देश पर भी अपना अधिकार प्रतिष्ठित किया यद्यपि चेदियों और चोलों पर उसकी विजय की कथा निर्मूल है[1]। उसकी उत्तरीय सीमायें वाक्पति-मुंज परमार की चोट से बराबर क्षतविक्षत होती रहीं। मेरुत्तुंग का कहना है कि मुंज ने तैलप को कम से कम छः वार परास्त किया। इस कथा में सत्य चाहे जिस मात्रा में हो, यह सही है कि मुंज ने अन्ततः इस संघर्ष में दारुण रूप से अपने प्राण खोये। कहा जाता है कि अपने बुद्धिमान् मन्त्री की सलाह की उपेक्षा कर वह गोदावरी के पार शत्रु के राज्य में निरन्तर बढता चला गया और अन्त में पकड़ कर उसका सिर काट लिया गया[2]। इस प्रकार चालुक्यों और परमारों के बीच के दीर्घकालिक संघर्ष का आरम्भ हुआ। २४ वर्ष के शासन के बाद ९९७ ई० के लगभग तैलप मरा।

लगभग ९९७ ई० से १०४२ ई० तक

तैलप के बाद उसका पुत्र सत्याश्रय गद्दी पर बैठा। उसके शासन-काल (ल० ९९७ ई० १००८ ई०) में राजराज प्रथम चोल की सेनाओं ने चालुक्य राज्य में मृत्यु का तांडव खड़ा कर दिया। सत्याश्रय ने फिर भी अपनी शक्ति इस मार्मिक चोट के बाद पुनः प्राप्त कर ली और उसने चोलों से दक्षिण में कुछ प्रदेश भी जीते। उसके पश्चात् उसके भतीजे विक्रमादित्य पंचम[3] ने कुछ काल तक शासन किया। भोज परमार ने[4] उसे परास्त कर दिया। भोज ने अपने चचा मुंज के वध का इस

---

१३०)। परन्तु और देखिए, Arch. Surv. Ind. Rep., १९३०-३४, पृ० २२४, २४१। बागेवाड़ी तालुका के नरसल्ली स्थान से प्राप्त ९६५ ई० के एक अभिलेख से विदित होता है कि तैलप कृष्ण तृतीय का एक अफसर था। और पहले शक संवत् ८७९=९५७ ई० में तैलप सम्भवतः तारदेवाडी का शासक था।

१. अथवा चेदि और चोल सामन्तों के विरुद्ध यह छोटी मोटी लड़ाइयाँ थीं?

२. देखिए, पीछे यथास्थान।

३. सर रामकृष्ण भंडारकर उसे विक्रमादित्य प्रथम मानते हैं (E. H. D., पृ० १४०, नोट १५)।

४. कुछ विद्वान् इस विजित चालुक्य राजा को जयसिंह द्वितीय मानते हैं।

प्रकार बदला लिया। यह प्रतिशोध लेकर उसने दक्कन में अपनी शक्ति प्रतिष्ठित करने के मनसूबे बांधे और इस हेतु उसने अपने प्रबल पड़ोसी अन्हिलवाड के भीम प्रथम तथा कलचुरी राजा के साथ सद्भाव स्थापित कर लिया[1]। परन्तु एक अभिलेख से विदित होता है कि शक संवत् ६४१ = १०१६ ई० विक्रमादित्य पंचम के उत्तराधिकारी जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल (ल० १०१६-१०४२ ई०) ने भोज को परास्त कर 'मालव संघ' नष्ट कर दिया और इस प्रकार भोज का साम्राज्य-स्वप्न टूट गया। इस चालुक्य राजा ने सम्भवतः राजेन्द्र चोल प्रथम से भी कुछ प्रदेश लिए, यद्यपि चोल अभिलेखों का वक्तव्य इसके विरुद्ध है।

सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (१०४२-१०६८ ई०)

१०४२ ई० में जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल का उत्तराधिकारी और पुत्र सोमेश्वर प्रथम गद्दी पर बैठा। उसके विरुद आहवमल्ल और त्रलोक्यमल्ल थे। उसके पिता ने चालुक्य शक्ति उसके पूर्व ही संगठित कर ली थी, अतः सोमेश्वर प्रथम को अनेक कुल के परम्परागत शत्रुओं, और परमारों, के साथ संघर्ष का बड़ा अवसर मिला। भोज के निरंतर युद्धों से उत्पन्न उसकी संकुचित परिस्थितियों से लाभ उठा कर सोमेश्वर ने मालवा पर आक्रमण किया और मांडू तथा धारा को लूटा। परमार नृपति उसका सामना न कर सकने के कारण उज्जैन की ओर भागा परन्तु चालुक्य सेनाओं ने उज्जैन पर अधिकार कर उसको भी लूटा। पश्चात्, भोज अपनी राजधानी को लौटा और उसने अपनी शक्ति वहाँ फिर प्रतिष्ठित की। परन्तु अभाग्य के बादल उसके आकाश पर घुमड़ आये और अन्हिलवाड के भीम प्रथम (लगभग १०२२-६४ ई०) तथा लक्ष्मीकर्ण कलचुरी (लगभग १०४१-७२ ई०) ने सम्मिलित संघ बना कर भोज के राज्य पर दोरुखा हमला किया। अभी संघर्ष चल ही रहा था कि भोज की मृत्यु हो गयी और शत्रुओं का संघ भी लूट के विभाजन के सम्बन्ध में झगड़कर टूट गया। इस काल जयसिंह ने, जो भोज के बाद परमार राजमुकुट का दावेदार था, अपने कुल के पुराने शत्रु सोमेश्वर प्रथम को सहायता के लिए आमंत्रित किया। सहायता उसे तत्काल मिली क्योंकि सोमेश्वर इसे भली भाँति जानता था कि यदि मध्य भारत की राजनीतिक तुला असम हुई तो निश्चय उसका खतरा चालुक्यों के ऊपर पूरा आएगा। सोमेश्वर प्रथम ने शीघ्र गुजराती और कलचुरी सेनाओं को मालवा से बाहर निकालकर जयसिंह को परमार गद्दी पर बैठा दिया। इस प्रकार उस काल की उद्वेलित राजनीतिक परिस्थिति में चालुक्यों और परमारों में मैत्री का सम्बन्ध स्थापित हुआ जिससे सोमेश्वर प्रथम को उत्तर की ओर आक्रमण करने में सुविधा हुई। परन्तु इन आक्रमणों के वृत्तान्त-कथन से पूर्व उसके

---

१. महत्त्व का विषय है कि गांगेयदेव कलचुरी का कुंतल के राजा पर विजयी होना कहा जाता है। यह कुंतल का राजा निस्सन्देह चालुक्य नृपति था।

दक्षिणी शत्रुओं के साथ सम्बन्ध पर कुछ प्रकाश डालना उचित होगा। चोलों के अभिलेखों का वक्तव्य है कि उनसे संघर्ष कर चालुक्य राजा को बहुत क्षति उठानी पड़ी। सत्य चाहे जो भी हो इतना निश्चित है कि १०५२[1] ई० के युद्ध का, जिसमें राजाधिराज प्रथम ने अपने प्राण खोये, परिणाम निश्चय चोलों के पक्ष में नहीं हुआ। 'विक्रमांकदेवचरित' का प्रख्यात रचयिता बिल्हण तो यहाँ तक कहता है कि सोमेश्वर प्रथम ने चोल शक्ति के महत्वपूर्ण केन्द्र काञ्ची तक पर आक्रमण कर दिया था। अपने युद्धों में सोमेश्वर ने अपने पराक्रमी पुत्र विक्रमादित्य (षष्ठ) से पर्याप्त सहायता पायी। जब सोमेश्वर प्रथम ने दक्षिण के झगड़ों से छुट्टी पाई तब वह गंगा के द्वाब की ओर आकृष्ट हुआ। गंगा का द्वाब प्रतीहार साम्राज्य के पतन के पश्चात् राजनैतिक लुटेरों की क्रमिक लूट से अस्तव्यस्त हो गया था। उसकी सेनायें चन्देलों तथा कच्छपघातों के प्रतिबन्धों को लाँघतीं, मध्यभारत को रौंदतीं उत्तर की ओर बढ़ीं, और यवुर फलक[2] के अभिलेख से विदित होता है कि कान्यकुब्ज का राजा सोमेश्वर प्रथम से संत्रस्त होकर "झट कन्दरस्थ हो गया"। कान्यकुब्ज का यह राजा इस डाँवाडोल परिस्थिति में शासन करने वाला संभवतः कोई राष्ट्रकूट नृपति था[3]। चालुक्यों का पूर्व की ओर निरन्तर बढ़ता हुआ आक्रमण निश्चित लक्ष्मीकर्ण कलचुरी की उदासीनता का कारण न हुआ होगा क्योंकि मध्यदेश के ऊपर अपने उत्कर्ष के दिनों में उसकी भी प्रभुता कुछ अंश तक प्रतिष्ठित थी[4]। अतः उसने इस आक्रमण का प्रतिरोध करना चाहा, परन्तु उसके सारे प्रयत्न व्यर्थ हुए और उसे पराजित होना पड़ा। सोमेश्वर प्रथम के ओजस्वी पुत्र विक्रमादित्य (षष्ठ) ने मिथिला, मगध, अंग, वंग और गौड़ को रौंद डाला। स्वयं उसके आक्रमण का अवरोध पतनोन्मुख पालवंश न कर सका। कामरूप के रत्नपाल ने निःसंदेह चालुक्य सेना को उस भाग से मार भगाया और उसे दक्षिण कोशल के मार्ग से स्वदेश लौटना पड़ा। इस प्रकार सोमेश्वर प्रथम के नेतृत्व में चालुक्य शक्ति प्रबल हो उठी और उसका प्रभाव भारत के दूरस्थ प्रदेशों पर भी पड़ा।

सोमेश्वर प्रथम ने कल्याण (निजाम की रियासत में वर्तमान कल्याणी) को अपनी नयी राजधानी बनाया और उसे ससम्पद और समृद्ध किया। १०६८ ई० में उसकी मृत्यु अद्भुत रूप से हुई। कहते हैं कि मारक ज्वर से आक्रान्त होने पर

---

१. कोप्पम् को कृष्णा और पंचगंगा नदियों के संगम पर स्थित खिदरपुर माना गया है (Ep. Ind., १२, पृ० २६६-६८)। युद्ध के वृत्तान्त के लिए देखिए, S. I. I., ३, पृ० २६, ६३, ११२ आदि। आश्चर्य की बात तो यह है कि सोमेश्वर प्रथम के समय के चालुक्य अभिलेख कोप्पम् के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं करते।

२. Ind. Ant., ८, पृ० १६—कान्यकुब्जाधिराजो भजति च तरसा कन्दरस्थानमादेरुद्दामो यत् प्रतापप्रसरभरभयोद्भूतिविभ्रान्तचित्तः।

३. History of Kanauj, पृ० २८६-६०।

४. वही, पृ० २६५।

जब वह जीवन से निराश हो गया तब मन्त्र पढ़ते हुए उसने तुंगभद्रा में प्रवेश किया और इस प्रकार अपने प्राण विसर्जित कर दिये[1]।

सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल

१०६८ ई० में सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल का ज्येष्ठतम पुत्र युवराज सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल गद्दी पर बैठा। राज्यारोहण सर्वथा शान्तिपूर्ण हुआ। उसका अनुज विक्रमादित्य जिसके सक्रिय सहकार से पिता के विजय कृत्य सम्पन्न हुए थे उस समय वेंगी तथा चोल राजाओं के विरुद्ध युद्ध कर रहा था। पिता की मृत्यु की दुःखद सूचना पाकर वह तत्काल राजधानी पहुँचा और उसने नये राजा के प्रति अपनी स्वामिभक्ति घोषित की। परन्तु, जैसा नीचे के वृत्तान्त से स्पष्ट हो जाएगा दोनों भाइयों में शीघ्र स्नेह-विच्छेद हो गया और परिणामतः सोमेश्वर द्वितीय को सिंहासन छोड़ना पड़ा। इस बात का प्रमाण नहीं कि सोमेश्वर द्वितीय ने किसी प्रकार के वीर-कृत्य किये; उनके अष्टवर्षीय शासन की एक मात्र विजय विक्रमादित्य के मित्र मालवा के जयसिंह पर हुई।

विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल (१०७६-११२६ ई०)[2]

बिल्हण के 'विक्रमांकदेवचरित' से उन परिस्थितियों पर कुछ प्रकाश पड़ता है जिनके फलस्वरूप विक्रमादित्य अथवा विक्रमांक सिंहासनारूढ़ हो सका। उससे विदित होता है कि सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल अत्याचारी और अविश्वासी था, जिसके कारण प्रजा असन्तुष्ट हो उठी और विक्रमादित्य का स्नेह भी उसने खो दिया। विक्रमादित्य तदनंतर अपने अनुयायियों तथा अनुज जयसिंह के साथ राजधानी छोड़ कर तुंगभद्रा की ओर लौट गया। उस समय बनवासी (उत्तर कनाड़ा) से होकर जाते हुए विक्रमादित्य ने अपनी युद्ध-कुशलता का परिचय दिया और जयकेशिन् नामक कोंकण राजा तथा अन्य दक्षिणी शक्तियों की विजय की। तदनंतर, उसने चोल नृपति वीर-राजेन्द्र से लोहा लिया, जिसने पराभूत होकर उसे अपनी कन्या प्रदान की। परन्तु इस संबंध से विक्रमादित्य को कुछ नयी विपत्तियों का सामना करना पड़ा क्योंकि वीर-राजेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् चोल राज्य में अनेक उपद्रव आरम्भ हो गये और उसे अपने साले की सहायता के लिए शीघ्र काञ्ची की ओर प्रस्थान करना पड़ा। परन्तु विक्रमादित्य के संबंधी को वेंगी के कुलोत्तुंग प्रथम (राजिग) ने दूर भगा दिया और विक्रमादित्य के संभाव्य आक्रमण को निष्फल करने के लिए उसने उसके भाई सोमेश्वर द्वितीय से सहायता मांगी। विक्रमादित्य ने उसकी चुनौती स्वीकार कर दोनों को एक साथ परास्त किया। सोमेश्वर द्वितीय को बंदी बना कर सिंहासन से च्युत कर दिया गया। इस प्रकार विक्रमादित्य षष्ठ ने १०७६ ई० में

१. इस प्रकार के प्राणविसर्जन को 'जलसमाधि' कहते हैं (E. H. D., पृ० १४४ नोट ३६)।

२. सर रामकृष्ण भंडारकर उसे विक्रमादित्य द्वितीय कहते हैं (E. H. D., पृ० १४८)।

कल्याण के शासन का भार हस्तगत किया। यही तिथि उस चालुक्य-विक्रम संवत् का आदिवर्ष है जिसे उसने प्रचलित किया। विक्रमादित्य षष्ठ निःसंदेह इस राजकुल का सबसे महान् व्यक्ति था। राजा होने के पश्चात् उसने अपनी शक्ति विजयों से विमुख होकर शान्ति के कार्यों में लगाई। उसने कला और विद्या को प्रोत्साहन दिया और उसकी राज-सभा में दूर-दूर के मेधावियों ने स्थान पाया। प्रख्यात कश्मीरी ग्रंथकार बिल्हण का वह संरक्षक था और इस कवि ने अपने स्वामी के वीर कृत्यों का अपने 'विक्रमांक-देवचरित' में गान किया है। हिन्दू उत्तराधिकार पर अद्भुत ग्रन्थ मिताक्षरा का प्रणेता विज्ञानेश्वर उसी राजा का समादृत सभासद था। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि विक्रमादित्य षष्ठ का प्रायः आधी सदी लम्बा शासनकाल केवल शान्ति की विजयों तक ही परिमित रहा। वस्तुतः उसे अनेक वार तलवार म्यान से बाहर करनी पड़ी। परमारों के साथ मैत्री स्थापित करने के कारण उसे अन्हिलवाड के चालुक्यों के विद्वेष का सामना करना पड़ा। दूसरा उपद्रव जो विक्रमादित्य षष्ठ के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ वह उसके अनुज जयसिंह का विद्रोह था जिसे उसने बन-वासी प्रान्त का शासक नियुक्त किया था। परन्तु जयसिंह के षड्यन्त्र सर्वथा निष्फल हो गये। इसी प्रकार उसके शासन के अन्तकाल में चोल राजा तथा होयसल विष्णु-वर्धन के जो आक्रमण हुए उनको भी विक्रमादित्य षष्ठ ने अपनी युद्ध-दक्षता द्वारा व्यर्थ कर दिया।

उत्तरकालीन नृपति

विक्रमादित्य षष्ठ के पुत्र और उत्तराधिकारी सोमेश्वर तृतीय भूलोकमल्ल ने ११२६ से ११३८ तक राज्य किया। यह वास्तव में सन्दिग्ध है कि उसने उन विजयों को सम्पन्न किया जिनका सम्बन्ध उससे किया जाता है। परन्तु यह निर्विवाद है कि उसने साहित्य को प्रोत्साहन दिया और अनेकविषयक "मानसोल्लास" नामक ग्रन्थ की स्वयं रचना की। सोमेश्वर तृतीय का पुत्र जगदेकमल्ल द्वितीय (लगभग ११३८-११५१ ई०) समर्थ व्यक्ति ज्ञात होता है। होयसलों के प्रसार का अवरोध करके जगदेकमल्ल द्वितीय ने जयवर्मन् परमार पर आक्रमण किया और उससे मालवा का एक भाग छीन लिया। इसके बाद ही अन्हिलवाड के कुमारपाल के साथ जगदेक-मल्ल द्वितीय की कुछ चोटें हुईं क्योंकि वस्तुतः गुजराती नृपति मालवा के अन्दर उसका हस्तक्षेप सहन न कर सका। उसके भ्राता नुरमडी तैल के समय पश्चिमी चालुक्य राज्य की सीमायें कलंचुरी युद्ध-मंत्री विज्जल अथवा विज्जन की महत्वा-कांक्षा और राजद्रोही क्रियाशीलता के कारण संकुचित हो गयीं। कुछ असन्तुष्ट सामन्तों की सहायता से मन्त्री ने उस राजा को दक्षिण की ओर भगा दिया और ११५७ ई० में सिंहासन पर अधिकार कर लिया। तदनन्तर पश्चिमी चालुक्य शक्ति प्रायः २५ वर्ष विलुप्त रही परन्तु ११८२ ई० में नुरमडी तैल के पुत्र वीर सोम अथवा सोमेश्वर चतुर्थ ने अपने पैतृक राज्य का एक भाग प्राप्त कर लिया और

धारवाड़ जिले के अन्निगेरी में अपनी राजधानी स्थापित की। कम से कम ११८९ ई० तक वह शान्तिपूर्वक राज्य करता रहा परन्तु उसके बाद उसके सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं है। सम्भवतः देवगिरि के यादवों और द्वारसमुद्र के होयसलों की दोरुखी मार से अपने परिमित राज्य की सीमाओं की रक्षा करते हुए उसके प्राण गए।

कलचुरी अन्तराधिपत्य

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ११५७ ई० में विज्जल अथवा विज्जन ने पश्चिमी चालुक्य शक्ति का नाश कर एक नये राजकुल का आरम्भ किया जो ११८२ ई० तक चला। विज्जल कलचुरी जाति का था और नरमुडी तैल के अधीन महामंडलेश्वर और दंडनायक रह चुका था। विज्जल ने धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ायी और ११६२ ई० तक उसने सम्राट् के विरुद तक धारण कर लिए। उसका शासन-काल बासव के कारण स्मरणीय हो गया है। बासव उसका प्रधान मन्त्री तो था ही, उस काल के धार्मिक इतिहास में विशिष्ट भाग लेने के कारण भी वह प्रसिद्ध है। उसने वीर शैवों अथवा लिंगायतों के सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की और कन्नड़ देश तथा मैसूर में उसके अनुयायियों की संख्या आज भी बड़ी है। ये लोग वेदों की अपौरुषेयता तथा सर्वमान्यता नहीं मानते और शिव के लिंग रूप तथा उसके वाहन नन्दी के परम उपासक होते हैं। उनके पुनीत ग्रन्थ अपने हैं जिनमें वासव-पुराण प्रख्यात है। वे वर्ण-व्यवस्था को नहीं मानते और परम्परागत हिन्दुत्व की सामाजिक और सैद्धान्तिक व्यवस्था से भी उनका विरोध है। बासव का सम्प्रदाय वेग से फैला और जैनों की इस कारण बड़ी क्षति हुई। विज्जल को यह पसन्द न था क्योंकि वह स्वयं सम्भवतः जैन सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट था। अतः जब दोनों के सम्बन्ध अस्निग्ध हो गये तब कहते हैं कि बासव ने किसी प्रकार अद्भुत रूप से विज्जल का अन्त कर दिया। सत्य चाहे जो भी हो, विज्जल के पुत्र सोविदेव अथवा सोम ने बासव का दमन करना चाहा और सम्भवतः इस कार्य में वह सफल भी हुआ। सोविदेव के उत्तराधिकारी नाम मात्र के राजा थे और हमें उनके विषय में प्रायः कुछ भी विदित नहीं। ११८२ ई० में सोमेश्वर चतुर्थ ने अन्तिम कलचुरी नरेश को वहाँ से उखाड़ फेंका और इस प्रकार पश्चिमी चालुक्य कुछ काल के लिए फिर एक बार प्रकाश में आ गये।

प्रकरण ४

देवगिरि के यादव नरेश[1]

यादवों का मूल और उत्कर्ष

यादव अपने को उस यदु जाति के वंशज मानते हैं जिसमें महाभारत के वीर कृष्ण हुए थे। अभाग्यवश उनका प्रारम्भिक इतिहास अन्धकार में है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जब मान्यखेट के राष्ट्रकूट और कल्याण के पश्चिमी चालुक्य दक्कन

१. सर रामकृष्ण भंडारकर : E. H. D., तृतीय सं०; प्रकरण १४-१५, पृ० १७०-२६०; Bom. Gaz., खंड १, भाग २।

के स्वामी थे तब यह राजकुल सामन्तवर्गीय था। कल्याण के चालुक्यों के पतन के पश्चात् यादवों का उत्कर्ष हुआ और कालान्तर में उन्होंने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। इस राजकुल का पहला महान् नृपति भिल्लम पंचम था जिसने कलचुरी विद्रोह तथा होयसल प्रसर नीति से विपन्न चालुक्य शक्ति की दयनीय स्थिति से लाभ उठाकर ११८७ ई० के लगभग सोमेश्वर चतुर्थ के दुर्बल हाथों से कृष्णा के उत्तरवर्ती प्रान्त छीन लिये। भिल्लम पंचम ने अपनी राजधानी देवगिरि (हैदराबाद रियासत में वर्तमान दौलताबाद) में स्थापित की और सम्राटों के विरुद धारण किए। दक्षिण की ओर अपने राज्य की सीमायें विस्तृत करने में वह सफल न हो सका क्योंकि ११९१ के लगभग लक्कुन्डी (धारवाड़ जिला) के युद्ध में वीर-बल्लाल प्रथम होयसल ने उसको परास्त कर सम्भवतः मार भी डाला। भिल्लम का उत्तराधिकारी उसका प्रथम पुत्र जैतुगी अथवा जैत्रपाल प्रथम (११९१-१२१० ई०) हुआ जिसने दारुण युद्ध में तैलंगों (त्रिकलिंगों) के राजा रुद्रदेव को मारकर काकतीय सिंहासन पर उसके भतीजे गणपति को बिठाया। इस प्रकार अपने समसामयिकों में यादवों ने धीरे-धीरे अपना प्रभाव बढ़ाया।

सिंघण

जैतुगी प्रथम का पुत्र सिंघण यादव राजकुल का प्रमुख राजा था और अपने लगभग १२१० से १२४७ ई० के लम्बे शासन में उसने बहुत से देश जीते। उसने १२१५ ई० के लगभग वीरभोज को परास्त किया और पर्नाल अथवा पन्हल के दुर्ग पर अधिकार के पश्चात् कोल्हापुर का शिलाहार प्रदेश अपने शासन में सम्मिलित कर लिया। तदनन्तर वीर बल्लाल द्वितीय होयसल के राज्य में कृष्णा के पार अपनी सीमा विस्तृत कर सिंघण ने अपने पितामह के अपमान का बदला लिया। यादवराज ने अन्य विदेशियों से भी सफल संघर्ष किया और मालवा के अर्जुनवर्मन् तथा छत्तीसगढ़ के चेदिराज जाजल्ल को परास्त किया। बघेल राजाओं के समय में उसने गुजरात पर भी कम से कम दो आक्रमण किये। सिंघण की विजय-नीति से यादव राज्य की सीमायें उसी प्रकार विस्तृत हो गयीं जिस प्रकार कभी पश्चिमी चालुक्यों की हो गयी थीं।

सिंघण की राजसभा में सारंगधर ने आश्रय लिया था, जिसका 'संगीत-रत्नाकर' तत्कालीन संगीत-साहित्य में सचमुच एक उज्ज्वल रत्न है। इस ग्रन्थ के ऊपर एक टीका प्रस्तुत है और इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि वह टीका स्वयं सिंघण ने लिखी थी।[1] सिंघण की राजसभा का दूसरा देदीप्यमान विद्वान् ज्योतिषी चांगदेव था जिसने भास्कराचार्य की 'सिद्धान्त-शिरोमणि' तथा अन्य ज्योतिष-विषयक अध्ययन के लिए पटना (खानदेश जिला) में एक मठ (कालेज) स्थापित किया[2] था।

---

१. सिंघण कृत यह टीका उसके संरक्षित किसी विद्वान् की लिखी तो न थी ?

२. E. H. D., पृ० १९४-९५।

उत्तरकालीन यादव नृपति

सिंघण के बाद उसका पौत्र कृष्ण अथवा कन्हर (लगभग १२४७-६० ई०) गद्दी पर बैठा। जान पड़ता है कि उसका भी मालवा, गुजरात तथा कोंकण के राजाओं से युद्ध हुआ। कृष्ण ब्राह्मण धर्म का परम अनुयायी था और उसके शासन काल में जल्हण ने अपनी 'सूक्ति-मुक्तावलि' (श्लोक-संग्रह) और अमलानन्द ने 'वेदांत-कल्पतरु' नाम की अपनी टीका लिखी।

कृष्ण के बाद उसका भाई महादेव (लगभग १२६०-७१ ई०) गद्दी पर बैठा और उसने, कहा जाता है, शिलाहारों से उत्तर कोंकण छीन लिया, "कर्णाट तथा लाट के दृप्त नृपतियों को हास्यास्पद किया," और काकतीय रानी रुद्राम्बा को संत्रस्त कर दिया। महादेव और रामचन्द्र अथवा रामराज (लगभग १२७१-१३०९ ई०) के शासन-काल में ब्राह्मण-मन्त्री विख्यातनामा हेमाद्रि अथवा हेमाद पन्त हुआ जो हिन्दू धर्मशास्त्रसम्बन्धी अपने ग्रन्थों के लिए प्रसिद्ध है। उसका प्रमुख ग्रन्थ 'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि' है जो चार भागों और एक परिशिष्ट में विभक्त है। कहा जाता है कि उसने दक्कन में मन्दिरों की एक विशिष्ट वास्तु-कला का भी प्रचलन किया और मोड़ी लिपि में परिवर्तन तथा उसका आविष्कार किया। यह भी विदित होता है कि रामचन्द्र उस सन्त ज्ञानेश्वर का संरक्षक था जिसने १२९७ ई० में भगवद्गीता पर एक मराठी टीका लिखी।

मुस्लिम आक्रमण

रामचन्द्र के शासन-काल में करा का शासक अलाउद्दीन खिलजी दक्षिण की ओर बढ़ा और उसने १२९४ में देवगिरि को सहसा घेर लिया। रामचन्द्र ने दुर्ग में आश्रय लिया और उसका पुत्र शंकर उसकी सहायता को बढ़ा। परन्तु सारे प्रयत्न निष्फल हुए और रामचन्द्र को नितान्त अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार उसने अलाउद्दीन को "६०० मन मोती, २ मन रत्न, १००० मन चाँदी, ४००० रेशमी टुकड़े और अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ" प्रदान की और दिल्ली को एलिचपुर तथा वार्षिक कर देना स्वीकार किया।[1] यह कर उसने नियत रूप से न भेजा और जब अलाउद्दीन ने दिल्ली के तख्त पर अधिकार कर लिया तब अपने विश्वासपात्र सेनापति मलिक काफ़ूर को १३०७ ई० में उसने देवगिरि भेजा। रामचन्द्र बन्दी करके[2] दिल्ली लाया गया, परन्तु अलाउद्दीन ने उसे मुक्त कर स्वामिभक्त बना लिया। १३०९ ई० में रामचन्द्र के मरने पर उसके उत्तराधिकारी शंकर ने भी दिल्ली को कर भेजना बन्द कर दिया। इस पर दिल्ली में दण्ड की भावना जगी और १३१२ ई० में मलिक काफ़ूर ने आकर शंकर को हराया और मार डाला। इस प्रकार यादवकुल का गौरवहीन अन्त हुआ। पश्चात्, रामचन्द्र के जामाता हरपाल ने मुसलमानों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाने का प्रयत्न किया परन्तु उसका विद्रोह

१. ब्रिग्स्, फिरिश्ता, १, पृ० ३१०।
२. इलियट, History of India, ३, पृ० ७७, २००।

दमन कर दिया गया और सुल्तान मुबारक की आज्ञा से स्वयं उसकी जीते जी खाल खींच ली गयी।

प्रकरण ५

वारंगल के काकतीय

आरम्भ

काकतीय नाम की ठीक व्युत्पत्ति अज्ञात है। कभी तो इसका सम्बन्ध काक अर्थवाले काकत शब्द से किया गया है और कभी दुर्गा के स्थानीय नाम के साथ। परन्तु ये दोनों अर्थ समीक्षा के सामने नहीं ठहर पाते। काकतीयों के पूर्वजों के संबंध में भी हमारा ज्ञान अत्यन्त अस्पष्ट है। उनकी गल्पभरी वंश-तालिका से, जिसमें राजकुल के अनेक नाम मिलते हैं, विदित होता है कि काकतीय सम्भवतः सूर्यवंशीय क्षत्रिय थे। परन्तु इसके विरुद्ध नेलोर जिले के अनेक अभिलेख उनको शूद्र कहते हैं।

उनका संक्षिप्त वृत्तान्त

काकतीय पहले पश्चात्कालीन चालुक्यों के सामन्त थे और उनके पतन के पश्चात् उन्होंने तेलिंगाने में अपनी शक्ति प्रतिष्ठित की। यह शक्ति अनेक भाग्य के फेर सहते १४२४-२५ ई० के लगभग बहमनी सुलतान अहमदशाह की विजय तक जीवित रही। काकतीय शासन का पहला केन्द्र अन्मकोंड़ (अथवा हनुमकोंड़) था। परन्तु बाद में उनकी राजधानी वारंगल (अथवा ओरुगल्लु) हो गयी। इस कुल को विख्यात करने वाला पहला राजा प्रोलराज था, जिसका एक अभिलेख चालुक्य-विक्रम संवत् ४२=१११७-१८ ई० का है। उसने पश्चिमी चालुक्यों को युद्ध में परास्त कर दीर्घ काल तक शासन किया। रुद्र (राज्यारोहण लगभग ११६० ई०) और उसके अनुज महादेव के शासन के बाद महादेव के पुत्र गणपति ११९९ ई० में काकतीय गद्दी पर बैठा। वह इस राजकुल का सर्वशक्तिमान् नृपति था और जैसा एक अभिलेख से प्रमाणित है उसने ६२ वर्ष राज्य किया। उसका चोल, कलिंग, सेउण (अर्थात् यादवराज), कर्णाट, लाट, और बलनाडु आदि राजाओं को परास्त करना कहा जाता है। गणपति सम्भवतः चोलराज की दुर्बलता और १३वीं सदी के द्वितीय चरण में दक्षिण भारत की विप्लुत राजनीतिक परिस्थिति के कारण ही इस प्रकार सफल हो सका। पुत्रहीन होने के कारण गणपति का उत्तराधिकार १२६१ ई० के लगभग उसकी कन्या रुद्राम्बा को मिला। उसने नीतिपूर्वक राज्य किया और कहते हैं कि उसने रुद्रदेव महाराज का पुरुष नाम भी धारण कर लिया। प्रायः ३० वर्ष राज्य करने के बाद रुद्राम्बा की गद्दी पर उसका पौत्र प्रतापरुद्रदेव बैठा जिसे वैद्यनाथ ने 'प्रतापरुद्रीय' नामक अलंकार-ग्रन्थ समर्पित कर अमर कर दिया है। प्रतापरुद्र काकतीय वंश का अन्तिम प्रभावशाली नरेश था और उसे मलिक काफूर की दक्षिण आक्रमण-यात्रा के समय मुसलमानों के प्रति आत्म-समर्पण

करना पड़ा। तदनन्तर काकतीयों का प्रभाव घटने लगा और अन्त में उनका राज्य दक्कन के बहमनी सुल्तानों के हाथ में चला गया। कहा जाता है कि काकतीय कुल के वंशज तब बस्तर चले गये और वहाँ उन्होंने अपना छोटा-सा राज्य स्थापित किया जो आज तक कायम है।

प्रकरण ६

शिलाहार राजकुल[1]

मूल

शिलाहार अपने को विद्याधरों के राजा जीमूतवाहन के वंशज मानते हैं। अनुश्रुतियों के अनुसार, जीमूतवाहन ने सर्प के स्थान पर अपने शरीर को गरुड़ का आहार बनाकर उसकी रक्षा की थी। इस कथा का तथ्य चाहे जो हो, शिलाहार क्षत्रिय ही जान पड़ते हैं।

इतिहास

इतिहास को शिलाहार राजकुल की तीन शाखाएँ ज्ञात हैं। उनकी मूल भूमि सम्भवतः तगर अथवा तेर थी। वे सर्वदा राष्ट्रकूटों, चालुक्यों अथवा यादवों के बारी-बारी से सामन्त बने रहे और कभी साम्राज्य का निर्माण न कर सके। प्राचीनतम शिलाहार राजकुल ने दक्षिण कोंकण में आठवीं सदी ईस्वी के अन्तिम चरण से ग्यारहवीं शती के दूसरे दशक तक राज्य किया। उसकी राजधानी पहले गोआ और पीछे संभवतः खरेपतन हुई। दूसरी शाखा का उत्तर कोंकण पर स्वत्व ९वीं सदी ईस्वी के प्रारम्भ से प्रायः साढ़े-चार सदियों तक रहा। उनका राज्य थाना और रत्नगिरि जिलों के एक भाग पर था। उनका मुख्य नगर थाना था और पुरी (पश्चिमी) एक प्रकार की दूसरी राजधानी थी। शिलाहारों की तीसरी शाखा ११वीं सदी ई० के आरम्भ में कोल्हापुर और सतारा तथा बेलगाँव के जिलों में राज्य करती थी[2]। यही शाखा एक समय दक्षिण कोंकण की अधिकारी भी हो गई। यह शाखा अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र थी और इसके एक राजा विजयार्क अथवा विजयादित्य ने चालुक्य शासन का नाश करने में विज्जल की सहायता की थी। इस शाखा का सर्वशक्तिमान् राजा भोज (लगभग ११७५-१२१० ई०) था जिसके बाद इस राज्य को यादवनरेश सिंघण ने जीत लिया।

---

१. देखिए, डा० अल्तेकर : "Silahāras of Western India", Indian Culture, खंड २, सं० ३, पृ० ३९३-४३४।

२. कोल्हापुर अथवा पन्हल उनकी राजधानी थी और वे महालक्ष्मी के पूजक थे।

प्रकरण ७

कदम्ब-कुल[1]

व्युत्पत्ति

कदम्ब मानव्य गोत्र[2] के ब्राह्मण माने जाते हैं और उनके नाम की उत्पत्ति उस कदम्ब वृक्ष से मानी जाती है जो उनके भवन के सामने खड़ा था।

इतिहास

कदम्ब कुल की शक्ति की प्रतिष्ठा की वास्तविक परिस्थितियों का हमें ज्ञान नहीं है। अनुश्रुति से जान पड़ता है कि मयूरशर्मन् नामक ब्राह्मण वीर ने पल्लव राजधानी[3] काञ्ची में किसी अपमान से क्षुब्ध होकर शस्त्र ग्रहण किया, और कर्णाटक में बनवासी को राजधानी बना कर अपना राज्य स्थापित किया। यह घटना चतुर्थ शती ईसवी के मध्य के लगभग घटी जब पल्लव समुद्रगुप्त के आक्रमण से आक्रान्त हो उठे थे। मयूरशर्मन् के उत्तराधिकारी नाम मात्र के राजा थे। उनमें ककुस्थवर्मन् प्रबल हुआ जिसने कदम्ब राज्य और प्रभाव की सीमायें काफी विस्तृत कीं। दूसरा शक्तिमान् कदम्ब राजा रविवर्मन् (छठी सदी ई० के आरम्भ में) हुआ। उसने हल्सी (बेलगांव जिला) को अपनी राजधानी बनाया और गंगों तथा पल्लवों से सफलतापूर्वक युद्ध किया। वातापी के चालुक्यों के उत्कर्ष ने कदम्बों की महत्वाकांक्षा चूर्ण कर दी। उनके उत्तरी प्रदेश पुलकेशिन् प्रथम ने छीन लिए और पुलकेशिन् द्वितीय ने उनको सर्वथा नगण्य बना दिया। कदम्ब राज्य के दक्षिणी प्रदेशों पर गंगों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। फिर भी कदम्ब राजकुल सर्वथा विलुप्त न हुआ और उसके राजा राष्ट्रकूटों के पतन के बाद १०वीं सदी ई० के अन्तिम चरण में एक बार फिर बलवान् सिद्ध हुए। इन कदम्ब शाखाओं ने[4] दक्कन और कोंकण के

---

१. देखिए, जी. एम० मोरेज : The Kadamba Kula, १९३१।

२. यद्यपि कदम्ब ब्राह्मण थे परन्तु उन्होंने जैन धर्म के प्रति असहिष्णु व्यवहार न किया और वह धर्म भी शैव सम्प्रदाय के साथ उनके शासन में फूला फला।

३. देखिए, ककुस्थवर्मन् का तलगुण्ड-लेख (Ep. Ind, ८, पृ० २४-३४)।—"वहाँ एक पल्लव अश्वारोही के साथ घोर कलह से क्षुब्ध होकर (उसने विचारा): 'खेद है कि कलिकाल में ब्राह्मण क्षत्रियों से इतना दुर्बल होने लगे।" (वही, पृ० ३२, ३४, श्लोक ११ और १२)।

४. हंगल (धारवाड़ जिला) और गोवा पश्चात्कालीन कदम्बों के मुख्य केन्द्र थे।

विविध भागों पर १३वीं सदी ई० के प्रायः अन्त तक शासन किया, परन्तु उनकी सक्रियता स्थानीय सीमाओं तक ही परिमित रही।

प्रकरण ८

तलकाड के गंग[1]

वंश

गगों का मूल अज्ञात है। कहा जाता है कि वे इक्ष्वाकुवंशीय थे, यद्यपि अन्य अनुश्रुतियाँ उनका गंगा नदी से सम्बन्ध करती हैं अथवा उन्हें महर्षि कण्व के वंशज मानती हैं।

संक्षिप्त वृत्तान्त

गंगों के राज्य के अन्तर्गत मैसूर का अधिकतर भाग शामिल था और उसे गंगवाडी कहते थे। इस राज्य की प्रतिष्ठा दिदिग (कोंगनिवर्मन्) और माधव ने चतुर्थ शती ई० में कभी की थी। आरंभ में इसकी राजधानी कुलुवल (कोलार ?) थी, परन्तु पंचम शती के मध्य हरिवर्मन् ने अपनी राजधानी मैसूर जिले में कावेरी के तट पर तलवनपुर अथवा तलकाड में स्थापित की। पूर्वकालिक गंग राजाओं में दुर्विनीत[2] प्रबल हुआ और पल्लवों से युद्ध करके उसने ख्याति अर्जित की। उसने पैशाची 'वृहत्कथा' का संस्कृत रूपान्तर किया और कुछ अन्य ग्रन्थ भी लिखे। इस कुल का दूसरा प्रबल राजा श्रीपुरुष (लगभग ७२६-७६ ई०) हुआ। उसने उदीयमान राष्ट्रकूटों से सफलतापूर्वक लोहा तो लिया ही विलार्दी के युद्ध में पल्लवों को पूर्णतः परास्त भी किया। ८ वीं और ९ वीं सदियों में गंग वेंगी के पूर्वी चालुक्यों, मालखेड के राष्ट्रकूटों तथा अन्य पड़ोसियों के आक्रमणों से आक्रान्त रहे। ध्रुव निरुपम (लगभग ७७९-९४ ई०) ने तो गंगराज शिवमार को बन्दी कर उसके राज्य पर अधिकार तक कर लिया। गोविन्द तृतीय के राज्यारोहण के बाद जो कलह हुआ उससे लाभ उठाकर शिवमार ने स्वतन्त्र हो जाना चाहा परन्तु उसका दमन कर दिया गया और गंगवाड़ी पर राष्ट्रकूट शासन बना रहा। राजमल्ल (राज्यारोहण लगभग ८१८ ई०) ने कुल की विलुप्त शक्ति को कुछ फिर प्रतिष्ठा दी, परन्तु गंग राज्य के प्रति राष्ट्रकूटों का भय बना ही रहा। पश्चात्, गंग चोलों के साथ युद्ध में फँस गये और १००४ ई० में तलकाड पर उनका अधिकार हो गया और गंग शासन

---

१. देखिए, कृष्णराव : The Gangas of Talkad, (मद्रास, १९३६)।

२. संभवतः छठी सदी ई० के उत्तरार्ध में हुआ। डुब्रुए के मत से दुर्विनीत की तिथि लगभग ६०५-५० ई० है (देखिए, पीछे यथास्थान)।

का अंत भी हो गया। गंग राजकुल फिर भी सर्वथा विनष्ट न हुआ क्योंकि इतिहास में होयसलो तथा चोलों के सामन्तों के रूप में उनका अस्तित्व मिलता है।

गंग राजाओं में से अनेक जैन धर्म के प्रति अनुरक्त थे। उदाहरणतः अविनीत तो विजयकीर्ति के अनुशासन में बढ़ा और उसका पुत्र दुर्विनीत प्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्यपाद का संरक्षक था। इसी प्रकार राजमल्ल चतुर्थ (लगभग ९७७-८५ ई०) के शासन काल में उसके मन्त्री और सेनापति जैन चामुण्डराय ने ९८३ ई० में श्रावणवेलगोला में गोमतेश्वर की विख्यात मूर्ति स्थापित की।

प्रकरण ९

द्वारसमुद्र के होयसल

नाम और पूर्वज

होयसल (पोयसल) अभिलेखों में अपने को "यादवकुलतिलक" अथवा "चंद्रवंशीय क्षत्रिय" लिखते हैं। सत्य चाहे जो हो, इस राजकुल का ऐतिहासिक प्रतिष्ठाता साल था जिसने किसी ऋषि के कहने से व्याघ्र को लोहदंड से मार कर ख्याति पायी। कहते हैं कि इस घटना (पोय साल, अर्थात् मारना, साल) के परिणाम स्वरूप इस राजकुल को पोयसल अथवा होयसल संज्ञा मिली।

ऐतिहासिक वृत्तान्त

११ वीं सदी ई० के आरम्भ में होयसलों की शक्ति बढ़ी। इस कुल के प्रारम्भिक राजाओं ने मैसूर के एक छोटे भाग पर शासन किया और वे चोलों अथवा कल्याण के उत्तरकालीन चालुक्यों को अपना अधिपति मानते रहे। धीरे-धीरे विनयादित्य (राज्यारोहण लगभग १०४५ ई०) और उसके पुत्र इरेयंग ने अपनी शक्ति बढ़ायी। इरेयंग ने तो अपने चालुक्य अधिपति की उसके युद्धों में सहायता भी की। परन्तु बिट्टिग विष्णुवर्धन (लगभग १११०-४० ई०) के समय में ही होयसल दक्षिण भारत की राजनीति में प्रभावशाली शक्ति बन सके। इस नृपति ने अपनी राजधानी वेलापुर (हसन जिले में वर्तमान वेलूर) से हटा कर द्वारसमुद्र (हलेविद) में स्थापित की और अपने को चालुक्य अधिपति विक्रमादित्य षष्ठ से प्रायः स्वतन्त्र कर लिया, यद्यपि उसने सम्राटों के विरुद धारण न किये। कहा जाता है कि उसने चोलों, मदुरा के पांड्यों, मालाबार के निवासियों, दक्षिण कनाडा के तुलुवों, तथा गोआ के कदम्बों को परास्त किया और कृष्णा तथा काञ्ची तक धावे किये। इस प्रकार विष्णुवर्धन ने एक विस्तृत भूभाग पर, जिसमें प्रायः सारा मैसूर और निकटवर्ती प्रदेश शामिल थे, अपना प्रभुत्व स्थापित किया। पहले सभवतः वह जैन था परन्तु आचार्य रामानुज के सम्पर्क में आने के पश्चात् वह वैष्णव हो गया।

इस राजकुल का दूसरा प्रबल नृपति विष्णुवर्धन का पौत्र वीर-बल्लाल प्रथम (लगभग ११७२-१२१५ ई०) था, जिसने पहले-पहल महाराजाधिराज का विरुद धारण किया। उसने सोमेश्वर चतुर्थ चालुक्य के सेनापति ब्रह्म को परास्त किया और लक्कुडी (धारवाड़ जिला) के युद्ध में भिल्लम पंचम यादव की सेनाओं को ११६१ ई० में पराजित किया। वीर-बल्लाल का पुत्र और उत्तराधिकारी वीर-बल्लाल द्वितीय अथवा नरसिंह द्वितीय को यादव सिंघण द्वारा परास्त होना पड़ा, और यादव-सीमा कृष्णा के पार पहुँच गयी। इसके बाद के होयसल राजाओं के विषय में इसके सिवाय विशेष ज्ञात नहीं कि वे चोलों और पांड्यों के विरुद्ध युद्ध करते रहे। अन्तिम होयसल राजा वीर-बल्लाल तृतीय था। १३१० ई० के लगभग उसके राज्य को मलिक काफ़ूर ने देवगिरि लूटने के बाद रौंद डाला और होयसल राजधानी पर भी वह जा टूटा। राजधानी लूट ली गयी और राजा बन्दी कर लिया गया। दिल्ली में कुछ काल तक बन्दी रहकर जब वीर-बल्लाल तृतीय छूटा तब उसने मुसलमानों के विरुद्ध संघ संगठित करने का उद्योग किया। परन्तु परिणाम कुछ न हो सका और १४ वीं सदी के मध्य के लगभग होयसल राजकुल का अन्त हो गया। होयसल विशाल मन्दिरों के निर्माता थे और उन्होंने अनेक इमारतें बनवाईं जो आज भी हलेबिद में और अन्य स्थानों में खड़ी हैं और उनकी कला-प्रियता तथा धर्मानुरक्ति प्रकट करती हैं।

अध्याय १८

सुदूर दक्षिण के राज्य

प्रकरण १

प्रारम्भिक वृत्तान्त

सुदूर दक्षिण के भारत के पूर्वकालिक इतिहास के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अल्प है। जिस दक्षिणी भूखंड का इतिवृत्त हमें जानना है वह तुगभद्रा और कृष्णा नदियों के दक्षिण का है। इसकी आबादी प्राग्-द्रविड़ और द्रविड़ जातियों की है। इनमें से पहले के वंशज मिनवार और विल्लवार तथा अन्य जातियाँ है जो देश के प्राचीनतम निवासी हैं। फिर भी, द्रविड़ों को भी कुछ लोग भारत में बाहर से आया हुआ मानते हैं[1]। उन्होंने एक ऊँची संस्कृति का विकास किया और उनकी मुख्य शाखा, तामिल, दक्षिण भारत में इतनी विशिष्ट हो गयी कि उसने उसके एक बड़े भाग को प्राचीन काल से अपना ही नाम तामिलकम्[2] दिया। तदनन्तर आर्यों का आगमन हुआ और उनकी इस दक्षिणाभिमुख संक्रमणसम्बन्धी अनुश्रुतियों का सर्वथा अभाव नहीं। उनके अनुसार वैदिक ऋषि अगस्त्य ने दक्कन के अतिरिक्त सुदूर के पोडियुर पर्वत (तिन्नेवेली जिला) पर पहला ब्राह्मण-आश्रम स्थापित किया। आर्यों के आगमन से निस्संदेह दक्षिण के समाज और राजनीति में एक नया स्रोत आ मिला। परन्तु अपने धर्म और कुछ सीमा तक अपनी संस्थाओं को वहाँ प्रचारित करने के सिवाय द्रविड़ समाज, भाषाओं, और रीतियों के ढाँचे को विशेष प्रकार बदल न सके।

दक्षिण भारत का पारम्परिक विभाजन तीन राज्यों में हुआ करता है : (१) मालाबार तट का चेर अथवा केरल जिस में तब कोचीन और ट्रावनकोर के राज्य भी सम्मिलित थे ; (२) पांड्य, जिसमें मदुरा और तिन्नेवली में वर्तमान जिले भी शामिल थे (३) और चोल, जो पांड्य से उत्तर-पूर्वी तट की पिन्नार नदी तक की भूमि पर था और जिसे चोडमंडलम् कहते थे। (इसी शब्द से अंग्रेजी का कारोमंडल शब्द निकला है)। इन राज्यों की सीमायें उनकी शक्ति के उत्कर्ष और अपकर्ष के साथ उनके पारस्परिक संघर्षों के परिणामस्वरूप बढ़ती-घटती रहीं। इनके अतिरिक्त वर्णनातीत अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जो अपने प्रबल पड़ोसियों के भय से

---

१. E. H. I., चतुर्थ सं० पृ० ४५७।

२. द्वितीय शती ई० के मध्य के लगभग लिखते हुए तालेमी ने तामिलकं को दमिरिके अथवा लिमिरिके लिखा है।

शाश्वत संत्रस्त रहते थे। यह महत्व की बात है कि दक्षिण के प्रबल राज्यों में से किसी का वैदिक साहित्य में उल्लेख नहीं मिलता और न उनका ज्ञान संस्कृत के वैयाकरण पाणिनि[1] को ही है। परंतु अष्टाध्यायी का विख्यात भाष्यकार कात्यायन, जिसे सर रामकृष्ण भंडारकर "ई० पू० चतुर्थ शती के पूर्वार्ध में"[2] रखते हैं, पांड्यों और चोलों दोनों से अभिज्ञ था। अशोक के द्वितीय शिलालेख में भी वे दोनों केरल-पुत्रों (अर्थात् केरलों) के साथ-साथ उल्लिखित हैं। चंद्रगुप्त मौर्य की राजसभा के सेल्युसिड राजदूत मेगस्थनीज ने भी पांड्य राज्य, उसकी साम्पत्तिक समृद्धि तथा उसकी सैन्य शक्ति का वर्णन किया है। और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी दक्षिण के सम्बन्ध में सामग्री प्रस्तुत है। इनके अतिरिक्त रामायण पांड्य राजधानी मदुरा के गौरव का उल्लेख करता है। पतञ्जलि (लगभग १५० ई० पू०) को कांची (कांजीवरम्) और केरल (मालाबार) का ज्ञान है। 'पेरिप्लस' (लगभग ८१ ई०) के लेखक और भूगोलकार तालेमी (लगभग १४० ई०) दोनों ने दक्षिण के बन्दरगाह और बाजारों के संबंध में काफी विस्तृत वर्णन किया है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ये तीनों राज्य काफी प्राचीन हैं।

दक्षिण भारत की समृद्धि अपने गरम मसालों, मिर्च, अदरख, मोती, रत्नादि से थी जिनकी बाहरी दुनिया के बाजारों में बड़ी मांग थी। इन्हीं वस्तुओं के कारण अरब, चैलडिया (खल्द), और मिस्र तथा सुदूर पूर्व और मलय द्वीपों के साथ दक्षिण भारत का महान् व्यापार संबंध स्थापित हो सका। 'बाइबिल' से विदित होता है कि तायर के बादशाह हीरम द्वारा भेजे हुए "तारशीश के जहाज" उसके शक्तिमान् मित्र सालोमन के मंदिर के निर्माण के लिए ओफिर (बम्बई प्रांत में सोपारा) से "गजदंत, कपि और मयूर" तथा "बहुतेरे चंदन के वृक्ष और कीमती पत्थर" लाये[3]। इनमें से कुछ वस्तुएं दक्षिण से निश्चय लायी गयी होंगी क्योंकि मोर के लिये हिब्रू 'तुकि-इम' तामिल 'तोकई' से सम्बन्धित जान पड़ता है। प्राचीन मिश्र भी दक्षिण भारत से मलमल, सिन्नमन् (?) आदि खरीदा करता था। और इस व्यापार सम्बन्ध का एक अद्भुत प्रमाण 'ओक्सीर्ह्युन्कस पपिरी' नामक एक ग्रीक प्रहसन में सुरक्षित है। इसमें कन्नड़ तट पर कहीं एक ग्रीक महिला के पोतविप्लव का वर्णन है। इसी प्रकार ग्रीक लोग भी दक्षिण भारत से अदरख, मिर्च और चावल आदि मँगाते थे क्योंकि तत्सम्बन्धी ग्रीक शब्द तामिल शब्दों के आधार पर बने। ४५ ई० के लगभग एलेग्जेन्ड्रिया (सिकन्दरिया) के सौदागर हिप्पालस ने जब मानसूनों की प्रगति का पता लगाया तब मांझियों को अरब सागर को शीघ्रता से पार करना आसान हो

१. सर रामकृष्ण भण्डारकर पाणिनि को लगभग ७०० ई० पू० में रखते हैं (E.H.D. तृतीय संस्करण, पृ० १६)।

२. वही, पृ० १५।

३. देखिए, रालिन्सन् : India (१९३७), पृ० १७८—७९। हाथी दांत के लिए मिलाइए संस्कृत इभ-दन्त, हिब्रू-शेन हब्बिन; बन्दर के लिए, संस्कृत कपि, हिब्रू-कोफ।

गया। पहले उन्हें तट के समीप से ही अपने जहाज ले जाने पड़ते थे और यात्रा लम्बी हो जाया करती थी। इससे दक्षिण भारत और रोमन साम्राज्य के बीच व्यापार को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। प्लिनी सूचित करता है कि १० लाख के ऊपर रोमन स्वर्ण सिक्के, मसालों, मिर्च, मोती, पन्ने, कच्छपत्वक्, सुगंधित-द्रव्य, रेशम और अन्य पूर्वात्य विलास-वस्तुओं के बदले प्रतिवर्ष भारत को जाते थे। यह अंदाज किसी प्रकार अतिरंजित नहीं माना जा सकता, क्योंकि ईसवी की पहली दो सदियों के असंख्य सिक्के दक्षिण भारत के अनेक स्थानों में प्राप्त हुए हैं। अपने व्यापार को वढ़ाने के लिए रोमन सौदागरों ने कावेरीपट्टनम् (पुहार) और मुजिरिस (क्रंगनोर) आदि बंदरगाहों में अपने आवास केंद्र बना लिए थे और जहाँ उन्होंने आगस्टस् का एक मंदिर भी खड़ा कर लिया था[1]। तामिल लेखकों ने भी लिखा है कि 'यवन' पोत मद्य, भांड और सुवर्ण भर-भर कर उनके बंदरगाहों को आते और दक्षिण भारत में उत्पन्न बहुमूल्य वस्तुओं के साथ उनका विनिमय करते थे। इसका भी उल्लेख मिलता है कि द्रविड़ राजा "लम्बे कोट और कवच पहने सबल यवनों, मूक म्लेच्छों[2]" को अपने शरीर-रक्षक नियुक्त करते थे। निस्संदेह वे इन विदेशियों की स्फूर्ति, शक्ति और भक्ति से प्रभावित थे। इस प्रकार दक्षिण भारत प्राचीन काल में ही वाह्य जगत् के सम्पर्क में आया और उसके निवासी अपने व्यापार के फल-स्वरूप शक्तिमान् और समृद्ध हुए।

प्रकरण २

काञ्ची के पल्लव[3]

पल्लव कौन थे ?

पल्लवों का मूल प्राचीन भारतीय इतिहास की अत्यंत विवादग्रस्त समस्याओं में से एक है[4]। दक्षिण भारत की परम्परागत तीन शक्तियों—चेर, पांड्य, और चोड़—में उनकी गणना नहीं होती। परिणामतः कुछ विद्वानों ने पल्लवों को विदेशी

---

१. E. H. I., चतुर्थ, सं०, पृ०, ४६२, ४६३, नोट १। तामिलकम् के अन्य व्यापारी नगर कोर्कई, तोंडी, बकरई, कायल आदि थे।

२. उनको मूक इसलिए कहा गया है कि उनकी भाषा अबूझ होने के कारण उनको चेष्टाओं से अपने भाव व्यक्त करने पड़ते थे।

३. गोपालन् : History of the Pallavas of Kanchi, मद्रास. १९२८; जूवो डुब्रुए : Ancient History of the Deccan, (१९२१); The Pallavas; रेवरंड हेराज : The Pallava Kings; मीनाक्षी : Administration and Social Life under the Pallavas (मद्रास, १९३८)।

४. गोपालन् : History of the Pallavas of Kanchi, पृ० १५-२७।

और उत्तर पश्चिमी भारत के पार्थियनों अथवा पह्लवों की शाखा माना है। परन्तु नामों के इस ऊपरी साम्य के अतिरिक्त दक्षिण भारत में पह्लव संक्रमण का कोई प्रमाण नहीं मिलता। हाँ, दक्कन में वे शायद प्रविष्ट हो सके थे। एक अन्य सिद्धांत यह भी है कि पल्लव देश के आदि-निवासी थे, और कुरुम्बों, कल्लरों, मारवारों, तथा अन्य हिंस्र जातियो से उनका संबंध है। इनको सम्मिलित कर और इनकी शक्ति का उपयोग कर पल्लव शक्तिमान बन गए। परन्तु श्रीयुत रसनयगम्[1] का मत है कि पल्लव चोड़-नाग कुल के थे और सुदूर दक्षिण तथा सिंहल के निवासी थे। कहा जाता है कि किल्लिवलवन् चोल और मणिपल्लवम् (सिंहल तट के समीप एक द्वीप) के राजा वलैवणन् की कन्या नाग राजकुमारी को पिलिवलय के योग से इलम-तिरैयन नामक एक पुत्र हुआ जिसे उसके पिता ने तोडमंडलम् का राजा बनाया। इस प्रकार जो राजकुल चला उसका नाम माता के जन्मस्थान के अनुकूल पड़ा। डा० कृष्ण-स्वामी आयंगर[2] का मत है कि संगम साहित्य में पल्लवों को तोंडैयर कहा गया है और उनको उन नाग राजाओं का वंशज माना गया है जो सातवाहन सम्राटों के सामंत थे। इसके विरुद्ध डा० काशीप्रसाद जायसवाल[3] का मत है कि पल्लव "न तो विदेशी थे न द्रविड़ वरन् उत्तर के शुद्ध अभिजातकुलीय ब्राह्मण थे जिन्होंने सैनिक वृत्ति अपना ली थी" और जो वाकाटकों की एक शाखा थे। इसमें संदेह नहीं कि पल्लवों के उत्तरी संबंध की बात कुछ सीमा तक सही है क्योंकि उनके प्राचीन अभिलेख प्राकृत में हैं और वे संस्कृत विद्या तथा संस्कृति के भी संरक्षक थे। परंतु द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा से उनको सम्बद्ध करने वाली अनुश्रुतियाँ संभवतः सत्य पर अवलम्बित नहीं हैं। तलगुंड अभिलेख में कदम्ब मयूरशर्मन् काञ्ची के ऊपर "पल्लव क्षत्रियों" के प्रभाव को धिक्कारता है जिससे स्पष्ट है कि पल्लव क्षत्रिय थे[4]।

पल्लव शक्ति का आरम्भ

पल्लव इतिहास के प्राचीनतम आधार प्राकृत[5] के तीन ताम्रपत्र-लेख हैं जिनको लिपि-विज्ञान के आधार पर "ई० तृतीय और चतुर्थ शताब्दियों" का माना गया

१. Ind. Ant., खंड ५२ (अप्रैल, १९२३), पृ० ७७-८२।

२. Jour. Ind. Hist., खंड २, भाग १, (नवम्बर १९२२), पृ० २०-६६ (The Origin And Early History of the Pallavas of Kanchi)।

३. J. B. O. R. S., मार्च-जून १९३३, पृ० १८०-८३।

४. Ep. Ind., ८, पृ०, ३२, ३४, श्लोक ११ पंक्ति ४—तत्र पल्लवाश्वसंस्थेन कलहेन तीव्रेण रोषितः कलियुगेऽस्मिन्नहो बत क्षत्रात् परिपेलवा विप्रता यतः। देखिये मीनाक्षी, Administration And Social life under the Pallavas, पृ० १३।

५. (१) मयिडवोलु (गुन्टूर जिला) पत्रलेख; (२) हीरहड़गल्ली पत्रलेख और (३) गुन्टूर जिले से प्राप्त रानी चारुदेवी का लेख।

है[1]। इनमें बप्पदेव, शिवस्कन्ववर्मन् बुद्धि (आँकुर) और वीरवर्मन् नामक राजाओं का उल्लेख हुआ है। बप्पदेव पल्लव शक्ति का प्रतिष्ठाता रहा हो या नहीं परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसका अधिकार तेलगू आन्ध्रपथ और तामिल तोंडमंडलम् के ऊपर था। इन स्थानों के शक्ति-केन्द्र क्रमश: धान्यकट (धरिणीकोट, अमरावती के समीप) और काञ्ची (वर्तमान काञ्जीवरम्) थे। उसके पुत्र शिवस्कन्दवर्मन् ने, जिसका विरुद धर्म महाराज था, इस राज्य का विस्तार सम्भवत: दक्षिण की ओर किया, क्योंकि बिना विजयों के अश्वमेध, वाजपेय और अग्निष्टोम यज्ञों के उसके अनुष्ठान सार्थक न होते। हीरहडगल्ली (विलारी जिला) के ग्रामदान लेख से प्रमाणित है कि दक्षिण दक्कन और विशेषकर साताहनी-रट्ट उसका स्वत्व मानता था। सम्भवत: उसे विजय-स्कन्धवर्मन् भी कहते थे परन्तु इसमें कुछ विद्वानों ने सन्देह किया है। पल्लवों के प्राचीन इतिवृत्त में विष्णुगोप का व्यक्तित्व भी कुछ ऊँचाई का है। प्रयाग स्तम्भ लेख में उसे कांची का राजा कहा गया है और इस प्रकार वह समुद्रगुप्त का समकालीन ठहरता है। चतुर्थ शती ई० के दूसरे चरण के लगभग समुद्रगुप्त ने जब दक्षिणापथ पर आक्रमण किया था तब विष्णुगोप काञ्ची में राज्य कर रहा था। अभाग्यवश पल्लव वंश की सूची में उसका स्थान अथवा प्राकृत अभिलेखों के राजाओं से उसका सम्बन्ध निश्चित नहीं। परन्तु यदि हम यह मानें कि वे उसके शीघ्र पश्चात्गामी (उत्तराधिकारी) थे तो पल्लव उत्कर्ष का आरम्भ तृतीय शती ई० में सातवाहन साम्राज्य के पतन के आसपास रखना असंगत न होगा।

संस्कृत अभिलेखों के पल्लव

संस्कृत में लिखे ६ ताम्रपत्रों में कई पल्लव राजाओं का उल्लेख है, जिनमें से कुछ तो केवल युवमहाराज हैं और एक दर्जन से अधिक राजा हैं जिन्होंने चतुर्थ शती ई० के मध्य से षष्ठ शती ई० के अंतिम चरण तक राज्य किया था। इन अभिलेखों में दाता के शासन-वर्ष मात्र का उल्लेख है, संवत् का नहीं। परन्तु लिपि-विज्ञान के आधार पर ५वीं अथवा ६वीं सदी में उनको उचित ही रखा गया है। इन अभिलेखों का उद्देश्य पुनीत ब्राह्मणों और मंदिरों को भूमि-दान देना है परन्तु साथ ही वे तात्कालिक घटनाओं पर भी प्रकाश डालते हैं। यह स्पष्ट नहीं कि इन प्राकृत और संस्कृत अभिलेखों के राजा परस्परसम्बन्धी थे अथवा विभिन्न शाखाओं के थे, और उनका तिथिक्रम अथवा पारस्परिक और उत्तराधिकार क्रम भी "सर्वथा निश्चित नहीं"। उनके राज्य की सीमाओं अथवा कुल के प्रतिष्ठाता के सम्बन्ध में भी हमें निश्चित सूचना नहीं है। हाँ, इतना अवश्य ज्ञात है कि वीरकुर्च अथवा वीर-कुर्चवर्मन् उनमें से पहला था जो एक नाग राजकुमारी से अपने विवाह के पश्चात्

१. History of the Pallavas of Kanchi, पृ० ३२।

विख्यात हुआ। एक विशिष्ट बात संस्कृत के इन अभिलेखों के सम्बन्ध में यह है कि वे विजय-स्कन्धावारों से घोषित किए गए थे। परिणामतः यह तर्क किया गया है कि काञ्ची करिकाल चोल के आक्रमण के समय सम्भवतः पल्लवों के हाथ से निकल गयी थी और उन्हें नेलोर जिले में शरण लेनी पड़ी थी[1]। वेलूरपालयम पत्रलेख[2] से यहाँ तक निष्कर्ष निकाला गया है कि काञ्ची पर यह अधिकार राजा कुमार-विष्णु के समय हुआ था। परन्तु इस चोल अन्तराधिपत्यों का सिद्धांत सर्वथा ग्राह्य नहीं, क्योंकि तिथिपरक कठिनाइयों के अतिरिक्त पल्लवों के अभिलेख काञ्ची पर इस बाह्य अधिकार का कोई संकेत नहीं करते।

महान् पल्लव राजा

सिंहविष्णु

६ठी शती ई० के अन्तिम चरण में पल्लव इतिहास के चरम उत्कर्ष का युग प्रारम्भ होता है और सौभाग्यवश इस काल के सम्बन्ध में सामग्री भी पर्याप्त है। तब एक नया पल्लव राजकुल सिंह-विष्णु द्वारा प्रतिष्ठित हुआ। इस राजा को सिंहविष्णु पोत्तरायन और अवनिसिंह कहते हैं। उसने अपने राज्य की सीमा चोलों के अधि-कार के भीतर कावेरी तक विस्तृत कर ली और पांड्यों, कलभ्रों तथा मालवों (मलनाडु के निवासी ?) को अपने दक्षिणी आक्रमण के समय परास्त किया। सिंहविष्णु संभवतः विष्णु का उपासक था।

महेन्द्रवर्मन् प्रथम

सिंहविष्णु के बाद ७वीं सदी ई० के आरम्भ में उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् प्रथम अथवा महेन्द्र-विक्रम पल्लव गद्दी पर बैठा। उसके राज्यारोहण के कुछ ही वर्ष बाद दक्षिण के प्रभुत्व के लिए पल्लवों और चालुक्यों में दारुण और दीर्घकालिक संघर्ष छिड़ गया। ऐहोल अभिलेख[3] में पुलकेशिन् का वक्तव्य है कि उसने "उसकी शक्ति के उत्कर्ष के विरोधी पल्लवनाथ को" परास्त कर दिया, "अपनी सेनाओं द्वारा उठायी गई धूल से ढके काञ्चीपुर के प्राचीरों के पीछे अपना विक्रम छिपाने को" बाध्य किया। पुलकेशिन् द्वितीय ने अपने शत्रु से वेंगी का प्रांत छीन लिया और वहाँ का शासक अपने अनुज कुब्ज-विष्णुवर्धन् विषमसिद्धि को बनाया। जैसा अन्यत्र बताया जा चुका है, इस अनुज के उत्तराधिकारी वेंगी के पूर्वी चालुक्य कहलाते हैं जो कालांतर में वातापी (बादामी) के सम्राट् से स्वतंत्र हो गये थे। कसक्कुडी पत्रलेखों[4] की कहानी और ही है। उनमें लिखा है कि महेन्द्रवर्मन् प्रथम पुल्ललूर,

---

१. वेंकय्या, A. S. R., १९०६-१९०७, पृ० २२४।

२. S. I. I., २, पृ० ५०३, और आगे।

३. Ep. Ind., ६, पृ० ६, ११, श्लोक २९—आक्रान्तात्मबलोन्नतिं बलरजः सञ्छन्न-काञ्चीपुरप्राकारान्तरितप्रतापमकरोद्यः पल्लवानां पतिम्।

४. S. I. I., खंड २, भाग ३, पृ० ३४३।

(चिंगलुपट जिले में वर्त्तमान पल्लूर) के युद्ध में विजयी हुआ। यद्यपि उनमें शत्रु का नामोल्लेख नहीं है तथापि यह निष्कर्ष निकाला जा सका है कि संभवत: जब इसके चालुक्य शत्रु ने काञ्ची की ओर प्रस्थान किया तब उसने उसे विफलमनोरथ कर दिया।

महेन्द्रवर्मन् पहले जैन मतावलंबी था और अन्य सम्प्रदायों के प्रति असहिष्णु था। परन्तु अपने शासन-काल के मध्य के लगभग अथवा कुछ और पहले संत अप्पर के प्रभाव से जैन मत को छोड़कर वह कट्टर शैव हो गया। उसके शैव हो जाने पर जैनों का ह्रास होने लगा और शैव सम्प्रदाय पुनरुज्जीवित हो उठा। संत अप्पर तथा तिरुज्ञान-सम्बंदर के सक्रिय प्रचार से शैव सम्प्रदाय उस भूभाग में खूब फैला। महेन्द्रवर्मन् प्रथम अन्य ब्राह्मण सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णु प्रतीत होता है। कहा जाता है कि उसने महेन्द्रवाडी (उत्तर अर्काट जिला) में अपने नाम की झील के तट पर विष्णु का एक दरी मंदिर बनवाया[1]। मंडगप्पत्तु अभिलेखों[2] से विदित होता है कि महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने ब्रह्मा, ईश्वर, और विष्णु के लिए भी एक मंदिर बिना ईंट, चूना, लोहे और लकड़ी की सामग्री के बनवाया। इस प्रकार महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने दक्षिण भारत में दरी-मंदिर बनवाने की प्रथा प्रचलित की। वास्तव में उसके अनेक विरुदों में से चेत्तकारि अथवा चैत्य-कारि अर्थात् चैत्यों अथवा मंदिरों का निर्माता है।[3] इन मंदिरों की विशेषता उनके त्रिमुखी स्तम्भों में थी। ये दरी मंदिर दलवनुर (दक्षिण अर्काट जिला), पल्लवरम्, सिय्यमंगलम्, वल्लम् (चिंगलिपुत जिला) आदि स्थानों में मिले हैं।

महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने चित्र, नृत्य, तथा गायन कलाओं को भी प्रोत्साहित किया। और पुदुकोट्टा रियासत के कुडुमियमलै का संगीत सम्बन्धी अभिलेख उसी का खुदवाया हुआ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त उसे "मत्तविलास-प्रहसन' का रचयिता भी मानते हैं। प्रहसन में कापालिकों, पाशुपतों, शाक्य भिक्षुओं और अन्य सम्प्रदायों के धार्मिक जीवन पर व्यंगपूर्ण चित्रण है।

नरसिंहवमन् प्रथम

महेन्द्रवर्मन् प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंहवर्मन् प्रथम ७वीं सदी ई० के द्वितीय चरण के आरम्भ में गद्दी पर बैठा वह पल्लव कुल के प्रबल राजाओं में से है। कुरम् पत्रलेखों[4] के अनुसार उसने काञ्ची की ओर बढ़ते हुए पुलकेशिन् द्वितीय चालुक्य के आक्रमण को व्यर्थ कर दिया। अपनी इस विजय से सन्तुष्ट न होकर नरसिंहवर्मन् प्रथम ने सिरुतोंड उपनाम परञ्जोति के सेनापतित्व में एक सबल सेना

---

१. Ep. Ind., ४, पृ० १५२-५३।

२. वही, १७, पृ० १४-१७।

३. History of the Pallavas of Kanchi, पृ० ६०।

४. S. I. I., १, पृ० ५२।

वातापी (बादामी) भेजी। इस सेना ने ६४२ ई० में वातापी पर आक्रमण किया और पुलकेशिन् द्वितीय संभवत: वीरतापूर्वक अपनी राजधानी की रक्षा करता हुआ मारा गया। इसके पश्चात् १३ वर्ष तक चालुक्य सत्ता का लोप रहा और नरसिंह वर्मन् प्रथम ने इस विजय के स्मारक स्वरूप वातापीकोंड का विरुद धारण किया। उसका दूसरा विरुद महामल्ल वातापी से प्राप्त ७वीं सदी ई० की लिपि में एक खंडित अभिलेख में उल्लिखित है[1]। तदनन्तर सिंहल के राज-सिंहासन के दावेदार मानवम्म की सहायता में उसने दो बार सिंहल की विजय के लिए सेना भेजी। मानवम्म कुछ काल से नरसिंहवर्मन् प्रथम की राजसभा में शरण लिए हुए था और उसने उसे अभिमत कार्यों से प्रसन्न किया था। इनमें से पहले आक्रमण का कोई दीर्घकालिक परिणाम न हुआ और महाबलिपुरम् के पत्तन से पल्लव पोत फिर सिंहल की ओर चले। इस बार के आक्रमण का जनता पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि इसकी याद श्री रामचन्द्र की लंका-विजय की भाँति बहुत दिनों तक बनी रही और मानवम्म की शक्ति वहाँ प्रतिष्ठित हो गयी। नरसिंहवर्मन् प्रथम ने युद्धों में ही ख्याति प्राप्त नहीं की वरन् निर्माण के क्षेत्र में भी वह सक्रिय रहा। त्रिचनापल्ली जिले और पुद्दुकोट्टा के अनेक दरी-मन्दिर उसके बनवाये कहे जाते हैं। उनका साधारण नकशा प्राय: वही है जो महेन्द्रवर्मन् प्रथम के मंदिरों के नकशों का है। केवल उनका ऊपरी सामान अधिक अलंकृत है और उनके स्तंभ भी अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर है। नरसिंहवर्मन् प्रथम महामल्ल ने अपने नाम के अनुकूल महाबलिपुरम् अथवा महामल्लपुरम् नामक नगर बसाया और उसे धर्मराज रथ के-से मन्दिरों से मंडित किया। धर्मराज रथ सप्तमंडपीय मन्दिरों में से एक माना जाता है।

नरसिंहवर्मन् प्रथम के शासन काल में प्रसिद्ध चीनी यात्री युआन-च्वांग ६४२ ई० के लगभग कांञ्ची गया और वहाँ कुछ काल ठहरा। उसके अनुसार देश, जिसकी राजधानी किन-चु-पु-लो (काञ्चीपुर) थी, त-लो-पी-च (द्रविड़) कहलाता था। यह परिधि में ६००० ली था। यात्री लिखता है कि "भूमि उर्वर है, नियम से जोती जाती है और बहुत अन्न उत्पन्न करती है। वहाँ फूल और फल भी अनेक प्रकार के होते हैं। बहुमूल्य रत्न और अन्य वस्तुएँ वहाँ उत्पन्न होती हैं। जलवायु उष्ण है और प्रजा साहसी है। लोग सत्यप्रिय और ईमानदार हैं और विद्या का बड़ा आदर करते हैं; भाषा और लिपि में मध्यदेश की भाषा और लिपि से विशेष अन्तर नहीं है। १०० के लगभग वहाँ संघाराम हैं, जिनमें १०००० भिक्षु रहते हैं। वे सारे महायान सम्प्रदाय की स्थविर (चांग-त्सो-पु) शाखा के अनुयायी हैं। वहाँ प्राय: ८० देव मंदिर हैं और अनेक निर्ग्रन्थ हैं।"[2] युआन-च्वांग लिखता है कि तथागत अनेक

---

१. Ind. Ant., ६, पृ० ९९।

२. बील, Buddhist Records of the Western World खंड २, पृ० २२८-२९।

बार धर्मोपदेश के लिए इस देश को आाय थे। और अशोक ने उन पुनीत स्थानों पर स्तूपों का निर्माण कर उनको स्मरणीय बना दिया था। यात्री यह भी लिखता है कि प्रसिद्ध बौद्धाचार्य धर्मपाल काञ्चीपुर का ही निवासी था।

परमेश्वरवर्मन् प्रथम

नरसिंहवर्मन् प्रथम के पुत्र महेन्द्रवर्मन् द्वितीय (राज्यारोहण ल० ६५५ ई०) के संक्षिप्त और घटनाहीन शासन के पश्चात् परमेश्वरवर्मन् प्रथम सिंहासन पर बैठा। उसके शासन-काल में पल्लवों और चालुक्यों का पुराना वैर फिर उमड़ पड़ा और पहले की ही भाँति वे अपनी-अपनी विजय घोषित करने लगे। गडवल पत्र-लेखों[1] में लिखा है कि विक्रमादित्य प्रथम चालुक्य ने काञ्ची पर अधिकार कर लिया, महामल्ल के कुल को भूलुंठित कर दिया[2], और कावेरी तट के उरगपुर (उरैयूर, त्रिचनापल्ली के पास) तक धावे किये। इसके विरुद्ध पल्लव अभिलेखों का वक्तव्य है कि परमेश्वरवर्मन् प्रथम ने पेरुवलनल्लूर (त्रिचनापल्ली जिले के लालगुडी तालुक में) के युद्ध में विक्रमादित्य प्रथम की सेना को मार भगाया और चालुक्य नरेश के शरीर पर ढकने के लिए 'सिवाय एक चिथड़े के' कुछ न बचा। इन परस्पर विरोधी प्रमाणों से प्रकट है कि वास्तव में किसी पक्ष की पूरी विजय न हुई। परमेश्वरवर्मन् प्रथम शिव का उपासक था, और अपने राज्य में उसने उसके अनेक मंदिर बनवाए।

नरसिंहवर्मन् द्वितीय

७वीं सदी ई० के प्रायः अन्त में परमेश्वरवर्मन् प्रथम मरा और राजदंड उसके पुत्र नरसिंहवर्मन् द्वितीय राजसिंह के हाथ आया। उसका शासन-काल शांति और समृद्धि का था और उसने विख्यात कैलाशनाथ अथवा राजसिंहेश्वर का मंदिर बनवाया। काञ्ची का ऐरावतेश्वर तथा महाबलिपुरम् का तथाकथित 'शोर' मंदिर भी उसके ही बनवाए कहे जाते हैं। नरसिंहवर्मन् द्वितीय विद्वानों का संरक्षक था और ख्याति है कि प्रसिद्ध समीक्षक दंडी उसी का सभासद था।

नरसिंहवर्मन् द्वितीय के पश्चात् परमेश्वरवर्मन् द्वितीय गद्दी पर बैठा। परंतु उसके सम्बन्ध में हमारी जानकारी बहुत थोड़ी है।

नन्दिवर्मन् और उसके उत्तराधिकारी

जब परमेश्वरवर्मन् द्वितीय ८वीं शती ई० के दूसरे दशक में मरा तब उसके राज्य में गृहकलह आरम्भ हो गया और सिंहासन के लिए उत्तराधिकारियों

---

१. Ep. Ind., १०, पृ० १००-६—कृतपल्लवावमर्द्दंदक्षिणदिग्युवतिमात्तकाञ्चीकः। यो भृशमभिरमयन्नपि सुतरां श्रीवल्लभत्वमितः॥ (वही, पृ० १०३, १०५, श्लोक ४)

२. वही, श्लोक ५—यो राजमल्लशब्दं विहितमहामल्लकुलनाशः।

में होड़ पड़ गयी। कसक्कुडी पत्रलेखों और काञ्ची के वैकुण्ठ पेरुमल की मूर्तियों से विदित होता है कि प्रजा ने सिंहविष्णु के किसी भाई के वंशज हिरण्यवर्मन् के जनप्रिय पुत्र नन्दिवर्मन् को अपना राजा चुना। नन्दिवर्मन् के शासन-काल में पल्लव-चालुक्य संघर्ष फिर चल पड़ा। कहा जाता है कि विक्रमादित्य द्वितीय चालुक्य ने ७३३ ई० गद्दी पर बैठने के शीघ्र ही बाद पल्लव राज्य पर आक्रमण किया और काञ्ची पर अधिकार कर लिया। परन्तु नन्दिवर्मन् ने शीघ्र परिस्थिति सँभाल ली और शत्रु को मार भगाया। पल्लव नरेश का अन्य शक्तियों, विशेषकर दक्षिण के द्रमिड़ों (तामिलों), पांड्यों और गंगराज संभवतः श्रीपुरुष (लगभग ७२६-७६ ई०) से भी युद्ध करना पड़ा। युद्धों में नन्दिवर्मन् को अपने सेनापति उदयचन्द्र से बड़ी सहायता मिली। तदनन्तर सम्भवतः नन्दिवर्मन् को राष्ट्रकुलीय दन्तिदुर्ग द्वारा हारना पड़ा। राष्ट्रकूट राजकुल ने वातापी (वादामी) के चालुक्यों का अन्त कर दिया था और आठवीं सदी के मध्य के लगभग वे उनके स्थान पर दक्कन् के स्वामी बन गये थे।

नंदिवर्मन् ने कम से कम ६५ वर्ष राज्य किया जैसा महाबलिपुरम् के आदि-वराह मंदिर के एक अभिलेख से विदित होता है। उसका विरुद पल्लवमल्ल था और वह वैष्णव मतावलम्बी था। उसने अनेक मंदिर बनवाए।

नंदिवर्मन् का उत्तराधिकारी उसकी राष्ट्रकूट रानी रेवा से उत्पन्न पुत्र दंति-वर्मन् हुआ। अनुश्रुति है कि रेवा दंतिदुर्ग की कन्या थी और विवाह सम्बन्ध राष्ट्र-कूटों और पल्लवों के युद्ध के बाद सम्पन्न हुआ था। परन्तु इस सम्बन्ध के बावजूद भी लिखा है कि गोविंद तृतीय ने ८०४ ई० के लगभग काञ्ची पर आक्रमण कर उसके नृपति दन्तिग (दंतिवर्मन्) को परास्त किया। दंतिग का शासन-काल लगभग ७७६ ई० से ८२८ ई० तक प्रायः आधी सदी से ऊपर रहा, और उसने परम्परागत कुल-शत्रु से लोहा लिया। इसी प्रकार उसके उत्तराधिकारी नन्दि (ल० ८२८-५१ ई०) और नृपतुंगवर्मन् (ल० ८५१-७६ई०) को भी पांड्यों से युद्ध करना पड़ा। इस कुल का अन्तिम सबल राजा अपराजितवर्मन् (ल० ८७६-९५ ई०) था जिसने गंग नरेश पृथ्वीपति प्रथम के साथ संघ बनाकर कुम्भकोनम के समीप श्रीपुरम्बीयं के युद्ध में ८८० ई० के लगभग पांड्य नृपति वरगुण द्वितीय को पूर्णतः परास्त किया। पल्लव शक्ति आदित्य प्रथम चोल द्वारा विनष्ट होने तक निरंतर संघर्ष करती रही। इस चोल नृपति ने अंत में अपराजितवर्मन् को परास्त कर तोंडमंडलम् को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार कभी का शक्तिशाली पल्लव राज्य दक्षिण की राजनीति से लुप्त हो गया। निःसंदेह कुछ छोटे-मोटे पल्लव राजा, जैसा कि उनके अभिलेखों से सूचित है, जहाँ-तहाँ बाद तक राज्य करते रहे। परन्तु पल्लव वंश-सूची में उनका स्थान स्पष्ट नहीं है।

पल्लव शासन पद्धति

प्रायः ७ शताब्दियों के शासन का अपना गहरा प्रभाव पल्लवों ने तामिल

देश की शासन-प्रणाली, धर्म, साहित्य और कला पर डाला। नीचे हम संक्षेप में इन स्कंधों पर प्रकाश डालेंगे।

शासन का केंद्र राजा था जिसे अभिलेखों में महाराज और धर्ममहाराज कहा गया है। राज-कार्य के सम्पादन में मंत्रियों का एक दल (रहस्यादिकद) उसकी सहायता करता था और उसकी आज्ञायें उसका निजी मंत्री (प्राइवेट सेक्रेटरी) लिख लिया करता था। मौर्य और गुप्त शासन-विधानों की भाँति ही पल्लवों के शासन में भी नागरिक और सैन्य अधिकारियों का उच्चावच क्रम था। इस प्रकार एक पल्लव अभिलेख में राजा राजकुमारों, जिलाधीशों (रट्ठिकों) प्रधान मदम्वों (चुंगी के अफसर) स्थानीय अधिकारियों (देशाधिकतों)......विविध ग्रामों के स्वामियों (गाम-गाम भोजकों)......मंत्रियों (अमच्चों), रक्षकों (अरखदिकतों), गूमिकों (नायकों अथवा वनाधिकारियों ?), दूतिकों, चरों (संजरन्तकों) और योद्धाओं (भड मनुष्यों) को शुभ कामनायें भेजता है। इससे इन अधिकारियों की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। साम्राज्य राष्ट्रों अथवा मंडलों (प्रांतों) में विभक्त था जिनके शासक राजकुल अथवा अभिजातकुलों से नियुक्त होते थे। अन्य छोटे प्रदेशों—कोट्टमों और नाडुओं—के भी अपने-अपने शासक थे। ग्राम अथवा गाम शासन का निम्नतम आधार था। परन्तु उनके संगठन के विषय में पल्लव अभिलेखों में विशेष सामग्री नहीं मिलती, यद्यपि पश्चात्कालीन पल्लव राजाओं के समय ग्राम की सभा चोलों की सभाओं की भाँति उनका प्रबंध करती थी। सभा उद्यान, मंदिर, तालाब, आदि स्थानों के प्रबंध अपनी उपसमितियों द्वारा करती थी। इसके अतिरिक्त सभा के कुछ कार्य तथा व्यवहार (कानून) सम्बन्धी भी थे और प्रायः सार्वजनिक दानों का प्रबंध भी उसी के जिम्मे था। सिंचाई और भूमि-माप की व्यवस्था सुंदर थी। ग्राम की सीमायें स्पष्टतः निर्दिष्ट कर दी जाती थीं और जुते खेतों और परतियों का विवरण माप के लिए पूरा-पूरा रखा जाता था। पुनीत और विद्वान् ब्राह्मणों को भूमि दान देने में भी इस विवरण से सहायता मिलती थी। कर की व्यवस्था सुविस्तृत थी और गाँव की जनता से राजा १८ प्रकार के कर (अष्टादश परिहार) उगाहता था। इन करों का कुछ अनुमान अभिलेखों में दिये गए अपवादों से किया जा सकता है। उदाहरणतः हीरहडगल्ली के पत्रलेख में मीठे खट्टे दूध और चीनी, बेगार, घास और इंधन, तरकारियों और फूलों आदि को कर से मुक्त कर दिया गया है। नंडन तोट्टम् पत्रलेखों में भी कुछ वस्तुओं की कर से मुक्ति परिगणित है। उदाहरणतः कोल्हू और करघों पर कर, विवाहों का कर, उलविय कूलि, कुम्हारों पर उरेट्टु नामक कर, पासियों और गड़रियों पर कर, तट्टुकायम् नामक कर, दूकानों और दलालों के कर, नमक बनाने, अच्छी गायों और अच्छे बैल पर कर, तिरमुगक्काणम् नामक कर, मंडी में बिकने वाले अन्न के टोकरों पर कर, वत्तिनाड़ि नामक कर और सुपारी आदि पर कर।[1] इस प्रकार कर के

१. S. I. I., २, पृ० ५३०-३१।

सारे आश्रय गिन लिए गये थे और उनसे उद्‌भूत आय का शासन पर समुचित व्यय होता था, जो सुव्यवस्थित था।

साहित्य

पल्लवों के शासन-काल में साहित्य का क्षेत्र विशेष सक्रिय रहा और संस्कृत को राजभाषा का पद प्राप्त था। कुछ को छोड़कर शेष सारे पूर्वकालिक पल्लव अभिलेख संस्कृत में हैं और पश्चात्कालीन तामिल अभिलेखों में भी प्रशस्ति के भाग सुन्दर संस्कृत में रचित हैं। पल्लवों की राजधानी काञ्ची विद्या और संस्कृत का प्राचीनकाल से ही केन्द्र थी[1]। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्‌नाग अपनी बौद्धिक और आध्यात्मिक पिपासा शांत करने यहाँ आया था और चतुर्थ ई० के मध्य कदम्ब राजकुल के प्रतिष्ठाता ब्राह्मण मयूरशर्मन् ने यहीं अपना वैदिक अध्ययन समाप्त किया था। तब के वैदिक विद्यालय मन्दिरों में ही होते थे और उनका कार्य धनी उपासक चलाते थे। सिंहविष्णु (छठी सदी के अन्तिम चरण में) ने अपनी राजसभा में महाकवि भारवि को निमन्त्रित किया था और नरसिंहवर्मन् द्वितीय राजसिंह (७ वीं सदी के अंत में) के शासन काल में प्रसिद्ध अलंकार शास्त्री दंडिन् यहाँ रहा था। दंडिन् के अन्य समकालीनों में मातृदत्त का नाम उल्लेखनीय है। पल्लव राजाओं में से एक महेन्द्रवर्मन् प्रथम स्वयं ख्यातिलब्ध ग्रंथकार था। मत्त-विलास-प्रहसन उसी का रचा माना जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि 'त्रिवेन्द्रम मे हाल में जो भास के नाम से नाटक प्रकाशित हुए हैं वे वस्तुतः भास और शूद्रक के प्राचीनतम नाटकों के संक्षिप्त रूप हैं जो इसी काल पल्लव दरबार में खेले जाने के लिए प्रस्तुत किये गये थे[2]"। सत्य चाहे जो भी हो, पल्लव नरेश विद्वानों के संरक्षक थे, इसमें संदेह नहीं।

धर्म

युआन-च्वांग के अनुसार इस देश में, जिसकी राजधानी कांचीपुर थी, "प्रायः १०० संघाराम और १०००० भिक्षु हैं। वे सभी महायान सम्प्रदाय के हैं और स्थविर (चांग-त्सो-पु) शाखा के सिद्धांतों का अध्ययन करते हैं[3]।" यात्री तदनन्तर लिखता है कि ख्याततामा बौद्धाचार्य धर्मपाल कांचीपुर का ही था। इस प्रकार बौद्ध धर्म पल्लव राज्य में नगण्य न था और इस कुल के कुछ पूर्वकालीन राजाओं की इसमें अनुरक्ति भी थी। युआन-च्वांग ने देश में अनेक निर्ग्रन्थों के होने की बात भी लिखी है।" महेन्द्रवर्मन् प्रथम स्वयं पहले जैन था परन्तु संत अय्यर के प्रभाव से शैव हो गया था। संत अय्यर और तिरुज्ञानसम्बन्दर ने दक्षिण में शैव धर्म का बड़ा प्रचार

१. वी० आर० आर० दीक्षितार : "A Hindu University of Kanchi" (Dr. Krishnaswami Aiyangar Commemoration Volume, १९३६, पृ० ३०४-३०७)।

२. History of the Pallavas of Kanchi, पृ० १५९।

३. देखिए, पीछे यथास्थान।

किया और फलस्वरूप बौद्ध और जैन सम्प्रदाय नगण्य हो गए। अनेक पल्लव नरेश शिव के कट्टर उपासक थे। परंतु वे वैष्णवों के प्रति सहिष्णु थे। यह सम्प्रदाय भी अल्वरों (वैष्णव संतों) के प्रचार से फूला फला।

कला

धार्मिक पुनरुज्जीवन के कारण पल्लव राजाओं की निर्माण-प्रवृत्ति भी सक्रिय हो उठी, और उन्होंने दक्षिण भारत में सुन्दर मन्दिर बनवाये। उनके मंदिर तीन अथवा चार विशेष प्रकार के हैं। दलवनुर (दक्षिण अर्काट जिला), पल्लवरम, वल्लम (चिंगलिपुत जिला) के मंदिरों की शैली महेन्द्रवर्मन् प्रथम द्वारा आविष्कृत दक्षिण भारत में सर्वथा नयी है। वे ठोस चट्टानों को काट कर बनाये गए हैं और अपने वर्तुलाकार लिंगों, असाधारण द्वारपालों, प्रभातोरणों, और त्रिमुखे स्तंभों की विशेषता से सम्पन्न[1] हैं। दूसरे काल के मन्दिर नरसिंहवर्मन् प्रथम महामल्ल द्वारा निर्मित हैं। पुदुकोट्टा और त्रिचनापल्ली के उसके शासन के प्रारम्भिक मन्दिर महेन्द्रवर्मन् प्रथम के दरी-मंदिरों की शैली के ही हैं। परन्तु उनका अलंकरण विशिष्ट है और उनके स्तंभों का अनुपात भी सुन्दरतर है। पश्चात्, नरसिंहवर्मन् प्रथम महामल्ल ने धर्मराज के से महाबलिपुरम् में एक ही पत्थर को काटकर रथ शैली के मन्दिर बनवाये; तदनन्तर ईंट-पत्थर के ऊँचे शिखा और मंडपों वाले मन्दिर बने। इनका आदर्श उदाहरण कांची का कैलाशनाथ मन्दिर और सप्त पगोड़ों के दल का 'शोर' मन्दिर हैं। इनमें से कुछ मन्दिरों की विशेषता यह है कि उनमें पल्लव राजा और रानियों की सजीव पुरुषाकार मूर्तियाँ स्थापित हैं। पल्लव वास्तु-कला का विकास चोल राजाओं द्वारा प्रतिष्ठित नई शैली के आरम्भ तक होता रहा।

प्रकरण ३

चोड़ राजकुल

व्युत्पत्ति

चोड़ शब्द का अर्थ 'मड़राने' वाला भी कहा गया है और इसका निर्माण तामिल धातु "चूड़" (मड़राना) से बताया जाता है। कुछ लोग इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'चोर' अथवा तामिल "चोलम्" अथवा "कोल" शब्द से करते हैं जिससे "प्राचीनकाल में आर्यों के आगमन से पूर्व के दक्षिण भारत के कृष्णकाय निवासियों का समान रूप से बोध होता था"।[2] इन सुझावों का तथ्य चाहे जो भी हो, इसमें संदेह नहीं कि पांड्यों और चेरों की भाँति ही चोड़ भी दक्षिण के प्राचीन निवासी थे

---

१. History of the Pallavas of Kanchi, पृ० ६२।
२. नीलकंठ शास्त्री : The Colas, पृ० २४।

यद्यपि पश्चात्कालीन साहित्य और अभिलेखों में उन्हें सूर्य का वंशज माना गया है[1]।

उनका देश और उनके नगर

परम्परागत चोड़ मंडलम् अथवा चोड़ों का राज्य उत्तर और पश्चिम पेन्नार और वेल्लरू (वेल्लर) नदियों के बीच की भूमि पर फैला हुआ था और तंजोर तथा त्रिचनापल्ली के वर्तमान जिलों तथा पुदुकोट्टा रियासत के एक भाग तक विस्तृत था। सीमाएँ अन्य राजकुलों से चोड़ों के संघर्ष के अनुकूल बढ़ती-घटती रहीं। इसकी अनेक राजधानियों का उल्लेख मिलता है। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं: उरगपुर (त्रिचनापल्ली के पास उरैयुर), तंजुवुर (तंजोर), और गंगैकोड चोडपुरम्। चोड़ों का सबसे महत्वपूर्ण बन्दरगाह कावेरीपट्टनम (पुहार) कावेरी नदी (उत्तरी शाखा) के मुहाने पर अवस्थित था जहाँ से चोड़ बाह्य जगत् के साथ अतुल व्यापार करते थे।

प्रारम्भिक इतिहास

चोड़ अथवा चोल नृपतियों का अस्तित्व प्राचीन है। वैयाकरण कात्यायन (ल० चतुर्थ शती ई० पूर्व) और महाभारत ने उनका उल्लेख किया है। अशोक के द्वितीय तथा त्रयोदश शिलालेखों के अनुसार (जो चोड़ों का उल्लेख करने वाले प्राचीनतम ऐतिहासिक आधार हैं) वे मौर्य सीमा के बाहर उसके मित्र-शक्ति थे। तदनन्तर महावंश चोड़-रत्थ और सिंहल के संबंध पर कुछ प्रकाश डालता है और उससे विदित होता है कि द्वितीय शती ई० के मध्य एलार नामक चोड़ ने उस द्वीप की विजय कर वहाँ दीर्घकाल तक राज्य किया। पेरिप्लस (ल० ८१ ई०) और तालेमी की 'ज्योग्रफी' (द्वितीय शती ई० का मध्यकाल) से भी चोड़ देश और उसके नगरों तथा पत्तनों पर प्रकाश पड़ता है। इनके अतिरिक्त संगम साहित्य में भी अनेक चोड़ राजाओं का उल्लेख हुआ है जिनमें से कुछ सर्वथा गल्पात्मक विदित होते हैं और उनका उल्लेख विशेषतः न्याय और दान के आदर्श स्थापित करने के लिए हुआ है। संगम साहित्य का काल ही ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियाँ मानी जाती हैं। संगम साहित्य के राजाओं में से अनेक ऐतिहासिक व्यक्ति भी हो सकते हैं परंतु उनका तिथिक्रम निश्चित करना अत्यंत कठिन है। उनमें से एक इड़ान्जेटचेन्नी का पुत्र करिकाल है। कहा जाता है कि उसने चोड़ राज्य की सीमा और प्रभाव दोनों को बहुत बढ़ाया और पांड्य, चेर तथा उनके सहकारी अन्य अनेक सामन्त राजाओं को वेण्णी (तंजोर के समीप कोविल-वेण्णी) के युद्ध में परास्त किया। कालांतर में पेरुनरकिल्ली ने राजसूय किया, और कोच्चंनगणन् को भी करिकाल की ही भाँति अनेक ख्यातों का नायक कहा गया है। तृतीय अथवा चतुर्थ शताब्दी के लगभग पल्लवों के उत्कर्ष और पांड्यों तथा चेरों के आक्रमण से

---

१. वही, पृ० ३८। कुछ अभिलेखों में एक और चोल पूर्वज का उल्लेख हुआ है (देखिए वही, पृ० १४०)।

चोड़ अधिकतर विपद्ग्रस्त रहे। परंतु इस संघर्ष के बावजूद भी चोड़ अपना राज्य किसी न किसी तरह चलाते रहे यद्यपि उनको अगली सदियों में बराबर झुकना पड़ा। ७वीं सदी ई० के मध्य के पूर्व ही युआन-च्वांग ने चोड़ों के देश में भ्रमण किया और उसके विषय में इस प्रकार लिखा :—"चु-लि-ये (चूल्य अथवा चोड़) देश प्राय: २४०० अथवा २५०० ली में फैला हुआ है और उसकी राजधानी का घेरा लगभग १० ली है। देश अधिकतर उजाड़ है और उसमें निरंतर दलदलों और वनो का विस्तार है। आबादी बहुत थोड़ी है और सैनिक और डाकू देश को खुले लूटते हैं। जलवायु उष्ण है, प्रजा का स्वभाव बनैला और क्रूर है। स्वाभाविक ही लोग निर्दय हैं, और उनका विश्वास सद्धर्म के विरुद्ध है। संघाराम उजाड़ और बन्द हैं और इसी प्रकार उनमें रहने वाले भिक्षु भी अपावन हैं। दर्जनों ही वहाँ देव-मन्दिर हैं और अनेक निर्ग्रन्थ भिक्षु।"[1] इस प्रकार चीनी यात्री द्वारा वर्णित यह देश विन्सेन्ट के अनुसार "कम्पनी को दिए हुए जिलों (Ceded districts) का एक भाग और विशेषकर कुड़प्पा जिला है"।[2] यह पहचान स्वीकार हो चाहे नहीं, यह निःसदेह आश्चर्यजनक है कि युआन-च्वांग इसके राजा का उल्लेख नहीं करता। संभवतः चोड़राज की शक्ति अत्यंत सीमित थी और शायद वह पल्लवों का सामंत-मात्र था। चोड़ों का भाग्य वस्तुतः अंधकार से आवृत था। ९वीं सदी ई० के मध्य के लगभग पल्लव राज्य के ह्रास के पश्चात् चोल शक्ति का सूर्य दक्षिण भारत के राजनैतिक क्षितिज पर उदित हुआ।

चोड़ सम्राट

विजयालय

चोड़ों की महत्ता विजयालय द्वारा पुनः प्रतिष्ठित हुई। अभाग्यवश इस राजा का सम्बन्ध प्राचीन चोड़ों से क्या था यह नहीं कहा जा सकता। ८५० ई० कुछ ही पहले उसने उरैयुर के समीप संभवतः पल्लव राजा के सामन्त की हैसियत से शासनारंभ किया। यह माना जाता है कि विजयालय ने मुत्तरैयर राजाओं से तंजावूर अथवा तंजोर छीन लिया। तंजोर[3] के ये सामंत पांड्य राजा वरगुणवर्मन् के सहायक थे।

आदित्य प्रथम

विजयालय के पश्चात् उसका योग्य पुत्र आदित्य प्रथम ८७५ ई० के लगभग चोड़ गद्दी पर बैठा। उसने अपने कुल की शक्ति और प्रभाव का विस्तार किया और पल्लव अपराजितवर्मन् को परास्त कर ८९० ई० के लगभग तोड़मंडलम् पर अधि-

---

१. बील, Buddhist Records of the Western World, २, पृ० २२७।

२. E. H. I., चतुर्थ सं०, पृ० ४८३।

३. विजयालय ने तंजावूर अथवा तंजापुरी (तंजौर) को चोड़ राज्य का प्रमुख नगर बना दिया; यद्यपि पल्लव प्रदेशों की विजय के बाद कांची 'एक प्रकार की द्वितीय राजधानी' हो गई। पश्चात् राजेन्द्र प्रथम ने गंगापुरी अथवा गंगैकोण्ड-चोड़पुरम् को अपनी नयी राजधानी बनाया।

कार कर लिया। आदित्य प्रथम ने, कहा जाता है, कोंगुदेश जीत कर पश्चिमी गंगों की राजधानी तलकाड पर अधिकार कर लिया। आदित्य प्रथम शिव का उपासक था और उस देवता के उसने अनेक मन्दिर बनवाये।

परान्तक प्रथम

जब आदित्य के पुत्र परान्तक प्रथम का राज्यारोहण हुआ तब तक चोड़ राज्य के अंतर्गत उत्तर में कलहस्ति और मद्रास तथा दक्षिण में कावेरी तक का सारा पूर्वी प्रदेश आ चुका था, और ९०७ ई० से ९५३ ई० तक के अपने लम्बे शासनकाल में उसने उसकी सीमाएँ और विस्तृत कीं। पहले तो उसने पांड्य राजा राजसिंह के राज्य पर अधिकार कर लिया और उस राजा को अपनी रक्षा के लिए सिंहल भागना पड़ा। इस विजय की यादगार के रूप में परान्तक ने "मदुरै कोण्ड" विरुद धारण किया। तदनन्तर इस चोड़ विजेता ने सिंहल की ओर प्रस्थान किया परन्तु उसका आक्रमण व्यर्थ हुआ। पश्चात्, उसने "दो बाणों में राजाओं को उखाड़ फेंका और वैडुम्बों की विजय की[1]।" परान्तक प्रथम ने पल्लव शक्ति के सारे चिह्नों को मिटा दिया और उत्तर में वेलोर तक अपनी सत्ता स्थापित की परन्तु चोड़ राज्य के इस निरंतर सीमा के विस्तार में उसको शांति न मिली। शासनकाल के अंतिम दिनों में नई विपत्तियाँ उठ खड़ी हुईं और उसका कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट के साथ भयंकर युद्ध छिड़ गया। यद्यपि कुछ उत्तरकालीन चोड़ अभिलेखों में अपने प्रबल राष्ट्रकूट प्रतिद्वंद्वी को परास्त कर देने का श्रेय परांतक प्रथम को दिया गया है, परंतु उपलब्ध सामग्री की समीक्षा से प्रमाणित होता है कि कृष्ण तृतीय ने गंगराज बूतुग द्वितीय की सहायता से चोड़ सेनाओं पर पूर्ण विजय प्राप्त की। यहाँ तक जान पड़ता है कि राष्ट्रकूट आक्रामक ने काञ्ची और तंजौर पर अधिकार कर लिया और "तंजैयुन्कोंड" का दृप्त विरुद धारण किया। परान्तक प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र राजादित्य ९४९ ई०[2] में तक्कोलम (उत्तरी अरकाट जिला) के युद्ध में मारा गया। और कहते हैं कि कृष्ण तृतीय उल्लासपूर्वक बढ़ता हुआ रामेश्वरम् तक जा पहुँचा। इस कहानी में कितना तथ्य है यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि चोड़ों को इससे बड़ी संघातक चोट लगी और इसके परिणाम से मुक्त होने में उनको कुछ समय लगा।

परान्तक प्रथम ने अनेक यज्ञ किये। पिता की ही भाँति वह भी शिव का उपासक था और उसने भी अनेक मन्दिर बनवाये तथा चिदम्बरम् के शिव मन्दिर को सोने से भर दिया।[3]

---

१. S. I. I., २, संख्या ७६, श्लोक ६; The Colas, पृ० १५०।

२. शक संवत् ८७२=९४९-५० ई०: आतकूर लेख (Ep. Ind., ४, पृ० ५०-५७) तक्कोलम् उत्तर अर्काट जिले में अर्कोणम् से दक्षिण-पूर्व प्रायः ६ मील है (वही, ३३१, नोट ३)।

३. The Colas, पृ० १६४।

ह्रास का युग

परान्तक प्रथम की ९५३ ई० में मृत्यु के पश्चात् प्रायः ३० वर्ष का थोड़ा इतिहास अस्पष्ट है। सामग्री के सम्बन्ध में विद्वानों के विरोधी मत हैं परन्तु जान पड़ता है परान्तक प्रथम के बाद उसके दो पुत्रों, गन्डरादित्य और अरिंजय, ने राज्य किया, और अरिंजय के पश्चात् उसके पुत्र सुन्दर चोड़ ने। सुन्दर के पश्चात् आदित्य द्वितीय करिकाल और उत्तम चोड़ राजा हुए। ये नरेश दुर्बल थे और सिवाय गृह-कलह तथा पड़ोसियों से युद्धों के और कोई महत्वपूर्ण घटना उनके शासन काल में न घटी।

राजराज प्रथम (ल० ९८५—१०१४ ई०)

सुन्दर चोड़ के पुत्र के राज्यारोहण के साथ चोड़ों के उत्कर्ष का सबसे गौरवशाली युग आरम्भ हुआ[1]। राजराज प्रथम मुम्मडिचोड़देव, जयगोंड, चोड़-मारतंड आदि नामों से भी विख्यात था। उसे एक नितान्त असंगठित और परिमित पैतृक राज्य का उत्तराधिकार मिला परन्तु अपनी योग्यता, विक्रम तथा सैन्य-दक्षता से उसने उसे सशक्त और सुविस्तृत बनाया और दक्षिण में चोड़ साम्राज्य की प्रतिष्ठा की।

आरम्भ में चेरों के जहाजी बेड़े का कंदलूर के समीप नाश कर उसने उनको परास्त किया। तदनंतर उसने मदुरा पर अधिकार किया और पांड्यराज अमर भुजंग को बंदी कर लिया। उसने कोल्लम की भी विजय की और पश्चिमी घाटों के दुर्ग उदर्ग तथा मलैनाडु(कुर्ग) पर अधिकार कर लिया। इस काल सिंहल की स्थिति अत्यंत भयंकर हो उठी थी और उसने उस पर आक्रमण कर उसके उत्तरी भाग को अपने साम्राज्य में मिला लिया। वह भाग मुम्मडि-चोड़-मंडलम् के नाम से चोड़ प्रान्त बन गया। इसके पश्चात् मैसूर के देश गंगवाड़ी और नोलम्बपाड़ी को उसने जीता। राजराज प्रथम की प्रभुता और प्रभाव के इस प्रकार निरन्तर विस्तार से उसका पश्चिमी चालुक्य समसामयिक उदासीन न रह सकता था और दोनों में शक्ति का संतुलन अवश्यम्भावी था। तैलप के इस दावे में कि उसने चोड़ों को परास्त किया (जिसका ९९२ ई० के एक ही अभिलेख में उल्लेख हुआ है) चाहे जो भी तथ्य हो, उसका उत्तराधिकारी सत्याश्रय निश्चय राजराज प्रथम के हाथों परास्त हुआ। कहा जाता है कि चोड़ राजराज ने रट्टपाड़ी पर अधिकार कर लिया और चालुक्य देश को रौंद डाला। शक्तिवर्मन् (ल० ९९९—१०११ ई०) ने चोड आक्रमण की धारा अवरुद्ध करनी चाही परन्तु उसके अनुज और उत्तराधिकारी विमलादित्य (१०११—१८ ई०) ने राजराज प्रथम का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। राजराज प्रथम ने अपनी कन्या कुन्दव्वै (कुन्दवर) का विवाह इस मैत्री के स्मारक में विक्रमा-

1. कीलहार्न के अनुसार राजराज प्रथम ९८५ ई० में २५ जून और २५ जुलाई के बीच गद्दी पर बैठा (Ep. Ind., ९, पृ० २१७)।

दित्य के साथ कर दिया। यह भी लिखा है कि राजराज प्रथम ने कलिंग तथा "समुद्र के १२०० प्राचीन द्वीपों की भी विजय की।" इन द्वीपसमूहों को लक्कदीव और मालदीव माना गया है। यदि यह उल्लेख सही है तो इससे चोड़ों के जहाजी बेड़े की शक्ति प्रमाणित है। इस प्रकार राजराज प्रथम सम्पूर्ण वर्तमान मद्रास प्रान्त, कुर्ग, मैसूर, और सिंहल के अनेक भागों तथा अनेक द्वीपों का स्वामी बन गया। निःसन्देह ये कृत्य असाधारण थे और इनके कारण राजराज प्रथम का स्थान प्राचीन भारत के अग्रणी योद्धाओं तथा साम्राज्य निर्माताओं में सुरक्षित हो गया।

राजराज प्रथम का यश केवल उसके युद्धों पर ही नहीं, उसके निर्माण कार्यों पर भी अवलम्बित है। उसने तंजोर में अत्यन्त सुन्दर शिव मंदिर बनवाया जिसका नाम राजराजेश्वर उसीके नाम पर पड़ा। यह मंदिर अपने अंगानुपात, सादी रूपरेखा, सजीव मूर्तियों तथा असाधारण अलंकरणों की सुचारुता के लिए प्रसिद्ध है। मंदिर की भित्ति पर राजराज प्रथम की विजयों का वृत्तान्त खुदा है और यदि यह लेख प्रस्तुत न होता तो उस महान् नृपति के चरित का अधिकांश लुप्त हो जाता।

राजराज शैव था परंतु उसका आचरण अन्य सम्प्रदायों के प्रति असहिष्णु कदापि न था। उसने अनेक विष्णु मंदिरों को भी दान दिये। मलय प्रायद्वीप में श्री विजय और कड़ाह के शैलेन्द्रराज श्री-राम-विजयोत्तुंगवर्मन् द्वारा निर्मित नेगापटम के बौद्ध विहार को भी राजराज ने एक गाँव दान किया।

राजेन्द्र प्रथम गंगैकोन्ड (ल० १०१४—४४ ई०)

राजराज प्रथम की मृत्यु के पश्चात् राजदंड उसके सुयोग्य पुत्र राजेन्द्र प्रथम को मिला जिसने पिता के अंतिम दिनों के शासन में सक्रिय योग दिया था। वस्तुतः राजेन्द्र प्रथम का शासन काल १०१२ई० से गिना जाता है जब वह युवराज बना।[1] वह पिता की ही भाँति शक्तिमान् सिद्ध हुआ और उसने अपने सैन्यपराक्रम और शासन-सूत्र में चोड़ साम्राज्य को गौरव के समुन्नत शिखर तक पहुँचा दिया। पिता के काल में ही राजेन्द्र प्रथम ने इडितुरैनाडु (रायचूर जिला), बनवासी (उत्तर कनाडा), कोल्लिप्पाक्कै (कुलपक), और मण्णैक्कदक्कम् (सम्भवतः मान्यखेट अथवा मालखेड) के विरुद्ध सफल युद्ध कर ख्याति प्राप्त की थी। इस प्रकार वह तुंगभद्रा के पार चालुक्य देश के हृदय तक जा पहुँचा था। १०१७ ई० के लगभग राज्यारोहण के कुछ ही दिन बाद उसने सिंहल को पूर्णतः जीत लिया जिसका केवल उत्तरी भाग राजराज प्रथम ने जीता था। अगले वर्ष उसने केरल और पांड्य राजाओं पर अपनी शक्ति पुनः स्थापित की और इन प्रान्तों का शासक अपने पुत्र जटावर्मन् सुन्दर को चोड़-पांड्य की उपाधि देकर नियुक्त किया। इसके अतिरिक्त राजेंद्र प्रथम ने "अनेक प्राचीन द्वीपों" (सम्भवतः लक्कदीव और मालदीव) पर भी, जिन्हें उसके पिता राजराज

---

१. यह घटना १०१८ ई० में २७ मार्च और ७ जुलाई के बीच घटी (Ep. Ind., ६ पृ० २१७)।

प्रथम ने पहले ही जीत लिया था, अपना अधिकार बनाये रखा। राजेन्द्र प्रथम का संघर्ष पश्चिमी चालुक्य राजा जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल (ल० १०१६-४२ ई०) के साथ भी हुआ। चालुक्य अभिलेखों में लिखा है कि जयसिंह ने चोड़ शत्रु को परास्त कर दिया। परंतु इसके विरुद्ध तामिल प्रशस्ति का वक्तव्य है कि जयसिंह "मुसंगी (अथवा मुयंगी) से भाग कर छिप गया"।[1] इस युद्ध का अंतिम परिणाम चाहे जो हुआ हो, इतना निश्चित जान पड़ता है कि जयसिंह द्वितीय तुंगभद्रा तक की भूमि का स्वामी बना रहा। तदनंतर राजेन्द्र प्रथम उत्तर की ओर बढ़ा और उसकी सेनायें देश-पर-देश जीततीं गंगा[2] तथा गौड़ नृपति महीपाल की सीमा तक जा पहुँची। तिरुमलै (उत्तर अरकाट जिले में पोलूर के समीप) अभिलेख[3] में लिखा है कि राजेन्द्र प्रथम ने ओड्र-विषय (उड़ीसा), कोसलैनाडु (दक्षिण कोशल), तंडवुत्ति (दंड-मुक्ति, सम्भवतः बालासोर का जिला और मिदनापुर का एक भाग) के धर्मपाल, तक्कन लाडम् (दक्षिण राढ़) के रणशूर, बंगाल देश (पूर्वी-बंगाल) के गोविन्दचन्द्र, पालराज महीपाल (ल०९९२-१०४०ई०), और उत्तर-लाडम्(उत्तर राढ़)को जीता। चूंकि इस उत्तर आक्रमण का उल्लेख करनेवाला तिरुमलै का अभिलेख राजेन्द्र प्रथम के शासन के १३वें वर्ष का है और चूंकि ९वें वर्ष के मेरपाडि अभिलेख में[4] इस आक्रमण का उल्लेख नहीं है, यह सतर्क माना जा सकता है कि यह आक्रमण १०२१ और १०२५ ई० के बीच कभी हुआ[5]। निःसन्देह यह आक्रमण अत्यन्त साहस का कार्य था और इसके स्मरणार्थ राजेन्द्र ने गंगैकोन्ड का विरुद धारण किया[6]। परन्तु इस आक्रमण का कोई दीर्घकालिक प्रभाव न पड़ा सिवाय इसके कि कुछ छोटे कर्णाट राजा पश्चिमी बंगाल में जा बसे और राजेन्द्र प्रथम ने गंगा तट से कुछ शैवों को लाकर अपने राज्य में बसाया। चोड़ सम्राट् के कृत्य स्थल-विजयों तक ही सीमित न रहे; उसका जहाजी बेड़ा शक्तिमान् था जिसका उसने सफलतापूर्वक बंगाल की खाड़ी में उपयोग किया। कहते हैं कि संग्रामविजयोत्तुंगवर्मन् को परास्त कर उसने कटाह अथवा कदारम् और बृहत्तर भारत के अन्य अनेक स्थानों की विजय की। सम्भवतः यह आक्रमण केवल राजेन्द्र प्रथम की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए ही नहीं किया गया था, वरन् इसका उद्देश्य मलय प्रायद्वीप और दक्षिण भारत के बीच

---

१. S. I. I., २, पृ० ९४-९५। मुसंगी अथवा मुयंगी को बेलारी जिले का उच्चंगी दुर्ग माना गया है (वही, पृ० ९४, नोट ४; Ep. Ind., ९, पृ० २३०)।

२. देखिए, आर० डी० बैनर्जी : Rajendra's Ganges Expedition, J. B. O. R. S., १४ (१९२८), पृ० ५१२-२०।

३. Ep. Ind., ९, पृ० २२९-३३।

४. S. I. I., खंड ३, भाग १, १८९९, पृ० २७-२९।

५. Dy. Hist. North. Ind., खंड १, पृ० ३१८।

६. राजेन्द्र प्रथम के अन्य विरुद विक्रम-चोड़, परिकेशरीवर्मन्, वीर-राजेन्द्र आदि थे।

व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करना भी था। इस प्रकार अनवरत विजयों और युद्ध-यात्राओं तथा आक्रमणों के पश्चात् राजेन्द्र प्रथम ने अपनी तलवार म्यान में रखी। परंतु उसका पश्चात्कालीन शासन सर्वथा शांतिपूर्ण न हो सका। केरल और पांड्य देशों में विद्रोह हुए, परंतु उसके युवराज राजाधिराज ने उनको दबा दिया। सम्भवतः इस राजाधिराज ने पश्चिमी चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल के साथ भी सफलतापूर्वक युद्ध किया। राजेन्द्र प्रथम ने गंगैकोन्डपुरम् नाम की अपनी नयी राजधानी बसा दी जिसका वर्तमान नाम गंगाकुंडपुरम् है। इस राजधानी में एक विशाल राजप्रासाद बना और सुन्दर प्रस्तर मूर्तियों से अलंकृत एक मंदिर भी। परंतु ये इमारतें और कला के कृत्य मनुष्य और प्रकृति दोनों की निर्दय चोटों से विनष्ट हो गये। इस नये नगर के निकट ही राजेन्द्र प्रथम ने एक विस्तृत झील भी खुदवायी जिसे उसने कोलेरुन और वेल्लार नदियों के जल से भरा। कहते हैं कि इस झील और इसके चतुर्दिक बाँध को किसी शत्रु-सेना ने नष्ट कर दिया। उसके तल में आज घना जंगल खड़ा है।

राजाधिराज प्रथम (ल० १०४४-५२ ई०)

राजेन्द्र प्रथम का पुत्र राजाधिराज प्रथम १०४४ ई० में पिता की गद्दी पर बैठा। वह पिता के शासन से १०१८ ई० से ही युवराज की हैसियत से सम्बद्ध था और तभी से युद्ध कार्य में भी उसने ख्याति पाई थी। राज्यारोहण के पश्चात् राजाधिराज प्रथम को अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा परन्तु उन सब का उसने शान्तिपूर्वक दमन किया। पांड्य और केरल राजाओं को, जिन्होने लंका (सिंहल) के राजाओं विक्कमबाहु, विक्रमपांडु, वीरसाल मेघ, श्री वल्लभ मदनराज के साथ उसके विरुद्ध संघ बनाया था, उसने परास्त किया। संभवतः इसी संघ की विजय के परिणामस्वरूप राजाधिराज प्रथम ने अश्वमेध का अनुष्ठान किया। पश्चिमी चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (ल० १०४२-६८ ई०) से भी उसने युद्ध किया। पहले तो प्रतीत होता है कि भाग्यचक्र चोड़ सम्राट् के पक्ष में रहा[1] परन्तु १०५२ ई० की मई के कोप्पम के प्रसिद्ध युद्ध में उसने अंत में अपने प्राण खोये।[2]

राजेन्द्र (देव) द्वितीय (ल० १०५२-६३ ई०)

राजाधिराज प्रथम के युद्ध में मारे जाने पर उसका अनुज राजेन्द्र द्वितीय परिकेशरी रणक्षेत्र में ही राजा घोषित हुआ। उसके काल में भी चोड़ों और चालुक्यों में संघर्ष चलता रहा और दोनों पक्ष विजय के दावे करते रहे। चोड़ अभिलेखों का वक्तव्य है कि राजेन्द्र द्वितीय कोल्हापुर (कोल्हापुरम्) तक जा पहुँचा और वहाँ उसने

---

१ लिखा है कि आहवमल्ल "सन्त्रस्त हो गया, अपमानित हुआ और भाग गया" S. I. I., ३, पृ० ११२)।

२. यह तिथि राजेन्द्र द्वितीय के शासन के चतुर्थ वर्ष के मणिमंगलम् अभिलेख में दी हुई है। (वही, ३, ५८); और देखिए, Historical Inscriptions of Southern India (मद्रास, १९३२), पृ० ७२।

जयस्तम्भ स्थापित किया;[1] परन्तु विक्रमांकदेवचरित का रचयिता बिल्हण लिखता है कि सोमेश्वर प्रथम ने चोड़ शक्ति के तत्कालीन मुख्य केन्द्र काञ्ची पर आक्रमण किया। इन परस्पर विरोधी वृत्तान्तों से प्रतीत होता है कि दोनों पक्षों में वस्तुतः कोई पूर्णतः सफल न हुआ। इतना सही है कि राजेन्द्र द्वितीय की शक्ति चोल साम्राज्य के सारे प्रदेशों पर प्रतिष्ठित रही।

वीर-राजेन्द्र (ल० १०६३-७० ई०)

१०६३ ई० में राजेन्द्र द्वितीय के पश्चात् उसका अनुज वीर-राजेन्द्र राजकेशरी गद्दी पर बै ा और चालुक्यों से लड़ता रहा। कहते हैं कि उसने कृष्णा और तुंगभद्रा के संगम पर कूडल-संगमम् (कुरनूल जिला) के युद्ध में सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल को पूर्णतः परास्त किया।[2] पश्चात् सोमेश्वर ने अपनी पराजय की भूमि पर ही युद्ध करने का प्रण किया। पर ज्ञात नहीं किस कारण वह वहाँ युद्ध न कर सका। जब सोमेश्वर प्रथम न लौटा, तब वीर-राजेन्द्र ने उस स्थान पर उसकी एक कायर मूर्ति बना कर उसे अपमानित किया। चोड़ नरेश अब वेंगी की ओर बढ़ा जहाँ पश्चिमी चालुक्यराज सोमेश्वर प्रथम के कनिष्ठ पुत्र विक्रमादित्य (पश्चात् विक्रमादित्य षष्ठ) के कारण विजयादित्य सप्तम विपद में पड़ गया था। वीर राजेन्द्र ने पश्चिमी चालुक्य सेनाओं से वर्तमान बेंजवाडा के निकट मोर्चा लिया और उन्हें परास्त कर गोदावरी पार जाकर कलिंग तथा चक्क-कोट्टम को रौंद डाला। इस प्रकार वेंगी पर फिर विजय हुई और विजयादित्य सप्तम ने अपनी खोई शक्ति फिर पायी। तदनन्तर वीरराजेन्द्र ने पांड्य और केरल राजाओं को जिन्होंने स्वतन्त्र होना चाहा था, फिर कुचल दिया। इसी प्रकार सिंहल के राजा विजयबाहु, जिसने चोलों को सिंहल द्वीप से भगाकर अपनी सीमा बढ़ानी चाही थी, उसके सारे प्रयत्न भी उसने निष्फल कर दिये। कहा जाता है कि वीर राजेन्द्र ने कदारम अथवा श्री-विजय के विरुद्ध भी एक सेना भेजी, परन्तु इस आक्रमण का परिणाम ज्ञात नहीं। अन्त में जान पड़ता है कि जब सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल, सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल के पश्चात् १०६८ ई० में राजा हुआ तब फिर वीर-राजेन्द्र ने पश्चिमी चालुक्य की भूमि पर कुछ धावे किये। वीर-राजेन्द्र की विक्रमादित्य से भी मुठभेड़ हुई जो अपने बड़े भाई सोमेश्वर द्वितीय से झगड़ा कर पैतृक राजधानी कल्याण छोड़कर तुंगभद्रा की ओर बढ़ चला था। अन्त में दोनों में मित्रता स्थापित हो गयी; वीर-राजेन्द्र ने अपनी कन्या चालुक्यराज को दी और उसकी सहायता की।

---

१. देखिए, तिरुक्कोयिलूर (दक्षिण अर्काट जिला) अभिलेख (वी० रंगाचार्य : Inscriptions of the Madras Presidency, १, पृ० २२७, सं० ८५१)।

२. देखिए, तिरुवेंगाडु अभिलेख : (S. I. I., ३,१९३)। अन्य अर्थ से कूडलसंगमम् "तुंग और भद्रा नदियों का संगम" सिद्ध होता है।

अधिराजेन्द्र (ल० १०७० ई०)[1]

१०७० ई० में वीर राजेन्द्र की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अधिराजेन्द्र राज्यारूढ़ हुआ। वह तीन वर्ष तक युवराज रह चुका था परन्तु स्वयं उसका शासन अल्पकालिक था। राज्य में अशान्ति रही और उसके बहनोई विक्रमादित्य (षष्ठ) की सहायता के बावजूद भी अधिराजेन्द्र कुछ कर न सका और मारा गया।

कलोत्तुंग प्रथम (ल० १०७०-११२२ ई०)

अधिराजेन्द्र ने संभवत: कोई पुत्र न छोड़ा; परिणामत: गद्दी राजेन्द्र द्वितीय को मिली जिसका दावा उसके तथा चोलों के राज्यकुलों के बीच एक वैवाहिक सम्बन्ध पर अवलम्बित था। वेंगी का विमलादित्य (ल०१०११-१८ई०) राजराज प्रथम चोड़ की कन्या कुन्दवा(कुन्दवै) से ब्याहा था, और उनका पुत्र राजराज विष्णुवर्धन राजेन्द्र प्रथम चोड़ की कन्या अम्भंगदेवी का पति था। परंतु इस सम्बन्ध से उत्पन्न राजेन्द्र द्वितीय चालुक्य (पश्चात् कुलोत्तुंग प्रथम) ने स्वयं राजेन्द्रदेव द्वितीय चोड़ की कन्या मधुरान्तकी से ब्याह किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि कुलोत्तुंग प्रथम की नसों में चालुक्य से अधिक चोड़ रक्त था। और यद्यपि इसका प्रमाण नहीं है कि वह चोड़ कुल द्वारा गोद ले लिया गया, मूल शाखा में पुत्र के अभाव तथा अधिराजेन्द्र की मृत्यु के समय राज्य के अंतर्गत अशांति के कारण उसको चोड़-मुकुट का दावेदार होने में बड़ी सहायता मिली। संभवत: कुलोत्तुंग प्रथम ने पहले वेंगी के अपने चाचा विजयादित्य सप्तम के साथ ही निपटारा किया और तब ९ जून १०७० ई० को चोड़ देश का राजदंड धारण किया[2]। इस प्रकार कुलोत्तुंग प्रथम वेंगी के पूर्वी चालुक्य तथा तंजवुर (तंजौर) के चोल दोनों राजकुलों का सम्मिलित राजा हुआ। पश्चिमी चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने इन राजकुलों के सम्मिलित शासन को तोड़ना चाहा, परन्तु उसके प्रयत्न निष्फल हुए। सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल ने, जो स्वयं अपने योग्य अनुज को अपने राज्य से पृथक् करना चाहता था, संभवत: विक्रमादित्य को इस प्रकार का आचरण करने को उकसाया था। चोड़ गद्दी पर अपनी स्थिति व्यवस्थित कर और राज्य में शांति स्थापित कर कुलोत्तुंग प्रथम ने अपने पुत्र राजराज मुम्मडीचोड़ को वेंगी का शासक नियुक्त किया। राजराज ने शासन की रज्जु २७ जुलाई १०७६ ई० को ग्रहण की और एक साल बाद उसे छोड़ भी दिया। तदनंतर उसके भ्राता वीर-चोड़ (१०७८-८४ ई०) और राजराज-चोड़गंग (१०८४-८९ ई०) क्रमशः वेंगी के शासक हुए। उसके बाद वेंगी राजकुलीय शासकों का केन्द्र हो गयी। कुलोत्तुंग प्रथम ने तदनन्तर पांड्य और केरल राजाओं तथा अन्य सामन्तों का दक्षिण में दमन किया। उसका मालवा के समसामयिक परमार राजा से भी युद्ध

---

१. देखिए, के० ए० नीलकंठ शास्त्री : The Colas, खंड २ (भाग १), मद्रास, १९३७ अन्तिम अभिलेख कुलोत्तुंग के शासन के ५२ वर्ष का है (वही, पृ० ४९, ६१)।

२. Ep. Ind., ७, पृ० ७, नोट ५। "On dates of Cola Kings", देखिए, वहीं, पृ० १-१०; ८, पृ० २६०-७४; ९ पृ० २०७-२२।

हुआ और कलिंग दो बार उसके अधिकार में आया। कुलोत्तुंग ने स्वयं शासन के २६वें वर्ष से पूर्व पश्चिमी चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ की नीति को कुचलने के लिए पहले आक्रमण का नेतृत्व किया और १११२ ई० के लगभग दूसरा आक्रमण उसने पूर्वी गंग राजा अनन्तवर्मन् चोड़गंग (ल०१०७७-११४७ई०)के विरुद्ध अपने विश्वस्त सेनानी करुणाकर तोंडैमान् के नेतृत्व में भेजा। इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि कुलोत्तुंग प्रथम का कोई अधिकार समुद्र पार के द्वीपों पर न था और उसके हाथ से गंगावाड़ी अथवा दक्षिण मैसूर भी उसके शासन के काल के अन्त में निकल गया। गंगवाड़ी सम्बन्धी हानि होयसल-नरेश बिट्टिग विष्णुवर्धन (लगभग १११०-४० ई०), जो विक्रमादित्य षष्ठ के चालुक्य आधिपत्य से प्रायः सर्वथा स्वतन्त्र हो गया था, के आक्रमणों का परिणाम था।

कुलोत्तुंग प्रथम ने राज्य-शासन की आन्तरिक व्यवस्था में कुछ सुधार किये। इनमें सबसे महत्वपूर्ण कर और आय के उद्देश्य से राज्य की सारी भूमि की माप थी।

कुलोत्तुंग प्रथम के शासन काल में धार्मिक और साहित्यिक कार्य भी काफी हुए। वह स्वयं परम शैव था फिर भी उसने नेगापट्टम के बौद्ध चैत्यों को अनेक दान दिये, परंतु वैष्णव आचार्य रामानुज के प्रति उसकी असहिष्णुता इस सीमा तक पहुँच गयी कि उस महात्मा को श्रीरंगम् (त्रिचनापल्ली के पास) छोड़कर बिट्टिग विष्णुवर्धन होयसल की शरण मैसूर में लेनी पड़ी। कुलोत्तुंग प्रथम के शासन काल में जिन साहित्यिक विभूतियों ने साहित्य सृजन किया उनमें कलिंगत्तुंप्परनी के रचयिता जैगोंदन और शिलप्पधिकारम् की टीका के प्रणेता अदियर्क्कुनल्लर विशेष उल्लेखनीय हैं।

कुलोत्तुंग प्रथम के उत्तराधिकारी

प्रायः आधी सदी के दीर्घ शासन के पश्चात् ११२२ ई०[1] के आसपास कुलोत्तुंग मरा और उसका उत्तराधिकार उसके पुत्र विक्रम चोड़ त्यागसमुद्र को मिला जो पहले वेंगी का शासक रह चुका था। वह सम्भवतः वैष्णव था और लोगों का विश्वास है कि रामानुज उसके शासनकाल में मैसूर से चोड़ देश को लौट आए। विक्रम चोड़ (ल० १११८-३३ ई०)[2] और उसके क्रमिक उत्तराधिकारी कुलोत्तुंग द्वितीय (ल० ११३३-४७ ई०), राजराज द्वितीय (ल० ११४७-६२ ई०) और राजाधिराज द्वितीय (ल० ११६२-७८ ई०) दुर्बल राजा थे और उनके शासनकाल में चोड़ शक्ति अधोधः गिरती गई। द्वारसमुद्र के होयसल अब दक्षिण भारत की राजनीति में समर्थ शक्ति गिने जाने लगे थे और सिंहल, केरल तथा पांड्य राज्यों ने भी

---

१. कुलोत्तुंग प्रथम के शासन का सबसे पिछला ज्ञात वर्ष ५२ है। The Colas, खंड २, भाग १, पृ० ४६, ६१।

२. विक्रम चोड़ का राज्यारोहण १११८ ई० के जून के प्रायः अंत में हुआ (Ep. Ind., ७, पृ० ४-५)। कुछ वर्ष तक संभवतः उसने अपने पिता के साथ सम्मिलित राज्य किया (The Colas, पृ० ६१)।

चोड़ आधिपत्य से स्वतंत्र हो जाने के प्रयत्न किए। चोड़ शक्ति इतनी दुर्बल हो गई थी कि सिंहलराज ने सिंहासन के एक दावेदार की ओर से पांड्य राजकार्यों में हस्तक्षेप करने तक का साहस किया। परन्तु अन्ततः राजाधिराज द्वितीय उसका समर्थ प्रतिवाद कर अपने संरक्षित को पांड्य सिंहासन पर बिठाने में सफल हुआ। अगले राजा कुलोत्तुंग तृतीय (ल० ११७८-१२१६ ई०)[1] को भी पांड्य राज्य के आंतरिक उपद्रवों में फँसना पड़ा और इस बात का प्रमाण है कि मदुरा पहुँच कर उसने अंतरीप की ओर बढ़ते हुए सिंहली आक्रमणों को व्यर्थ करके लौटा दिया। परंतु इन छोटी-मोटी सफलताओं के बावजूद भी चोड़ उत्कर्ष के दिन समाप्त हो चले थे। कुलोत्तुंग तृतीय के पुत्र और उत्तराधिकारी राजराज तृतीय (ल० १२१६-५२ ई०) के शासनकाल में स्वयं तंजोर को मारवर्मन् सुन्दर पांड्य प्रथम (ल० १२१६ ३८ ई०) ने लूटा और राजराज की स्थिति इतनी भयावह हो उठी कि उसे वीर-बल्लाल द्वितीय अथवा नरसिंह द्वितीय होयसल (राज्यारोहण १२१५ ई०) को सहायता और बंधन से मुक्त कराने के लिए शीघ्र आने की प्रार्थना करनी पड़ी। इस काल पल्लव जाति का राजा कोप्पेरुंजिग भी सेन्दमंगलं (दक्षिण अर्काट जिला) में प्रबल हो उठा और उसने भी, कहा जाता है, राजराज तृतीय को बंदी कर लिया। होयसलराज ने फिर सहायता की और कोप्परुंजिग को परास्त कर राजराज को मुक्त किया। इस प्रकार चोड़ों की राज्य-लक्ष्मी अत्यन्त चंचल हो उठी थी और जब राजराज तृतीय तथा राजेन्द्र तृतीय में १२४६ ई० में गृहकलह शुरू हुआ तब ओजस्वी गणपति (लगभग ११९९-१२६१ ई०) के नेतृत्व में द्वारसमुद्र के होयसलों, वारंगल के काकतीयों तथा मदुरा के पांड्यों ने पतनोन्मुख चोड़ राज्य के अनेक प्रदेशों को छीन लिया। वस्तुतः राजेन्द्र तृतीय (जिसने पहले अपने प्रतिस्पर्धी राजराज तृतीय के साथ १२४६ ई० से १२५२ तक सम्मिलित शासन किया और पश्चात् १२६७ ई० तक स्वतन्त्र शासन किया) के समय में ही जटावर्मन् सुन्दर पांड्य (ल० १२५१-७२ ई०) ने चोड़ों की शेष शक्ति पर मरणान्तक चोट की। उसने चोड़ देश को रौंद डाला और काञ्ची पर अधिकार कर लिया। उसने अपने समकालीन राजाओं को संत्रस्त कर दिया और अपने अभिनव उत्कर्ष के अनुरूप महाराजाधिराज का विरुद धारण किया। राजेन्द्र तृतीय राज्य की बिगड़ती हुई हालत को सम्हाल न सका, और १२६७ ई० तक आन्तरिक दुर्व्यवस्था तथा पांड्यों और अन्य शक्तियों के अभ्युदय के कारण उसका साम्राज्य बिखर चला और चोड़ अंधकार में विलुप्त हो गये।

---

१. Ep. Ind., ८, पृ० २६०। कीलहार्न का कहना है कि कुलोत्तुंग तृतीय का शासन "११७८ ई० में (लगभग) ६ठी और ८वीं जुलाई के बीच और राजराज तृतीय का १२१६ ई० में (लगभग) २७ जून और १० जुलाई के बीच हुआ"।

चोड़-शासन[1]

राजा और उसके कर्मचारी

चोड़ अभिलेखों से प्रमाणित है कि चोड़ों का शासन सुव्यवस्थित और शक्तिमान् था। सम्राट् शासन-यन्त्र का हृदय था। वह अपने कठिन उत्तरदायित्व के कर्तव्यों को अपने अध्यवसाय और मंत्रियों तथा अन्य अधिकारियों की सलाह से पालन करता था। उसकी मौखिक आज्ञायें (तिरुवाक्य-केल्वी) राजकीय निजी-मंत्री (प्राइवेट सेक्रेटरी) लिख लिया करता था। राजराज प्रथम और उसके पुत्र के समय में प्रधान सेक्रेटरी (ओलैनायकं) और एक अन्य अधिकारी (पेरुंदरम्)को कार्य-प्रेषक-क्लर्क (विडैयाधिकारी) द्वारा उचित पक्ष को सम्पादनार्थ भेजने के पूर्व राजकीय आज्ञाओं पर अपनी अनुमति देनी पड़ती थी। अंत में स्थानीय शासक इन आज्ञाओं की समीक्षा करते थे और तब रजिस्टर पर दर्ज हो जाने के बाद वे रिकार्ड के दफ्तर में सुरक्षित कर ली जाती थीं।

प्रादेशिक विभाजन

राज्य अथवा राष्ट्र अनेक मंडलों में विभक्त था। जिनमें से प्रत्येक के शासन के लिए एक शासक नियुक्त था। इन प्रांतों के शासक बहुधा राजकुमार अथवा अभिज़ातकुलीय होते थे। इनमें से कुछ प्रांत चोड़ सम्राटों द्वारा विजित प्रदेश भी थे। इनके अतिरिक्त सामंत राजाओं के राज्य थे जो केन्द्रीय शक्ति को कर देते थे और आवश्यकता होने पर सेना आदि से सहायता करते थे। प्रांत कोट्टम् अथवा वलनाडुओं में विभक्त थे, और शासन के अन्य भाग क्रमशः नाडु (जिले), कुर्रम् (ग्रामों के समूह) और ग्रामम् थे।

सभायें

इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि चोड़ उत्कर्ष काल में इन भूभागों का शासन इनकी अपनी जनसत्ताक सभायें करती थीं। पहली सभा सम्पूर्ण मंडल की जनता की थी और उसका उल्लेख इसके शासनांतर्गत प्रांत के कर की छुट के सम्बन्ध में हुआ है[2]। इसके अतिरिक्त अभिलेखों में नाडु (जिला) की जनता की 'नाट्टर' नाम की सभा तथा "नगरम् के व्यापारिक वर्गों की नगरत्तार नामक सभा" के भी उल्लेख मिलते हैं। नाट्टर और नगरत्तार सम्भवतः क्रमशः जनपद और पौर हैं। अभाग्यवश इनके विधान तथा कार्यक्रम का हमें विस्तृत ज्ञान नहीं। इनके अतिरिक्त

---

१. देखिए, डा० कृष्णस्वामी आयंगर : Ancient India, पृ० १५८-१६०; प्रो० नीलकंठ शास्त्री : Studies in Cola History and Administration, पृ० ७३-१६२; The Colas, खंड २, भाग १, पृ० २१०-४६२। इन ग्रन्थों के अनेक सुझावों को मैंने अंगीकृत किया है।

२. देखिए, नीलकंठ शास्त्री : Studies in Cola History and Administration, पृ० ७६।

श्रेणी और पूग तथा इस प्रकार के अन्य जनसत्ताक संगठनों द्वारा भी स्थायी शासन-व्यवस्था को सहायता मिलती थी। श्रेणी और पूग आदि इस प्रकार की संस्थायें थीं जिनके एक ही शिल्प के शिल्पी सदस्य होते थे[1]। गाँव की सभायें ऊर कहलाती थीं। ऊर स्थानीय निवासियों के असंगठित सम्मेलन थे जो आवश्यकतावश हुआ करते थे। तदनन्तर ब्राह्मणों के गाँव (ब्रह्मदेवों) की सभा अथवा महासभा थी जिसके सम्बन्ध में हमारे पास पर्याप्त सामग्री है। अभिलेखों (विशेषकर उत्तरमेरूर के—मद्रास से प्रायः ५० मील दक्षिण पश्चिम) से ज्ञात होता है कि गाँव की ये सभायें साम्राज्य अधिकारियों के तत्वावधान में जनपद के प्रबन्ध में प्रायः स्वतन्त्र थीं और उन्हें उस सम्बन्ध में पूरी शक्ति प्राप्त थी। वे ही गाँव की भूमि की स्वामिनी थीं और जुती अथवा परती दोनों प्रकार की भूमि उनके अनुशासन में थी। चूंकि कृषि उनका मुख्य कर्म था इस कारण वे जंगल को काटकर नयी भूमि प्रस्तुत करतीं और कृषकों की अनेक प्रकार से रक्षा करती थीं। वे भूमि से लगान न मिलने पर उस पर अधिकार कर लेतीं। परन्तु फिर भी परम्परागत करों को वसूल करने में वे सख्ती का व्यवहार नहीं करती थीं। अनेक बार केन्द्रीय शासन अथवा उसके स्थानीय प्रतिनिधि को बिना आवेदन किए सभा धर्म के अर्थ भूमि बेच देती अथवा अलग कर देती थी। इसके अतिरिक्त धार्मिक 'ट्रस्ट' के रूप में वह भूमि अथवा द्रव्य का दान भी स्वीकार करती थी। सभा का कर्तव्य गाँव के सदाचरण को संभालना भी था। उसे न्याय और दण्ड का कुछ अधिकार भी प्राप्त था। मठों के जरिए सभा गाँव के बच्चों को संस्कृत और तामिल भाषाओं में शिक्षा देती थी। सभा के सदस्यों की संख्या ठीक-ठीक ज्ञात नहीं; सम्भवतः वह गांव के महत्व तथा उसके क्षेत्रफल पर निर्भर करती थी। सभा की बैठकें मन्दिर अथवा नगर के हाल (जहाँ सम्भव था) अथवा इमली या अन्य किसी वृक्ष के नीचे हुआ करती थीं। सामूहिक कार्य के विविध प्रसंगों के सम्पादन के लिए सभा की अनेक समितियाँ थीं। इस प्रकार पंचवार वारियम् नाम की समिति साधारण प्रबन्ध करती और ऐरि वारियम नाम की समिति तालावों का और पोण वारियम नाम की समिति स्वर्ण का प्रबन्ध करती थी। इसी प्रकार उद्यानों, खेतों, मन्दिरों, दानों, न्याय आदि के लिए भी अपनी-अपनी समितियाँ थीं। इन समितियों के निर्वाचन सम्बन्धी नियम भी बने हुए थे। प्रत्येक ग्राम 'कुटुम्बों' में बँटा था और निर्वाचन के लिए खड़े होने की विशेष योग्यतायें अथवा अयोग्यतायें आयु, शिक्षा, आचार, रहने के तरीके, सम्बन्ध, सामाजिक स्थिति आदि पर निर्भर करते थे। सदस्य एक वर्ष के लिए ही निर्वाचित होता था। निर्वाचन की शैली बड़ी सख्त थी। पहले सब उम्मीदवारों के नाम के टिकट एक बर्तन में डालकर खूब मिला लिए जाते, फिर एक-एक कर उनको एक लड़का

१. देखिए, आर० सी० मजूमदार : Corporate life in Ancient India; आर० के० मुकर्जी : Local Government in Ancient India.

निकालता जाता, फिर पुरोहित-संयोजक सफलताओं की घोषणा करता। यदि कभी किसी समिति का सदस्य किसी दंडनीय अपराध का अपराधी होता तो उसे झट समिति से अलग कर दिया जाता। प्रत्येक सदस्य से आशा की जाती थी कि वह ईमानदार हो और अपने आचरण से दूसरों के लिए आदर्श उपस्थित करे। आय-व्यय का हिसाब, अत्यन्त सावधानी से रखा जाता था और उसकी नियत समय पर गणक जाँच करते थे। किसी प्रकार की असावधानी इस संबंध में क्षम्य न थी और गबन तथा बेईमानी का दंड कठोर था[1]।

भूमि का माप

समय-समय पर राज्य की ओर से भूमि का माप हुआ करता था। यह माप छोटे से छोटे अंश से भी सही उतरता था और सारी काश्तों तथा खेतों का रिकार्ड रखा जाता था। चोड़ शासन के पूर्वकाल में १६ और १८ बित्तों के लट्ठे माप के काम लाये जाते थे परंतु बाद में ये लट्ठे कुलोत्तुंग प्रथम के चरण मान से नियत कर लिये गये।

'आय' के साधन[2]

राज्य की आय प्रमुखत: खेतों के लगान से थी जिसकी दर उपज का छठा भाग था। मान साधारणत: यही था यद्यपि भूमि के गुण, दोष अथवा सिंचाई के साधनों के भाव और अभाव के अनुसार उस दर में अंतर पड़ता रहता था।[3] सैलाब अथवा दुर्भिक्ष पड़ने पर लगान में छूट दी जाती थी। राजकीय लगान ग्राम सभाएँ एकत्र करतीं और उसे द्रव्य अथवा सिक्का दोनों रूप में राज्य को प्रदान करतीं। अन्न का मान तब एक कलम् (प्राय: तीन मन) था और प्रचलित सोने का सिक्का कशु कहलाता था। एक अभिलेख में अनेक व्यवसायों के ऊपर लगने वाले करों का परिगणन है; उदाहरणत: कर, करघों (तरि इरिय), कोल्हुओं (शेक्ककेरयी), व्यापार (सेट्टिरयी), सुनारों (तत्तारपाट्टम), पशुओं, तालावों, नदियों (ओलक्कुनीर पाट्टम्), नमक (उप्पायम्), चुंगी (बलि आयम्), बाटों (इड़ै वरि), बाजारों (अंगाडि पाट्टम) आदि पर लगाते थे। इनके अतिरिक्त आय के और भी जरिये थे, जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं[4]। इससे विदित होता है कि अपने खजाने (तालम्) को भरने के लिए राज्य सब संभाव्य साधनों को टटोलता था।

व्यय

व्यय के साधन निम्नलिखित थे : राज-प्रासाद, नागरिक और सैन्य-शासन,

---

१. The Colas, खंड २, भाग १, अध्याय १८।
२. वही, अध्याय १९।
३. राज्य की आय बढ़ाने के लिए वन और परती भूमि निरंतर जोत में लाई जाती थी।
४. डा० आयंगर : Ancient India, पृ० १८०।

नगर-निर्माण (उदाहरणतः गंग इकोण्डचोड़पुरम्), मंदिर और पथ-निर्माण, सिंचाई की नहरों तथा अन्य सार्वजनिक निर्माण के काम।

सेना

चोड़ सम्राटों की सेना अत्यन्त सुव्यवस्थित थी और उनकी पोत सेना भी शक्तिमान थी जैसा राजराज प्रथम और राजेन्द्र प्रथम की अपने पड़ोसी शक्तियों तथा हिन्द महासागर और मलय देश के द्वीपों की विजयों से प्रमाणित है। चोड़ सेना अस्त्रों तथा आरोही और अनारोही की दृष्टि से अनेक भागों में विभाजित थी। इस प्रकार उनकी सेना में एक स्कन्ध "चुने हुए धनुर्धरों का समूह (विल्लिगड़)," दूसरा शरीर-रक्षक पदाति (वड़पेर्र कैक्कोलर), तीसरा "दक्षिणपार्श्व के पदाति (वलंगै के वेलैक्कारर)", चौथा "चुने हुए अश्वारोही" (कुदिरै च्चेवगर), पाँचवा गज दल (आनैयाट्कल, कुँजिर मल्लर), आदि थे। सेना कडगम नाम की अनेक छावनियों में रखी जाती थी जहाँ उनको सुव्यवस्थित सैन्य-शिक्षा दी जाती थी। कुछ सेनापति ब्राह्मण थे जिनको ब्रह्माधिराज कहते थे।

चोड़ों के निर्माण-कार्य

(१) सिंचाई के कार्य—पल्लवों की ही भाँति चोड़ों ने भी सिंचाई के आयोजन किये थे। कुँए और तालाब खुदाने के अतिरिक्त उन्होंने कावेरी तथा अन्य नदियों के प्रवाह को रोककर पत्थर से बँधे अनेक 'डैम'(जलराशि—झील)बनवाये।[1] और उनमें से सुविस्तृत भूखंडों की सिंचाई के लिए नहरें निकलवायीं। इस प्रकार का एक अद्भुत कृत्य राजेन्द्र प्रथम के शासन-काल का है। उसने अपनी राजधानी गंगैकोंड़चोड़-पुरम् के समीप ही एक सुविस्तृत झील खोदवाकर उसे कोलेरुन और वेल्लार नदियों के जल से भरवा दिया। इसका बाँध सोलह मील लंबा था और इसमें प्रस्तर-प्रणालिकाएँ और नहरें काट कर निकाली गई थीं। दरिद्र कृषकों का इस जलराशि से कितना लाभ हुआ होगा।

सड़कें

(२) चोड़ों ने प्रशस्त राजपथ भी निर्मित किए। व्यापार के यातायात में इनसे बड़ी सहायता मिली। आक्रमणों के समय चोड़ सेनाओं की गति को इन सड़कों से तत्परता प्राप्त होती होगी। विशेष राजमार्गों पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर सेना की टुकड़ियाँ नियुक्त थीं और नदियों पर घाट उतरने का प्रबंध था।

नगर और मन्दिर आदि

(३) चोड़ राजाओं ने नगरों का निर्माण किया और उन्हें मंदिरों तथा प्रासादों से अलंकृत किया। मंदिर तात्कालिक ग्राम और नागरिक जीवन के केन्द्र थे। वहाँ जनता को आध्यात्मिक शांति मिलती थी और सदा ऋचाओं का पाठ होता रहता था। मंदिर ही वेद, पुराण, रामायण-महाभारत, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण और अन्य विद्याओं के शिक्षण-केंद्र थे। वहाँ राजा और श्रीमान् विविध धार्मिक

अनुष्ठान करते और दरिद्रों को दान देते थे। त्योहारों तथा उत्सवों पर मंदिरों में ही नाटक खेले जाते थे और जनता नृत्य-गान से अपना मनोरंजन करती थी।

कला

चोड़ मंदिरों की विशेषता उनके विमानों तथा प्रांगणों में है। पश्चात्कालीन द्रविड़ मंदिरों के शिखरस्तम्भ तो छोटे होते हैं परंतु उनके 'गोपुरम्' (द्वार) पर प्रभूत अलंकरण होता है। ये गोपुरम् दूर से ही दिखाई पड़ते हैं। राजराज प्रथम का वनवाया तंजोर के विशाल राजराजेश्वर नामक शिवमंदिर का विमान ८२ फीट के वर्तुलाधार पर खड़ा १३ क्रमिक कोष्ठ-प्रकोष्ठों में विभक्त प्रायः १९० फीट ऊँचा है। उसका शिखर २५ फीट ऊँचे पत्थर का एक साबूत खण्ड है जिसका वजन प्रायः ८० टन हैं। इस भारी प्रस्तर को शिखर तक पहुँचाने में कितने श्रम और कितनी वास्तु-बुद्धि की आवश्यकता पड़ी होगी! तंजोर में ही सुब्रह्मण्य का मन्दिर भी सुंदर और विशाल है। इसका निर्माण दसवीं अथवा ग्यारहवीं सदी ई० में हुआ था। राजराज प्रथम के पराक्रमी पुत्र और उत्तराधिकारी राजेन्द्र प्रथम ने भी अपनी राजधानी गंगैकोंड-चोड़पुरम् (त्रिचिनापली जिला) में इसी प्रकार एक विशालमन्दिर वनवाया। इसका विशाल लिङ्ग और अद्भुत उत्खचन कार्य विशेष दर्शनीय है। चोड़ों ने तक्षण शिल्प को प्रोत्साहन दिया और उनके समय की धातु तथा पत्थर की मूर्तियाँ अद्भुत शक्ति और सजीवता प्रस्तुत करती हैं। तंजोर और काड़हस्ति के चोड़ मन्दिरों में राजदम्पति की सुन्दर मूर्तियाँ—उदाहरणतः, राजराज प्रथम और उसकी महिषी लोकमहादेवी तथा राजेन्द्र प्रथम और उसकी रानी चोड़ महादेवी की हैं।

धर्म

जैसा अन्यत्र बताया जा चुका है, चोड़ सम्राट् शिव के उपासक[1] थे। परन्तु वे अन्य सम्प्रदायों के प्रति सर्वथा सहिष्णु थे। राजराज प्रथम ने, जो स्वयं परम शैव था, विष्णु मन्दिर बनवाये और तेगापटम के बौद्ध विहार को बहुत दान दिया[2]। जैन भी चोड़ों की सुरक्षा में अपने धर्म का शांतिपूर्वक सेवन और प्रचार करते रहे। शैव कुलोत्तुंग प्रथम ने भी एक बौद्ध विहार को ग्रामदान किया यद्यपि वैष्णव संत रामानुज के प्रति निश्चय उसने कठोरता का व्यवहार किया। परिणामतः रामानुज को श्रीरंगम् छोड़कर मैसूर जाना पड़ा परंतु कुलोत्तुङ्ग के पुत्र विक्रम चोड़ के समय में जब धार्मिक नीति फिर सहिष्णु हो गई, रामानुज स्वदेश लौटे। इस प्रकार की धार्मिक असहिष्णुता निःसंदेह असाधारण थी और साधारणतया वैष्णव अल्वर तथा शैव नयन्मर अपने सिद्धांतों की व्याख्या तथा प्रचार में सर्वथा स्वतंत्र थे। इसके अतिरिक्त

१. इस प्रकार तिरुवाडुतुरै अभिलेख (१९२५ का ११०) में परकेशरी करिकाल चोड़ द्वारा कावेरी के तट को ऊंचा करने का उल्लेख है।

२. राजराज और राजेन्द्र प्रथम के अभिलेखों में उल्लिखित शिव के ईशान, शर्व, शिव आदि नाम, जैसा प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री ने दर्शाया है (The Colas, खंड २, भाग १, पृ० २२१), "शैव-सम्प्रदाय का उत्तर-भारतीय संपर्क" प्रमाणित करते हैं।

यह भी महत्व की बात है कि संगमकाल के काव्यों को छोड़कर अन्यत्र चोड़ राजाओं द्वारा अनुष्ठित वैदिक यज्ञों का उल्लेख बहुत कम है। राजाधिराज के अभिलेखों में अश्वमेध का एकमात्र संकेत है। संभवतः यज्ञों से अधिक दान का महत्व समझा जाता था। ब्राह्मणों को बहुत दान दिया जाता था और मन्दिरों के व्यय का अधिकाधिक प्रबंध होता था।

प्रकरण ४

मदुरा के पांड्य[1]

आरम्भ

पाण्ड्य शब्दार्थ की पहेली सुलझानी अत्यंत कठिन है। जनश्रुतियाँ इस संबंध में परस्पर विरुद्ध हैं। कुछ के अनुसार पाण्ड्य उस कोरकै के तीन भाइयों के वंशज थे जिन्होंने क्रमशः पाण्ड्य, चोड़ और चेर राज्य स्थापित किये। दूसरी अनुश्रुतियों से उनका संबंध पाण्डवों अथवा चंद्रमा से स्थापित होता है। क्या इन प्रकट विरोधी कहानियों का यह अर्थ तो नहीं है कि यद्यपि पाण्ड्य द्रविड़ जाति के थे, आर्यों द्वारा दक्षिण भारत में उत्तरी धर्म और संस्थाओं की प्रतिष्ठा हो जाने पर उन्होंने महाभारत के वीरों से अपना संबंध जोड़ना चाहा ?

पाण्ड्य भूमि

पाण्ड्यों ने भारतीय अंतरीप के सुदूर दक्षिण के पूर्वी तट भाग पर राज किया। निःसंदेह उनकैं राज्य की सीमा राजा के प्रबल अथवा दुर्बल होने के अनुकूल बढ़ती-घटती रही। साधारणतः पाण्ड्य देश में मदुरा, रम्नाद और टिन्नेवली के जिले शामिल थे। इनकी राजधानी मधुरा (मदुंरा) दक्षिण की मथुरा थी और ताम्रपर्णी नदी के मुहाने पर कोरकै (टिन्नेवली जिला) आरम्भिक काल में उनका मुख्य व्यापारिक बंदरगाह था। पश्चात् प्राकृतिक तट निर्माण के फलस्वरूप धीरे-धीरे इसका ह्रास हो गया और नदी के उतार की ओर थोड़ी दूर पर कायल का नगर फिर उनके व्यापार का केंद्र बना।

प्रारम्भिक वृत्तान्त

पाण्ड्य राज्य अत्यंत प्राचीन था। कात्यायन (ल० चतुर्थ शती ई० पू०) ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर अपनी टीका में संभवतः उसका उल्लेख किया है और वाल्मीक़ीय रामायण में भी पाण्ड्य राजधानी की सम्पत्ति का वर्णन मिलता है। महावंश के एक संदिग्व स्थल के अनुसार सिंहल के राजकुमार विजय ने एक पाण्ड्य राजकुमारी के साथ बुद्ध के परिनिव्वान के शीघ्र ही पश्चात् विवाह किया। इसके अतिरिक्त कौटिल्य के अर्थशास्त्र[2] में भी पाण्ड्यकावट (पाण्ड्य देश में एक पर्वत)

---

१. देखिए, नीलकण्ठ शास्त्री : 'The Pandyan Kingdom (लंदन, १९२९)। पाण्ड्य राजाओं की तिथियों के सम्बन्ध में देखिए, Ep. Ind., ७, पृ० १०-१७; ८, पृ० २७४-८३; ९ पृ० २२२-२९।

२. Arthashastra, खंड १, अध्याय ११; अंग्रेजी अनुवाद, तृतीय सं० (१९२९), पृ० ७६।

में मिलनेवाले पांड्यकावटक नामक एक विशेष प्रकार के मोती का उल्लेख मिलता है। और मेगस्थनीज अपनी इण्डिका में पांड्यों के संबंध में कुछ विचित्र सामग्री प्रस्तुत करता है। उसका वक्तव्य है कि पाण्ड्य जाति का शासन नारियाँ करती थीं[1] और छः वर्ष की आयु में ही वे संतान उत्पन्न करती थीं।[2] तदनन्तर वह कहता है कि हिरेक्लीज की पण्डाइया नाम की एक ही कन्या थी और जिस स्थान में वह उत्पन्न हुई थी और जिसका राज्य उसके पिता ने उसको दिया वह उसके नामानुसार पण्डाइया कहलाया, और उस कन्या ने अपने पिता से ५०० हाथी, ४००० घुड़सवार और प्रायः १३००० पदाति सेना प्राप्त की[3]। मेगस्थनीज के प्रमाण का मूल्य चाहे जो हो, अशोक के द्वितीय और त्रयोदश शिलालेखों में पाण्ड्यों का उल्लेख उसके साम्राज्य की दक्षिण सीमा के बाहर स्वतंत्र जाति के रूप में हुआ। फिर हाथीगुम्फा के अभिलेख (पंक्ति १३) में लिखा है कि कलिंग के खारवेल ने पाण्डयराज को जीतकर उससे "घोड़े, हाथी, रत्न, लाल और असंख्य मोती" लिए। स्ट्रेबो के वृत्तान्त में भी एक पांडय राजा के प्रति संकेत है[4]। स्ट्रेबो लिखता है कि "पेंडियन राजा" ने महान् रोमन सम्राट् आगस्टस् सीजर के पास लगभग २० ई० पूर्व में दूत भेजे। पेरिप्लस और टालेमी की ज्योग्रफी (Geography) में पंडिनोई, उनकी राजधानी मदौरा (मदुरा) और उनके अनेक अन्य नगरों तथा व्यापारिक केन्द्रों का उल्लेख है।

अन्धकार युग

सातवीं सदी ई० तक की पांडय राज्य सम्बंधी ऐतिहासिक सामग्री अत्यंत न्यून है। शिलप्पदिकारम, मणिमेकलइ और अन्य संग्रहों के संगम साहित्य में, जो "ई० संवत् की प्रारम्भिक सदियों" में रखा जाता है, निश्चय राजाओं के कुछ नाम मिलते हैं परंतु तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक जीवन का वर्णन करने के कारण इन राजाओं के तिथिक्रम तथा वीर कृत्यों के सम्बंध में वे प्रायः मूक हैं। इन राजाओं में से एक नेडुनजेलियन ने तलैयालंगानम् (तंजोर जिले में वर्तमान तलै-आलमकाडु) नामक स्थान पर शत्रुओं के शक्तिमान संघ को परास्त कर कुल की प्रतिष्ठा बढ़ाई। संगम काल के बाद की तीन चार शताब्दियाँ पूर्णतः अन्धकार में हैं। संभवतः पल्लवों के उत्कर्ष के कारण पांडयों की ज्योति मलिन पड़ गयी; छठी सदी ई० में उनके देश पर कड़भ्रों ने अधिकार कर लिया[5]। परंतु आक्रामक पराजित हुए और छठी ई० के अन्त अथवा सातवीं के आरम्भ में कंडुगोन ने उन्हें देश से बाहर कर पांडय शक्ति को पुनरुज्जीवित किया।

---

१. McCrindle, Ancient India as described by Megasthenes and Arrian (१६२६), ५६, व, पृ० १६१।

२. वही, ५१, पृ० ११५। यह सर्वथा अग्राह्य है।

३. वही, एरियन, ८, पृ० २०६।

४. खंड १५, अध्याय ४, पृ० ७३।

५. The Pandyan Kingdom, पृ० ४८-४६, नोट १।

उत्कर्ष का काल

इस प्रकार कंडुग्गोन ने उस काल का आरम्भ किया जिसे "प्रथम साम्राज्य युग" कहते हैं। अभाग्यवश हमें इस राजा के विषय में विशेष ज्ञान नहीं परंतु इस बात के प्रमाण हैं कि उसने अथवा उसके पुत्र मारवर्मन् अवनिशूलामणि का उस सिंह-विष्णु से संघर्ष हुआ जो पल्लव शक्ति की इसी काल नींव डाल रहा था। दूसरा प्रबल पांड्य राजा अरिकेशरी मारवर्मन् (सातवीं सदी ई० के बीच के लगभग) था जो नेडुमरन् अथवा जनश्रुतियों का कुन् पाण्ड्य माना जाता है। आरम्भ में यह नृपति जैन था परंतु संत तिरुज्ञान सम्बंदर के प्रभाव से परम शैव हो गया था। अरिकेशरी मारवर्मन् और उसके उत्तराधिकारियों, कोच्चडयन रणधीर (ल० सातवीं सदी ई० के अन्त अथवा आठवीं के आरम्भ में), मारवर्मन् राजसिंह प्रथम और नेडुनजड़यन वरगण प्रथम (ल० ७६५-८१५), के समय में चोड़ों, केरलों और अन्य पड़ोसियों की शक्ति दबने से पांड्य राज्य का चतुर्दिक् प्रसार होता रहा। इन राजाओं में से पिछले दोनों ने नदिवर्मन् पल्लवमल्ल के विरुद्ध संभवतः सफलतापूर्वक युद्ध किये। तदनंतर नेडुनजडयन ने कोंगु देश (वर्तमान कोयम्बटूर और सालम जिले) सम्बंधी पिता की विजय पूरी की और वेनाड (दक्षिण ट्रावनकोर) को अपने राज्य में मिला लिया। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी श्री-मार-श्री-वल्लभ (ल० ८१५-६२ ई०) ने सिंहल के राजा[1] को परास्त कर और कुडमुकु (कुम्भकोनम्) में पल्लवों, गंगों तथा चोड़ों के संघ को तोड़ कर ख्याति प्राप्त की। परंतु पल्लवों के साथ संघर्ष उस अपराजितवर्मन् के समय तक चलता रहा जिसने गंगराज पृथ्वीपति प्रथम और संभवतः आदित्य प्रथम चोड़ की सहायता से ८८० ई० के लगभग कुम्बकोनम् के निकट श्री-पुरम्बीय (तिरुप्पुरम्बियम्) के युद्ध में पाण्ड्य नृपति वरगुण द्वितीय पर पूर्णतः विजय प्राप्त की। इस भारी चोट के अतिरिक्त पाण्डूयों को चोड़ों के उत्कर्ष के कारण दक्षिण की उलझी राजनीतिक परिस्थिति में एक और विपत्ति का सामना करना पड़ा। कहा जाता है, कि मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय ने सिंहल के राजा की सहायता से चोड़ों का दमन करने के लिए परांतक प्रथम (ल० ९०७-५३ ई०) पर आक्रमण किया। परन्तु परास्त होकर उसे प्रभूत हानि उठानी पड़ी। तब विजयी शत्रु ने पाण्ड्य भूमि पर अधिकार कर लिया और अपने इस स्मरणीय कृत्य के उपलक्ष्य में 'मदुरेकोन्ड' का विरुद धारण किया। मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय सिंहल भाग गया और वहीं से अपना राज्य लौटाने के प्रयत्न करता रहा जो सर्वथा निष्फल हुए।

चोड़ आधिपत्य

इस प्रकार पाण्ड्यराज अपनी स्वतंत्रता खो बैठा और उसे चोड़ आधिपत्य में प्राय ९२० ई० से १३वीं सदी के आरम्भ तक रहना पड़ा। यह सत्य है कि राज-

१. परन्तु सिंहली अपने अभिलेखों में अपनी विजय घोषित करते हैं।

कुल उन्मूलित न हो सका और समय-समय पर चोड़ों के आधिपत्य से स्वतत्र हो जाने के प्रयत्न उसके वंशज करते रहे। तक्कोलम के युद्ध (९४९ ई०) ने, जिसमें कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट ने चोड़ों को भारी धक्का पहुँचाया था, एक अवसर दिया परंतु वीर-पाण्ड्य का उठता हुआ मस्तक कुचल दिया गया। विद्रोही राजा बंदी करके मार डाला गया। इसी प्रकार राजराज प्रथम (ल० ९८५-१०१४ ई०) को भी अमरभुजंग का दमन और पाण्ड्य भूमि पर अधिकार करना पड़ा। फिर भी परेशानी कम न हो सकी और परिणामतः राजेन्द्र प्रथम (ल० १०१४-४४ ई०) को अपने पुत्र जटावर्मन् सुन्दर को चोड़-पाण्डय उपाधि देकर वहाँ का शासक नियुक्त करना पड़ा। इस प्रकार पाण्डय देश चोड़ साम्राज्य का प्रान्तमात्र बन गया। परंतु इस सीधे अधिकार के बावजूद भी पाण्डय चेरों और सिंहलियों के साथ विद्रोह का झण्डा उठाये रहे और चोड़ राजाओं को उनको बार-बार परास्त करने की कठिनाई उठानी पड़ी। राजाधिराज द्वितीय (ल० ११६२-७८ ई०) के समय तक तो चोड़ अधिकार इतना शिथिल पड़ गया कि सिंहल राजा ने पराक्रम और उसके पुत्र वीर के पक्ष में पाण्ड्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने का साहस तक किया। इसके विरुद्ध पाण्ड्य सिंहासन के दूसरे दावेदार कुलशेखर के पक्ष का समर्थन चोड़ अधिपति ने किया था। यद्यपि गद्दी चोड़ अधिपति द्वारा संरक्षित कुलशेखर को ही मिली तथापि इससे यह स्पष्टतः प्रदर्शित हो गया कि चोड़ दक्षिण भारत की राजनीति के एकमात्र निर्माता न रहे। चोड़ शक्ति की अंतिम लपट तब दिखाई पड़ी जब कुलोत्तुंग तृतीय (११७८-१२१६ ई०) ने सिंहलियों को भगा कर मदुरा पर अधिकार कर लिया और कुलशेखर के उत्तराधिकारी विक्रम पाण्डय की रक्षा की। इस घटना के पश्चात् चोड़ तीव्र गति से पतनोन्मुख हुए और पाण्डयों ने धीरे-धीरे अपनी खोई हुई शक्ति और प्रभाव फिर से पाया।

समृद्धि का उत्तरकाल

११९० ई० में जटावर्मन् कुलशेखर के राज्यारोहण के साथ-साथ पाण्ड्यों के भाग्य फिरे। इस काल से उनके पुनरुज्जीवन का आरम्भ हुआ और प्रायः एक सदी उन्होंने दक्षिण भारत की राजनीति में अपना दबदबा कायम रखा। इस काल को "द्वितीय पाण्ड्य साम्राज्य का युग" कहते हैं। और इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री पर्याप्त है; परन्तु समान नामों के उल्लेख तथा अनेक राजाओं के राज्य के विविध प्रांतों पर समानकालिक शासन के कारण कुल तथा तिथिक्रम सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं। कुछ विदेशी लेखकों ने तो परिणामतः यहाँ तक कहा है कि 'मालाबार के विस्तृत प्रांत' के "५ मुकुटधारी राजा" थे परन्तु सम्मिलित शासन का यह सिद्धांत वास्तव में निराधार है क्योंकि ये राजा स्थानीय सामंत थे। और इसी हैसियत से अपने-अपने प्रांतों पर शासन करते थे।

जटावर्मन् कुलशेखर के उत्तराधिकारी मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम (ल०

१२१६-३८ ई०) के शासन काल में चोड़ों को और पराभूत होना पड़ा। इस राजा ने उनके राज्य को रौंद डाला और उनके नगरों तंजोर तथा उरैयुर को लूटकर जला डाला। फिर भी जान पड़ता है कि इन दोनों अवसरों पर नरसिंह द्वितीय होयसल के हस्तक्षेप के कारण मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम राजराज तृतीय को सर्वथा विनष्ट न कर सका। नरसिंह द्वितीय एक अभिलेख में "पाण्ड्य शक्ति नाशकर्ता तथा चोड़ राज्य का प्रतिष्ठाता" कहा गया है। उसका यह सक्रिय हस्तक्षेप अनिवार्य था और स्वयं वह श्रीरंगम् तक जा पहुंचा था क्योंकि पांड्यों की शक्ति की अभिवृद्धि का अर्थ अनुपाततः होयसल शक्ति का ह्रास भी था। मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य द्वितीय (ल० १२३८-५१ ई०) के समय चोड़-पांड्य होयसल सम्बन्ध प्रायः पूर्ववत् बना रहा। दूसरा नृपति जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य (ल० १२५१-७२ ई०) शक्तिमान् व्यक्ति हुआ और उसने पाण्ड्यों की शक्ति को शिखर तक पहुँचा दिया। उसने अन्ततः दक्षिण में चोड़ों की सत्ता नष्ट कर दी, काञ्ची पर अधिकार कर लिया और चेर देश, कांगु देश और सिंहल को जीता। इसके अतिरिक्त उसने वीर सोमेश्वर होयसल को भी उसके कन्ननूर-कोप्पम् के दुर्ग पर आक्रमण कर दंडित किया। उसने वारंगल के काकतीय गणपति (ल० ११९९-१२६१ ई०) और सेंदमंगलम के पल्लव नरेश कोप्पेरुन्जिग को भी परास्त किया। इस प्रकार इन विजयों से जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य का शासन दक्षिण भारत के एक बड़े भाग पर उत्तर कुड्डपा और नीलोर तक स्थापित हो गया और इस उत्कर्ष के उपलक्ष में उसने 'महाराजाधिराज-श्री परमेश्वर' का विरुद धारण किया।[1] अपने युद्धों और शासन में दीर्घ काल तक जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य को जटावर्मन् वीर पाण्ड्य नाम के एक अन्य राजा का सहकार प्राप्त था; और १२६८ ई० से, अर्थात् जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य की मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व ही, मारवर्मन् कुलशेखर के शासन काल की गणना की जाती है। इस प्रकार मारवर्मन् कुलशेखर के समय भी अन्य राजाओं के शासन का वृत्तान्त मिलता है। इससे प्रभावित होकर विदेशी लेखकों ने इन राजाओं को एक दूसरे से स्वतन्त्र माना है परन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वे मदुरा के केन्द्रीय साम्राज्य शक्ति के वस्तुतः सामंत मात्र थे। सामंतीय शासन की यह पद्धति पाण्ड्य शासन की उल्लेखनीय बात है और इस पद्धति का अङ्गीकरण राज्य के विस्तार के कारण हुआ। जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य की मृत्यु के पश्चात् १२७१ ई० में मारवर्मन् कुलशेखर के हाथ में जब शक्ति आयी तब उसको विजय सम्बन्धी, विशेषकर मलयनाडु (ट्रावनकोर देश) और सिंहल में, कुछ सफलता मिली। जयन्गोण्डशोलपुरम् में उसने एक राजप्रासाद भी बनवाया जिससे प्रमाणित है कि चोड़ शक्ति अब तक विलुप्त हो गयी थी। १३वीं सदी (१२९३ ई०) के अन्त में वेनिस

१. लिखा है कि अपने यज्ञों के अनुष्ठान के समय जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने बहुत दान दिया और उसने चिदम्बरम् तथा श्रीरंगम् के मन्दिरों को अलंकृत किया तथा व्यय के लिए बहुत धन दिया।

के यात्री मारकोपोलो ने दक्षिण का भ्रमण किया और उसके वृत्तान्त ने राजा, राजसभा और साधारण जनता के जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला है। उसने वहाँ की एकत्रीभूत सम्पत्ति, मोती और बहुमूल्य रत्नों, अन्य विलास-वस्तुओं के अमित व्यापार का भी वर्णन किया है। मारकोपोलो का वृत्तान्त अधिकांश में मुस्लिम लेखक वस्साफ के लेखों से अनुमोदित हो जाता है। वस्साफ़ के अनुसार "मालाबार के राजा कलेस देवर ने ४० वर्षों से अधिक समृद्धि का जीवन व्यतीत किया।" कलेस देवर के अन्तिम दिन (वह मारवर्मन् कुलशेखर माना गया है) अत्यन्त कष्टकर बीते। उसके अनौरस पुत्र वीर पाण्ड्य तथा औरस पुत्र सुन्दर के बीच गृहकलह छिड़ गया। दोनों अपने पिता के साथ १२९६ ई० और १३०३ ई० से शासन में सम्मिलित रहे। कहा जाता है कि मारवर्मन् कुलशेखर मार डाला गया और सुंदर ने अलाउद्दीन खिलजी से सहायता माँगी। सत्य चाहे जो हो, यह स्पष्ट है कि इन दोनों भाइयों का यह युद्ध सुल्तान के निर्भीक सेनापति मलिक काफ़ूर के लिए स्वर्णिम अवसर सिद्ध हुआ। उसने १३१० ई० में मदुरा पर आक्रमण कर उसकी सारी सम्पत्ति लूट ली। इस मुस्लिम आक्रमण ने दक्षिण भारत की राजनीति में एक नया पेंच पैदा कर दिया परन्तु स्थानीय दोनों पक्षों में से किसी को यह लाभप्रद सिद्ध न हो सका। कुछ काल तक और वे अपना दुखद जीवन व्यतीत करते रहे। कुछ वर्ष बाद अलाउद्दीन खिलजी ने खुसरू खाँ के सेनापतित्व में एक और बड़ी सेना भेजी, और चेरराज रविवर्मन् कुलशेखर तथा वारंगल के काकतीयों ने भी इस उलझी परिस्थिति से लाभ उठाकर अपना भला किया। इस प्रकार चारों ओर से आक्रान्त होकर "द्वितीय पाण्ड्य साम्राज्य" बिखर गया, यद्यपि पांड्यकुल के वंशज बाद तक सुने जाते रहे। मदुरा के मुसलमान शासन ने १३३० ई० के लगभग दिल्ली से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। परन्तु उसकी स्वतन्त्रता अल्पकालिक सिद्ध हुई और अन्त में विजयनगर के हिन्दू साम्राज्य ने दक्षिण में शक्ति अर्जित कर ली।

परिशिष्ट

युआन्-च्वांग का वृत्तान्त

अथक चीनी यात्री युआन-च्वांग ने ६४० ई० में दक्षिण भारत का भ्रमण किया था और उसने मो-लो-क्यू-च अथवा मलकूट (पांड्य देश) के सम्बन्ध में जो वृत्तांत दिया है वह इस प्रकार है: "जलवायु अत्यन्त उष्ण है। मनुष्य कृष्णकाय हैं। अपनी प्रवृत्तियों में वे दृढ़ तथा दृप्त हैं, तथा कुछ तो सद्धर्म के उपासक हैं और दूसरे अन्यमतावलम्बी। वे विद्या का बहुत आदर नहीं करते बल्कि व्यापार का लोभ उन्हें अधिक है। उस देश में प्राचीन विहारों के अनेक खण्डहर हैं जिनकी अब दीवारें ही बच रही हैं, और बौद्ध धर्मानुयायी थोड़े हैं। वहाँ सैकड़ों देव मन्दिर हैं

और बहुसंख्यक निर्ग्रंथ हैं" ।[1] इस प्रकार इस वृत्तान्त से सातवीं सदी के मध्य में उस देश तथा वहाँ के अधिवासियों के आचरण तथा उनकी प्रवृत्तियों पर प्रकाश पड़ता है। जान पड़ता है कि ब्राह्मण धर्म वहाँ उन्नत था, जैनों की संख्या भी बड़ी थी। परन्तु बौद्ध धर्म का ह्रास हो गया था।

प्रकरण ५

चेर राजकुल

उनका मूल

चेरक अथवा केरल द्रविड़ जाति के थे। उनका राज्य दक्षिण भारत के परम्परागत राज्यों में से एक था और उसका विस्तार वर्तमान मालाबार जिला तथा त्रावनकोर और कोचीन रियासतों तक था। जब तब कोङ्गु प्रदेश (कोयम्बटूर) का ज़िला और सालेम का दक्षिण भाग इसमें शामिल हो जाया करता था। चेर राज्य के पश्चिमी तट पर मुज़िरिश (पेरियर नदी के मुहाने पर वर्तमान क्रङ्गनूर) और वैक्करेयी के प्राकृतिक पत्तन (बन्दरगाह) थे जहाँ से प्राचीन भारत में गर्म मसाले और बहुमूल्य वस्तुएँ भरकर जहाज विदेशों को जाते थे। मुज़िरिस रोम तथा अन्यत्र के सौदागरों को इस संख्या में आकृष्ट करता था कि उन्होंने वहाँ आगस्टस का एक मन्दिर तक बनाया। वहाँ जान पड़ता है एक यहूदी उपनिवेश भी था, और लिखा है कि चेरराज भास्कर रविवर्मन् ने १०वीं सदी के आरम्भ में उन्हें सुविधायें भी दी थीं।

इतिहास

चेरों के इतिहास का ज्ञान हमें बहुत थोड़ा है। अशोक के द्वितीय शिलालेख में इनके इतिहास का प्राचीनतम निर्देश मिलता है। उसमें केरलपुत अथवा केरलपुत्र चोड़ों और पाण्ड्यों के साथ-साथ (दक्षिण में) सीमांत शक्ति माने गए हैं। दूसरा उनके प्रति स्पष्ट ऐतिहासिक उल्लेख पेरिप्लस और भूगोलकार तालमी के वृत्तान्तों में हुआ है। परन्तु अभाग्यवश उनके राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान स्वल्प है। जिसके वीर कृत्य तामिल ग्रंथ शिलप्पधिकारम् में उसके भिक्षुभ्राता इलंगोवदिगल ने अमर कर दिए हैं, उस सेंगुत्तवन के राज्यकाल में पहुंच कर हमारे पाँव भूमि पर कुछ टिकते हैं। सेंगुत्तवन नेडुनजेलियन पांड्य और करिकाल चोड़ के पौत्र का समकालीन माना जाता है। इस समसामयिकता में तथ्य चाहे जो हो सेंगुत्तवन निश्चय शक्तिमान् नृपति था और अपने पड़ोसियों से उसने अनेक प्रदेश छीने, परन्तु हिमालय तक उसके धावे की बात सर्वथा अग्राह्य है। उसके उत्तराधिकारी को चोड़ों और पांड्यों के विरुद्ध युद्ध करने पड़े, और पांड्यों ने तो उसे एक बार बंदी भी कर लिया यद्यपि वह अंत में बंधन से निकल भागा। इस घटना के बाद कुछ सदियों तक चेर हमारी आँखों से ओझल हो जाते हैं। ८वीं सदी ई०

[1] बील, Buddhist Records of the Western World, २, पृ० २३१।

के आरम्भ के पश्चात् जब फिर पर्दा उठता है तब हम चेरराज को पल्लव परमेश्वर-वर्मन् से युद्ध करते पाते हैं। इस शती के उत्तरकाल में चेर राजाओं को पांड्यों, विशेषकर मारवर्मन् राजसिंह प्रथम तथा नेडुन्जडयन वरगुण प्रथम (लगभग ७६५-८१५ ई०), के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। आक्रामकों ने उनके कांगुदेश और वेनाड (दक्षिण त्रावणकोर) छीन लिए। परन्तु चोड़ों के साथ चेरों का सद्भाव था और परांतक प्रथम (लगभग ९०७-५३ ई०) तथा इसी नाम के अन्य चोड़ राजा दोनों ने चेर राजकुमारियों से विवाह किया। १०वीं सदी के अंत में चेर-चोड़ संबंध बिगड़ गया और राजराज प्रथम (लगभग ९८५-१०१४ ई०) ने चेरराज को परास्त कर उसका जहाजी बेड़ा कंदलूर में नष्ट कर दिया। राजेन्द्र प्रथम गंगैकोंड (लगभग १०१४-४४ ई०) ने फिर चोड़ आधिपत्य स्थापित किया और १२वीं सदी में अपने पतन के प्रारम्भ तक चोड़ों ने अपना प्रभाव चेरदेश में बनाए रखा। तदनंतर वीर-केल स्वतंत्र हो गया। १३वीं सदी में, विशेषकर जटावर्मन् सुन्दर पांड्य के समय में, पांड्य शक्ति के पुनरुज्जीवन से फिर एक बार चेरों को धक्का लगा और वे परास्त हो गए। परन्तु अलाउद्दीन खिलजी के विजयी सेनापति मलिक काफूर द्वारा १३१० ई० में मदुरा के विध्वंस के पश्चात् जब पांड्य शक्ति नष्टप्राय हो गई तब रविवर्मन् कुलशेखर ने, जो १२९९ ई० में चेर सिंहासन पर बैठा था, अवसर देख-कर विलुप्त पांड्यों तथा विनष्ट चोड़ों के प्रदेश में अपना राज्य-विस्तार शुरू किया। परन्तु काकतीय राजा रुद्र प्रथम ने उसका प्रसार रोक दिया। रविवर्मन् कुलशेखर के पश्चात् चेरकुल में वीरकर्मा कोई न हुआ, और इस प्रकार वह दक्षिण भारत में बिना साम्राज्य-पद पर आरूढ़ हुए इस काल के लगभग इतिहास के क्षेत्र से विलीन हो जाता है।

अध्याय १६

सिंहावलोकन—७११—१२०६

प्रस्तावना

निम्नांकित अवतरणों में, सन् ७११ ई० से १२०६ ई० तक के भारतीय इतिहास की प्रमुख विशेषताओं को परिचिह्नित करने का एक प्रयास है, जब मोहम्मद-इब्न-कासिम के नेतृत्व में अरब-सेनाओं ने सिन्ध को पदाक्रान्त कर दिया था और दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई थी। इन दोनों तिथियों की मध्य अवधि स्पन्दनभूत घटनाओं एवं राजवंशों के विपर्यास से परिपूरित है। इसने उत्तर तथा दक्षिण के प्रबल साम्राज्यों का उत्कर्ष एवं सन्निपात देखा है, और यशोवर्मन्, मिहिर भोज, महेन्द्रपाल, देवपाल, लक्ष्मीकर्ण, भोज परमार, सिद्धराज जयसिंह, राजराज प्रथम, राजेन्द्र प्रथम, गांगेय कोण्ड आदि ऐसे विलक्षण व्यक्तित्वों का प्रभव किया जो क्रमानुसार राजनीति की रंगमंच पर एक विपुलाकार रूप में अवतरित होते रहे। कदाचित्, पांच शताब्दियों के भारतीय इतिहास के इस महान् नाटक के सतत परिवर्तित दृश्यों एवं पात्रों की बहुलता से व्यक्ति विभ्रमित-सा हो जाता है। यद्यपि सामग्री पृथुल है, किन्तु जटिल और परिणामतः, प्रायः विद्वानों के शाश्वत विवादों की स्वयं हेतुकारक बन गई है। मैंने इन वादों-प्रवादों तथा बृहद् वृत्तान्तों से बहिः संचरण कर इतिहास के सारभूत तथ्यों के यथोचित रूपों पर ही केवल बल दिया है। क्योंकि मेरा प्रयोजन इस विचाराधीन अवधि का एक विशद विवेचन करना नहीं था। यह अध्याय एक प्राकार-आकार मात्र है, जिस पर कालान्तर में एक महत्वाकांक्षित चरम निर्माण किया जा सकता है। मैंने विभिन्न राजवंशों के अन्तर सम्बन्धों की मीमांसा एवं उन युगों के धर्म, समाज, प्रशासन, आर्थिक जीवन, साहित्य और कला-प्रभृति, के चित्रांकन की चेष्टा की है। निस्सन्देह यह धूमिल है, पर वृत्त रेखाएँ सुदृढ़ हैं। मैंने अतिवृद्धि और अतिरंजित करने की किसी भी प्रवृत्ति के प्रति स्वयं को सचेष्ट रखा है। मैं लिखते समय कवि कल्हण की यह व्याहृति सदा स्मृत रखता हूँ कि—'वही प्रतिभापन्न व्यक्ति श्लाघनीय है जिसकी विगत के इतिवृत्तों की अनुलेखन भाषा, एक न्यायाध्यक्ष की भांति निष्पक्ष और विवेकर्चचित है। अब यह दक्ष आलोचकों द्वारा निर्णीत होगा कि किस सीमा तक इस उच्चादर्श ने मेरा पथ-प्रदर्शन किया।

प्रकरण १

उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति

सन् ७११ ईस्वी में भारतवर्ष में न किसी बड़े राज्य की स्थापना हुई, न किसी बड़ी शक्ति का विघटन। फिर भी, सामान्यतः इसे भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण वर्ष मानते हैं। इसी वर्ष अरब लोग अपने दुर्धर्ष सेनापति मुहम्मद इब्न कासिम के नेतृत्व में सिंध में उतरे और देवल बन्दरगाह को अधिकृत कर उन्होंने ब्राह्मण चच राजवंश के शासन का मूलोच्छेद कर दिया। यों तो अरबों ने खलीफा उमर के समय में ईस्वी सन् ६३६—हिजरी १५ से ही, जल और थल दोनों मार्गों से आकर, भारत के तटीय एवं सीमान्त प्रदेशों में लूट खसोट मचाना शुरू कर दिया था; किन्तु वे भारत के एक कोने में अपना पैर सन् ७११-१२ में ही जमा पाए। भारत के राजनीतिक क्षितिज पर अरब मुसलमान पहले बादल के एक छोटे से धब्बे के समान प्रकट हुए, किन्तु तीन सदी बाद उसी क्षितिज पर मुहम्मद गजनवी के नेतृत्व में झुण्ड के झुण्ड अफगान या तुर्क जवान जो घने काले बादलों के रूप में घनीभूत हो गए, और धनधान्य से पूर्ण इस देश पर तूफान बरसा दिया। यह तूफान कुछ काल तक अपनी प्रचंडता तथा भयंकरता के साथ चलता रहा, और जब गया तो अपने पीछे तबाही और बर्बादी की विरासत छोडता गया। बारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में भारत का राजनीतिक आकाश फिर विपत्ति के बादलों से आच्छन्न हो उठा। अन्धकार गहन से गहनतर होता गया, और देखते-ही-देखते समस्त उत्तरी भारत सिहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण के थपेड़ों से त्रस्त हो उठा। इसका वेग इतना प्रचण्ड था कि जब सन् १२०६ ईस्वी में कुतुबुद्दीन दिल्ली का सुल्तान घोषित किया गया तब तक उत्तर भारत के सारे हिन्दू राज्य इस प्रलय-ज्वार में समाहित हो चुके थे। दक्षिण भारत इस प्रभंजन के आघात से प्रायः एक सदी तक बचा रहा। परन्तु सन् १३१० में भारत का यह भूभाग भी उस प्रबल झंझा से तबाह हो उठा, जब मलिक काफूर ने मदुरा पर घेरा डालकर उसे लूट लिया। इस प्रकार जिस मुस्लिम प्रभुत्व की शुरूआत सिन्ध में मामूली तौर पर हुई थी उसे देशव्यापी विस्तार पाने में छह सदियां लग गई। किन्तु इन मुस्लिम आक्रान्ताओं का गर्जन-तर्जन निरन्तर सुनाई पड़ता रहा हो, सो बात नहीं। अरबों की सिंध-विजय और महमूद गजनवी के लूट-खसोट के बीच तीन सदियों का अन्तराल था। मुहम्मद गोरी ने महमूद गजनवी से १७० साल बाद भारत पर आक्रमण किया। उसकी सफलता के बाद भी दक्षिण भारत प्रायः एक सदी तक अछूता रहा। इस प्रकार यद्यपि मुसलमान भारत में लहरों की भांति काफी अन्तराल देकर आये, फिर भी भारत में उनके प्रभुत्व का प्रसार विचाराधीन काल की एक अत्यन्त उल्लेखनीय विशेषता है।

सिंध तथा पश्चिम भारत में मुसलमान चाहे व्यापारियों के रूप में आए हों या विजेताओं के रूप में, अपने आगमन के बाद शीघ्र ही वे भारतीय राजनीति के एक महत्वपूर्ण अंग बन गए। मुसलमान एक बड़े उग्र धर्म के अनुयायी थे। यह धर्म एकेश्वरवाद तथा मानव जाति के भ्रातृत्व पर इतना जोर देता था कि इस बात में कोई छूट रियायत देने को तैयार नहीं था। अतः यह जानना मनोरंजक होगा कि विजेता अरबों ने बहुदेववादी, मूर्तिपूजक तथा जाति प्रथा के भार से दबे भारतीयों के प्रति कैसा रुख अपनाया। अल-बिलादुरी[1] के अनुसार सिंध के अरब शासकों ने प्रारम्भ से ही सहिष्णुता की विवेकपूर्ण नीति का अनुसरण किया। वे हिन्दुओं के 'बुध' को "ईसाइयों के गिरजे, यहूदियों के उपासना गृह तथा मागियों की वेदी" के समान ही पवित्र मानते थे। इतना ही नहीं, अरब विजेता अक्सर ब्राह्मणों को अपने ध्वस्त तथा जीर्ण-शीर्ण मन्दिरों का पुनर्निर्माण भी करने देते थे। हिन्दू शासक भी, विशेषकर मनकीर के बलहरा अर्थात् मन्यखेट के राष्ट्रकूट, अपनी ओर से "मुसलमान व्यापारियों को हर प्रकार की सुविधा और संरक्षण प्रदान करते थे"[2] तथा उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता में किसी तरह का विघ्न नहीं उपस्थित करते थे। अल-मसूदी[3] कहता है कि "सिंध और भारत में ऐसा कोई राजा नहीं है जो मुसलमानों को बलहरा (राष्ट्रकूट) राजा से अधिक प्रतिष्ठा देता हो। उसके राज्य में इस्लाम को सुरक्षा और समादर प्राप्त है"। इसी प्रकार अल इस्तखरी[4] तथा इब्न हौकल[5] की साक्षियों से ज्ञात होता है कि कई नगरों में जाम मस्जिदें थीं, जहाँ इस्लाम के समादेशों का खुले तौर पर पालन किया जाता था। तात्पर्य यह है कि मुस्लिम नवागन्तुकों और हिन्दुओं के प्रारम्भिक सम्बन्ध-पारस्परिक सहिष्णुता तथा उदारता के सराहनीय भाव से पूरित थे। परन्तु, दुर्भाग्यवश युद्ध-जनित अत्याचारों, आर्थिक शोषण तथा यदा-कदा उबल पड़ने वाली धार्मिक कट्टरता एवं मूर्तिभंजक प्रवृत्ति के कारण इस मेल-जोल के भाव को गहरा आघात पहुंचा; और तब हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध ने एक विकराल समस्या का रूप ले लिया। किन्तु यह बताना हमारे प्रतिपाद्य विषय से बाहर की बात है कि उदार तथा दूरदर्शी मुसलमान बादशाहों ने इस समस्या को सुलझाने के लिए क्या प्रयत्न किए।

इस काल की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि कान्यकुब्ज (कन्नौज) बराबर उत्तर भारत की प्रमुख शक्ति बना रहा। सच तो यह है कि वह इन सदियों में भारतीय इतिहास की धुरी का काम करता रहा। यह नगर पहले-पहल छठी

---

१. किताब फुतूह-अल बुलदान, खंड २, पृ० २२१।
२. इलियट, 'हिस्ट्री आफ इंडिया', खंड १, पृ० ८८।
३. वही, पृ० २४।
४. वही, पृ० २७।
५. वही, पृ० ३४।

शताब्दी में एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में आविर्भूत हुआ। इसका श्रेय मौखरियों को था, जिन्होंने पाटलिपुत्र के पतन के बाद इसे भारत की राजनीतिक हलचलों का आकर्षण केन्द्र बनाया। हर्षवर्धन के शासन-काल में कन्नौज की श्री-समृद्धि अपनी चरम सीमा को पहुँच गयी; और यह नगर एक ऐसे साम्राज्य का केन्द्र बन गया जिसका विस्तार पश्चिम में पूर्वी पंजाब से लेकर पूरब में बंगाल, बिहार और उड़ीसा तक था। परन्तु, सन् ६४७ ईस्वी में हर्ष की मृत्यु के बाद उसकी राजनीतिक-श्री धूमिल पड़ गयी और एक शताब्दी के तृतीय चरण तक यही हाल रहा। जब ७२५ ईस्वी के आस-पास भारत के राजनीतिक मंच पर एक दूसरा प्रतिभाशाली व्यक्तित्व आया तो कन्नौज की श्री एक बार फिर चमक उठी। 'गौडवहो' में यशोवर्मन् को "दिग्विजयी" कहा गया है। अतिशयोक्ति के लिए गुंजाइश रखते हुए भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि गौड़ तथा मगध के राजाओं के विरुद्ध उसकी सफलता की बात में सच्चाई अवश्य है। उसके उत्तराधिकारी कमजोर निकले और आयुधों को भी कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। परन्तु नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब प्रतीहार भारतीय राजनीति में उभरे तो कन्नौज ने अपनी हर्षकालीन गरिमा को पुनः प्राप्त कर लिया। महान् मिहिरभोज तथा महेन्द्रपाल प्रथम के शासनकाल में पूर्वी पंजाब, गोरखपुर, मगध, उत्तर बंगाल, बुन्देलखण्ड, उज्जैन तथा सौराष्ट्र जैसे दूर-दूर के प्रदेश इस साम्राज्य के अंग थे। कन्नौज के इन प्रतीहारों ने, तथा इनसे पूर्व इनकी उज्जैन स्थित शाखा ने, आठवीं और नवीं शताब्दी में भारत में अरबों की बढ़ती रोकने में सबसे बड़े प्रतिरोध का काम किया। प्रतीहार साम्राज्य के विघटन के बाद कुछ काल तक कन्नौज की श्री अराजकता के अंधकार में डूबी रही। महमूद गजनवी के विध्वंसक आक्रमणों के समय से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों तक यही हाल रहा। और तब वहाँ गाहड़वालों की शक्ति का उदय हुआ। उन्होंने कन्नौज की खोई गरिमा फिर वापस लौटाने की कोशिश की, और मगध तथा आसपास के प्रदेशों पर उनका अधिकार हो गया। परन्तु, ५९० हिजरी या ११९४ ईस्वी में गहड़वाल राजा जयचन्द्र सिहाबुद्दीन गोरी के हाथों बुरी तरह पराजित हुआ, और उसी के साथ महोदय-श्री की महत्ता सदा के लिए समाप्त हो गयी।

लेकिन जो कुछ कहा जा चुका है उससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि विचाराधीन काल में कन्नौज की प्रभुता बराबर अक्षुण्ण बनी रही और उसे ललकारने की किसी ने हिम्मत ही नहीं की। रह-रह कर युद्ध के नगाड़े बज उठते थे, और महोदय-श्री के स्वामित्व तथा सैनिक ख्याति के भूखे राजाओं की लोलुप दृष्टि इस राजनगरी पर जाकर टिक जाती थी। इस पर सबसे पहले अपना आधिपत्य कश्मीरी राजाओं ने जमाया। हम जानते हैं कि ललितादित्य मुक्तापीड़ (७२४-६०) ने यशोवर्मन् को पराजित कर दिया था, और या तो वज्रायुध को या इन्द्रायुध को जयापीड विनयादित्य (७७९-८१०) के हाथों परास्त होना पड़ा था। इसके बाद ध्रुव राष्ट्रकूट(७७९-९४)तथा गौड़ राजा धर्मपाल कन्नौज पर चढ़ आये।

पाल राजा ने तो इन्द्रायुध को अपदस्थ भी कर दिया और अपने मुखापेक्षी चक्रायुध को सिंहासन पर बैठाया।[१] यह कदम उठाने के पूर्व उसने भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यवन, अवन्ति, गंधार तथा कीर के राजाओं से स्वीकृति ले लेने की भी सावधानी बरती;[२] क्योंकि उत्तर भारत के इस प्रमुख राज्य से सम्बन्धित हर प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था में इन सारी समकालीन शक्तियों की स्वाभाविक अभिरुचि थी। परन्तु कन्नौज के स्वामित्व पर धर्मपाल का यह दावा राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय (७९४-८१४) को अच्छा नहीं लगा। अतः वह अपनी अजेय सेना के साथ उत्तर की ओर बढ़ चला और धर्मपाल तथा उसके तावेदार राजा चक्रायुध, दोनों को पराजित कर दिया।[3] गोविन्द शीघ्र ही अपने आन्तरिक मामलों में उलझ गया, और तब अवसर का लाभ उठाया प्रतीहार राजा नागभट द्वितीय ने। अपने दलबल सहित कान्यकुब्ज पहुंचकर उसने उसे चक्रायुध से छीन लिया।[४] परन्तु जब तक धर्मपाल अपराजित था तब तक वह अपने को इस नव-अधिकृत क्षेत्र में निरापद कैसे अनुभव कर सकता था? आखिर मुद्गगिरि (मुंगेर)[५] में पालों और प्रतीहारों की टक्कर हुई, जिनमें धर्मपाल की हार हुई।[६] ऐसा परिवर्तनशील था कन्नौज की राज्य-लक्ष्मी का रूप! दरअसल ८वीं शताब्दी के अधिकांश हिस्से में और नवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में कन्नौज साहसिक योद्धाओं तथा पराक्रमी राजाओं की आंखों की पुतली बना रहा। उनकी महत्वाकांक्षाओं के कारण यह बार-बार रौंदा गया, लूट-खसोट से प्रजा को भारी क्षति उठानी पड़ी। लेकिन प्रत्येक बार यह राज्य कहावतों वाले अमर पक्षी 'फीनिक्स' की तरह अपनी भस्म-राशि से जी-जी उठा। यद्यपि प्रतीहारों की विजय ने कन्नौज शासन को स्थायित्व दिया और वह फिर साम्राज्यवाद की राह पर बढ़ चला, किन्तु गौड़ तथा दक्खिन के साथ उसका भयानक संघर्ष किंचित् अन्तराल दे-देकर चलता ही रहा। सच तो यह है कि कान्यकुब्ज के प्रतीहारों, बंगाल के पालों तथा दक्खिन के राष्ट्रकूटों का त्रिकोण संघर्ष इस काल की एक प्रमुख विशेषता है। पिता के हाथ से तलवार छूटी नहीं कि पुत्र उसे थामकर मैदान में उतर जाते। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रकूट राजा ध्रुव निरुपम (७७९-९४), गोविन्द तृतीय (७९४-८१४), कृष्ण द्वितीय (८७८-९१५), इन्द्र तृतीय (९१५-१८) तथा कृष्ण तृतीय (९४०-६८) में से प्रत्येक ने उत्तर भारत पर आक्रमण किया; और बड़े प्रतीहार राजा नागभट द्वितीय (८०५-३३) मिहिर भोज (८३६-८५), महेन्द्रपाल प्रथम (८८५-९१०) तथा महीपाल (९१२-४४) में से प्रत्येक को क्रमशः अपने समकालीन पाल राजा धर्मपाल (७७०-८१५), देवपाल

१. Ind. Ant., XV, pp. 305, 307.
२. Ep. Ind., IV, pp. 248, 252.
३. Ep. Ind., XVIII, pp. 245, 253.
४. वही, V. 9, pp. 108, 112.
५. History of Kanauj p. 233.
६. Ep. Ind. V, 10.

(८१५-५५), नारायणपाल (८५८-९१२) तथा राज्यपाल (९१२-३६) के साथ ताकत आजमानी पड़ी। शायद महेन्द्रपाल के समय में ही उत्तर बंगाल तक के प्रदेश कन्नौज साम्राज्य की सीमा में अन्तर्भुक्त हो गए। किन्तु पालों ने साहस न छोड़ा और बंगाल तथा मगध के अपने खोए प्रदेशों को प्रतीहारों के हाथों से लौटाने के लिए खून-पसीना एक कर दिया। जब गाहड़वालों की बारी आयी तो उनकी दृष्टि भी सहज ही पूरब की ओर फिर गयी। परन्तु उनकी सफलता मगध तक ही सीमित रही। गौड़ तथा कान्यकुब्ज की शत्रुता प्रायः पारम्परिक हो गयी थी। यशोवर्मन् और हर्ष से भी पूर्व कान्यकुब्ज के जिस राजा ने "सागरतटवासी"[1] गौड़ों से पहले-पहल लोहा लिया था, वह था ईशानवर्मन् मौखरी (छठी शताब्दी के मध्य में)। बात यह थी कि उन दिनों गंगा के निचले हिस्से के आस-पास के प्रदेश वाणिज्य-व्यापार तथा यातायात के केन्द्र थे, और वे मध्यदेश के उर्वर भूभाग को बंगाल से मिलाते थे। अतः राज्य की आर्थिक समृद्धि के लिए गंगातट के इस विस्तृत क्षेत्र पर अधिकार रखना आवश्यक था। यही कारण था कि कान्यकुब्ज के सभी राजा इस ओर विशेष रूप से सचेष्ट रहते थे। इसी प्रकार बड़े प्रतीहार राजाओं ने सौराष्ट्र की ओर अपने प्रभुत्व का प्रसार करने में जो विशेष अभिरुचि दिखाई और मालवा या उज्जैन के क्षेत्रों पर अपना अधिकार बनाए रखने के लिए जो अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं, उसमें उनका उद्देश्य मात्र राजनैतिक ही नहीं, बल्कि दक्षिण-पश्चिम के वाणिज्य-मार्ग तथा समुद्र के रास्ते होने वाले व्यापार पर नियंत्रण रखना भी था।

दसवीं शताब्दी के मध्य में (न कि ९१६-१७ में, जैसा कि आम तौर पर लोगों का ख्याल है) प्रतीहार साम्राज्य की शानदार इमारत में दरारें पड़ने लगीं। कारण थे निरन्तर युद्ध, राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय का आक्रमण तथा चन्देलों का उदय। केन्द्रीय शक्ति का नियंत्रण ढीला होते ही खुलकर खेलने को तैयार बैठीं विघटनकारी प्रवृत्तियां सक्रिय हो उठीं। इमारत तेजी से भहरा चली और आखिर कन्नौज साम्राज्य निम्नलिखित सात छोटी-छोटी ताकतों में विभक्त होकर रह गया; (१) जेजाक भुक्ति के चंदेल, (२) ग्वालियर के कच्छपघात, (३) डाहल के चेदि, (४) मालवा के परमार, (५) शाकंभरी के चाहमान, (६) दक्षिण राजपूताना के गुहिल, तथा (७) अन्हिलवाड़ के चालुक्य।

उत्तर-पश्चिम में पहले से ही अनेक छोटे-छोटे राज्य वर्तमान थे। काबुल तथा उद्भांडपुर के तुर्की शाही नवीं शताब्दी के मध्य तक राज्य करते रहे। आखिर उस वंश के अन्तिम राजा लागतुरमान से उसके ब्राह्मण मन्त्री कल्लर ने गद्दी छीन ली। इस बलाद् ग्रहण के साथ ही हिन्दू शाही राजवंश के शासन का प्रारम्भ हुआ। इस वंश के राजाओं में जयपाल तथा आनन्दपाल के नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इन दोनों ने बड़ी बहादुरी के साथ सुलतान सबुक्तगिन और महमूद के विरुद्ध भारत

---

१. Ep. Ind., XIV, pp. 117, 120, V. 13.

के द्वार की रक्षा की। अन्तिम हिन्दू शाही राजा भीमपाल भी सन् १०२६ में गजनवी आक्रान्ता के विरुद्ध लड़ते समय ही वीरगति को प्राप्त हुआ। राज-परिवार के बचे-खुचे लोगों ने कश्मीर के लोहर दरबार में शरण ली, और पंजाब मुस्लिम विजेताओं के हाथ में चला गया। इस काल में कश्मीर विदेशियों की गुलामी से बचा रहा, इसके भाग्य का फैसला देशी राजवंशों के शासक करते रहे। सन् ६३१ ईस्वी से ८५५ ईस्वी तक यह कर्कोटकों के शासन में रहा। इसके बाद क्रमश: उत्पलों (८५५-९३९), उत्पलों के उत्तराधिकारियों (९३९-१००३), लोहरों (१००३-११७१) तथा लोहरों के उत्तराधिकारियों (११७१-१३३९) का शासन आया और गया। आखिर सन् १३३९ ईस्वी में शाह मीर नामक एक मुस्लिम साहसिक ने कश्मीर का ताज छीनकर अपने माथे पर रख लिया और श्री सम्सदिन या शम्सुद्दीन नाम से गद्दी पर बैठा। पूरब में पालों ने सन् ७६५ ईस्वी से लेकर बारहवीं सदी के मध्य तक उठते-गिरते अपनी राजनीतिक सत्ता कायम रखी। गोविन्दपाल नामक एक छाया-रूप पाल राजा की अन्तिम झलक विक्रम सम्वत् १२३२ (ईस्वी सन् सन् ११७५) में "गत-राज्ये चतुर्दशसंवत्सरे" तिथि के एक शिलाभिलेख में मिलती है। किन्तु सेनों द्वारा उत्तर बंगाल से मदनपाल के निष्कासन के बाद पाल राज्य अत्यंत क्षीण और दुर्बल पड़ गया था। उसका प्रादेशिक विस्तार मुख्यत: बिहार में पटना तथा मुंगेर के क्षेत्रों तक सीमित था। सेनों का बोलबाला सर्वप्रथम ग्यारहवीं सदी के मध्य में हुआ, और विजयसेन (१०९५-११५८) के शासनकाल में वे पूर्ण रूप से बंगाल के स्वामी बन बैठे और उनकी विस्तारवादी नीति के कारण पड़ोसी राज्य कामरूप (आसाम) तथा कलिंग (उड़ीसा) को भी अपने कुछ इलाकों से हाथ धोना पड़ा। परन्तु जब सन् ११९९ ईस्वी में मुहम्मद इब्न बख्तियार खिलजी नदिया पर चढ़ आया तो, जैसा कि मिनहाजुद्दीन बताता है, लक्ष्मणसेन भयभीत होकर भाग खड़ा हुआ और गंगा को पार कर उसने पूर्वी बंगाल में शरण ली, जहाँ वह १२०६ ईस्वी तक राज्य करता रहा। इस कहानी में चाहे जो भी सच्चाई हो, लक्ष्मणसेन का सीमान्त प्रशासन अवश्य ही बहुत बुरा रहा होगा, अन्यथा आक्रान्ता इतनी आसानी से राजधानी तक नहीं पहुँच सकता था। इस प्रकार पश्चिमी बंगाल मुसलमानों के अधीन हो गया। प्राय: अगले पचास वर्षों में बंग या पूर्वी बंगाल का भी यही हाल हुआ; सेनों का वह शरणस्थल भी छिन गया। बंगाल से पूरब स्थित आसाम राज्य का भारतीय राजनीति की मुख्य धारा से न कभी कोई सरोकार रहा और न किसी मुसलमान शासक को ही उसे अपने अधीन कर सकने का श्रेय मिला; यद्यपि हिजरी ६०१ ईस्वी सन् १२०५ में बख्तियार खिलजी ने और आगे चलकर १६६२ ईस्वी में औरंगजेब के प्रसिद्ध सेनापति मीर जुमला ने इस दिशा में प्रयास किये। इधर दक्षिण-पूर्व तट पर बसा हुआ कलिंग आठवीं सदी के मध्य से पूर्वी गंगों के शासन में था। इस वंश का एक अत्यन्त प्रसिद्ध राजा अनन्तवर्मन् चोडगंग (१०७७-११४७) हुआ। उड़ीसा पर मुस्लिम आक्रमण तेरहवीं सदी के

प्रारम्भ में ही शुरू हो गया, परन्तु आक्रान्ताओं को सफलता सोलहवीं सदी से पूर्व नहीं मिल पायी।

इस प्रकार सम्बद्ध काल में भारत के सीमान्त इलाकों में फलने-फूलने वाले राज्यों का संक्षिप्त विवरण देने के बाद हम उन राज्यों पर भी एक सरसरी नजर डाल लें जो प्रतीहार साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर उठ खड़े हुए। जेजाकभुक्ति (बुंदेलखण्ड) के चंदेलों की ओर हमारा ध्यान सबसे पहले नवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में जाता है। दसवीं सदी में यशोवर्मन् तथा धंग (९५०-१००२) ने इस राज-वंश की प्रतिष्ठा खूब बढ़ायी। कहते हैं कि जब जयपाल शाही ने सबुक्तगिन के आक्रमणों को रोकने के लिए भारतीय राजाओं का एक संघ बनाया तो सन् ९९० ईस्वी में धंग भी उसमें शामिल हो गया। धंग के पुत्र गंड ने भी सन् १००८ में महमूद गजनवी का मुकाबला करने के लिए आनन्दपाल शाही के आह्वान का उत्तर देने में बड़ी तत्परता दिखायी। उसने सन् १०१८ में युवराज विद्याधर के नेतृत्व में एक बड़ी सेना भेज कर प्रतीहार राजा राज्यपाल को इस कारण दण्डित भी किया कि उसने भीरुतापूर्वक महमूद के सामने आत्मसमर्पण कर दिया था। परन्तु जब सुल्तान से लड़ने की उसकी अपनी बारी आयी तो उसने दो बार पीठ दिखायी—पहली बार सन् १०१९ में और दूसरी बार १०२२-२३ में। कीर्तिवर्मन् तथा मदन-वर्मन् (११२८-६४) के शासनकाल में चंदेलों का जोर फिर बढ़ा। लेकिन सन् १२०३ ईस्वी में परमार्दि या परमाल को कुतुबुद्दीन ऐबक से बुरी तरह पराजित होना पड़ा। कच्छपघात तथा गुहिलों का इस काल के इतिहास में कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं है, इसलिए उनको छोड़कर हम डाहल के चेदियों की ओर चलें। वे सर्वप्रथम नवीं सदी के अन्तिम दशकों तथा दसवीं सदी के प्रारम्भ में प्रकाश में आते हैं। गांगेय देव (१०१९-४१) तथा लक्ष्मीकर्ण (१०४१-७२ ई०) के शासनकाल में यह राजवंश अपनी महत्ता के उच्चतम शिखर पर जा पहुंचा, और उसकी तलवार का जौहर मध्यदेश तथा भारत के अन्य प्रदेशों ने भी देखा। परन्तु, बारहवीं सदी के अन्तिम चरण में किसी समय वे अपना महत्व खो बैठे। दूसरा बड़ा राजवंश मालवा के परमारों का था। भोज (१०१०-५५ ई०) इस वंश का सबसे गुणी तथा प्रतापी राजा हुआ। उसकी सैनिक योग्यता तथा रचनात्मक प्रतिभा के कारण उसकी प्रसिद्धि दूर-दूर के प्रदेशों तक फैली। उसकी राजधानी धारा में कन्नौज की गरिमा एक बार फिर सजीव हो उठी। बाद के परमार राजा कमजोर निकले और ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उनकी श्री बहुत-कुछ फीकी पड़ गयी। अगली दो सदियों में भी वे पतनोन्मुख ही रहे। आखिर सन् १३०५ ईस्वी में अलाउद्दीन के सेनापति आइन-उल-मुल्क ने मालवा की स्वतन्त्रता समाप्त कर उसे दिल्ली सल्तनत के अधीन कर दिया। अब चाहमानों की चर्चा करें। ऐसा जान पड़ता है कि इस वंश की कई शाखाएँ काफी बाद तक राज्य करती रहीं, परन्तु इनमें सबसे प्रसिद्ध थे शाकम्भरी (संभर) के चाहमान। इस शाखा को पृथ्वीराज तृतीय (मुसलमान इतिहासकारों के

राय पिथौरा) के पराक्रमों ने अमर बना दिया है। सिहाबुद्दीन गोरी के विरुद्ध उसके युद्धों तथा उत्तर भारत के स्वामित्व के लिए अपने प्रतिद्वन्द्वी कन्नौजराज जयचन्द्र की पुत्री सयोगिता से उसका प्रेम कई गीतों और कथा-कहानियों का विषय बन गया है। सिहावुद्दीन ने पृथ्वीराज को पराजित कर वन्दी बना लिया और मार डाला। कुछ दिनों बाद कुतुबुद्दीन ने चाहमानों के राज्य को दिल्ली सल्तनत में मिला लिया, यद्यपि रणथम्भोर में यह परिवार सन् १३०१ ईस्वी तक अपनी राजनीतिक सत्ता बनाए रहा और तब अलाउद्दीन के आगे इसने हथियार डाल दिए। ऊपर जयचन्द्र का उल्लेख हुआ है। यह हमें गाहडवाल राजवंश की याद दिलाता है। महमूद के आक्रमण के बाद से दोआब में अराजकता फैली हुई थी। १०८० और १०८५ ईस्वी के बीच किसी समय गाहड़वाल इस अराजकता को दूर कर कन्नौज तथा बनारस के स्वामी बन बैठे। मध्यदेश में बारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक गाहड़वालों की तूती बोलती रही, परन्तु सन् ११९४ ईस्वी में एक रक्तरंजित युद्ध में सिहाबुद्दीन गोरी ने जयचन्द्र को पराजित कर मार डाला। अंत में अन्हिलवाड़ के चालुक्यों को लें। इस राजवंश का संस्थापक मूलराज प्रथम था। उसके बारे में हम सबसे पहले सन् ९४१ ईस्वी में सुनते हैं। भीम के शासन-काल (१०२१-६३) में सन् १०२५ ईस्वी में महमूद गुजरात पर जोरों से चढ़ आया और अपनी विपुल धनराशि के लिए प्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर को लूट ले गया। लेकिन जयसिंह सिद्धराज (१०९३-११४३) तथा कुमारपाल (११४३-७२) जैसे राजाओं के शासनकाल में यह फिर समृद्ध हो गया। आगे भी मुसलमानों ने अन्हिलवाड़ को अधिकृत करने के लिए कई बार प्रयत्न किए। सन् ११७८ ईस्वी में इस पर सिहाबुद्दीन ने आक्रमण किया, लेकिन भीमदेव द्वितीय से हार कर उसे वापिस लौटना पड़ा। सन् ११९७ ईस्वी में कुतुबुद्दीन ने इस पर अधिकार तो कर लिया, किन्तु मुसलमान वहाँ अधिक दिनों तक टिक नहीं पाये। आखिर, सन् १२९७ ईस्वी में अलाउद्दीन के सेनापति उलुग खां तथा नसरत खां ने इसकी स्वतन्त्रता समाप्त कर गुजरात के अन्य महत्वपूर्ण दुर्गों पर भी अधिकार कर लिया।

उपर्युक्त विवरण से नवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के उत्तर भारत की राजनैतिक स्थिति का संक्षिप्त परिचय मिलता है। इस विवरण में जो एक बात सबसे अधिक स्पष्ट रूप से सामने आती है वह यह कि विभिन्न भारतीय राज्य मुस्लिम दमन-चक्र के नीचे कुचल-कुचल कर बराबर होते जा रहे थे। लेकिन सभी राज्यों की स्वतन्त्रता १२०६ ईस्वी तक ही समाप्त नहीं हो गयी। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद भी कुछ राज्य बहुत दिनों तक अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए रहे। यह बात भी नहीं कि हर बार आक्रान्ताओं को मैदान साफ ही मिला। शाही राजा जयपाल, आनन्दपाल तथा भीमपाल ने भारत के द्वार पर ही सबुक्तगिन और महमूद की बढ़ती को रोका। सिहाबुद्दीन ने अन्हिलवाड़ पर आक्रमण किया तो उसे भीमदेव द्वितीय से परास्त होकर वापिस लौट जाना पड़ा। चाहमान राजा

पृथ्वीराज तृतीय तथा जयचन्द्र गाहड़वाल ने गोरी सुलतान का डटकर मुकाबला किया। बल्कि पृथ्वीराज ने तो एक बार हिजरी सन् ५८७ ईस्वी सन् ११६१ में अपने प्रतिद्वन्द्वी को हरा भी दिया। भोज परमार तथा गोविन्दचन्द्र और विजयचन्द्र गाहडवाल के पुरालेखों से ज्ञात होता है कि उन्होंने क्रमशः तुरुष्कों और हम्मीरों पर विजय पायी। यह ठीक है कि कन्नौज के राज्यपाल प्रतीहार, गण्ड चंदेल और लक्ष्मण सेन जैसे कुछ भीरु हृदय राजा भी थे, जिन्होंने आक्रांताओं के आगे कायरता-पूर्ण आत्मसमर्पण में ही अपनी सुरक्षा देखी। इस सामूहिक आपत्ति को टालने के लिए हिन्दू राजाओं ने मिलकर कभी कोई प्रयत्न नहीं किया। फरिश्ता के विवरणों से ज्ञात होता है कि जयपाल और आनन्दपाल ने दिल्ली, अजमेर, कालंजर तथा कन्नौज के राजाओं का एक संघ बनाया था, किन्तु उसकी साक्षी पर पूर्ण रूप से भरोसा नहीं किया जा सकता; क्योंकि समकालीन इतिहासकार अल-उतबी अपनी 'तारीख-ए-यमीनी' में इसका कोई उल्लेख नहीं करता है। प्रत्येक शक्ति ने अपनी डफली पर अपना अलग राग अलापा। किसी ने यह जानने की चिन्ता नहीं की कि दूसरे पर क्या बीत रही है। जब दुश्मन दरवाजा खटखटा रहा था तब भी वे अपनी क्षुद्र प्रतिद्वन्द्विता में उलझे रहे। उदाहरणार्थ, जब पृथ्वीराज तृतीय सिहाबुद्दीन गोरी के विरुद्ध जीवन-मरण के संघर्ष में लगा हुआ था तब जयचन्द्र ने दूर खड़ा होकर तमाशा देखने में ही अपना गौरव माना। सच तो यह है कि गंड चंदेल जैसे कुछ राजाओं ने विदेशी आक्रांताओं का मुकाबला करने से अधिक जोश अपने बन्धु-नरेशों से लड़ने में ही दिखाया। उन्होंने अपने को कभी किसी एक सूत्र से बंधा हुआ महसूस ही नहीं किया, और न कभी अपने स्वार्थपूर्ण हितों तथा स्थानीय भावनाओं के अतिरिक्त किसी अन्य बात में कोई निष्ठा रखी। इस प्रकार यद्यपि देश बारहवीं सदी के अन्त तक स्वदेशी शासन के अधीन रहा, परन्तु परस्परविरोधी हिन्दू राज्य एक सर्व सामान्य राष्ट्रीय भावना के विकास के मार्ग में बाधा बनकर खड़े रहे।

प्रकरण २

दक्षिण भारत में राज्यों का उत्थान और पतन

अब तक हम उत्तर भारत के इतिहास की चर्चा में ही फंसे रहे। अब जरा दक्षिण भारत के इतिहास की मुख्य धाराओं की ओर गौर करें। उत्तर भारत की तरह दक्षिण भारत के राजनीतिक मंच पर भी इस काल में कई राजवंशों ने अपने-अपने करतब दिखाये। इनमें मुख्य थे :(१)अपने कुछ अन्तिम राजाओं के शासन-काल में वातापी (बादामी) के पूर्ववर्ती चालुक्य ; (२) वेंगी के पूर्वी चालुक्य (६१५-१०७०); (३) मान्यखेट अथवा आधुनिक मालखेड के राष्ट्रकूट (७४०-९७३); (४) कल्याण के पश्चिमी चालुक्य (९७३-११८९); और (५) देवगिरि के यादव (आठवीं सदी के अन्तिम दिनों से लेकर १३१८ तक)। इनके अतिरिक्त कुछ छोटे-छोटे राजवंश भी हमारे सामने आते हैं; जैसे, खरेपतन या थाना के सिलाहार, हंगल तथा गोआ के पूर्ववर्ती कदम्ब, वारंगल के काकतीय, तलकाड के गंग (चौथी शताब्दी से लेकर १००४ तक) तथा द्वारसमुद्र के होयसल (ग्यारहवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी के मध्य तक)। सुदूर दक्षिण कांची के पल्लव (तीसरी शताब्दी के मध्य से लेकर ८९० तक), तंजवूर के चोल(९वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १२६७ तक), मदुरा के पांड्य तथा मालाबार के चेर। राज्यों की इस बहुलता के कारण महत्वाकांक्षी राजा बराबर युद्धरत रहते थे। उनकी सेनाएं आज यहां होतीं तो कल वहां, और राज्यों की सीमाए फैलती-सिकुड़ती रहती थीं। अधिकतर वे छापामारी कारवाइयां ही किया करते थे, जिनका परिणाम युद्ध-जनित रक्तपात और तबाही-बर्बादी के अलावा और कुछ नहीं होता था। पहले हम वातापी के पूर्ववर्ती चालुक्यों और कांची के पल्लवों की बात लें। ये दोनों निरंतर समान जोश-खरोश के साथ लड़ते रहे, जिसमें विजयश्री ने कभी एक को वरा, कभी दूसरे को। जब पूर्ववर्ती चालुक्यों का स्थान राष्ट्रकूटों ने लिया, तो उन्होंने भी संघर्ष जारी रखा। दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट ने नन्दिवर्मन् पल्लव पर विजय पायी और ध्रुव निरुपम (७७९-९४) तथा आगे चल कर सन् ८०४ ईस्वी में उसके पुत्र गोविन्द तृतीय (७९४-८१४) ने भी दन्तिवर्मन् पल्लव को हराया। इन पराजयों के बावजूद पल्लव सन् ८९० ईस्वी तक अपनी राजनीतिक सत्ता बनाये रहे, लेकिन तभी चोल राजा आदित्य प्रथम (८७५-९०७) के भीषण आघात ने इस राजवंश का शासन उखाड़ फेंका। आठवीं सदी के अन्तिम चरण में तथा नवीं सदी के अधिकांश हिस्से में दन्तिवर्मन् (७७६-८२८), नन्दि (८२८-५१) और नृपतुंग वर्मन् (८५१-७६) ने बारी-बारी से पांड्य राजा नेदुजदयन वरगुण (७६५-८१५) और श्री-मार-श्री-वल्लभ (८१५-६२) के विरुद्ध अपनी पारम्परिक शत्रुता निभायी।

अन्त में अपराजितवर्मन् पल्लव ने सन् ८८० ईस्वी में कुम्बकोनम् के निकट श्री पुरंबीयम् की लड़ाई में वरगुण द्वितीय पांड्य को बुरी तरह पराजित कर ख्याति प्राप्त की। दक्षिणापथ की राजनीति में आठवीं शताब्दी के मध्य से लेकर दसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक मान्यखेट के राष्ट्रकूटों की तूती बोलती रही। वे एक ओर तो रह-रह कर उत्तर भारत पर चढ़ आते थे, जिसका उल्लेख हम शीघ्र ही करेंगे; दूसरी ओर अपने दक्षिणी पड़ोसियों, विशेषकर तलकाड़ के गगों और वेंगी के पूर्वी चालुक्यों से लोहा ले रहे थे। कहते हैं, कृष्ण राष्ट्रकूट (७५७-७२) तथा ध्रुव निरुपम (७७९-९४) दोनों ने पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ (७६४--९९) को पराजित किया; और गोविन्द तृतीय (७९४-८१४) तथा अमोघवर्ष प्रथम (८१४-७८) ने वेंगी के विजयादित्य द्वितीय (७९९-९४३) से सफलतापूर्वक टक्कर ली। अमोघवर्ष प्रथम ने गंगराज विजयादित्य तृतीय गुणग (८४४-८८) के साथ भी युद्ध किया; और फिर विजयादित्य तथा वेंगी के भीम प्रथम (८८८-९१८), दोनों को कृष्ण राष्ट्रकूट (८७८-९१४) का लोहा मानना पड़ा। राष्ट्रकूटों की इस विजय सरणि में विलासी गोविन्द चतुर्थ के शासन-काल में एक व्यतिक्रम आया, जब वेंगी के भीम द्वितीय (९३४-४५) ने उसे पराजित कर दिया। राष्ट्रकूटों की शक्ति कृष्ण तृतीय (९४०-६८) के समय में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। दक्षिण में कृष्ण तृतीय का सबसे उल्लेखनीय पराक्रम यह था कि उसने कांची और तंजोर को अधिकृत कर सन् ९४९ ईस्वी में (उत्तर आर्कट-जिला-स्थित अर्कोनम् के पास) तक्कोलम् की प्रसिद्ध लड़ाई में चोलराज राजादित्य को बुरी तरह पराजित कर दिया। उसने तोंडमण्डलम् को अपने राज्य में मिला लिया, लेकिन चोल राज्य के दक्षिणी भाग पर उसका अधिकार नहीं हो सका। उसने पांड्यों, केरलों तथा सिंहल के राजाओं की महत्वाकांक्षाओं पर भी अंकुश रखा। कृष्ण तृतीय के बाद राष्ट्रकूटों का पतन शुरू हुआ। परमार राजा सीयक-हर्ष ने खोत्तिग नित्यवर्ष के समय में राजधानी मान्यखेट को लूटा-खसोटा; और अन्त में सन् ९७३ ईस्वी में कक द्वितीय ने पश्चिमी चालुक्य राजा तैलप के आक्रमणों के आगे घुटने टेक दिये। इस प्रकार राष्ट्रकूटों की राजनीतिक सत्ता समाप्त हो गई। तैलप द्वारा स्थापित इतिहासकारों का यह पश्चिमी चालुक्य राजवंश ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में बड़ा प्रबल हो उठा। परन्तु तंजबूर के चोलों और मालवा के परमारों को दक्षिण के राजनीतिक संतुलन में कोई गंभीर उलट-फेर असह्य था। अतः इन दोनों शक्तियों से पश्चिमी चालुक्यों का संघर्ष अवश्यंभावी था। कहते हैं कि वाक्पति मुंज परमार(९७४-९५)ने तैलप(९७३-९७) को छः बार हराया। किन्तु इन विजयों ने उसमें इतना आत्म-विश्वास भर दिया कि सातवीं बार वह बिना समझे बूझे गोदावरी को पार कर चालुक्य देश के भीतर जा फँसा। तैलप ने अवसर का लाभ उठाया और मुंज को बन्दी बनाकर मार डाला। सत्याश्रय (९९७-१००८) के समय में चोल सेना ने राजराज प्रथम (९८५-१०१४) के नेतृत्व में चालुक्य प्रदेशों को रौंद डाला। कुछ काल की परेशानी के बाद सत्याश्रय

तो प्रकृतिस्थ हो गया, लेकिन उसके भतीजे और उत्तराधिकारी विक्रमादित्य पंचम (१००८-१६) को फिर भोजदेव परमार (१०१०-५५) के हाथों मार खानी पड़ी। इसका बदला दूसरे राजा जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल (१०१६-४२) ने भोज को पराजित कर तथा "मालवा के संघ" को तोड़ कर दिया। कहा जाता है कि पश्चिमी चालुक्य राजा ने राजेन्द्र चोल प्रथम (१०१४-४४) पर भी विजय पाई। दूसरी ओर चोल अभिलेख विपरीत दावा करते हैं। सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (१०४२—६८) के समय में पश्चिमी चालुक्य राजवंश अपनी शक्ति के उच्चतम शिखर पर जा पहुँचा। उत्तर भारत में उसकी विजय हुई, जिसके बारे में हम शीघ्र ही बतायेंगे। इसके अतिरिक्त उसने मालवा में तूफान मचा दिया और भोज परमार को अपनी सुरक्षा के लिए भाग खड़ा होना पड़ा। परन्तु जब भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह प्रथम (१०५४-६०) ने अन्हिलवाड़ के भीम प्रथम (१०२२-६४) और डाहल के लक्ष्मीकर्ण कलचुरी (१०४१-७२) के सम्मिलित आक्रमण को टालने के लिए सोमेश्वर से सहायता मांगी तो उसने सारी पुरानी शत्रुता भूल कर बड़ी तत्परता से परमार राजा की मदद की। आक्रमणकारी मित्र राज्यों की सेना निकाल बाहर की गयी और दो पारम्परिक शत्रुओं—पश्चिमी चालुक्यों और परमारों—के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हो चले। जान पड़ता है, चोलों के साथ सोमेश्वर का जो संघर्ष हुआ, उसमें भी उसने सन् १०५२ ईस्वी में कोप्पम की लड़ाई में चोलराज राजाधिराज प्रथम पर विजय प्राप्त की, यद्यपि चोल साक्ष्य विपरीत निष्कर्ष देता है। सन् १०७६ ईस्वी में चालुक्य सिंहासन पर विक्रमादित्य छठा बैठा। लेकिन, इसके पूर्व ही वह विजय-अभियान के क्रम में वीर-राजेन्द्र चोल (१०६३-७०) से जा टकराया। चोल-राज को विक्रमादित्य के साथ सन्धि करनी पड़ी, जिसे उसने अपनी बेटी के ब्याह द्वारा सुदृढ़ किया। विक्रमादित्य के शासन के अन्तिम दिनों में बित्तिग विष्णुवर्धन (१११०-४०) के अधीन द्वारसमुद्र के होयसलों ने अपने प्रभुत्व का प्रसार प्रारम्भ किया, लेकिन बाद में जगदेकमल्ल द्वितीय (११३८-५१) ने उन्हें दबा दिया। उसने जयवर्मन् परमार तथा अन्हिलवाड़ के कुमारपाल(११४३-७२)के विरुद्ध भी सफलता पायी। और तब उस समय की परिवर्तनशील राजनीति के बीच सन् ११५७ ईस्वी में पश्चिमी चालुक्यों की श्री भी धूमिल पड़ गई, जब विज्जल या विज्जन पर कलचुरियों ने अधिकार कर लिया। कुछ काल बाद इनका तेज एक बार फिर भभका, लेकिन, अन्त में सन् ११८९ ईस्वी में देवगिरि के यादवों और द्वारसमुद्र के होयसलों के आक्रमणों ने इनकी सत्ता उखाड़ फेंकी। अब तक यादव निर्विवाद रूप में दक्षिण की एक प्रमुख शक्ति हो गये। उन्होंने पश्चिमी चालुक्यराज सोमेश्वर चतुर्थ के कमजोर हाथों से किस्तना (कृष्णा) के उत्तर के सारे प्रदेश छीन लिये। लेकिन अब उन्हें होयसलों का सामना करना था क्योंकि बित्तिग विष्णुवर्धन (१११०-४०) के समय से ही होयसल बड़े प्रबल हो उठे थे। बित्तिग को चोलों, पांड्यों, केरलों, दक्षिण कनर के तुलुवों, कदम्बों आदि सभी प्रमुख शक्तियों को पराजित करने का श्रेय दिया जाता

है। यादवों और होयसलों में जो संघर्ष छिड़ा उसमें सन् ११६१ ईस्वी में लक्कुंदी की लड़ाई में वीर वल्लाल होयसल (११७२—१२१५) ने यादव-राज भिल्लम पंचम को मार डाला। इस पराजय का प्रतीकार बाद में सिंहण यादव (१२१०-४७) ने होयसल वीर वल्लाल से किस्तना-पार के प्रदेश छीन कर किया। बारहवीं शताब्दी के अन्त में जयतुगी यादव (११६१-१२१०) ने रुद्रदेव को मार कर काकतीय सिंहासन पर गणपति को बैठाया, जिसके शासन-काल (११६६-१२६१) में वारंगल के काकतीयों की शक्ति भी अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी। यादवराज गणपति चोल, कलिंग, सिउन (यादव) कर्णाट, लाट और वलनाडु के राजाओं से सफलतापूर्वक लोहा लेने का दावा करता है। यादवों, होयसलों, काकतीयों, चोलों तथा पांड्यों के बीच यह भयंकर संघर्ष तेरहवीं सदी में जारी रहा। और अन्त में मलिक काफ़ूर के दक्षिण-अभियान की सर्वग्रासी लपटों ने सिवाय चोलों के सभी को समेट लिया। चोलों का साम्राज्य सन् १२६७ ईस्वी में ही टूट चुका था। इन पारस्परिक संघर्षों से जर्जर और थकी-हारी शक्तियों ने उसका जो-कुछ प्रतिरोध किया, सब बेकार गया। वह विजय-घोष करता हुआ, पांड्यों की राजधानी मदुरा को अधिकृत कर, सन् १३१० ईस्वी में पठार के दक्षिण छोर तक जा पहुंचा। मदुरा के पतन ने पांड्यों को तेजहीन बना दिया; और उनकी इस कमजोरी से लाभ उठा कर चेर राजा रविवर्मन् कुलशेखर (राज्यारोहण १२६६) तथा अन्य सामन्त अपनी-अपनी महत्वाकांक्षाओं को तुष्ट करने लग गये। यों तो पांड्य राज्य का इतिहास बहुत पुराना है, परन्तु इसका विस्तार आठवीं शताब्दी में चोलों और केरलों (चेरों) के विरुद्ध कोच्चदयन रणधीर (आठवीं सदी के प्रारम्भ में), मारवर्मन् राजसिंह प्रथम तथा नेदुंजदयन् वरगुण प्रथम (७६५-८१५) के संघर्षों के परिणामस्वरूप प्रारम्भ हुआ। फिर नवीं शताब्दी के अधिकांश भाग में पांड्य पल्लवों के विरुद्ध लड़ने में लगे रहे; और जैसा कि अन्यत्र कहा गया है, सन् ८८० में श्री पुरंबीयम् की लड़ाई में अपराजितवर्मन् पल्लव ने वरगुण द्वितीय पांड्य पर भारी विजय पाई। इन्हीं दिनों चोल भी प्रबल हो उठे थे। मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय पांड्य ने उन पर अंकुश रखने की कोशिश की, लेकिन चोलराज परंतक प्रथम (६०७-५३) के हाथों उसे गहरी हार खानी पड़ी। पांड्य राजा ने चोलों की अधीनता स्वीकार की, और इस प्रकार सन् ६२० ईस्वी से लेकर तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चोल बराबर पांड्यों के स्वामी बने रहे। यह ठीक है कि समय-समय पर, विशेषकर सन् ६४६ईस्वी में तक्कोलम् की लड़ाई में राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के हाथों चोलों की भारी पराजय के बाद से, पांड्य चोलों की गुलामी का जुआ उतार फेंकने का प्रयास करते रहे लेकिन उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। बल्कि चोल-राज राजेन्द्र प्रथम के शासनकाल में पांड्य देश चोल साम्राज्य का एक प्रदेश-भर बन कर रह गया। परन्तु, सन् ११६० ईस्वी में जटावर्मन् कुलशेखर के सिंहासनारोहण के साथ पांड्यों के भाग्य ने पलटा खाया, और इसलिए उसके शासन काल (११६०-१२१६) "द्वितीय पांड्य साम्राज्य के युग" का प्रारम्भ कहा गया है।

तेरहवीं शताब्दी में पांड्यों का वैभव अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुंचा। मारवर्मन् सुन्दर पांड्य (१२१६-३८) ने राजराज तृतीय चोल (१२१६-५२) के शासन-काल में तंजोर तथा उरैयुर में लूट-पाट और अग्निकांड मचा दिया; और जटावर्मन् सुन्दर पांड्य (१२५१-७२) ने चोल सत्ता पर अन्तिम आघात किया। उसने वीर सोमेश्वर होयसल, गणपति काकतीय (११९९-१२६१) तथा चेरों के विरुद्ध भी सफलता पाई, और इस प्रकार उत्तर में चुड्डप्पा और नेल्लोर से लेकर दक्षिण में अधिकांश हिस्से पर अपनी सत्ता फैला दी। पांड्यों का अन्तिम उल्लेखनीय राजा मारवर्मन् कुलशेखर हुआ, जिसने जयगोड सोलपुरम् का प्रासाद बनवाया। उसके समय तक महान् चोल साम्राज्य का कुछ भी शेष नहीं रह गया। चार सौ वर्षों के सुदीर्घ और सुसमृद्ध जीवन के बाद इसकी भी वही गति हुई जो संसार में एक-न-एक दिन सबकी होती है।

चोलों की राजनीतिक सत्ता का इतिहास निस्संदेह बहुत पुराना है, किन्तु एक साम्राज्य के रूप में उनकी महत्ता का प्रारम्भ आदित्य प्रथम (८७५-९०७) के शासन-काल से होता है। उसने कोंगुदेश तथा तलकाड को जीत लिया, और सन् ८९० ईस्वी में अपराजितवर्मन् पल्लव को अपदस्थ करके तोंडमंडलम् को भी अपने राज्य में मिला लिया। दूसरे राजा परांतक प्रथम (९०७-५३) ने पल्लवों की शक्ति की रही-सही निशानी भी मिटा दी, और मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय के लंका भाग जाने पर पांड्य राज्य पर अपनी प्रभुता स्थापित कर दी। परन्तु परांतक प्रथम की महत्वाकांक्षाओं को सन् ९४९ईस्वी में भारी धक्का लगा, जब कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट के हाथों उसे तक्कोलम् की लड़ाई में पराजित होना पड़ा। इसके बाद राजराज प्रथम(९८५-१०१४) ने चोल साम्राज्यवाद को उत्तेजन दिया। उसने कंडलुर में चेरों के बेड़े को ध्वस्त कर उनको अधीन कर लिया, और अमरभुजंग पांड्य की भी खबर ली। इसके अतिरिक्त उसने मलइनाडु (कुर्ग) तथा नोलंबपाडी और गंगवाड़ी-अर्थात् मैसूर के अधिकांश हिस्से पर अधिकार कर लिया। सन् १००४ ईस्वी में राजराज ने तलकाड पर भी कब्जा कर लिया; और इसके साथ ही चौथी शताब्दी में स्थापित पश्चिमी गंगों की राजनीतिक सत्ता, जो आठवीं और नवीं सदी में वेंगी के पूर्वी चालुक्यों तथा मालखेड के राष्ट्रकूटों के हाथों बार-बार चोट खाकर भी अब तक कायम थी, समाप्त हो गई। चोलों की बढ़ती हुई शक्ति ने उन्हें पश्चिमी चालुक्यों के सामने ला खड़ा किया। यद्यपि तैलप (९७३-९७) उन पर विजय प्राप्त करने का दावा करता है, लेकिन जान पड़ता है, उसके पुत्र सत्याश्रय (९९७-१००८) के दिन राजराज प्रथम के विरुद्ध अच्छे नहीं बीते। चोलराज ने शक्तिवर्मन् (९९९-१०११) के समय में पूर्वी चालुक्यों के प्रदेशों को भी रौंद डाला, और कम-से-कम शक्तिवर्मन् के उत्तराधिकारी विमलादित्य (१०११-१८) ने तो अवश्य ही चोलों की अधीनता स्वीकार की। इस प्रकार राजराज प्रथम प्रायः पूरे पुराने मद्रास प्रेसिडेंसी, मैसूर के एक बड़े हिस्से तथा कुर्ग का स्वामी बन बैठा, और उसकी सेना हिन्द महासागर के

द्वीपों तक जा पहुँची। उसके पुत्र राजेन्द्र प्रथम (१०१४-४४) के समय में चोलों ने अपनी शक्ति के चरमबिन्दु को छू लिया। उसने पांड्य देश का शासन चोलराज प्रतिनिधि के हाथों में दे दिया, और चेरों की यह प्रभुता बारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में उनका पतन शुरू होने के पूर्व तक बनी रही; आखिर चोलों की शक्ति छीजते देख कर वीरकेरल ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर देने की वीरता दिखायी। जैसा कि हम आगे देखेंगे, राजेन्द्र प्रथम ने उत्तर भारत पर एक अभियान किया, और समुद्रपार के द्वीपों को भी विजित करने का श्रेय प्राप्त किया। चोलों और पश्चिमी चालुक्यों की पुरानी शत्रुता उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी चलती रही; और पहले की ही भांति अब भी दोनों पक्ष अपने-अपने अभिलेखों में अपनी-अपनी विजय का दावा करते रहे। इस प्रकार, राजेन्द्र प्रथम को जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल(१०१६-४२) से उलझना पड़ा; और राजाधिराज प्रथम(१०४४-५२), राजेन्द्र (देव) द्वितीय (१०५२-६३) तथा वीर-राजेन्द्र (१०७६-७०) ने बारी-बारी से सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (१०४२-६८) से लोहा लिया। कहते हैं कि कुडाल संगमम् (कर्नूल जिला) की लड़ाई में पश्चिमी चालुक्य राजा को वीर राजेन्द्र के हाथों पराजित होना पड़ा। उसने वेंगी को भी जीत लिया और वहां के सिंहासन पर विजयादित्य छठें (१०६१-७६) को पुनः प्रतिष्ठित कर दिया। जब सन् १०७० ईस्वी में अधिराजेन्द्र निस्संतान ही चल बसा सिंहासन पर कुलोत्तुंग प्रथम के नाम से वेंगी का राजेन्द्रदेव द्वितीय बैठा, जो राजेन्द्र प्रथम की दुहिता अम्मंग देवी से उत्पन्न हुआ था। इस प्रकार, उसके समय में पूर्वी चालुक्य और चोलों के राज्य मिल कर एक हो गये। सन् १०७६ ईस्वी तक उसने अपने चाचा विजयादित्य सप्तम को वेंगी से निकाल बाहर किया, और वहां का शासन राजघराने के आदमी के सुपुर्द कर दिया। कुलोत्तुंग (१०७०-११२२) ने विद्रोही केरल तथा पांड्य सरदारों को भी दबाया, और मालवा के परमार राजा के विरुद्ध सफलतापूर्वक लड़ा। इसके अतिरिक्त उसने पूर्वी गंगराज अनन्तवर्मन् चोडगंग (१०७७-११४७) के विरुद्ध दो अभियान भेजे। इनमें से पहला उसके शासन काल के २६वें वर्ष के पूर्व ही भेजा गया था तथा इसका नेतृत्व भी स्वयं उसने ही किया था और दूसरा सन् १११२ ईस्वी में। अब तक द्वारसमुद्र के होयसल दक्षिण भारत की राजनीति की एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में सामने आ गए थे, और सिंहल, केरल तथा पांड्य देश के राजाओं ने भी अब साहस कर चोल प्रभुत्व से मुक्त होने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया। मारवर्मन् सुन्दर (१२१६-३८) तथा जटावर्मन् सुन्दर (१२५१-७२) के शासन काल में पांड्यों ने अपना प्रादेशिक विस्तार प्रारम्भ किया। इस प्रकार, आन्तरिक कमजोरी, विद्रोहों तथा पड़ोसी शक्तियों के आक्रमणों से जर्जर होकर चोल साम्राज्य टूटने लगा, और सन् १२६७ में अनस्तित्व के गह्वर में विलीन हो गया।

कहा गया है कि प्राचीनकाल में दक्षिण भारत पर बराबर रहस्य का एक पर्दा पड़ा रहा है, और अपवाद की स्थिति तभी आयी है जब चन्द्रगुप्त मौर्य, समुद्र-

गुप्त या हर्षवर्धन् जैसे उत्तर भारत के किसी साहसी राजा ने अपने सैन्य वल से उस रहस्य-पट को ऊपर उठा दिया। पहले वात जो भी रही हो, कम-से-कम विचाराधीन काल में दक्षिण भारत की राजनीति कभी तालाव के पानी की तरह बंधी नहीं रही। वह प्राय: उत्तर भारत के इतिहास की मुख्य धाराओं से घुल-मिल जाती थी। सच तो यह है कि अब उन्होंने परिस्थिति को उत्तर के प्रतिकूल कर दिया था; और उनकी अजेय वाहिनी ने उसे कई वार रौंदा भी। ध्रुव निरुपम (७७९-९४) ने उज्जैन के वत्सराज प्रतीहार को पराजित कर, इन्द्रायुध के शासनकाल में गंगा के दोआब में तूफान मचा दिया और "अपने राज्य-चिह्न में गंगा और यमुना के निशान भी जोड़ दिए।" शायद इसी अभियान के क्रम में ध्रुव ने "उस समय गौड़-राज (धर्मपाल) की लक्ष्मी के श्वेतछत्र तथा क्रीड़-कमल छीन लिए जब वह गंगा और यमुना के बीच भाग रहा था।"[१] इसी प्रकार, गोविन्द तृतीय (७९४-८१४) धर्म (धर्मपाल) तथा चक्रायुध को पराजित कर, विजय-घोष करता हुआ हिमालय तक पहुंच गया;[२] और अमोघवर्ष (८१४-७८) को अंग, बंग और मगध तीनों को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने का श्रेय दिया जाता है। डा० एन० वेंकट-रमणय्या[३] के विचार में, उत्तर पुराण के जैन लेखक गुणभद्र की साक्षी से जान पड़ता है कि कृष्ण द्वितीय (८७८-९१५) ने भी अपने शासनकाल के अन्तिम दिनों में, सम्भवत: भोज द्वितीय के समय में, उत्तर की ओर अपने प्रभुत्व का विस्तार किया। उक्त लेखक उसके (दुर्धर्ष) हाथियों को गंगा का पानी पीते हुए बताता है। मध्य देश पर तीसरा भयंकर आक्रमण इन्द्र तृतीय नित्यवर्ष (९१५-१८) ने किया। उन दिनों राष्ट्रकूटों और प्रतीहारों के बीच उज्जैन को लेकर गहरी प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। नित्यवर्ष उज्जैन होकर ही आगे वढ़ा और सन् ९१६ या ९१७ में "महोदय के विरोधी नगर को पूर्ण रूप से ध्वस्त कर दिया।"[४] शक ८६२=ईस्वी सन् ९४० से कुछ पूर्व कृष्ण तृतीय (९४०-६८) ने भी, कुमार या युवराज के रूप में, उत्तर भारत पर आक्रमण किया। उसके पहुँचते ही गुर्जर-प्रतीहार राजा इतना भयभीत हो गया कि वह अपने दो प्रमुख शक्ति केन्द्रों, कालंजर और चित्रकूट की सुरक्षा की सारी आशा खो बैठा। कृष्ण तृतीय के बाद दक्षिणापथ का दूसरा राजा सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (१०४२-६८) हुआ, जिसने अपने दक्षिणी पड़ोसियों से मुक्त होकर उत्तर की ओर ध्यान दिया। विजय-पर विजय करती हुई उसकी सेना मध्य भारत के विस्तार को लांघ गई। मार्ग में चन्देलों तथा कच्छपघातों ने उसका विरोध नहीं किया और कहते हैं कि उसकी शक्ति से भयभीत होकर कान्यकुब्ज के राजा ने "शीघ्र ही गुफाओं में शरण ली।"[५] सोमेश्वर प्रथम का लोहा लक्ष्मीकर्ण कलचुरी

१. Ep. Ind., XVIII, pp. 244, 252.
२. Ibid., pp. 240, 253.
३. Proc. Ind. Hist. cong. 6th Session (1943) pp. 163-70.
४. Ibid VII pp. 38, 43, V. 19.
५. Ind. Ant. VIII, p. 19.

ने भी माना। बताया जाता है, इसके बाद पश्चिमी चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने भी मिथिला, मगध, अंग, बंग तथा गौड़ को रौंद डाला, और मार्ग में या तो उसे प्रतिरोध का सामना करना ही नहीं पड़ा या करना भी पड़ा तो बहुत मामूली। उत्तर पर अन्तिम आक्रमण गंगईकोंड (१०१४-४४) ने किया। किसी समय सन् १०२१ और १०२५ के बीच[1] ओड्डुविषय (उड़ीसा), कोसलैनाडु (दक्षिणी कोसल), तोंडबुत्ति (दण्डभुक्ति, बालासोर और मिदनापुर जिले का कुछ हिस्सा) के धर्मपाल, तक्कमलादम् के रणशूर, बंगाल देश (पूर्वी बंगाल) के गोविन्दचन्द्र, पाल राजा महीपाल (९९२-१०४०)तथा उत्तिर लादम (उत्तर राढ़)[2] को विजित करता हुआ गंगा-तट तक पहुँच गया। इस प्रकार यद्यपि दक्षिण भारत के ये राजा उत्तर के लहलहाते प्रदेशों को तबाह कर रहे थे, किन्तु आश्चर्य की बात है कि उत्तर के राज्यों ने इन सदियों में इसका कोई जवाब नहीं दिया।

इस काल में दक्षिण के इतिहास की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि कुछ राजा सशक्त नौसेनाएँ भी रखते थे, और उनका विजय-घोष इस प्रायद्वीप की सीमा लांघकर समुद्र-पार के क्षेत्रों में भी गूंजा। सातवीं शताब्दी के मध्य में नरसिंह-वर्मन् पल्लव ने अपने बेड़े के साथ दो बार सिंहल पर आक्रमण किया। इसके अतिरिक्त जब मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय पांड्य ने परांतक प्रथम (९०७-५३) से हारकर सिंहल में शरण ली तो विजेता ने उस द्वीप पर भी आक्रमण कर दिया। इसके बाद राजराज प्रथम (९८५-१०१४) सिंहल पर चढ़ आया, और उसने उसके उत्तरी हिस्से को चोल साम्राज्य में मिला लिया। फिर, राजराज ने "सागर के पुराने द्वीपों को भी जीत लिया, जिनकी संख्या १२००० थी।" इन द्वीपों का संबंध आम तौर पर लक्काडाइव और मालदिव् द्वीप-समूहों से जोड़ा जाता है। अंत में राजेन्द्र प्रथम गंगैकोंड (१०१४-४४) ने सन् १०१७ ईस्वी के आसपास पूरे सिंहल को अपने राज्य में मिला लिया। उसके सशक्त बेड़े ने बंगाल की खाड़ी के पार भी विजय पायी। कहते हैं कि उसने संग्रामविजयोत्तुंगवर्मन् को पराजित कर दिया और कता या कदारम् तथा बृहत्तर भारत के अन्य स्थानों को भी जीत लिया। बहुत सम्भव है कि यह अभियान केवल राजेन्द्र प्रथम की महत्वाकांक्षाओं की तृप्ति के लिए ही नहीं किया गया था। इसके पीछे दक्षिण भारत तथा मलय प्रायद्वीप के बीच व्यापारिक सम्बन्ध को प्रोत्साहन देने तथा सुदृढ़ करने का उद्देश्य भी रहा होगा। अंत में, वीर-राजेन्द्र (१०६३-७०) ने कदारम् या श्रीविजय में राजेन्द्र प्रथम के पराक्रम को दुहराने का प्रयास किया; किन्तु उसके इस अभियान के कारण विस्तार से ज्ञात नहीं हैं।

---

१. देखिए, 'डायनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया' खंड १, पृ० ३१८.

२. Cf. Tirumalai Inscription, Ep. Ind. IX, pp. 229-33.

प्रकरण ३

धर्म और समाज

हमने पूर्व मध्यकाल में होने वाली घटनाओं का मनोरंजक दृश्य देख लिया। यह ठीक है कि पात्रों की बहुलता तथा उनकी गति-विधि की तीव्रता के कारण हमारी दृष्टि कुछ धुंधली अवश्य पड़ जाती है। दृश्य द्रुतगति से बदलते हैं; साम्राज्य का उत्थान और पतन होता है; राजवंश प्रकट होते हैं और फिर विस्मृति के गर्त में विलुप्त हो जाते हैं। शास्त्रों और महत्वाकांक्षाओं के प्रतिघात देख कर हम निश्चय ही भौचक्के रह जाते हैं। अस्तु, अब हम इतिहास के वैभव और विपदा को छोड़ कर धर्म, समाज, राजनीति, आर्थिक जीवन, साहित्य तथा कला की ओर चलें। क्या यह चतुर्दिक् निष्क्रियता और ह्रास का काल था? या, हम प्रगति के भी कोई चिह्न देखते हैं? अच्छा हो, ऐसे प्रश्नों का उत्तर तथ्य अपने आप दें। इस सम्बन्ध में जिस बात की ओर हमारा ध्यान सबसे पहले जाता है वह यह है कि बौद्ध धर्म भारत में अब कोई प्रभावशाली शक्ति नहीं रह गया था। लेकिन इसका अस्तित्व अब भी कुछ क्षेत्रों में कायम था। हम जानते हैं कि अपनी यात्रा (६२९-४५) के क्रम में युवान-च्वाग ने कांची में "कुछेक सौ संघाराम और १००० भिक्षु" देखे। वे स्थविर सम्प्रदाय के उपदेशों का मनन करते थे और बौद्ध धर्म के महायान रूप में विश्वास रखते थे। अतः ऐसा मानना युक्तिसंगत ही होगा कि युवान-च्वांग की यात्रा के बहुत बाद भी पल्लव राज्य में बौद्ध धर्म जीवित था। दक्षिण मे बौद्ध धर्म का अस्तित्व इस बात से भी सिद्ध होता है कि राजराज प्रथम चोल ने, जो एक पक्का शैव था, नेग-पटम् के बौद्ध विहार को दान दिया और कुलोत्तुंग प्रथम की दानशीलता का लाभ एक दूसरे बौद्ध विहार ने उठाया। भारत के इस भूभाग में बौद्ध धर्म के प्रमुख केंद्र थे कांपिल्य (शोलापुर जिला), दम्बल (जिला धारवाड) तथा कन्हेरी (जिला थाना)[1]। जब मुसलमान आठवीं सदी के प्रारम्भ में पहले-पहले सिंध आये, तो उन्होंने वहाँ बौद्धों की काफी बड़ी आबादी पायी। पाल राजा तो बौद्ध धर्म के संरक्षक ही थे। उन्होंने बंगाल तथा मगध के मठों को दान देने में बड़ी उदारता दिखायी। इन क्षेत्रों में बख्तियार खिलजी के आक्रमण तक बौद्ध धर्म का अस्तित्व पाया जाता है। लेकिन यहाँ बौद्ध धर्म अपने मूल स्वरूप से बहुत दूर जा पड़ा था। इसके तांत्रिक रूपों ने इसको इतना बदल दिया था कि उसे पहचान पाना मुश्किल हो गया था। परन्तु बौद्ध भिक्षु अब भी मिशनरियों के जोश से भरे थे। उदाहरणस्वरूप हम प्रसिद्ध दीपंकर श्रीज्ञान का नाम ले सकते हैं, जिसे तिब्बतियों ने अतिस कहा है।

१. Ind. Ant. XII, pp. 134-37.

वह ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में अपने धर्म की ज्योति फैलाने के लिए स्वदेश की सीमा लांघ कर तिब्बत गया था।

बौद्ध धर्म से भिन्न, जैन धर्म की स्थिति भारत के कतिपय भागों में अच्छी हो चली थी। दक्षिण में इसे कुछ पूर्ववर्ती चालुक्य राजाओं का समादर प्राप्त था, और अमोघवर्ष प्रथम, इन्द्र चतुर्थ, कृष्ण द्वितीय, तथा इन्द्र तृतीय आदि राष्ट्रकूट राजा भी इसमें श्रद्धा रखते थे। कई पश्चिमी गंग राजाओं की भी इस ओर अच्छी रुझान थी। अविनीत और दुर्विनीत ने क्रमशः जैन आचार्य विजयकीर्ति और पूज्यपाद को संरक्षण दिया। किन्तु ये दोनों राजा विचाराधीन काल से पूर्व ही हो गये हैं, इसलिए इनकी बात छोड़ें। बाद में भी हम देखते हैं कि राजमल्ल के शासन-काल (९७७-८५) में उसके मंत्री और सेनापति परम जैन चामुंडराय ने सन् ९८३ ईस्वी में श्रवण बेलगोल में गोमतेश्वर की प्रसिद्ध मूर्ति स्थापित करवाई। महान् बित्तिग विष्णुवर्धन होयसल (१११०-४०) मूलतः जैन धर्मावलम्बी था, किन्तु बाद में आचार्य रामानुज ने उसे वैष्णव धर्म की दीक्षा दी। चोल राजा स्वयं तो पक्के शैव थे, किन्तु उनके राज्य में जैन अपने धर्म का आचरण शांतिपूर्वक करते थे। सन् ६४० ईस्वी में मो-लो-किउ-चा (मालकूट) या पांड्य देश का वर्णन करते हुए युआन च्वांग कहता है कि वहां "विधर्मी, विशेषकर निर्ग्रन्थ मत के अनुयायी बड़ी संख्या में थे।"[1] इसी प्रकार वह कांची राज्य में रहने वाले "बहुत-से-निर्ग्रन्थों" का उल्लेख करता है। अतएव ऐसा माना जा सकता है कि बाद की सदियों में भी पल्लव तथा पांड्य राज्यों में जैनों की अच्छी खासी आबादी रही होगी। परन्तु जैन धर्म को सबसे अधिक प्रोत्साहन कुमारपाल चालुक्य के शासन-काल (११४३-७२) में मिला। कुमारपाल की प्रेरणा के स्रोत आचार्य हेमचन्द्र थे। अनुमान है कि हेमचन्द्र के उपदेशों और विस्तृत ज्ञान के परिणामस्वरूप जैन धर्म गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, राजपूताना तथा मालवा में तेजी से फैला। परन्तु राजकीय संरक्षण के अभाव में उत्तर में इसका प्रभाव बहुत सीमित रहा। यहां तथा दक्षिण भारत में सबसे अधिक ज़ोर ब्राह्मण धर्म या पौराणिक हिन्दू धर्म का था, और राजा-प्रजा सब ब्राह्मण देवताओं की पूजा करते थे। इन देवताओं में सबसे प्रमुख थे विष्णु और शिव, जो अनेक नामों से ज्ञात थे। इस देवसमूह में इनके अतिरिक्त ब्रह्मा, सूर्य, विनायक या दामोदर (गणेश), कुमार स्कन्द, स्वामी-महासेन या कार्तिकेय, इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण, मरुत् आदि शामिल थे। देवियों में मातृका, भगवती या दुर्गा, श्री (लक्ष्मी) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त बहुत-से छोटे-छोटे देवी देवता भी थे। इनमें से अनेक अब भी लोगों की श्रद्धा के पात्र हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि आधुनिक हिन्दू धर्म ने इसी काल में अपना स्वरूप ग्रहण कर लिया था। आज की

१. Beal, Buddhist Records of the Western World, vol. II, p. 231.

ही तरह उपासना में अनन्यता जैसी कोई बात नहीं थी। उदाहरण के लिए, राष्ट्रकूट शिलाभिलेख शिव और विष्णु दोनों की वंदना से शुरू होते हैं। इसी प्रकार गाहड़-वाल राजाओं ने सूर्य, शिव तथा वासुदेव (विष्णु)[१] की पूजा करके, अग्नि देवता को हविष् देने के बाद दान दिये। एक ही राजवंश के लोग अक्सर विभिन्न देवताओं की पूजा किया करते थे। यह बात विशेषकर प्रतीहार राजाओं के साथ लागू होती थी।[2] सच तो यह है कि राजघराने की धार्मिक उदारता कभी-कभी इससे भी अधिक दूर तक थी। एक शिलाभिलेख जयचन्द्र को श्रीमित्र नामक "एक सहृदय एवं अतीव ज्ञान-पिपासु" बौद्ध भिक्षु का शिष्य बताता है।[3] फिर हम यह भी जानते हैं कि गाहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र तथा चोल राजा राजेन्द्र प्रथम और कुलोत्तुंग ने बौद्ध विहारों को दानस्वरूप कई गांव दे दिए थे। इन बातों से अवश्य ही विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायियों के बीच सहिष्णुता और मेलजोल के भाव को प्रोत्साहन मिला होगा। अतएव इस काल में धार्मिक अत्याचार तथा साम्प्रदायिक वैमनस्य के विशेष प्रमाण नहीं मिलते हैं। इसके अपवादस्वरूप एक उदाहरण अवश्य मिलता है, और वह यह कि उपर्युक्त कुलोत्तुंग प्रथम की अकृपा ने महान् वैष्णव सुधारक रामानुज को श्रीरंगम् छोड़ कर होयसल राज्य में चले जाने को वाध्य किया। उनकी वापसी तभी सम्भव हो सकी जब विक्रम चोल ने उनके प्रति अपने पिता का रुख बदल दिया। परन्तु साधारणतया चोल तथा दक्षिण के अन्य शासक भी सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु थे, और वैष्णव अलवार तथा शैव नयनमार दोनों को अपने-अपने सिद्धान्तों का उपदेश और प्रचार करने की स्वतन्त्रता थी। इन धर्मोपदेशकों ने अपने धार्मिक समादेशों और दृष्टान्तों द्वारा प्रचलित धर्मों में नए जीवन और स्फूर्ति का संचार कर दिया। दक्षिण भारत ने इस काल में कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा मध्वाचार्य जैसे महान् व्यक्ति उत्पन्न किए, जो अपने आत्मबल और बौद्धिक तेज के द्वारा हिन्दू धर्म पर अमिट छाप डाल गए[४]। अन्त में यह उल्लेखनीय है कि अब वैदिक यज्ञ-बलिदान का अधिक प्रचलन नहीं रह गया था। लेकिन राष्ट्रकूट अभिलेखों में हिरण्यगर्भ तथा तुलादान यज्ञ सम्पन्न करने की बात मिलती है। अश्वमेध यज्ञ का एकमात्र उल्लेख राजाधिराज प्रथम (१०४४-५२) के समय के एक चोल शिलाभिलेख में मिलता है। जान पड़ता है, अब उलझे और बेढ़ंगे विधि-विधानों से पूर्ण यज्ञों से अधिक जोर दान पर दिया जाने लगा था।

---

१. इस प्रकार विष्णु को वासुदेव, चक्रधर, गोविन्द, नारायण, गदाधर, माधव, जनार्दन आदि कहते थे, और शिव के दूसरे नामों में से कुछ ये थे: शंभु, हर, महादेव, भूतपति, पशुपति, शूलपाणि, महेश्वर, पिनाकिन्, त्रिपुरांतक आदि।

२. History of Kanauj, p. 290.

३. Ind. Hist. Quart, V. (1929) p. 26, V. 10.

४. Sachau, Alberuni's India, Vol. II, p. 139.

दूसरी ओर महान् मुस्लिम विद्वान् अलबेरूनी (९७०-१०३९) सन् १०३० ईस्वी में लिखते हुए यज्ञों का प्रचलन उठने का कारण इन शब्दों में बताता है, "विभिन्न यज्ञों के सम्पादन में विभिन्न अवधियाँ लगती हैं। कुछ तो वही सम्पन्न कर सकता है जिसकी आयु बहुत लम्बी हो; और आजकल लोगों की आयु इतनी लम्बी होती नहीं। अतः उनमें से अधिकांश व्यवहार में नहीं रहे; और अब बहुत थोड़े-से बच रहे हैं, जिन्हें लोग सम्पन्न करते हैं।"[१]

वर्ण आज की ही भाँति तब भी समाज के फौलादी ढांचे का काम करता था। खुर्ददबा, जो हिजरी सन् ३००—(ईस्वी सन् ९१२) में मरा, सात जातियों का उल्लेख करता है : (१) सबकुफ़रिया या सबककेरिया, (२) ब्रह्म, (३) कतरिया, (४), सुदरिया, (५) बेसूर, (६) चंडलिया, और (७) लहुद। इन जातियों का उल्लेख अलइदरीसि (ग्यारहवीं सदी का अन्त) भी करता है, लेकिन अन्तिम को वह ज़किया कहता है। इसमें संदेह नहीं कि दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य और चांडाल के लिए आया है। पहला शायद सत्क्षत्रियों[२] के लिए आया है, लेकिन सातवें की पहचान अब तक निश्चित रूप से नहीं की जा सकी है। इससे भिन्न, अलबेरूनी बताता है कि प्रारंभ से ही हिन्दुओं में चार जातियाँ है :(१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय, (३) वैश्य और (४) शूद्र। स्पष्ट ही उसके इस मत का आधार वही है जो-कुछ उसने हिन्दू स्मृतियों में पढ़ा था, क्योंकि यह एक सुविदित तथ्य है कि अब तक समाज कई उप-विभागों और मिश्रित जातियों में बंट चुका था। यह बात बाद की स्मृतियों और कल्हण की साक्षी से सिद्ध होती है। कल्हण ६४ उपजातियों का उल्लेख करता है। छोटी-छोटी जातियों की रचना का कारण या तो अवैध लैंगिक सम्बन्ध था या पैतृक धंधों को छोड़ना और नए पेशे अपनाना। अलबेरूनी चार प्रमुख जातियों के अलावा आठ प्रकार के अंत्यजों तथा हाड़ी, डोम (डोम्ब), चांडाल और बधताउ (अस्पष्ट) का उल्लेख करता है, जिनको किसी जाति में नहीं गिना जाता था। उन्हें गन्दे काम करने पड़ते थे, तथा नगरों और गांवों से बाहर रहना पड़ता था। इस प्रकार इस काल में ऐसे अछूतों का अस्तित्व सिद्ध होता है, जिन्हें समाज की सीमा के भीतर नहीं माना जाता था। अलबेरूनी आगे कहता है कि उक्त चार जातियों के लोग "एक ही नगर और एक ही गांव में रहते थे, तथा एक ही घर और आवास में एक-दूसरे से मिलते-जुलते भी थे।"[3] लेकिन, विभिन्न जातियों के लोगों का साथ बैठ कर खाना वर्जित था।[४] इस तरह के प्रतिबन्ध स्वभावतः उसकी समझ से परे थे, और वह स्पष्ट निर्वेद के साथ लिखता है कि जाति प्रथा "हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक सम्पर्क

---

१. Sachau, Alberuni's India, vol. II, p. 139.
२. Rāṣtrakūṭas and their times, pp. 318-19.
३. Sachau, Alberuni's India, Vol. I, p. 101.
४. Ibid., Vol. I, p. 102.

और सौहार्द के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है।[१] तात्पर्य यह कि अलबेरूनी के समय में दोनों समुदाय एक-दूसरे के निकट नहीं आ पाये। लेकिन इस काल में हम एक मनोरंजक बात यह पाते हैं कि जो हिन्दू मुसलमान हो गए थे उनका फिर से अपने धर्म में लौट पाना संभव था। मुसलमानों की सिंध-विजय के बाद लिखते हुए देवल उन लोगों की शुद्धि की अनुमति देता है, जिन्हें बीस वर्ष के भीतर धर्म-परिवर्तन पर मजबूर किया गया था; और बृहद्याम इस प्रयोजन के लिए कुछ प्रायश्चित्तों की व्यवस्था करता है। अलबिलादुरी (८९२-३ ई०) इस बात पर खेद प्रकट करता है कि "कस्स के निवासियों के अलावा सभी भारतीय फिर बुतपरस्त हो गए।"[२] अल उतबी भी नवास शाह नामक एक ऐसे भारतीय राजा का उल्लेख करता है जिसने एक बार इस्लाम को स्वीकार कर लेने के बाद अपने गले से धर्म की मजबूत डोरी को उतार फेंकने के लिए बुतपरस्तों के अगुओं से सलाह मशविरा किया।"[३]

हिन्दुओं के बीच ब्राह्मणों की सत्ता पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। ये अनेक गोत्रों और प्रवरों में विभक्त थे। आज की तरह विभिन्न अल्लों का प्रचलन भी धीरे-धीरे हो रहा था। क्षेत्रों का ठप्पा अब तक नहीं लगा था, किन्तु एक शिलालेख में दान-प्रशस्ति का रचयिता अपने को "नागरजातीय ब्राह्मण"[४] कहता है। दूसरी जातियों के लोग दान और श्रद्धा से ब्राह्मणों का आदर करते थे। अल मसऊदी तथा अल इदरीसी के अनुसार ब्राह्मण मांस नहीं खाते थे और पवित्र तथा तपोनिष्ठ जीवन व्यतीत करते थे। इब्न खुर्ददबा भी इस बात की पुष्टि करता है कि ब्राह्मण मदिरा तथा अन्य उत्तेजक पेय नहीं पीते थे। वे योग[५] की साधना करते थे, और वेदों का अध्ययन करते थे। उन्हें इन धर्मग्रन्थों को लिपिबद्ध करना स्वीकार नहीं था, इसलिए वे उन्हें कण्ठस्थ कर लिया करते थे। वेदों के अलावा वे पुराणों, स्मृतियों और सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि से सम्बन्धित दार्शनिक ग्रन्थों, रामायण, महाभारत तथा व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, खगोलशास्त्र, गणित और वैद्यक जैसे यथार्थ विज्ञानों का भी मनन करते थे।[६] संक्षेप में, ब्राह्मण ज्ञान तथा धार्मिक अनुश्रुतियों के आगार थे। वे क्षत्रियों को वेद पढ़ाते थे। "क्षत्रिय वेद पढ़ते तो थे, लेकिन उन्हें किसी दूसरे को—ब्राह्मणों को भी—वेद पढ़ाने की अनुमति नहीं थी।" वैश्यों और शूद्रों के बारे में अलबेरूनी कहता है कि उन्हें "वेद सुनने का अधिकार नहीं है, उसके उच्चारण और पाठ का तो और भी नहीं। यदि उनमें से किसी के विरुद्ध ऐसी कोई बात सिद्ध हो जाती है तो ब्राह्मण उसे पकड़कर न्याया-

१. Ibid., Vol. I, p. 100.
२. इलियट, 'हिस्ट्री आफ इंडिया', खंड १, पृ० १२६.
३. Ibid., खंड २, पृ० ३२-३३.
४. Ep., Ind. III, 123.
५. Ind. Ant. XVI, pp. 174-75.
Sachau, Alberuni's India, Vol. I, pp. 130-39.

धीश के पास ले जाते हैं, और दण्ड-स्वरूप उसकी जिह्वा काट ली जाती है।"[१] ये द्वेषजनक भेदभाव तथा निर्योग्यताएँ तत्कालीन समाज का एक भारी दोष थीं, और इनसे अवश्य ही तात्कालिक व्यवस्था में समाज की आस्था हिल गई होगी। अतः यदि विश्व-भ्रातृत्व के संदेश से अनुप्राणित मुट्ठी भर मुस्लिम आक्रान्ताओं ने हिन्दुओं की विशाल आबादी के रहते हुए भी इस देश में अपना झंडा गाड़ दिया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

जातीय अभिमान अन्तर्जातीय विवाह के बढ़ते हुए विरोध के रूप में भी व्यक्त हुआ। अलबेरूनी लिखता है कि यद्यपि अनुलोम विवाह की स्वीकृति समाज देता था, लेकिन उसके समय में ब्राह्मण "कभी किसी दूसरी जाति की स्त्री के साथ ब्याह नहीं करते थे।"[२] दूसरी ओर इब्न खुर्ददबा पश्चिम भारत के बारे में बताता है कि ब्राह्मण क्षत्रियों की लड़कियों को ब्याहते थे। निस्संदेह इतिहास में कुछ ऐसे विवाहों के उदाहरण सुरक्षित हैं। राजशेखर (नवीं सदी का अंत और दसवीं का प्रथम चरण) ने क्षत्रियों की चाहमान शाखा की एक लड़की से शादी की, जिसका नाम अवन्तिसुन्दरी था और कश्मीर के राजा संग्रामराज ने अपनी बहन का हाथ एक ब्राह्मण के हाथों में दिया। जान पड़ता है कि कम-से-कम राजवंशों की हद तक विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के बीच भी वैवाहिक सम्बन्ध वर्जित नहीं था। गोविंदचन्द्र गाहड़वाल ने कुमारदेवी से ब्याह किया, जिसकी बौद्ध धर्म में अडिग आस्था थी। इस काल में शायद बाल-विवाह भी प्रचलित था। अलबेरूनी कहता है, "हिन्दू बहुत कम उम्र में ब्याह करते हैं, इसलिए पुत्रों की शादी का प्रबन्ध माता-पिता करते हैं।"[३] कम-से-कम "ऊपर के दस" के बीच बहुपत्नित्व का भी प्रचलन था, और तलाक को मान्यता प्राप्त नहीं थी। यदि कोई पत्नी अपना पति खो बैठती तो वह पुनर्विवाह नहीं कर सकती थी। उसे या तो विधवा बनकर रहना था या सती हो जाना था। कश्मीर में सती का आम प्रचलन था, लेकिन दक्षिण में नहीं। फिर भी यह प्रथा अभी शायद राजवंशों तक ही सीमित थी और जनसाधारण इससे बचा हुआ था। ऐसा विश्वास करने के कारण हैं कि अभी पर्दा प्रथा भी अपने पैर नहीं जमा पाई थी। अबू जईद लिखता है, "भारत के अधिकांश राजा जब अपना दरबार लगाते हैं तब उपस्थित लोगों को, चाहे वे देशी हों या विदेशी, अपनी स्त्रियों को देखने देते हैं।[४] सब मिलाकर समाज में स्त्रियों का स्थान बुरा नहीं था। उनमें से कुछ की बौद्धिक उपलब्धियों की बड़ी ख्याति थी। राजशेखर कई कवयित्रियों का उल्लेख करता है, और स्वयं उसकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी एक प्रतिभा-सम्पन्न महिला थी। कहते हैं, मंडनमिश्र की पत्नी ने अपनी प्रखर बुद्धि से महान् शंकरा-

१. Ibid., Vol. I, p. 125., 2, p. 136.
२. Ibid., Vol. II, pp. 155-56.
३. Ibid., Vol. II, p. 154.
४. इलियट, 'हिस्ट्री आफ इंडिया', १, पृ० ११।

चार्य को चुप करा दिया था। लीलावती को गणित का गहरा ज्ञान था। इस काल को कश्मीर की रानी दिद्दा (९८०-१००३) तथा काकतीय रानी रुद्राम्बा (१२६१-९० ई०) जैसी प्रशासक महिलाओं का भी गौरव प्राप्त है। पश्चिमी चालुक्यों के अभिलेखों से जान पड़ता है कि रानियाँ प्रांतीय शासन की बागडोर भी संभालती थीं। इस प्रकार, सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल की एक पत्नी, मैलादेवी सन् १०५३ ईस्वी में बनवासी प्रांत पर शासन करती थी; और विक्रमादित्य छठे की अग्रमहिषी लक्ष्मीदेवी सन् १०९५ में १८ अग्रहारों की देखरेख करती थी। अगर हम विक्रमादित्य छठे (१०७६-११२६) के आश्रित और 'मिताक्षरा' के लेखक विज्ञानेश्वर की साक्षी मानें तो समाज का एक अपेक्षाकृत दुर्बल पक्ष दास-प्रथा का अस्तित्व था। विज्ञानेश्वर पन्द्रह प्रकार के दासों का उल्लेख करता है, और यह भी बताता है कि वे कैसे स्वतन्त्र हो सकते थे। उन दिनों भी हिन्दू वाराणसी, मथुरा और पुष्कर जैसे तीर्थों की यात्रा खूब किया करते थे। वे वर्ष के कई दिन त्यौहार भी मनाते थे, और सद्गुणों की प्राप्ति के लिए व्रत रखते थे। इस प्रकार हम इस काल में कुछ ऐसे रीति-रिवाजों का अस्तित्व पाते हैं, जिन पर हिन्दू समाज आगे चलकर बहुत अधिक जोर देने लगा।

प्रकरण ४

शासन-व्यवस्था और आर्थिक स्थिति

जनता के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन का यह धुंधला-सा चित्र देखने के बाद हम तत्कालीन शासन-व्यवस्था पर विचार करें। प्रारम्भ में हम इतना कह सकते हैं कि इस काल में स्थापित सरकारें काफी सुसंगठित थीं। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि रह-रहकर युद्ध की आग भड़क उठती थी, और यदा-कदा उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर भी संघर्ष छिड़ जाते थे, किन्तु इन सारे आघातों को सहकर भी पालों, चोलों और पूर्वी चालुक्यों का शासन प्रायः चार सदियों तक टिका रहा, और प्रतीहारों, राष्ट्रकूटों तथा पश्चिमी चालुक्यों में से प्रत्येक ने दो सदी से ऊपर राज्य किया। यह सचमुच प्रशंसा की बात है कि परिवहन के सीमित और मंद साधनों के उस काल में भी वे इतने दिनों तक दूर-दूर के प्रदेशों को एक सूत्र में बांधकर रख सके। सभी राज्यों का शासन यंत्र न्यूनाधिक एक ही प्रकार का था; स्थान और समय के भेद से उसके अवयव बदलते रहते थे। अधिकारियों की पद-संज्ञाएँ भी बदलती थीं, किन्तु उनके कर्त्तव्य वही होते थे। पहले की ही भांति प्रशासनिक सुविधा के लिए राज्य कई प्रांतों में विभक्त रहता था। उत्तर में ये प्रांत (भुक्ति भूमि या मंडल कहलाते थे और दक्षिण में मंडलम्)। प्रान्त (विषयों या भोगों में बंटा होता था, जिन्हें दक्षिण में कोट्टम् या वलनाडु कहते थे)। इससे नीचे का प्रशासनिक उपविभाग था अधिष्ठान या पत्तन; दक्षिण में यह नाडु नाम से ज्ञात था। अधिष्ठान ग्राम-समूहों में विभक्त होता था। (ग्राम-समूह आधुनिक तहसील के बराबर हुआ करता था, और उत्तर में इसे पट्टल या अग्रहार कहते थे तथा दक्षिण में कुर्रम्)। सबसे नीचे था ग्राम या ग्रामम्। शासन यंत्र के संचालन के लिए बहुत-से बड़े-छोटे, केन्द्रीय-प्रांतीय और स्थानीय कर्मचारी होते थे। कभी-कभी प्रशासनिक और सैनिक अधिकारियों के बीच का अन्तर बहुत अस्पष्ट होता था। हमारे उद्देश्य की दृष्टि से यहाँ उनका ब्योरा देना उचित नहीं होगा, अतः हमें तत्कालीन शासन-व्यवस्था की कुछ मोटी-मोटी बातों का उल्लेख करके ही संतोष करना है। अब जिस बात की ओर हमारा ध्यान सबसे पहले जाता है वह है राजतन्त्र से भिन्न शासन-प्रणाली का सर्वथा अभाव। स्व-शासित अथवा कुलीनतंत्र वाली जातियों की अन्तिम झांकी हमें समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ के अभिलेखों में मिलती है। अब राजतंत्र के उठते हुए ज्वार ने उन्हें आत्मसात्

कर लिया था और वे अतीत की वस्तुएँ बनकर रह गई थीं।[१] राजतंत्र का स्वरूप सर्वथा वंशानुगत था, और शासक चुनने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। यह ठीक है कि लगभग आठवीं सदी के मध्य में बंगाल के लोगों ने तत्कालीन अराजकता से तंग आकर गोपाल को अपना राजा चुना या घोषित किया; और शूरवर्मन् द्वितीय की मृत्यु के बाद सन् ९३९ ईस्वी में ब्राह्मणों की एक सभा ने यशःकर को कश्मीर का राजा निर्वाचित किया। किन्तु ये अपवाद नियम को सिद्ध नहीं करते। साधारणतया ज्येष्ठ पुत्र अपने पिता का उत्तराधिकारी होता था। पिता अपने जीवनकाल में ही उसे युवराज पद पर अभिषिक्त कर देता था। किन्तु कनिष्ठ पुत्र के अधिक योग्य होने पर ज्येष्ठ पुत्र के दावे को किनारे भी कर दिया जाता था। स्तम्भ के मामले में ऐसा ही हुआ, जब ध्रुव निरुपम ने गोविन्द तृतीय को अपना (खम्भैया) उत्तराधिकारी चुना। ऐसे निर्णय स्वभावतः भ्रातृ-कलह को जन्म देते थे। कभी-कभी भोज द्वितीय तथा महीपाल जैसे सौतेले भाइयों के बीच भी राज-मुकुट के लिए प्रतिद्वन्द्विता चल पड़ती थी। यदि राजा अल्पवयस्क होता तो कोई निकट सम्बन्धी उसके संरक्षक का काम करता था। इसका परिणाम अक्सर दरबारी षड्यन्त्रों के रूप में प्रकट होता था और राज्य में अव्यवस्था फैलती थी। इस काल में राजा काफी शान-शौक़त से रहता था, तथा उसकी निरंकुशता पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। यद्यपि मंत्रियों और अमात्यों के नाम हम अब भी सुनते हैं, किन्तु पहले की तरह किसी ऐसे स्थायी मंत्रि-परिषद का अस्तित्व नहीं रह गया था जो राजा को परामर्श देती और उसका मार्गदर्शन करती तथा उसकी स्वच्छन्दता पर अंकुश रखती। सच तो यह है कि इस काल के अभिलेखों में ऐसे बहुत कम उदाहरण मिलते हैं जब किसी राजा ने कोई महत्वपूर्ण कदम उठाने से पूर्व अपने मंत्रिमंडल से सलाह-मशविरा किया हो। मंत्री का पद भी वंशानुगत हो गया था। अपने पदों को बनाए रखने तथा अपने सर्वशक्तिमान् स्वामियों की कृपा प्राप्त करने के लिए वे राजा की हाँ में हाँ मिलाना अधिक निरापद समझते थे। कल्हण ने कश्मीर के इतिहास में ऐसे कठपुतली मंत्रियों का उल्लेख किया है। परन्तु ऐसे मंत्रियों के उदाहरण भी सर्वथा अज्ञात नहीं हैं जो अपनी चतुराई, ईमानदारी तथा राजभक्ति के कारण राजाओं के आदर के पात्र थे। यादवराज कृष्ण एक अभि-लेख में अपने मंत्री की तुलना अपनी जिह्वा और दाहिने हाथ से करता है।[२]

सामन्त अथवा महासामन्त इस काल की राजनीति के एक प्रमुख अंग थे। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उनका अस्तित्व बहुत पहले से चला आ रहा था, क्योंकि विजेता अधिकांशतः मनु और कौटिल्य द्वारा समर्थित विजित प्रदेशों को

१. यह बात महत्वपूर्ण है कि दक्षिण भारत के अभिलेखों में इससे पहले भी राजतंत्र से इतर किसी शासन पद्धति का उल्लेख नहीं मिलता।

२. Ind. Ant. XIV, p, 69.

अपने राज्य में न मिलाने की नीति का अनुसरण करते थे। नवीं सदी के मध्य में अल सुलेमान भी कहता है: "भारत में जब कोई राजा कभी किसी पड़ोसी को जीतता है तो वह उसे पराजित राजवंश के ही किसी व्यक्ति के अधीन कर देता है, जो उस विजेता के नाम पर शासन करता है। यदि अन्यथा किया जाए तो जनता को सह्य नहीं होगा"[1] यह ठीक है कि कभी-कभी कुछ साम्राज्यवादी शक्तियों ने विजित प्रदेशों को अपने राज्य में मिलाकर उनका शासन अपने कुटुम्बियों के हाथों में सौंप देने की कोशिश की। उदाहरण के लिए, राष्ट्रकूटों ने गंगवाड़ी को, और कृष्ण तृतीय के समय में तोंडमंडलम् को भी, अपने राज्य में मिलाने का प्रयत्न किया, तथा चोलों ने भी केरल और पांड्य देश के सम्बन्ध में वही नीति अपनाई; लेकिन उनकी सफलता अस्थायी सिद्ध हुई। सामन्त अपने प्रभु की व्यक्तिगत सेवा करते थे, और युद्ध काल में उसे सैनिक सहायता देते थे। कन्नड़ कवि पंप के अनुसार, नरसिंह चालुक्य अपने स्वामी इन्द्र तृतीय के उत्तरी अभियान में उसके साथ गया था; और पालों, प्रतीहारों तथा अन्य राजवंशों के अभिलेखों में ऐसे अनेक उदाहरण सुरक्षित हैं, जब सामन्तगण अपने प्रभुओं की ओर से युद्ध में शामिल हुए। इस उद्देश्य से वे एक निश्चित संख्या में सेना रखते थे। इस काल में बड़ी-बड़ी शक्तियों में सेना के लिए सामन्तों पर निर्भर करने की प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गई जान पड़ती है कि उन्होंने एक सबल और कुशल स्थायी सेना रखने की आवश्यकता की भी अपेक्षा करना शुरू कर दिया। यह बात विशेषकर उत्तर की शक्तियों के साथ लागू थी, क्योंकि हम जानते हैं कि चोलों के पास एक जबर्दस्त थल सेना और नौ सेना थी। इस प्रकार हम एक तरह की सामन्तवादी व्यवस्था को विकसित होते देखते हैं। आगे चलकर यह व्यवस्था एक ऐसा अभिशाप सिद्ध हुई, जिसका केन्द्रीय सत्ता को तोड़ने या कमजोर बनाने में कम योगदान नहीं था।

दक्षिण भारत के अभिलेखों से इस काल में ग्राम सभाओं के अस्तित्व और उनकी कार्यपद्धति पर काफी प्रकाश पड़ता है। चोलों के शासनकाल में वे दक्षिण के ग्रामीण जीवन की रीढ़ थीं; यद्यपि उनका उल्लेख परवर्ती पल्लव अभिलेखों में भी मिलता है। किन्तु दुर्भाग्यवश उत्तर भारत के अभिलेखों में उनका कहीं कोई जिक्र नहीं आया है। यहाँ दक्षिण के किसी गांव की महासभा या सभा के कार्य-कलापों को विस्तार से बताना जरूरी नहीं। इतना कह देना पर्याप्त होगा कि साम्राज्य के अधिकारियों के निरीक्षण और सामान्य नियंत्रण में उसे ग्रामीण मामलों के प्रबन्ध की पूरी छूट थी। कुशलता को ध्यान में रखते हुए वह कई उप-समितियों में विभक्त थी। ये उपसमितियाँ मन्दिरों, तालाबों, सार्वजनिक स्नानागारों, बागीचों तथा खेतों के प्रबन्ध और सुधार के लिए अलग-अलग जिम्मेदार थीं। इन

१. विजित प्रदेशों को अपने राज्य में न मिलाने की यह नीति केन्द्रीय सत्ता की कमजोरी का एक कारण थी क्योंकि असन्तुष्ट सामन्तगण बराबर विद्रोह कर बैठने के मौके की तलाश में रहते थे।

संस्थाओं के पदाधिकारियों के चुनाव के लिए विस्तृत नियम बने हुए थे। एक सदस्य केवल एक साल के लिए चुना जाता था और सदस्यता के लिए उसकी पात्रता अथवा अपात्रता, चरित्र, विद्या, सामाजिक स्थिति आदि पर आधारित एक निश्चित मान पर निर्भर करती थी।

राज्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य शान्ति-सुव्यवस्था कायम रखना है, और ऐसा मानने के पर्याप्त कारण हैं कि उस काल का कोई राजा अपनी वैदेशिक नीति में चाहे जितना भी युद्ध-प्रिय रहा हो, अपने राज्य के भीतर शांति सुरक्षा का वातावरण बनाए रखने के लिए बराबर चिन्तित रहता था। भोज के प्रतीहार साम्राज्य के बारे में लिखते हुए अल सुलेमान (८५१) कहता है, "भारत में ऐसा कोई राज्य नहीं है जो डाकुओं से इससे अधिक निरापद हो।" इससे दो सदी पूर्व हर्ष के काल में मध्य देश का भ्रमण करते हुए युवान च्वांग को डाकुओं ने बड़ा परेशान किया था तो सुलेमान की यह उक्ति प्रतीहार शासन-व्यवस्था की श्रेष्ठता की एक बहुत बड़ी प्रशस्ति जान पड़ेगी।

जनता की समृद्धि के लिए राज्य जन-कार्य की ओर भी विशेष ध्यान देता था। चोल राजाओं ने बड़ी-बड़ी सड़कों का निर्माण करवाया। इससे सेना को यातायात की सुविधा मिली ही, वाणिज्य-व्यापार को भी बड़ा बल मिला। इसके अतिरिक्त, उन्होंने कुएँ खुदवाए, तालाब बनवाए, कावेरी पर भव्य सेतु की रचना करवाई, तथा किसानों की सिंचाई सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहरों की व्यवस्था करवायी। इस उद्देश्य से राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी गगाईकोण्ड-चोलपुरम् में एक कृत्रिम झील खुदवाई, जो कोलेरून और वल्लर नदियों के पानी से भरी रहती थी। इसी प्रकार चंदेलों और परमारों ने महोबा के मदन-सागर तथा धार के मुंज-सागर जैसी कई तटबन्ध झीलें खुदवायीं। कश्मीर में अवन्तिवर्मन् (८५५-८३) के मंत्री सुय्य ने सिंचाई के लिए नहरें बनवाईं। बाढ़ रोकने के लिए उसने वितस्ता (झेलम) की धारा तक बदलवा दी, और इस प्रकार बहुत बड़े दलदली क्षेत्र को आबाद करवाया। इसके परिणामस्वरूप कश्मीर के लोग आर्थिक दृष्टि से अधिक समृद्ध हो गये, क्योंकि जहाँ पहले एक खारी चावल की कीमत २०० दीनार थी, वहाँ अब उतना केवल ३६ दीनारमें मिल जाता था। इससे स्पष्ट है कि इस काल में राजा केवल अपनी सनक और युद्ध-प्रिय प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर ही कोई काम नहीं करते थे, बल्कि मूक जनता के कल्याण का भी बराबर ध्यान रखते थे।

यह स्थायी और उपयोगी शासन-व्यवस्था एक ठोस कर-प्रणाली पर निर्भर करती थी। उत्तर तथा दक्षिण भारत के अभिलेखों से हमें कई प्रकार के स्थायी और अस्थायी करों का पता चलता है, और उनके व्यापक स्वरूप से जान पड़ता है कि सरकार आय के हर संभव साधन का लाभ उठाती थी। ये विभिन्न कर, भेंट-उपहार, तथा जुर्माना अदा कर सकने की क्षमता परोक्ष रूप से जनता की आर्थिक स्थिति पर भी प्रकाश डालती है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि अब भी राजस्व का

प्रमुख साधन भूमि-कर ही था, जो जमीन की उर्वरा शक्ति, सिंचाई सम्बन्धी सुविधाओं तथा राज्य की जरूरतों के मुताबिक शायद घटता-बढ़ता रहता था।[१] कर आम तौर पर उपज के रूप में चुकाया जाता था, लेकिन कभी-कभी कुछ अंश नकद भी अदा किया जाता था, जिसकी किश्तें कर दी जाती थीं। राज-राजेश्वर के मन्दिर शिलालेखों से ज्ञात होता है कि तमिलकम् में धान के रूप में कर लिया जाता था। समय-समय पर बड़ी सावधानी से जमीन की पैमाइश की जाती थी, और जोत का लेखा-जोखा रखा जाता था। ऐसा विशेषकर चोलों के राज्य में होता था। व्यापार से भी राज्य को आमदनी होती थी, और यहाँ इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि चोलों को अपने समुद्री व्यापार में अपने बेड़े से बहुत मदद मिलती थी। राजस्व के अन्य साधन थे परती जमीन, पेड़, खान, नमक तथा निखात-सम्पत्ति आदि। राज्य बेगार को भी मान्यता देता था। आर्थिक जीवन पेशे के अनुसार संगठित था। समान पेशे में लगे हुए लोग अपनी अलग श्रेणी या निकाय बनाते थे, जिनके द्वारा उनके धन्धों का नियमन होता था। इस काल के अभिलेखों में ऐसे संगठनों का उल्लेख अनेक बार हुआ है। हर श्रेणी का अपना अलग मुखिया होता था, और उसके सदस्य मन्दिरों आदि के लिए सामूहिक रूप से चन्दा किया करते थे। ये श्रेणियाँ कभी-कभी बैंक का भी काम करती थीं जहाँ सूद की एक निश्चित दर पर धन जमा किया जा सकता था। उन्हें अपने आन्तरिक मामलों की सार-संभाल की पूरी छूट थी, और राज्य उनमें ज्यादा हस्तक्षेप नहीं करता था। समाज को संगठित करने के अलावा श्रेणियाँ राज्य के लिए भी बहुत उपयोगी थीं, क्योंकि वे लोगों में निश्चित रूप में विधिचारिता के भाव भरती थीं।

---

१. भूमिकर के सम्बन्ध में "षड् भाग" का शब्दार्थ नहीं लेना है। व्यवहार में राजा प्रजा को अनुचित रूप से परेशान किए बिना उतना ही लेता था जितने की जरूरत रहती थी।

प्रकरण ५
साहित्य और कला

इस काल में साहित्य-सृजन पर्याप्त मात्रा में हुआ। किन्तु उसका स्तर ऊँचा नहीं था। ऐसे अनेक राजा हुए जो न केवल साहित्य के संरक्षक थे बल्कि स्वयं भी काव्य-रचना में पटु थे। जान पड़ता है, वे जिस लाघव से तलवार चला सकते थे, उसी कुशलता से लेखनी भी। 'हरकेलि-नाटक' की रचना का श्रेय विग्रहपाल वीसल-देव चाहमान को दिया जाता है। इस नाटक के कुछ अंश अजमेर में प्राप्त एक शिला-पट्ट पर खुदे हुए मिले हैं। वल्लभसेन ने दान-सागर' और 'अद्भुत-सागर' का संकलन किया। 'अद्भुत-सागर' के अपूर्ण अंश को पूरा करने का श्रेय लक्ष्मणसेन को दिया जाता है। कहते हैं कि वाक्पति मुंज की काव्य-प्रतिभा उच्चकोटि की थी; और महान् भोज परमार ने वैद्यक, ज्योतिष, धर्म, व्याकरण, वास्तुकला, काव्यशास्त्र, कला आदि विविध विषयों पर दर्जनों पुस्तकें लिखीं। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार थे : 'आयुर्वेदसर्वस्व', 'राजमृगांक', 'व्यवहारसमुच्चय', 'शब्दानुशासन', 'समरांगण-सूत्रधार', 'सरस्वतीकण्ठाभरण', 'नाममालिका', 'युक्तिकल्पतरु', आदि। राष्ट्रकूट-राज अमोघवर्ष प्रथम ने 'कविराजमार्ग', 'प्रश्नोत्तरमालिका' तथा कन्नड़ी में काव्यशास्त्र पर एक पुस्तक लिखी। कभी-कभी 'प्रश्नोत्तरमालिका' का लेखक शंकराचार्य या विमल नामक एक व्यक्ति को भी बताया जाता है। विविध विषयों से विभूषित 'मानसोल्लास' शायद पश्चिमी चालुक्य राजा सोमेश्वर तृतीय (११२६-३८) की कृति थी। पूर्वी चालुक्य राजा विनयादित्य तृतीय गुणग की गणित में गहरी पैठ थी। गंगों और पल्लवों में भी कई राजा लेखक हो गए हैं। फिर भी यह संभव है कि ऊपर जिन राजाओं के नाम बताए गए हैं, उनमें से बहुतों को साहित्य-सृजन में अपने आश्रित साहित्यकारों से सहायता मिली होगी। मेधावी और प्रतिभासम्पन्न लोगों को राजा संरक्षण दिया करते थे; इन्होंने अपने अध्यवसाय से साहित्य के भंडार को खूब समृद्ध किया। उदाहरण के लिए हम यहाँ कुछ रचनाओं की तालिका दे रहे हैं :

संस्कृत

काव्य रचयिता	कृति
कविराज	राघवपांडवीय
जिनसेन	पार्श्वाभ्युदयकाव्य
श्रीहर्ष	नैषधचरित
मंख	श्रीकण्ठचरित
जयदेव	गीतगोविन्द

धोयिक	पवनदूत
संध्याकरनन्दि	रामचरित
बिल्हण	विक्रमांकदेवचरित
पद्मगुप्त	नवसाहसांकचरित
हेमचन्द्र	द्वाश्रय काव्य
सोमदेव	कीर्तिकौमुदी
जयानक	पृथ्वीराजविजय
कल्हण	राजतरंगिणी

यहां यह बता देना उचित होगा कि इनमें से अन्तिम सात का ऐतिहासिक महत्व भी है।

सन् १०३७ ईस्वी में क्षेमेन्द्र ने 'बृहत्-कथामंजरी' लिखी, जो गुणाढ्य की पैशाची संस्कृत गद्य शैली में 'बृहत्-कथा' का अनुवाद है। इस पुस्तक का रूपान्तर ग्यारहवीं सदी के तीसरे चरण में सोमदेव ने अपने 'कथासरित्सागर' में भी दिया है।

काव्यशास्त्र	रचयिता	कृति
	राजशेखर	काव्यमीमांसा
	आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक
	मम्मट	काव्यप्रकाश
	धनंजय	दशरूपक
	धनिक	दशरूपावलोक
	भोज	सरस्वतीकंठाभरण
	हेमचन्द्र	काव्यानुशासन
	वैद्यनाथ	प्रतापरुद्रीय
नाटक	भवभूति	मालतीमाधव
		महावीरचरित
		उत्तररामचरित
	राजशेखर	बालरामायण
		बालभारत
		विद्धशालभंजिका
	दामोदर	हनुमन्नाटक
	कृष्णमिश्र	प्रबोधचन्द्रोदय
	सोमदेव	ललितविग्रहराज
शब्दकोष	हलायुध	अभिधानरत्नमाला
	हेमचन्द्र	अभिधानचिन्तामणि
	यादवभट्ट	वैजयन्ती-कोश

	महेश्वर	विश्व-प्रकाश
दर्शन	कुमारिल	श्लोक-वार्त्तिक, तन्त्र-वार्त्तिक टुप-टीका
	मंडनमिश्र	मीमांसानुक्रमणी, विधिविवेक
	वाचस्पतिमिश्र	न्यायकणिक, तत्त्वबिन्दु, सांख्य-तत्त्व-कौमुदी
	शंकराचार्य	उपनिषदों पर टीका, गीताभाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, उपदेशसाहस्री, आत्मबोध
	रामानुज	ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य गीताभाष्य, वेदान्तसार
	उदयन	कुसुमांजलि
	मध्वाचार्य	तत्त्वसंख्यान सारसंग्रह
	हेमचन्द्र	प्रमाणमीमांसा

इनके अतिरिक्त बहुत-सी अन्य टीकाएं और साम्प्रदायिक साहित्य भी लिखा गया।

ज्योतिष	आर्यभट द्वितीय	आर्यसिद्धान्त
	भोज	राजमृगांक
	भास्कराचार्य (११५०)	सिद्धान्तशिरोमणि

पृथूदक स्वामी ने ब्रह्मगुप्त के 'ब्रह्मस्फुट-सिद्धान्त' पर एक टीका लिखी तथा सिंहण यादव के आश्रित विद्वान् गांगदेव ने भास्कराचार्य के 'सिद्धान्तशिरोमणि' के अध्ययन के लिए पटना में (खानदेश जिला-स्थित) एक मठ की स्थापना की।

खगोल-विज्ञान	रचयिता	कृति
	भट्टोत्पल	१ वराहमिहिर की कृति पर टीका
	हर्षकीर्तिसूरि	ज्योतिषसारोद्धार
	श्रीपति (१०३९)	रत्नमाला
गणित	महावीराचार्य (नवीं शताब्दी)	गणितसारसंग्रह
	श्रीधर (जन्म ९९१ ई०)	त्रिशति
	भास्कराचार्य	१—लीलावती २—बीजगणित

कानून	मेधातिथि (नवीं शताब्दी (११ शताब्दी)	मनुस्मृति पर टीका
	विज्ञानेश्वर (११ शताब्दी)	मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य-स्मृति की टीका)
	लक्ष्मीधर	स्मृतिकल्पतरु
	हेमाद्रि या हेमाद पंत	चतुर्वर्गचिन्तामणि
	हलायुध (बारहवीं शताब्दी)	ब्राह्मणसर्वस्व
राजनीति	सोमदेव	नीतिवाक्यामृत
	हेमचन्द्र	लघु-अर्हन्नीति
	भोज	युक्तिकल्पतरु
	चन्द्रेश्वर	नीतिरत्नाकर
आयुर्वेद	वाग्भट	१ अष्टांगसंग्रह २ अष्टांगहृदयसंहिता
	माधवकर	रुग्विनिश्चय
	वृन्द	सिद्धियोग
	चक्रपाणिदत्त (१०६०)	चिकित्सासारसंग्रह
	शार्ङ्गधर	शार्ङ्गधरसंहिता
संगीत		
	शार्ङ्गधर	संगीतरत्नाकर
व्याकरण	शाकटायन (नवीं शताब्दी)	शाकटायन व्याकरण
	हेमचन्द्र	हेमव्याकरण
	क्रमदीश्वर (१२ वीं शताब्दी)	संक्षिप्तसार
		प्राकृत
	वाक्पतिराज	गौडवहो
	राजशेखर	कर्पूरमंजरी
	भोज	कूर्मशतक
	हेमचन्द्र	कुमारपालचरित (प्राकृत द्वाश्रय-काव्य) कालिकाचार्यकथा, प्रबन्धचिन्तामणि
	सोमप्रभा	कुमारपालप्रबोध
	धनपाल	१ भयसयत्तकहा २ पाइयलच्छी (कोश)

कन्नड़	
अमोघवर्ष	कविराजमार्ग
पम्प	पम्पभारत
तमिल	
जयगोण्डन	कलिंगत्तुप्परणि
अदियवर्कुनल्लर	शिलप्पधिकारम् पर टीका

उपर्युक्त सूची उदाहरण के तौर पर दी गई है, वह किसी प्रकार तत्कालीन साहित्य का विशद विवरण नहीं है। परन्तु इतने से ही यह स्पष्ट हो गया होगा कि रचनाओं और विषयों की बहुलता तथा विविधता के बावजूद इस काल में रचित साहित्य में टीकाएँ तथा सार अधिक हैं, मौलिक ग्रंथ कम।

कला की दृष्टि से यह काल बड़ा सफल रहा, जिसके उदाहरणस्वरूप आज भी उस युग के अनेक मन्दिर वर्तमान हैं। इनमें वास्तुकला की सारी शैलियों का समावेश हुआ है, और ये भारत में किसी भी युग में बनी अच्छी-से-अच्छी भवन रचना की बराबरी कर सकते हैं। उड़ीसा के, विशेषकर (पुरी जिला में स्थित) भुवनेश्वर के प्रसिद्ध मंदिर "भारतीय आर्यशैली" की चरम विकसित स्थिति के उत्कृष्ट नमूने हैं। प्रत्येक मन्दिर विमान और जगमोहन के अतिरिक्त नटमण्डप तथा भोग-मंडप से युक्त है। पिछले दो खण्डों का प्रचलन बाद को प्रारम्भ हुआ मालूम पड़ता है। इन मन्दिरों की पहली खूबी यह है कि कलाकारों ने मानव, पशु तथा वनस्पति जगत से प्रेरणा लेकर तक्षण द्वारा इनके रूप को खूब संवारा है, और दूसरी यह कि गगनचुम्बी गुम्बद, जिनके शीर्ष पर आमलक स्थित हैं, इनकी शान बढ़ाते हैं। इन गुम्बदों पर से चारों ओर मीलों तक के दृश्य देखे जा सकते हैं। उड़ीसा के मन्दिरों का सबसे अच्छा उदाहरण भुवनेश्वर का भव्य लिंगराज मन्दिर (११ शताब्दी) है। आश्चर्य की बात है कि कोणार्क के सूर्य मन्दिर में अश्लील चित्रों की भरमार है। इसके पीछे कौन-सा उद्देश्य काम कर रहा था, इसका सही समाधान अब तक नहीं दिया जा सका है, किन्तु यह है इतिहास का एक मनोरंजक विषय। दूसरा स्थान, जहां अनेक स्थापत्य-कृतियां अब भी अपने सिर उठाए खड़ी हैं, बुन्देलखण्ड-स्थित खजुराहो है। चन्देलों ने इसकी शान खूब बढ़ाई। यहां का कंदर्प महादेव मन्दिर (१० वीं और ११ वीं शताब्दी) "भारतीय आर्य शैली का दूसरा सुन्दर उदाहरण है। कौन है जो इसके मनोरम तक्षण तथा साजसज्जा को देखते ही अभिभूत न हो उठे? इस काल में कश्मीर ने एक हद तक अपनी अलग वास्तुशैली विकसित की। इसका सबसे विशिष्ट उदाहरण आठवीं शताब्दी के दूसरे चरण में किसी समय ललितादित्य मुक्तापीड़ निर्मित मार्तण्ड मन्दिर है। जैनों ने भी भवन-निर्माण में काफी अभिरुचि दिखाई। उनके मन्दिरों के गुम्बद अष्टकोणीय होते थे, और उनकी सजावट के लिए जैन पुराण से सम्बद्ध विषयों का उपयोग किया जाता था। उत्तर में

उनका निर्माण "भारतीय-आर्य शैली" में हुआ है और दक्षिण में द्राविड़ शैली में। जैन स्थापत्य के सबसे अच्छे उदाहरण दिलवाड़ा(माउन्ट आबू) और शत्रुंजय(पालिताणा) के मन्दिर हैं। माउन्ट आबू के मन्दिरों का निर्माण किसी एक विमल ने तथा तेजपाल और वस्तुपाल नामक दो भाइयों ने करवाया था। इन मन्दिरों के सुन्दर तक्षण और रूपसज्जा देखते ही बनती है। वातापी (बादामी) और पट्टदकल (जिला बीजापुर) के मन्दिर चालुक्य या दक्षिण शैली में बने हुए हैं, और सही अर्थों में इस काल में नहीं आते। इस शैली में मन्दिर एक सुसज्जित कुर्सी पर स्थित रहता है, और इसका आकार बहुकोणीय, अक्सर तारे की आकृति का होता है। दक्षिणी शैली शायद द्राविड़ शैली से उद्भूत हुई, किन्तु कालक्रम से यह स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई। इसके कुछ अच्छे नमूने हैं बिट्टिग विष्णुवर्धन (१११०-४०) द्वारा मैसूर में बेलूर के मन्दिर और हुलेबिद का होयसलेश्वर मन्दिर (१२वीं शताब्दी का अन्त)। यों तो होयसलेश्वर मन्दिर अपूर्ण है, किन्तु "रचना तथा अलंकार, दोनों ही दृष्टियों से यह किसी भी भारतीय मन्दिर से पीछे नहीं है"[1] दक्षिण में कभी-कभी ठोस चट्टानों को काटकर भी मन्दिर बनाए जाते थे। उदाहरण के लिए हम, राष्ट्रकूट-राज कृष्ण प्रथम (७५२-७२) द्वारा उत्खात एलापुर (एलोरा) का मन्दिर ले सकते हैं। इसे "भारत में स्थापत्य का सर्वाधिक भव्य नमूना मानते हैं। पल्लवों ने कला को खूब प्रोत्साहन दिया। दलवनुर (दक्षिण आर्काट), पल्लवरम्, तथा वल्लम् के मन्दिर, मामल्लपुरम् और कांची के धर्मराज तथा कैलाशनाथ रथ-मन्दिर और सप्त मेरु मन्दिर-समूह का तट-मन्दिर उनकी कलात्मक प्रतिभा के सुन्दर भव्यस्मारकों के रूप में खड़े किए हैं। किंन्तु ये सम्बद्ध काल से कुछ पहले के हैं। चोलों ने पल्लवों की स्थापत्य परम्परा को आगे बढ़ाया और दक्षिण में अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। द्राविड़ शैली की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं: वर्गाकार विमान, मण्डप, गोपुरम् कलापूर्ण स्तम्भों से युक्त बृहत्सदन, सजावट के लिए पारंपरिक सिंह (यालि), ब्रैकेट तथा संयुक्त स्तम्भों का प्रयोग आदि।[2] बाद के मन्दिरों में सुंदर तक्षणों से युक्त ऊंचे गोपुरों के सामने केन्द्रीय गुम्बद बौने प्रतीत होने लगे। तंजोर के शिव मन्दिर को, जो अपने निर्माता राजराज प्रथम (९८५-१०१४) के नाम पर राजराजेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है द्राविड़ शैली के एक एक शानदार नमूने के रूप में ले सकते हैं। एक के बाद एक तेरह मंजिलों के ऊपर ८२ फुट वर्ग के आधार पर स्थित इसका गगनचुम्बी विमान ऐसा प्रतीत होता है, मानों कोई पिरामिड हो। इसके शीर्ष पर पचास टन वजन का पचीस फुट ऊंचा प्रस्तर-खण्ड स्थित है। इसको उस स्थान तक पहुंचाने में कितने श्रम और अभियांत्रिक कौशल की आवश्यकता पड़ी होगी इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। अन्य उल्लेखनीय

---

१. 'एटीक्विटीज आफ इंडिया' २४४-४५।
२. Ibid., पृ० २४२।

चोल मंदिरों में तंजोर, कालहस्ति तथा गंगाइकोण्ड-चोलपुरम् के नाम ले सकते हैं। चोलों ने मूर्तिकला को भी प्रोत्साहन दिया। उनके समय में पत्थर तथा धातु से बनी मूर्तियों की शोभा, सौंदर्य तथा प्रांजलता देखने योग्य है। इस प्रकार हमारे देश के कुछ भव्यतम स्मारक, जो समय के थपेड़े झेल-कर आज तक अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं, इसी काल की देन हैं। ये अपने निर्माताओं की महत्ता का भी आभास देते हैं।

इन्डैक्स

374

श्रेण्य युग

(The Classical age का हिन्दी अनुवाद)

प्रस्तुत ग्रन्थ में मुख्य रूप से भारत के राजनीतिक इतिहास क
इसमें गुप्त साम्राज्य के उत्थान, ह्रास और पतन का तथा उसके
परिचय मिलता है।

इसमें हर्षवर्धन के बाद के इतिहास के बारे में संपूर्ण ऐतिहासि
दक्षिण के चालुक्यों और पल्लवों के कार्य को विशेष महत्त्व दिय
भारत के गुप्तों के अधूरे कार्य को दक्षिण भारत में राजनीतिक एव
किया। इस प्रकार तीन विभिन्न क्षेत्रीय इकाइयों की राजनीतिक ए
गया है। इसके उपरान्त सांस्कृतिक क्षेत्र में जो परिवर्तन आए, उन

अध्याय 15-22 में भारतीय इतिहास के 'स्वर्ण युग' की चर्चा है। इस काल में भारत का विकास सर्वोच्च शिखर पर था। इस काल की विभिन्न कलात्मक उपलब्धियों को प्रदर्शित करते हुए ४३ चित्र भी दिए गए हैं।

अशोक

राधाकुमुद मुकर्जी

विशेष अनुसंधान के आधार पर प्रस्तुत पुस्तक में देवानांप्रिय अशोक के प्रारम्भिक जीवन, इतिहास, प्रशासन, धर्म, निर्माण-कार्य और सामाजिक अवस्था का सप्रमाण वर्णन है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की विशेषता है, सन् १७५० ई० से लेकर सन् १९०५ तक प्राप्त होने वाले अशोक के शिला-लेख, उनका अनुवाद और उनकी व्याख्या। 'अशोक' विषय के विद्यार्थियों के लिए यह एक परमोपयोगी पाठ्य पुस्तक है जिसके द्वारा अशोक के कालक्रम और शिलालेखों के द्वारा तत्सम्बन्धी विशिष्ट जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

नंद-मौर्ययुगीन भारत

के०ए० नीलकण्ठ शास्त्री

प्रस्तुत ग्रन्थ में इतिहास के परम विद्वान् प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री ने ४००-१८५ ई० पू० के युग की घटनाओं, जैसे भारत के राजनीतिक, आर्थिक और कलात्मक परिवर्तन, के जीवंत चित्र प्रस्तुत किये हैं। साथ ही नंद-मौर्ययुगीन भारत के ज्ञान के लिए यह अमुपम है।

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली • मुम्बई • कलकत्ता • चेन्नई • बंगलौर

पुणे • वाराणसी • पटना